हिन्दी समिति प्रभाग ग्रन्थमाला—255

बाबू श्यामसुन्दर दास के निबन्धों का संग्रह

सम्पादक

डॉ० विद्यानिवास मिश्र

गोपाल लाल खन्ना

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

(हिन्दी समिति प्रभाग)

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशकीय

बाबू श्यामसुन्दर दास के निबन्धों का यह संकलन हिन्दी साहित्य और भाषा के पठन-पाठन की प्रतिष्ठा में उनके अप्रतिहत संघर्षों का दस्तावेज है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अन्य विषयों के समकक्ष हिन्दी विभाग की प्रतिष्ठा हेतु वे जीवन भर जूझते रहे, इसीलिए उसके अंग-उपांगों के उद्भव एवं विकास हेतु उन्होंने अपना समस्त जीवन समर्पित कर दिया। शोध और सर्जना को समन्वित करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। लेखन और प्रवचन दोनों पर उनका असाधारण अधिकार था, इसके साथ ही उसके संयोजन में उनका क्रांतदर्शी स्वरूप स्पष्ट हो उठता था। वे हिन्दी भाषा और साहित्य के जीते-जागते स्वाभिमान थे।

प्रबुद्ध विद्वान डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने उनके निबंधों का संचयन और संपादन कर हिन्दी साहित्य के विकास का एक और संदर्भ सूत्र स्वरूपित किया है, जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। विविध विषयों के विवर्धन हेतु भारतेन्दु की विह्वलता एवं जिज्ञासा बाबू साहब में पूर्णतया प्रतिफलित हो उठी थी। इसके प्रकाशन के साथ हिन्दी भाषा और साहित्य के उन्नायकों के ऐतिहासिक विकास का उपक्रम प्रवर्तित होने की मंगलाशा प्रदीप्त हो उठी है। संभव है यह शुभ संकल्प नई संभावनाओं को नये आयाम दे सके।

हार्दिक कृतज्ञता सहित -

विनीत

शिवमंगल सिंह 'सुमन'

कार्यकारी उपाध्यक्ष

सम्पादकीय

स्व० बाबू श्यामसुन्दर दास आधुनिक हिन्दी के निर्माताओं में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। आधुनिक हिन्दी के विकास के तीन पक्ष रहे हैं, पहला पक्ष था भाषा की अस्मिता और प्रतिष्ठा जगाने का, उस पक्ष को विकसित करने में विशिष्ट योगदान भारतेन्दु, महामना मदनमोहन मालवीय और श्रद्धेय पुरुषोत्तम दास टंडन का था, दूसरा पक्ष था गद्य की भाषा को ढालने का, इसके तीन सोपान हैं, पहले सोपान में भारतेन्दु मंडल और उनकी स्वच्छन्दता के रंग में रँगे माधव प्रसाद मिश्र और गुलेरी जैसे लोग आते हैं, दूसरे में आते हैं स्व० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्याम सुन्दर दास, तीसरे सोपान में आते हैं माखन लाल चतुर्वेदी, हजारी प्रसाद द्विवेदी और अज्ञेय, तीसरा पक्ष है उच्च शिक्षा के स्तर तक हिन्दी को पहुँचाने का, इसमें तीन व्यक्तियों का विशिष्ट योगदान है, लाला सीताराम, बाबू श्यामसुन्दर दास और स्व० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का। कलकत्ता विश्वविद्यालय में सबसे पहले एम० ए० में हिन्दी का पाठ्यक्रम शुरू हुआ, लाला सीताराम ने पूरा पाठ्यक्रम बनाया ही नहीं, लिखा और छपाया, उस पर कोई भी लाभ नहीं उठाया। उसके बाद यह पाठ्य क्रम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में शुरू हुआ। बाबू श्यामसुन्दर दास ने आलोचना साहित्य शास्त्र और साहित्येतिहास से सम्बद्ध पुस्तकें स्वयं लिखीं और दूसरों से लिखायीं। इसके बाद प्रयाग विश्वविद्यालय में यह पाठ्यक्रम प्रारम्भ हुआ और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भारतीय हिन्दी परिषद् की स्थापना करके हिन्दी के विश्वविद्यालय स्तर को प्रतिष्ठा दिलाने का यत्न किया। बाबू श्यामसुन्दर दास का इस प्रकार दुहरा योगदान है, एक तो आधुनिक हिन्दी को गम्भीर विचार की और शोध की भाषा के रूप में ढालने में, दूसरा हिन्दी की विश्वविद्यालयी अपेक्षाओं को पूरी करने में। पं० रामचन्द्र शुक्ल, लाला भगवानदीन जैसे फक्कड़ और मनमौजी लोगों से पुस्तकें लिखवा लेना बाबू साहब के ही बूते की बात थी। वे कड़े तगादगीर की तरह बड़े सुबह शुक्ल जी के यहाँ टहलते हुए पहुँच जाते थे और धरना देकर बैठ जाते थे कि फर्मा प्रेस में जाना है, मैटर दीजिए, लेकर जाऊँगा। स्वयं भी अनथक परिश्रम करते कि शोध और उच्च अध्ययन का कोई क्षेत्र रह न जाये, जो हिन्दी में प्रस्फुटित न हो।

उनके जीवन और कृतित्व का परिचय आगे मिलेगा, उस विस्तार में मैं जाने की आवश्यकता नहीं समझता। मैं सिर्फ प्रस्तुत संग्रह के बारे में कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। बाबू श्यामसुन्दर दास नागरी प्रचारिणी सभा की नींव हैं, संस्थापक दूसरे लोग थे, परन्तु बाबू साहब ने सभा से महत्त्वपूर्ण कार्य कराये, पांडुलिपियों की खोज, इतिहास का प्रणयन, व्याकरण का प्रणयन, कोश का प्रणयन, ये सारे आधारभूत कार्य बाबू साहब की संगठन-शक्ति और निरन्तर सजगता से सम्भव हुए। उन्होंने निःस्वार्थ और निस्पृह भाव से हिन्दी के उन्नयन को अपनी जीवन श्रद्धा बना ली थी। पथनिर्माता होने के साथ-साथ वे समायोजक और प्रबन्धक भी थे, इसलिए स्वयं जितना लिख सकते थे, उतना लिख नहीं सके, जो लिखा, उसमें से अधिकांश भाग सँवार नहीं सके, अपने ढेर सारे लेखों को संकलित करके संग्रह रूप नहीं दे सके। लोगों ने उनको न उनके समय में समझा, न बाद में। किसी ने उनमें मौलिकता की कमी पायी, किसी ने उन्हें निठुर कहा, किसी ने कुछ कहा, पर यह किसी ने नहीं जाँचा कि उनके कारण कितना कुछ लिखा गया और वही हिन्दी की प्रतिष्ठा का आज तक आधार बना हुआ है, उसको आज तक हिन्दी में विस्थापित करके कुछ नहीं लिखा जा सका है। बाबू साहब ने इस कार्य में कितना अपने को खपाया, कितनी विस्तृत और व्यापक उनकी कल्पना-शक्ति थी और अपने निजी महत्त्व को नगण्य करके दूसरों को कितना बड़ा महत्त्व दिया और दिलाया यह आज नये सिरे से आँकने की आवश्यकता है। मैंने तो कृतज्ञता के प्रतीक रूप में यह कार्य लिया कि उनके अप्रकाशित शोध परक निबन्धों का संकलन तैयार कर दिया जाय। उनके सुयोग्य पुत्र भाई गोपाल लाल जी ने मुझे इस कार्य में पूरे मनोयोग से सहायता दी और यह समस्त कार्य उन्हीं का किया हुआ है, मैं तो निमित्त मात्र हूँ। बड़े परिश्रम से उन्होंने बाबू साहब की रचनाओं की सूची तैयार की और यथाशक्ति उनकी कृतियों की पूरी जानकारी क्रम से रखने की पहली बार कोशिश की।

मैंने इस प्रस्तुत संग्रह में बहुत सारे निबन्ध छोड़ दिये, जो या तो किसी पुस्तक में आ चुके हैं, या किसी रूप में किसी पुस्तक में उपयोजित हो चुके हैं या केवल टिप्पणी के रूप में हैं, परन्तु जो निबन्ध इसमें संकलित हैं, वे बाबू साहब की दूरदृष्टि और अतृप्य ज्ञान-पिपासा के प्रमाण हैं। स्वयं अध्ययन करके नयी राहों का अन्वेषण और उन राहों को इतना सुगम बनाना कि उस पर दूसरे चल सकें कितना कठिन कार्य है, इसे बाद के पथिक नहीं समझ सकते, इसे केवल

पथिकृद् विद्वान ही समझ सकते हैं। हम लोग तो आज उस पथ की प्रशस्तता से ही विस्मय से अभिभूत हो जाते हैं, उस प्रकार के पथ के निर्माण की संकल्पना और उसकी निष्पन्नता जिस तप से जिस निरभिमान निस्पृह समष्टिभाव से आती है, वह हम लोगों में है ही नहीं।

इस निबन्ध-संकलन का मूल्यांकन इसके आयामों के विस्तार से किया जाना चाहिए, न कि सूक्ष्मता की दृष्टि से। स्व० बाबू श्यामसुन्दर दास को कितना कम अपने लिए समय मिला होगा, सारे सभारम्भों से निकाल कर, इसका हिसाब लगाकर अगर देखा जाय तो यह कृतित्व आज के साधन-सम्पन्न अध्येता के लिए भी स्पृहणीय उपलब्धि है। इस संग्रह को छापने का निश्चय मेरे अनुरोध पर उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने किया, मैं संस्थान के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, विशेष रूप से इसके उपाध्यक्ष डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन', निदेशक श्री विनोद-चन्द्र पाण्डेय और मुख्य सम्पादिका डॉ० विद्याविन्दु सिंह के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, उनके सहयोग से अपने पथनिर्माताओं के ऋण की अदायगी का यह विनम्र उपक्रम पूरा हुआ है।

बसन्त पंचमी २०३९ वि० | विद्यानिवास मिश्र

विषय-सूची

भाग एक

शोधलेख

भाग दो

साहित्यिक लेख

भाग तीन

आलोचनात्मक लेख

भाग चार

विवरणात्मक लेख

भाग पाँच

जीवनी

●

भाग एक

शोध लेख

1. जीवन वृत्त, कृतित्व तथा ग्रन्थ सूची
2. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज (पाण्डुलिपि प्रकाशित तथा अधूरी)
3. हमारी लिपि (प्रकाशित पाण्डुलिपि)
4. भारतवर्षीय आर्य देशभाषाओं का प्रादेशिक विभाग और परस्पर सम्बन्ध (हस्तलिखित तथा डॉक्टर गियर्स के एक लेख का अनुवाद)
5. भारतवर्षीय भाषाओं की जाँच (प्रकाशित पाण्डुलिपि)
6. नागर जाति और नागरी लिपि की उत्पत्ति (पाण्डुलिपि प्रकाशित)
7. नागरी अक्षर और हिन्दी भाषा (हस्तलिखित)
8. हिन्दी साहित्य का वीरगाथा काल (हस्तलिखित, नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग 9 में प्रकाशित)
9. हिन्दी का आदि कवि (हस्तलिखित, ना० प्र० भाग 5)
10. चन्दबरदाई (प्रकाशित पाण्डुलिपि, नागरी प्रचारिणी पत्रिका)
11. 'रासो' शब्द (हस्तलिखित)
12. बीसलदेव रासो (प्रकाशित पाण्डुलिपि)
13. गोस्वामी तुलसीदास की विनयावली (हस्तलिखित, ना० प्र० पत्रिका, भाग 1)
14. भारतीय नाट्य शास्त्र (हस्तलिखित)

●

साहित्य-वाचस्पति रायबहादुर
डॉक्टर श्यामसुन्दर दास, बी० ए०
का
जीवन-वृत्त, कृतित्व तथा ग्रन्थ-सूची

जीवन-वृत्त

बाबू श्यामसुन्दर दास जी के नाम के आगे 'बाबू' शब्द का लगा रहना उनके बाबू साहब या बाबू जी के सम्बोधन के औचित्य का समर्थन करता है। जिस समय बाबू साहब का जन्म हुआ था उस समय बाबू साहब या बाबू जी का सम्बोधन आदरणीय समझा जाता था और 'बाबू जी' पिता का भी संबोधन था जैसा अब भी केवल 'बाबू' से होता है।

जन्म

बाबू साहब का जन्म १४ जुलाई, १८७५ ई० अर्थात् आषाढ़ शुक्ल १२ मंगलवार संवत् १९३२ को हुआ। माता देवकी तथा पिता लाला देवीदास, लाहौरी पंजाबी खत्री परिवार के सदस्य थे। लाला देवीदास के पिता लाला मेहर-चन्द का स्वर्गवास थोड़ी अवस्था में अमृतसर में हो गया। पितामह लाला नानक-चन्द ने लाला देवीदास, इनके सहोदर लाला आत्माराम तथा इनकी बहिन का पालन-पोषण किया।

बाबू साहब के पूर्वजों का सम्पन्न घराना लौहार में था जो टकसालियों के नाम से प्रसिद्ध था। घर में टकसाल थी और मोहरें ढलती थीं। सम्भवतः यह राणा रणजीत सिंह के राज्यकाल की बात हो। अंग्रेजों के अत्याचार के आरम्भ होने पर परिस्थितियाँ बदल गयीं। टकसाली का समय समाप्त हो गया। इस प्रकार कालान्तर में विपत्तिग्रसित होकर उन्हें लाहौर छोड़कर अमृतसर आना पड़ा और बाबू जी के कनिष्ठ पितामह लाला हरजीमल काशी में आकर व्यापार करने लगे। व्यापारिक सफलता से प्रेरित होकर लाला नानकचन्द अपने दोनों भतीजों—देवीदास तथा आत्माराम और इनकी बहिन दुर्गादेई को लेकर काशी आ गये। यहाँ लाला देवीदास का विवाह गुजराँ वाले प्रसिद्ध जौहरी

लाला प्रभुदयाल की पुत्री देवकी से हुआ। प्रसिद्धि है कि बाबू जी के ये नाना एक लाख रुपयों की ढेरी पर फरशी (हुक्का) रखकर तम्बाकू पिया करते थे। नाना-नानी की मृत्यु लकवे से हुई और लाला देवीदास भी इसी रोग से ग्रसित होकर सन् १९०० में काल-कवलित हुए थे जब बाबू जी की आयु मात्र २५ वर्ष थी। माता देवकी ने बाबू साहब के ऊपर समस्त परिवार का भार डालकर १९०८ में स्वर्गारोहण किया। बाबू साहब के पाँच सहोदर भाई थे जिनमें से दो—गौरीशंकर तथा रामचन्द्र का विवाह हो चुका था। १९०९ में तीसरे भाई रामकृष्ण का टायफायड ज्वर से देहान्त हो गया और चौथे तथा पाँचवें भाई बालकृष्ण तथा मोहनलाल अभी अल्पवयस्क थे।

बाल्यावस्था एवं विवाह—बाबू साहब का विवाह दस वर्ष की अवस्था में लगभग १८८५ में सम्पन्न परिवार की कन्या नारायणी देवी से हुआ। ये भी इनसे लगभग सात महीने छोटी थीं। दोनों की आयु लड़कपन की थी अर्थात् खेलते और लड़ते थे। दुलार में माता देवकी ज्येष्ठ पुत्रवधू को बुलवा लेती थी, परन्तु बहू की शिकायत कि 'लड़का मुझसे लड़ता है, मैं नहीं आऊँगी' उन्हें स्नेहसिक्त कर देता था। बाबू जी बालकपन में ही बड़े सुन्दर मुखड़ेवाले, स्वस्थ, गौरवर्ण, विशाल नेत्र और आजानबाहु थे—आकर्षक एवं मोहक व्यक्तित्व के स्वामी। अकेली संतान होने के कारण माता-पिता का समस्त लाड़-प्यार इन्हीं पर उड़ेला जाता था। पारिवारिक सम्पन्नता के कारण इनका बालकपन अत्यन्त आनन्द और सुख से व्यतीत हुआ। कालान्तर में बाबू जी की चार संतानों ने जन्म लिया, क्रमशः कन्हैयालाल, नन्दलाल, सोहनलाल तथा गोपाललाल। बाबू जी का परिवार खन्ना-खत्री था। इनकी पीढ़ी तक किसी ने भी अपने नाम के साथ खन्ना या खत्री नहीं जोड़ा, परन्तु पुत्रों ने खन्ना जोड़ लिया।

विद्यार्थी-जीवन

बाबू जी का यज्ञोपवीत संस्कार बाल्यावस्था में ही हुआ, विवाह से पूर्व। तत्पश्चात् शिक्षा की दीक्षा गुरु हर भगवान से हुई और संस्कृत व्याकरण तथा धर्मग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ हुआ। वैसलियन स्कूल से अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ हुआ। इस स्कूल में बाबू जी के शिक्षक श्री हनुमानप्रसाद थे जो बाबू जी के पिता लाला देवीदास के मित्र थे। ये लँगड़े थे, अतः लँगड़े मास्टर के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होंने इस स्कूल की नौकरी छोड़कर 'हनुमान सेमिनरी

स्कूल' खोला जो बनारस के नीची बाग मुहल्ले की एक छोटी-सी अंधी गली में था। इसी स्कूल से बाबू जी ने सन् १८८० में एंग्लो वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। मिडिल पास करने के उपरान्त क्वीन्स कालेजिएट स्कूल की नवीं कक्षा में प्रवेश लिया, जहाँ इनकी गणना अच्छे मेधावी विद्यार्थियों में होने लगी। सन् १८८२ में एण्ट्रेन्स और १८८४ में इण्टरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण की। १८८६ में प्रयाग बी० ए० की परीक्षा देने गये। परीक्षा प्रारम्भ होने के एक दिन पूर्व रात्रि में गुर्दे में पथरी के कारण असह्य पीड़ा हुई और परीक्षा देने से वंचित रह गये। अगले वर्ष १८८७ में बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। बी० ए० में अंग्रेजी, दर्शन एवं संस्कृत इनके अध्ययन के विषय रहे। कुछ दिन कानून की कक्षा में गये, १८८७ में लखनऊ टीचर्स ट्रेनिंग कालेज में प्रवेश भी लिया, परन्तु विधि-विधान कुछ और ही था जिसने इन्हें इनके लक्ष्य के पथ पर ही अग्रसर होने की परिस्थिति और प्रेरणा प्रदान की।

बाबू जी की गुरुभक्ति अनुपम थी। इन लँगड़े मास्टर के प्रति जीवन-भर उनकी श्रद्धा बनी रही। वर्ष में दो-चार बार वे मिलने के लिये बाबू जी के पास आया करते। मामूली-से छोटे पहिये वाले नीचे-से इक्के पर अकेले बैठकर आया करते थे। वापसी के लिये इक्का रुका रहता था। उनको सहारा देकर उतारना व बैठाना पड़ता था। पर्याप्त सत्कार के बाद प्रत्येक बार उनके चरणों में एक रुपया की दक्षिणा अर्पित होती थी। उस समय (सन् १६२४—३०) का एक रुपया आज पच्चीस रुपये का मूल्य रखता था। अर्थात् यह रुपया अच्छे सम्पन्न धनाढ्य परिवार के महत्त्व और मान का लक्षण समझा जाता था। अन्तिम दिनों में स्कूल का कार्य ठप्प हो चला था। आय का स्रोत अत्यन्त क्षीण हो गया था। अतः बाबू जी अपने पुत्रों में से किसी-न-किसी को प्रायः उनके दर्शनार्थ भेज दिया करते थे और नियमतः दक्षिणा अर्पित होती थी। इनके अन्तिम काल में बाबू जी ने सपरिवार सक्रिय भाग लिया और अन्त्येष्टि में आर्थिक सहयोग दिया था। चारों पुत्रों ने इन्हीं से विद्यारम्भ की दीक्षा ली थी। दोनों भाई नन्दलाल और सोहनलाल ने शव-यात्रा में कन्धा दिया था। गोपाल ने तो छोटा होने के कारण मात्र भाग लिया था। प्रायः यह भी अपने भाइयों के साथ उनके दर्शनार्थ जाया करता था और पारिवारिक श्रद्धा से प्रभावित था। चरण-स्पर्श करना और आशीर्वाद लेना उसका अधिकार था।

इनके अतिरिक्त बाबू जी अपने कुल पुरोहित के प्रति भी, जो बच्चे जी महाराज के नाम से सम्बोधित होते थे, अपार श्रद्धा रखते थे। प्रत्येक त्यौहार

पर उनका आगमन होता था और आशीर्वाद के बाद एक रुपया दक्षिणा में दिया जाता था ।

इसी प्रकार विन्ध्यवासिनी देवी (विन्ध्याचल) का पण्डा भी वर्ष में कम-से-कम एक बार आता था और आदर-सत्कार के बाद यथोचित दक्षिणा का अधिकारी होता था ।

पंजाब-अमृतसर में इनके पूर्वजों का पुरोहित रहता था । वर्ष में एक बार वह भी अपने यजमानों को आशीर्वाद देने आया करता था । मार्ग-व्यय (रेल किराया), वस्त्र तथा दक्षिणा को वह भी प्राप्त करता था ।

पारिवारिक जीवन

बाबू जी का विवाह बाल्यावस्था में ही हो गया था । क्रम से चार पुत्र कन्हैयालाल (१८६६-१६२३), नन्दलाल (१८६६-१९३७), सोहनलाल (१६०४-१६६१) और गोपाललाल (१६१४) हुए । ज्येष्ठ पुत्र ने इण्टर की परीक्षा देकर कलकत्ता के इलाहाबाद बैंक में कार्य किया । वहीं उदर रोग के कारण उनका देहान्त हो गया । दूसरे पुत्र ने हाईस्कूल तक शिक्षा पायी । अनेक प्रकार के व्यापार—दूकान, प्रेस—में असफल रहकर उदर रोग से पीड़ित हुए और दैवगति को प्राप्त हुए । तृतीय पुत्र ने बी० एस-सी० और बी० टी० तक शिक्षा प्राप्त की । कानपुर, जौनपुर, लखनऊ में अध्यापक रहने के बाद बाबू जी की मृत्यु के उपरान्त १६४५ में कलकत्ते अपनी ससुराल चले गये । कलकत्ता और आसनसोल में अध्यापक रहे । रिटायर होने के बाद कालरा से ग्रसित होकर देह त्याग किया । गोपाललाल ने एम० ए० (हिन्दी), एम० एड० तक शिक्षा प्राप्त की । लखनऊ, बनारस, इलाहाबाद के बाद अलीगढ़ में धर्म समाज टीचर्स ट्रेनिग कॉलेज में सन् १६७५ तक अध्यापन कार्य करके अवकाश ग्रहण किया । कन्हैयालाल के दो पुत्र और एक पुत्री, नन्दलाल के एक पुत्र और एक पुत्री, सोहनलाल के तीन पुत्र और तीन पुत्रियाँ तथा गोपाललाल के एक पुत्र और तीन पुत्रियाँ हुईं । सभी के विवाह हो गये हैं और सभी के पुत्र-पुत्रियों से यह परिवार फल-फूल रहा है ।

बाबू जी के पाँच छोटे भाई—गौरीशंकर, रामचन्द्र, रामकृष्ण, बालकृष्ण और मोहनलाल थे । बाबू जी के पिता जी ने दोनों बड़े भाइयों के विवाह कर दिये थे । परन्तु तीनों छोटे भाई अल्पावस्था में ही थे कि इनके पिता जी का देहावसान हो गया था । रामकृष्ण अल्पावस्था में ही काल-कवलित हो गये थे । बालकृष्ण

का विवाह अमृतसर में हुआ और वे वहीं बम्बई क्लाथ कम्पनी (विदेशी) में कार्यरत रहे। मोहनलाल ने अल्प शिक्षा ही प्राप्त की थी और अपनी भावज (रामकृष्ण जी की विधवा पत्नी कांसोदेवी) के साथ रहते थे। ये काशी के भारत जीवन प्रेस के स्वामी की पुत्री थीं। यह परिवार बड़ा सम्पन्न और धनाढ्य था। धीरे-धीरे लक्ष्मी के दुरुपयोग के कारण स्थिति इतनी क्षीण हो गयी कि दो जून की रोटी भी प्राप्त करना एक समस्या बन गयी थी।

बाबू जी के दोनों भाई गौरीशंकर और रामचन्द्र ने बनारसी कपड़े की दूकानें कुंजगली में खोली थी और सुखी जीवन व्यतीत करते थे। बाबू जी के चाचा आत्माराम के पुत्र हरीशंकर की भी कुंजगली में बनारसी वस्त्रों की एक बड़ी कोठी थी और बहुत ही सम्पन्न एवं धनाढ्य परिवार था।

दोनों परिवार में अच्छा सौहार्द एवं पारिवारिक सम्बन्ध बना रहा। अमृतसर में देवीदास तथा आत्माराम के पूर्वजों का एक मकान था। इस मकान को श्यामसुन्दर दास और हरीशंकर ने मिलकर बिना कुछ लिये नाममात्र के मूल्य पर बेचकर बालकृष्ण को हस्तान्तरित कर दिया था। इनका परिवार इसी मकान में रहने लगा।

बाबू जी की धर्मपत्नी नारायणी देवी एक सामान्य परिवार की कन्या थीं। इनके एक भाई था मुन्नीलाल। ये अमृतसर में रहते थे। वर्ष में एक बार अपनी बहिन से मिलने आते थे। जीविकोपार्जन का कोई धंधा नहीं करते थे और अपने पुत्र मुरलीधर की आय पर निर्भर रहते थे जो अमृतसर में ही एक व्यापारी संस्था में नियुक्त थे। दैवात् एक दिन दफ्तर का कुछ रुपया मुरलीधर रात्रि को घर ले आये। रात्रि में ही इनके पिता उस रुपये को लेकर चले गये और उनका कहीं भी पता न चला। दूसरे दिन रात्रि में मुरलीधर ने इन रुपयों की भरपायी करने में असमर्थ होने पर और परिवार को बदनामी से बचाने और स्वयं को दण्डित होने से पूर्व ही विष-पान करके आत्महत्या कर ली। दो बहिनों का विवाह हो चुका था, पर माँ को निराश्रित छोड़ दिया था। बहिनों और दामादों ने माँ को आश्रय दिया।

बाबू जी की पत्नी अपने पद और सम्बन्ध के आधार पर अनेक नामों से सम्बोधित होती थीं, परन्तु विशेष सम्बोधन 'भाभो' रहा जो शायद 'भावो' या 'भाभी' का अपभ्रंश हो। ये गृह-व्यवस्था में बड़ी कुशल थीं तथा व्यवहार-कुशलता भी अपूर्व थी। अपने श्वसुर एवं सास की मृत्यु के उपरान्त समस्त

परिवार—देवर, देवरानियों, भतीजों और पुत्रों के संकुलित समूह का लालन-पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, विवाह आदि का उत्तरदायित्व समय-समय पर प्रतिपादित करती रहीं। इसके लिये जिस तरह के संघर्षमय जीवन और आर्थिक संकोच में रहना पड़ा उसकी कल्पना एक भुक्तभोगी ही कर सकता है, आजकल का आधुनिक युगल-दम्पति का परिवार तो कभी नहीं।

सन् 1900 में श्वसुर की मृत्यु के उपरान्त 14 व्यक्तियों का परिवार था, सात वर्ष बाद 1908 में सास का भी देहान्त हुआ। पिता की मृत्यु के पहले 1898 में चन्द्रप्रभा प्रेस में साहित्यिक सहायक के पद पर 40 रु० प्रतिमाह पर नियुक्ति स्वीकार की और परिवार के लिए आय का स्रोत जुटाया। साथ ही कुछ विद्यार्थियों को पढ़ाने से लगभग 40 रुपये और तेजाब के कारखाने से, जिसमें इनके पिता जी का षष्टांश (1/6) हिस्सा था, 50 रुपये मिलने लगे परन्तु इससे परिवार का खर्च नहीं चलता था, यद्यपि भाइयों ने भी किञ्चित् सहायता देना आरम्भ कर दिया था। चन्द्रप्रभा प्रेस की नौकरी से असंतुष्ट होकर एक वर्ष में ही त्यागपत्र दे दिया। 1899 में सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल में 40 रुपये मासिक वेतन पर सहायक शिक्षक के पद पर नियुक्त हुए। 1902 में 140 रुपये वेतन पर शिमला में इरीगेशन कमीशन में नौकरी मिली, परन्तु स्वास्थ्य ने धोखा दिया और ये दो-तीन माह बाद ही वापस आ गये। पुनः हिन्दू स्कूल में कार्यरत हो गये क्योंकि एक वर्ष की छुट्टी लेकर गये थे। क्रमशः इसी स्कूल में अंग्रेजी के अध्यापक और सहायक प्रधानाध्यापक तक उन्नति की। 1909 में भाई रामकृष्ण, एक भौजाई और दो भतीजों की मृत्यु ने इन्हें मानसिक रूप से विचलित कर दिया और ये नगर छोड़ने को तत्पर हो गये। कश्मीर में महाराजा के स्टेट-आफिस में सितम्बर 1909 में नियुक्ति पाकर इनकी समस्या हल हो गयी और जम्मू जाकर कार्य करने लगे। परन्तु दोनों छोटे भाइयों ने परिवार के प्रति उदासीनता दिखायी और उनको भूने चने पर क्षुधा शान्त करने पर बाध्य किया तब बाबू जी की आत्मा विचलित हो गयी और अपने परिवार अर्थात् पत्नी, तीनों पुत्र तथा दो सबसे छोटे भाइयों को लेकर वापस श्रीनगर चल दिये। इनकी व्यथित आत्मा ने घर से कोई भी वस्तु लेना अपनी प्रकृति के प्रतिकूल समझा और मुरादाबाद में पानी पीने के लिए गिलास और रावलपिण्डी में अन्य बर्तन खरीदे। इसमें इनकी पत्नी का पूर्ण सहयोग था। यहाँ भी वातावरण इनके अनुकूल नहीं था। अतः अक्टूबर 1912 में काशी आ गये और यहीं से त्यागपत्र भेज दिया। क्लेशित मन और काया ने इनको बीमार कर दिया। पत्नी अपना कर्त्तव्य पूर्णतया

निर्वाह कर रही थीं । पति-सेवा और पुत्र-कलत्र का लालन-पालन । परमात्मा ने फिर दिन फेरे और जुलाई 1913 में कालीचरण हाईस्कूल लखनऊ के हेडमास्टर के पद को ग्रहण किया और 1921 तक सम्मानपूर्वक पद की प्रतिष्ठा रखी ।

सन् 1900 से 1913 तक विपत्तियों, बाधाओं और विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए गृहस्थी की गाड़ी खींचते रहे । लखनऊ में परिस्थितियाँ सुख-शान्ति की ओर उन्मुख हुईं । परन्तु भावी प्रबल, 1921 में काशी वापस आकर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष का पद-भार ग्रहण किया । परिस्थितियों ने सुख-शान्ति, मान-प्रतिष्ठा और पर्याप्त आर्थिक लाभ की ओर पथ प्रशस्त किया । दोनों छोटे भाइयों का विवाह, दोनों बड़े पुत्रों का विवाह और इसके पूर्व के सभी संस्कार यथासमय सम्पन्न हुए । पारिवारिक जीवन अब सुखी रहने लगा ।

परन्तु परमात्मा को कुछ और ही करना था । 1923 में तीसरे पुत्र सोहनलाल का विवाह और ज्येष्ठ पुत्र कन्हैयालाल की मृत्यु ने भयंकर मानसिक उत्खलन पैदा कर दिया । बाबू जी बीमार पड़ गये । जीवन संकट में था । परम साध्वी, पतिव्रता, पुण्यशीला की तप-तपस्या, पूजा-अर्चना, सेवा-शुश्रूषा और उपचार-से ये तीन महीनों में रोगमुक्त हुए ।

इनकी पत्नी अर्थात् भाभो जी की धर्मनिष्ठा पूर्णरूप में यहीं से प्रस्फुटित हुई । बाबू जी का रोग घातक था । अण्डकोश में मवाद पड़ गयी थी । डॉक्टरों की बैठक हुई । विचार-विमर्श के उपरान्त निर्णय शल्यक्रिया के पक्ष में हुआ । क्योंकि सेप्टिक होने की आशंका थी । बाबू जी मानसिक रूप से इसके लिये तैयार नहीं हुए । डॉ० अचलबिहारी सेठ ने आपरेशन बिना ही उपचार किया । तीन महीने लग गये । भाभो जी ने हर प्रकार से अपने सुहाग की रक्षा का संकल्प किया । उपवास, एक बार भोजन, पूजा-पाठ, देवी-देवता की मनौती, कुलदेवी-कुलदेवता, आदि-आदि अनेक उपाय किये । रामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड का पाठ स्वयं करतीं । बाबू जी के दीर्घ जीवन और संकट-निवारण के लिए दृढ़ संकल्प थीं । डॉक्टरों ने कमजोरी दूर करने के उद्देश्य से शोरवा लेने का परामर्श दिया । मरता क्या न करता । भाभो जी ने इसको भी स्वीकारा, वैसे वे परम वैष्णवी थीं । बिना नहाये पूजा किये जल ग्रहण नहीं करती थीं । वह भी मात्र चाय । इस परिपाक में उन्हें किसी का विश्वास नहीं था । नौकर पर भी नहीं । अपने कनिष्ठ पुत्र को बाजार से सामग्री लाने का दायित्व सौंपा जो डॉक्टर के निर्देशा-

नुसार लाया जाता था। इसके लिए अलग बर्तन और अँगीठी रखी गयी। सुबह ही परिपाक चढ़ा दिया जाता था और रात्रि-भोजन के पहले ही उतारा जाता था और परोस दिया जाता था। आरंभ में बाबू जी को इसका आभास नहीं मिला, क्योंकि उसमें आलू के टुकड़े डालकर सामान्य सब्जी का रूप दे दिया जाता था। बाबू जी के भोजन करने के उपरान्त उसी थाली में, केवल परिपाक वाला पात्र हटाकर, वे भोजन ग्रहण करती थीं। यह प्रक्रिया बाबू जी के स्वस्थ होने तक चली और उसके बाद जीवन के अन्तिम दिन तक पालन करती रहीं।

अब तो उनकी लगन पूजा-पाठ में गम्भीरतापूर्वक हो गयी। काशी में रहकर पुण्य लाभ करना उनको अभिप्रेत हुआ। भेलूपुर में रहते हुए केदारघाट पर स्नान और केदारनाथ का दर्शन, गोदौलिया के पास रहने पर दशाश्वमेध घाट पर स्नान और विश्वनाथ जी के दर्शन इनका प्रतिदिन का नियम था। जाड़ा, गरमी, बरसात में कभी चूक नहीं हुई। इसके अतिरिक्त चतुर्मास में गंगा स्नान जब कि गंगा जी में बाढ़ आयी होती, माघ मास में भूमि शायी रहती थीं। स्नान-दर्शन से वापस आकर घर में स्थापित राम-जानकी की पीतल की मूर्ति की पूजा रामायण और गीता का पाठ करने के उपरान्त भोग लगाकर, बाबू जी को भगवान् का चरणामृत देकर स्वयं उनका चरणामृत लेने के बाद भगवान् के भोग का प्रसाद (चाय मात्र) ग्रहण करती थीं। रसोई स्वयं बनाती थीं, बाबू जी के भोजन करने के बाद रसोई अपनी बहुओं को सौंप देती थीं जिनकी पारी क्रमशः निश्चित थी।

आर्थिक पक्ष में ये गृहलक्ष्मी और अन्नपूर्णा थीं। बाबू जी अपना वेतन इन्हें सौंप देते थे। दोनों की सम्मति-राय पर व्यय-व्यवस्था होती थी। आय कम खर्च अधिक, महीने के अन्त से समस्या खड़ी हो जाती थी जिसका हल बाबू जी को करना पड़ता था। भाभो जी ने कभी पैसा जोड़ा नहीं, छिपा कर रखा नहीं। उन्हें अपने चार पुत्रों पर गर्व था। चारों को, जो दशरथ के चार पुत्रों के अनुरूप थे, अतः इन्हीं से उपमा देती थीं। बड़े श्यामवर्ण के, छोटे गौरवर्ण के, तीसरे श्याम-वर्ण के और चौथे गौरवर्ण के थे। बड़े पुत्र वास्तव में माता-पिता के परम भक्त, सरल प्रकृति के स्वामी थे। एक बार बाबू जी ने कह दिया कि मैं इसको त्याग दूँगा। रो-रोकर, भोजन पानी को छोड़ कर विह्वलता की चरम सीमा पर पहुँच गये थे। माँ के कहने पर (उपालम्भ) बाबू जी ने उनके सिर-पीठ पर प्यार से हाथ फेरा और कहा कि मैंने तो हँसी में कहा था। दशरथ-पुत्र राम की तरह ही तुम्हें भी विचलित नहीं होना था। बात आयी-गयी, हो गयी। परन्तु इनकी

मृत्यु पर (1923) यही वचन कह कर माँ का विलाप होता रहा। हार्दिक वेदना की पराकाष्ठा और पिता के लिये पुत्र का आत्मत्याग।

इसके बाद फिर कुछ दिन सुख-शान्ति से बीते (1923-1937)। 1937 में दूसरे पुत्र नन्दलाल का देहान्त हुआ। यह 14 वर्ष बाद दूसरा वज्रपात था। विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने के बाद की घटना है। आर्थिक और मानसिक-दोनों पक्षों पर आघात था और शरीर इनका आधार था। शरीर क्लान्त हो गया था, कान्ति क्षीण हो गयी थी। गाड़ी तो खींचनी ही पड़ रही थी। तीसरे पुत्र सोहनलाल ने कानपुर के बाद जौनपुर की नौकरी भी छोड़ घर आ बैठे थे। चौथे पुत्र गोपाललाल ने एम० ए० तो पास कर लिया था, परन्तु कार्यरत नहीं हो सके थे। अतः पारिवारिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी।

कुछ दिनों बाद सोहनलाल ने अपने श्वसुर की सहायता से बाँस के फाटक पर सामान्य सामग्री (General Stores) की दूकान खोली, परन्तु आय नामक चीज स्वप्नवत् थी। चौथे पुत्र को तीन माह की नौकरी सहायक अध्यापक की बस्ती में नार्मल स्कूल में एक अध्यापक की एवजी में मिली। वेतन 50 रु० मासिक था। पत्नी और पुत्र को दैनिक व्यय के भार से मुक्त करके, आधा वेतन प्रति माह अपनी माँ को वह चुपचाप दे जाता था। यह तो गरम तवे पर जल की बूँद के समान था।

उक्त वज्रपात के बाद और बाँस के फाटक पर दूकान के कारण बाबू जी टेढ़ी नीम पर एक मकान में आ गये और थोड़े दिन बाद हौजकटोरा में अपने मित्र डॉक्टर अमरनाथ बनर्जी कम्पाउण्डर के मकान में रहने लगे जो मात्र 25 रु० प्रतिमाह किराये पर था। यह इनके जीवन का सबसे कम किराये का मकान था। भेलूपुर में 30 रु०, 35 रु०, 45 रु० के किराये का था। इसी मकान से गृहस्वामी और स्वामिनी की शव-यात्रा हुई थी।

थोड़ी-सी बात बाबू जी के पारिवारिक जीवन की शेष है। इसको कहे बिना बाबू जी तथा भाभो जी के जीवन-संघर्ष की कहानी अधूरी रह जायगी। अतः इसको कहने के बाद उनके जीवन के आर्थिक पक्ष का चित्र प्रस्तुत करूँगा।

यह बात तो बाबू जी की गृहस्थी के अन्दर की बात है। चार बर्तनों के सम्बन्ध में है। चार पुत्रों की बहुएँ तथा इनके पुत्र-पुत्रियों से घर भरा-पूरा और कोलाहलपूर्ण मनोरंजक रहता था। शान्त वातावरण में यह परिवार परम आनन्दानुभूति प्रदान करता था। परन्तु जहाँ चार बर्तन होते हैं रुनझुन के साथ

टकराते भी हैं, शोर-गुल भी करते हैं, धक्के-धक्के भी पड़ते हैं और वातावरण अशान्त हो उठता है। एक साहित्य-सेवी के लिये तो अभिशाप बन जाता है। ज्येष्ठ पुत्र कन्हैयालाल का नाम नहीं लिया जाता था, इन्हें बड्डे कह कर पुकारा जाता था और इनकी पत्नी को बड्डी। यह वधू ठेठ पंजाब की अमृतसर के सामान्य परिवार की सौतेली पुत्री थी। पंजाबियों की प्रकृति उद्दण्ड होती है। प्रारम्भ में तो बहू की प्रकृति प्रकट न हुई, धीरे-धीरे देवरानी के आने के बाद अधिक प्रकाश में आयी। यह अनेक (आठ) पुत्रों की माता बनी, परन्तु दो पुत्र और एक कन्या घर के आँगन को सुशोभित कर सकीं। सम्भव है इस मानसिक आघात के कारण मन में कलुष रहा हो। जो कुछ भी हो कर्णधार यही बनी।

जब भी इनके पति कलकत्ता से बनारस आते, बहुत-सा सामान लाते थे। बड़े लकड़ी के बक्सों में। छोटे भाई नन्दलाल को दूकान खोलने की इच्छा हुई। उसके लिये सामान आता था। बड़ी बहू कुछ कृपण प्रकृति की थी। अतः यह फजूलखर्ची उन्हें बर्दाश्त नहीं हुई। छोटे भाई नन्दलाल का विवाह हो गया था—बनारस के ही पंजाबी खत्री धनाढ्य परिवार की कन्या से जिसे ताऊ ने पाला-पोसा था। इनकी रेशमी कपड़ों की बहुत बड़ी कोठी थी। दुर्भाग्य से इनके विवाह के बाद चौदह वर्ष तक कोई सन्तान नहीं हुई। परिस्थिति स्फोटक हो गयी। दूकान से जो कुछ लाभ होता उसका हिसाब नहीं था। हाँ, सामान आता, यह सबको दिखायी देता। अतः बात या बिना बात के देवरानी-जिठानी में वाक्-युद्ध हो जाता। यदि सास किसी का पक्ष लेती तो दूसरी अपने को उपेक्षित-तिरस्कृत समझ अधिक उच्छृङ्खल हो जाती और सास को भी हिस्सेदार बना लिया जाता। बाबू जी को यदा-कदा हस्तक्षेप करना पड़ता और छोटी बहू को मायके भेज देते। कुछ दिन शान्ति से बीतने पर पुनरागमन हो जाता। ऐसा वातावरण प्रायः शान्ति भंग किया करता था। दोनों बहुएँ मानसिक रूप से रोगग्रस्त थीं और विक्षिप्त मन से लावा निकल कर बहने लगता जो स्वयं ही ठण्डा पड़ सकता था। बाबू जी प्रायः दुःखी अवश्य हो जाते थे और भाभो जी परितप्त।

गृह-विग्रह का आरम्भ भी बाबू जी को देखना पड़ा। इनके सबसे बड़े पौत्र ने एक बंगाली कन्या से विवाह कर लिया। कहते हैं कि वह खत्री परिवार की कन्या है, परन्तु बाबू जी का परिवार 'चार घर' खत्री का था। इस परिवार का वैवाहिक सम्बन्ध ढाई घर खत्रियों में भी नहीं हो सकता था। उस समय की रीति यही थी। अतः उक्त सम्बन्ध ने घर में आक्रोश उत्पन्न कर दिया। विवाहोपरान्त वह अपनी पत्नी को लेकर अलग रहने लगा। 'केदार घाट' मुहल्ले में

ससुराल थी और घर उसने 'पांडे हौली' में लिया। इसका छोटा भाई और माँ अक्सर मिलने जाते रहते थे। परन्तु दादा-दादी ने शायद अपने जीवन-काल में पौत्र-वधू का मुँह नहीं देखा।

तीसरे प्रकरण ने और भी गहरा आघात किया। सबसे छोटे भाई मोहनलाल ने अपनी भावज (बड़े भाई रामकृष्ण की विधवा) की ओर से परवरिश का मुकदमा कर दिया। छह भाइयों के परिवार में वह एक विधवा निराश्रित थी, अतः $\frac{1}{6}$ (षष्टांश) का प्रत्येक भाई पर परवरिश की रकम का दावा था। बाबू जी ने मुकदमे की किसी भी पेशी पर कचहरी में हाजिरी नहीं दी। जो भी फैसला हुआ उसको स्वीकार किया और 700 रु० पिछले हिसाब में दे दिये। आगे के लिये प्रतिमास के हिसाब से वर्ष में एक बार दे दिया करते थे। छोटे भाई गौरीशंकर जी का देहान्त हो चुका था। रामचन्द्र जी और बड़े भाई बालकृष्ण जी से एकमुश्त रकम लेकर फैसला तथा भरपायी दिखा दी। बाबू जी से प्रतिवर्ष लेते रहे 6 रु० मासिक के हिसाब से जो आगे चलकर 1944-45 में 30 रु० प्रतिमास हो गयी थी।

आर्थिक पक्ष

बाबू जी का जीवन अमीरी-गरीबी में कटा। बचपना बड़े सुख और आनंद से बीता। विद्यार्थी-जीवन भी सुखमय था। परन्तु 1900 में पिता जी की मृत्यु के बाद परिवार के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व कन्धों पर आ पड़ने पर संघर्ष-मय जीवन का आरंभ हुआ। पिता की दूकान पर बैठने का इनका कोई औचित्य नहीं था। नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना 1893 में हो गई थी। साहित्य-सेवा और हिन्दी के उत्थान के लिए दृढ़संकल्प थे। 1898 में शिक्षा समाप्त करने के बाद अर्थात् बी० ए० पास करने के बाद चन्द्रप्रभा प्रेस में 40 रु० प्रतिमाह पर नौकरी की। परन्तु परिस्थिति और वातावरण प्रतिकूल था। 1899 में सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल में सहायक अध्यापक के पद पर 40 रु० पर नियुक्ति हुई। धीरे-धीरे 100 रु० प्रतिमास वेतन हो गया। 1902 में 140 रु० प्रतिमाह वेतन पर शिमला गये। परन्तु उनको वहाँ भी अनुकूल नहीं पड़ा और बीमार पड़ गये। वापस आकर पुनः सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल में अध्यापक हुए अंग्रेजी के जूनियर प्रोफेसर और उन्नति करते-करते सहायक प्रधानाध्यापक के पद पर पहुँचे। अध्यापन और विद्या-व्यसन का चस्का लग गया। सरस्वती की उपासना में लक्ष्मी की उपेक्षा तो हो ही जाती है। परन्तु 1909 में ये कश्मीर नरेश के व्यक्तिगत विभाग में नियुक्त हुए जहाँ राजसी सम्पदा, वैभव और सुख की झलक मिली। अपनी प्रकृति के बंधन में

रह कर वहाँ के पक्ष-विपक्ष में हिस्सा-बाँट न कर सके। 1912 में काशी वापस आ गये और फिर कश्मीर नहीं गये। 1913 में लखनऊ के कालीचरण हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। आरंभ से ही वातावरण अनुकूल था, साहित्य, समाज, शिक्षा के वातावरणों में इनकी मान-प्रतिष्ठा में विकास हुआ। सुख और शान्ति से रहने लगे। गृहस्थी की गाड़ी सुव्यवस्थित होकर चल निकली। बाबू जी भी स्वस्थ अनुभव करने लगे---शासन, अनुशासन का मोहक प्रभाव जीवन में अनुभव होने लगा। नौकर-चाकर, बँगला, सहायक अध्यापकों की टोली, छात्रों द्वारा स्नेह-आदर-श्रद्धा की पुष्पांजलि की सुगंध ने बाबू जी को पर्याप्त दृढ़ता प्रदान की। इनका आदर-सम्मान बढ़ने लगा। 1921 में काशी आ गये। विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के पद पर नियुक्त हुए। यद्यपि वेतन मात्र 250 रु० था, परन्तु वातावरण साहित्यिक एवं शैक्षिक और हिन्दी से एकान्त घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ था। दूसरे विभाग के अध्यक्षों का वेतनमान 400 रु० से आरंभ होता था। कुछ दिन तो हिन्दी की शिक्षा के उच्चस्तरीय पाठ्यक्रम एवं तदनुकूल साहित्य के निर्माण में अपने को भूले रहे। जब सब सुव्यवस्थित हो गया तब तुलनात्मक मान-प्रतिष्ठा की भावना ने करवट ली। दो वर्ष तक वेतन नहीं लिया। वेतन क्रम निर्धारित होने पर ही सुलह हुई और हिन्दी विभाग को भी यथोचित मान-प्रतिष्ठा-आदर प्राप्त हुआ।

बाबू जी के जीवन की सेवाकालीन उपलब्धियाँ तो ऊपर दी गयी हैं। परन्तु जीवन का आर्थिक पक्ष अत्यन्त क्षीण रहा। कोई भी कमासुत नहीं था। ज्येष्ठ पुत्र 60 रु० प्रतिमाह वेतन पर कलकत्ते में सेवारत रहे और 1923 में संसार त्याग दिया। अर्थात् कुछ भी अपेक्षित नहीं था। छोटे पुत्र ने व्यापार में घाटा-ही-घाटा उपलब्ध किया। अतः गृहस्थी का व्यय-भार इन्हीं पर पूर्णरूप से रहा।

परीक्षत्व से और इंडियन प्रेस से प्रकाशित पुस्तकों की रायल्टी ने आर्थिक रथ के पहियों में गति बनाये रखी। परन्तु पैसा जुड़ा नहीं। फिर भी आवास, वस्त्र, भोजन और सवारी में इनकी रुचि-शैली उच्चकोटि की रही। लखनऊ में अच्छा-खासा बड़ा बँगला था। काशी आने पर कचौड़ी गली का मकान बहुत बड़ा था, उस समय के 25 रु० 30 रु० प्रतिमाह के किराये का, जो आजकल के अनुपात में 300 रु० 400 रु० अथवा 500 रु० से कम नहीं हो सकता।

सवारी में इक्का, ताँगा और मोटर रही। प्रारंभ में विश्वविद्यालय जाने के लिए चौक (आवास कचौड़ी गली में) से ऊँचे, सुन्दर गहरेबाज इक्के की सवारी

थी। भेलूपुर में ताँगे की सवारी थी जिसका स्थान बाद में (अंतिम) 1930-32 में मोटर ने लिया। फियट कत्थई रंग की लम्बी गाड़ी थी।

परीक्षत्व से काफी आय हो जाती थी। बोर्ड की परीक्षाओं से लेकर विश्वविद्यालय की बी० ए०, एम० ए०, पी-एच० डी० के परीक्षक प्रायः सभी विश्वविद्यालयों के होते थे। उस समय I. C. S. की परीक्षा भारत में होने लगी थी। ये उसके परीक्षक भी रहे। परन्तु पारिश्रमिक के चेक की प्रतीक्षा करते ही रहते थे जिसको पंचांग में प्रश्नोत्तर के रूप में संभावना का अध्ययन करते थे। प्रायः उनकी आशा-आशंका फलवती होती थी।

वस्त्रों में प्रिय तो सिल्क का कुरता, सिल्क का दुपट्टा और उच्चकोटि की धोती। संध्या को सभा (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) जाने में यही वस्त्र धारण करते थे। विश्वविद्यालय में कोट, पतलून, टाई और गोल फेल्ट टोपी होती थी। बहुत बाद में 1934 के लगभग शेरवानी (काली ऊनी) भी कभी-कभी पहनते थे। प्रातः भ्रमण के लिए कोट-पतलून ही धारण करते थे। घर में कुरता-धोती ही पहनते थे।

भोजन में सीधा-सादा भोजन की सामग्री होती थी। दूध दिन में तीन बार सुबह, शाम और रात्रि। साग सब्जी में आलू, परवल विशेष रुचिकर और मिष्ठान्न में मलाई। अल्पाहार में दूध के साथ उच्चकोटि हण्ट्ले-पामर की बिस्कुटें। फलों में अंगूर, संतरा, अनार और पपीता।

गंगा-स्नान और मंदिरों में देवदर्शन में रुचि नहीं थी, परन्तु 1930 से दुर्गा की पूजा, हवन, दुर्गा सप्तशती का पाठ प्रतिदिन लगभग आध घंटा ठीक नौ बजे करते थे और दस बजे विश्वविद्यालय के लिए तैयार हो जाते थे।

1930 से घर में गाय रखी और उसका प्रतिदिन प्रातः उठ कर दर्शन करते और प्रणाम करते। गाय की सेवा के लिए भाभो जी प्रतिदिन सुबह चार बजे उठ जाती थीं। बाबू जी को सुबह जगाना उनका दैनिक कर्त्तव्य था—गरम पीने का पानी एक गिलास में लेकर और सुबह का दोनों का प्रथम साक्षात्कार। जिस दिन व्यतिक्रम होता उस दिन जागने पर बाबू जी अपने दोनों करतल के दर्शन करते।

ये सब उनके दैनिक जीवन और रहन-सहन की बातें हैं। थोड़ा और। घर में नाई प्रतिदिन आता और मासिक वेतन पाता, दो नौकर, ड्राइवर, कुम्हारिन, नाइन, ग्वाला (गाय दुहने के लिए) बाबू जी की प्रजा थी। मेहतर का प्रवेश निषिद्ध था।

इससे पहले पारिवारिक बोझ का परिचय हो चुका है। इस प्रकार के जीवन-यापन के लिए मात्र 250 रु० वेतन सर्वथा अपर्याप्त होता था। इंडियन प्रेस से रायल्टी से पर्याप्त सुविधा होती थी। 6 माह के लिए प्रतिमाह 100 रु० का अग्रिम चेक आता था। यह भी महीना समाप्त होने से पहले ही 22-24 तारीख तक अग्रिम भुगतान पा जाता था। किसी को देकर रुपये ले लिये जाते थे। कभी भी महीने का अंतिम सप्ताह बिना अगले महीने पर भार डाले समाप्त नहीं होता था।

इस पर भी काम नहीं चलता था। बाबू गोपालदास सभा के सहायक मंत्री थे। वे ब्याज पर निम्न श्रेणी के लोगों को कर्ज दिया करते थे और प्रतिदिन वसूली करते थे। बाबू जी संध्या को सभा से वापस आने के पहले आवश्यकतानुसार रुपये उधार ले लिया करते थे और घर-गृहस्थी के दैनिक व्यय का समाधान करते थे।

इनके अतिरिक्त तीन व्यक्ति और थे जो यथासमय इनकी आर्थिक सहायता करते थे। रत्नाकर जी, श्रीप्रकाश जी और बाबू रामचन्द्र वर्मा। बाबू रामचन्द्र वर्मा बाबू जी के जेवर भी रेहन रख-रखवा कर सहायता करते थे। परन्तु रत्नाकर जी और श्रीप्रकाश जी बिना किसी औपचारिकता के जब मँगवाया (मात्र संदेश भेजकर), जितना मँगवाया, भेज दिया। यथा सुविधा यह उधार वापस हो जाता था, परन्तु रेहन रखा हुआ जेवर वापस नहीं आ पाता था।

इस प्रकार आर्थिक कष्ट और क्लेश में रहते हुए भी बाबू जी ने राजसी ठाठ का जीवन व्यतीत किया। गरीब थे लेकिन अमीरी के साथ।

संस्थाओं की स्थापना

नागरी प्रचारिणी सभा—छात्रावस्था में मात्र 21-22 वर्ष की अवस्था में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना 16 जुलाई 1893 में इण्टर के विद्यार्थी रहते हुए बाबू जी ने अपने दो सहयोगियों पं० रामनारायण मिश्र तथा ठा० शिवकुमार सिंह के सहयोग से की। प्रारंभ में इसका कार्यालय बाबू जी के घर पर था। इसका पहला वार्षिक अधिवेशन 30 सितम्बर 1894 को कारमाइकेल लाइब्रेरी में (काशी में ज्ञानवापी पर) हुआ। कारमाइकेल लाइब्रेरी 1896 तक उत्साही युवकों का मिलन-स्थल रहा। 1895 में 4 रु० महीने के किराये पर कमरा लिया गया और सभा का अपना कार्यालय स्थापित हुआ। नवम्बर 1902 में जमीन ली गयी और 21 दिसम्बर 1902 को सभाभवन की नींव रखी गयी। बाबू जी

सभा के प्रथम मंत्री थे। धीरे-धीरे सभा की उन्नति और विकास हुआ जिसका इतिहास बहुत लम्बा है। 15 जुलाई 1937 तक बाबू जी ने पैंतालीस वर्ष तक अपने अथक सतत परिश्रम और सहयोग से सभा को विशाल एवं विशद रूप प्रदान किया। वह अकथ कहानी है। उसके बाद इधर के जो पैंतालीस वर्षों में सभा ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं वह अपनी पूर्व गरिमा के अनुकूल ही है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

हिन्दी के विकास, प्रसार, प्रचार आदि के उद्देश्य से 1910 में काशी में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई। इसका स्थायी कार्यालय प्रयाग में स्थापित हुआ और इस संस्था का भार राजर्षि बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन को सौंपा गया। बाबू जी इसके प्रथम वार्षिक अधिवेशन, जो प्रयाग में हुआ उसके सभापति और भागलपुर, लखनऊ, पटना, जबलपुर, अलीगढ़ आदि अनेक नगरों में इसके अधिवेशन हुए, जिनके सभापति-पद से इन्होंने भाग लिया। क्रमशः इस संस्था में पुस्तकालय, प्रकाशन विभाग, परीक्षाएँ लेने की व्यवस्था हुई। आज यह अत्यन्त सम्पन्न और प्रतिष्ठित संस्था है।

बाबू जी की प्रेरणा से मद्रास में दक्षिण हिन्दी प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई, जिसका संचालन श्री सत्यनारायण करते थे। बाबू जी ने इस संस्था में सक्रिय सहयोग देने के लिए मद्रास की भी यात्रा की थी।

नागरी प्रचारिणी सभा के दो विशेष अंग की स्थापना भी बाबू जी के प्रयास से हुई। एक तो आर्यभाषा पुस्तकालय और दूसरा भारत कला-भवन। आर्यभाषा पुस्तकालय का प्रारंभ नागरी भंडार के नाम से 1894-95 में हुआ। पुस्तकें भारत जीवन प्रेस तथा खड्गविलास प्रेस ने प्रदान की थीं। 1895-96 में बाबू गदाधर सिंह ने अपना पुस्तकालय नागरी भंडार में सम्मिलित कर दिया और उसी पुस्तकालय के नाम पर इसका नाम आर्यभाषा पुस्तकालय पड़ा।

भारत-कला-भवन की स्थापना सन् 1920 में भारत-कला-परिषद् के नाम से हुई थी, परन्तु सभा में 1929 में सम्मिलित होने पर इसका नाम भारत कला भवन हुआ और इसके अध्यक्ष राय कृष्णदास हुए। कालान्तर में यह कला भवन हिन्दू विश्वविद्यालय को स्थानान्तरित हो गया और अब वहीं पर है।

सहयोगीगण और मित्र-मण्डली

प्रत्येक व्यक्ति को किसी महान् कार्य करने का निश्चय करने पर सहयोगियों

की अपेक्षा होती है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना में बाबू जी को पं० रामनारायण मिश्र और ठा० शिवकुमार सिंह जैसे सहयोगी प्राप्त हुए। पं० रामनारायण मिश्र और ठा० शिवकुमार सिंह राजपत्रित अधिकारी थे। अतः उस समय अँग्रेजों के शासन-काल में सरकार के निर्णय के विरुद्ध किसी भी आन्दोलन या आयोजन में सक्रिय भाग नहीं ले सकते थे। इस कारण वे विचार-विनिमय से सहयोग तो देते थे और बाबू जी उसमें सक्रिय योगदान करते थे। इसी प्रकार नागरी प्रचारिणी सभा अपने सभी आन्दोलनों तथा आयोजनों में सफल होकर पुष्पित पल्लवित होती हुई उन्नति करती गयी।

इन दोनों सहयोगियों के अतिरिक्त अनेक और भी महानुभावगण यथा-समय यथा आवश्यक रूप से सहयोग देते रहे। इनमें प्रमुख हैं बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू कार्तिकप्रसाद, पं० मदनमोहन मालवीय, पं० केदारनाथ पाठक, डॉ० हीरालाल, सर जार्ज ग्रियर्सन, बाबू चिन्तामणि घोष, पं० किशोरीलाल गोस्वामी, बाबू जगन्नाथ दास, बाबू माधोप्रसाद, काशीप्रसाद जायसवाल, बाबू जुगलकिशोर, बाबू कृष्णबलदेव वर्मा।

घनिष्ठ मित्रों में बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर सर्वाधिक घनिष्ठ रहे। ये साहित्यिक परिचर्चा के अतिरिक्त सामाजिक और आर्थिक सहयोग देते रहे। इस घनिष्ठता का निर्वाह रत्नाकर जी ने आखीर तक किया।

बाबू जी में एक अपूर्व गुण था—कार्य करने और कार्य कराने की क्षमता। सभा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सभी से सहयोग लिया और सफलता प्राप्त की। साहित्यिक क्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्य किया। साहित्य रचना में लोगों को लिखने के लिए वाध्य किया और उनके पीछे पड़कर लिखवाया। अपनी साहित्यिक मौलिक रचनाओं में अपने योग्य विद्यार्थियों से कार्य लिया। जिससे जितना सहयोग मिला उसका समर्थन स्पष्ट रूप से किया। दूसरे से कार्य करवा कर अपना नाम करने के वे पक्ष में कभी नहीं थे। विद्यार्थी समुदाय में से विशेष नामोल्लेखनीय डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, पं० नंददुलारे वाजपेयी, हरिहरनाथ टण्डन, श्रीधर सिंह, रमापति शुक्ल, रमेशदत्त पाठक, कृष्णशंकर शुक्ल, बलराम उपाध्याय एवं पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव हैं।

बाबू जी का स्वभाव अनेक विरोधी प्रवृत्तियों से संकुलित रहा है। ऊपर से कठोर पर हृदय से कोमल। उग्रक्रोधी एवं शान्तिप्रिय। अनुशासन के परम पोषक। उदार एवं दानशील। समय की पाबन्दी, स्वावलम्बी, खुशामद नापसंद, सिफारिश सुनने और करने से उदासीन, स्पष्टवादी और दुराग्रह विरोधी। इन

सब गुणों या दुर्गुणों ने उनके जीवन को प्रभावित कर रखा था। क्रुद्ध होने पर आत्मनियंत्रण नहीं रहता था। भोजन की थाली उठाकर फेंक देना मामूली बात होती थी। एक बार छोटा भाई रामकृष्ण अनुशासन-भंग का अपराधी था। माँ के सामने ही उसे रस्सी से बाँध खूँटी पर लटका कर बेतों से उसकी खाल उधेड़ दी थी। परन्तु इस भाई को सर्वाधिक प्यार भी करते थे। इसके मरने पर बहुत ही दुःखी हुए थे। तीसरे पुत्र सोहनलाल ने लखनऊ में एक संध्या को अंधकार होने के पूर्व अपने एक सहपाठी के साथ, जो छात्रावास में रहता था, खेल के मैदान में घूमते हुए जा पकड़ा। छात्रावास में प्रत्येक विद्यार्थी संध्या के पहले उपस्थित हो जाता था। उस दिन वह अनुपस्थित था और वार्डन से रिपोर्ट आ गयी। पुत्र भी घर पर नहीं था, अतः सूत्र हाथ लग गया। खेल के मैदान की ओर गये और उन दोनों को साथ वापस ले आये, परन्तु अपने पुत्र को पेड़ की एक डंडी तोड़कर उसी से उसका सत्कार करते हुए घर तक ले आये और छात्र को छात्रावास में जाने दिया। उसे डंडी तक न छुलायी। सबसे छोटा पुत्र एक बार माँ से पूछ कर दोपहर को पड़ोस में खेलने चला गया था। गर्मी के दिन थे। दोपहर को घर के बाहर या धूप में खेलना निषिद्ध था, नौकर भेज कर वापस बुलवाया और पंजाबी पंखा और फर्शी की नली से उसकी पिटायी हुई जिससे वह घंटों बेहोश पड़ा रहा। किसी की हिम्मत बीच में रोकने की नहीं थी।

घर में शोर-गुल पसन्द नहीं था। शांत वातावरण हमेशा अपेक्षित रहता। तभी तो साहित्यिक रचना सम्भव होती थी। अनुशासन भंग होने पर शान्ति-प्रिय शैली से समाधान करते थे। लखनऊ में स्कूल के कुछ अध्यापक विलम्ब से आया करते थे। अनेक बार कहने का असर नहीं हुआ तब हाजिरी का रजिस्टर अपने कमरे में 10 बजे के बाद रखवा लिया और समस्या हल हो गयी। लोग समय पर आने लगे। सभा में कार्यालय के कर्मचारी समय पर अवश्य आ जाते थे, अन्यथा छुट्टी का प्रार्थना-पत्र होता था। उदारता और दानशीलता में भी अमीरी थी। गरीब को वस्त्र या आर्थिक सहायता करना सामान्य बात थी। अपने विद्यार्थियों को 20) या 30) महीना सहायता कर दिया करते थे। सर्दियों में कोट, कम्बल, स्वेटर आदि दे देना मामूली बात थी। एकाध बार तो रजायी तक बनवा दी। रत्नाकर जी के पुत्र ने बाबू जी के रेडियो की प्रशंसा की। उन्होंने कहा 'तुम्हें पसन्द है तो ले जाओ।' और उसी समय उठवा दिया। नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय को पुस्तकों का संग्रह मय आलमारियों और रैक के दान कर दिया। बाबू रामचन्द्र वर्मा ने बाबू जी की पुस्तकों को

प्रकाशित करने की अभिलाषा प्रकट की तो उन्हें अपनी तीनों पुस्तकें प्रकाशनार्थ दे दी जिसकी रायल्टी छह-सात वर्ष तक नहीं ली। समय की पाबन्दी उच्च कोटि की थी। प्रातः भ्रमण के लिए या विश्वविद्यालय जाने के समय, सभा में किसी बैठक का समय उनके आने पर घड़ी से मिलाया जाता था। भोजन घड़ी की सुई के हिसाब से समय पर मिलना चाहिये। इक्का, टाँगा या मोटर जाने के समय से दस मिनट पहले दरवाजे पर होनी चाहिये। घड़ी की सुई के आधार पर उनकी दिनचर्या होती थी।

स्वावलम्बन भी उनकी प्रतिष्ठा का प्रतीक था। नागरी प्रचारिणी सभा को अपनी रचनाएँ समर्पित कर दीं और उसके बदले में एक पैसा भी रायल्टी या अन्य किसी रूप में नहीं लिया। शब्दसागर तक से किसी प्रकार का लाभ नहीं स्वीकार किया।

बाबू जी को न खुशामद पसंद थी और न किसी की सिफारिश। योग्यता ही कसौटी होती थी। अपने पुत्र की विश्वविद्यालय में नियुक्ति हिन्दी विभाग में होने के लिए किसी से भी न कह सके, यद्यपि यह सरल था। स्पष्टवादी और निडर थे जिसके कारण उनको विरोध का सामना करना पड़ा। सभा से त्याग-पत्र देने का कारण यही था। दुराग्रह इनको बर्दाश्त नहीं था। कटुता का पोषक बना और परिवार का विघटन हुआ।

परा विद्या

1925 के लगभग बाबू जी को मृत आत्माओं को बुलाने की अभिरुचि हुई। ज्येष्ठ पुत्र कन्हैयालाल से उन्होंने कलकत्ते से प्लेन चिट मँगवाया और उसका प्रयोग करने लगे। इस पर दो व्यक्ति, आमने-सामने बैठकर दोनों हाथ की अँगुलियों से स्पर्श करते थे। इसमें एक पेन्सिल लगाई जाती थी और कागज नीचे रख दिया जाता था जिस पर आत्मा प्रश्न का उत्तर लिखती थी। बाबू जी स्वयं कभी नहीं बैठे, वे प्रश्नकर्त्ता एवं दर्शक ही रहते थे। बाबू कन्हैयालाल वर्मा बाबू जी के एक शिष्य, एक ओर तथा दूसरी ओर अपने कनिष्ठ पुत्र को बैठा देते थे। इस प्रयोग में यह आवश्यक था कि इन व्यक्तियों की आत्मा निःस्वार्थ, निश्छल और निरुद्देश्य होनी चाहिए। प्रायः भोजनोपरान्त तीसरे पहर यह आसन जमता था। इधर-उधर की भटकती आत्माएँ आ जाती थीं और विघ्न डालती थीं और उलटे-सीधे उत्तर देती थीं। बाबू जी उच्च कोटि की आत्माओं का आवाहन करना चाहते थे। एक बार सी० आर० दास की आत्मा आ गयी।

उन्होंने उपदेश दिया कि स्वदेशी का पक्ष लो और पहाड़ पर स्वास्थ्य सुधारने के लिए जाओ। स्वदेशी का पक्ष तो बाबू जी लेने लगे पर पहाड़ नहीं गये। इसी प्रकार एक बार बालगंगाधर तिलक की आत्मा आयी और साहित्य का इतिहास लिखने का आदेश दिया। एक दिन गोस्वामी तुलसीदास जी की आत्मा आयी। उन्होंने स्वीकार किया कि उन्हें आने में बहुत कष्ट हुआ है और इस खिलवाड़ को छोड़ दो, अन्यथा इसका फल भोगोगे। अपने जीवन सम्बन्धी कुछ प्रश्नों का उत्तर उन्होंने दिया और अपनी रचना की मूल प्रतियों के प्राप्त होने के स्थानों का संकेत किया था, परन्तु बाबू जी को इसमें कहाँ तक सफलता मिली, यह अज्ञात है। इतना कहकर उनकी आत्मा वापस देवलोक चली गयी और फिर अनेक प्रयत्नों पर भी नहीं आयी।

इसी प्रकार एक तीन टाँग वाले टेबुल के चारों ओर तीन व्यक्ति बैठकर अपने हाथ उस पर रखकर आत्मा का आवाहन करने के बाद प्रश्नों का उत्तर संकेतों में प्राप्त करते थे। एक बार अपनी माता जी की आत्मा का आगमन हुआ था। उन्होंने भी यह कार्य छोड़ देने का आदेश दिया था। मार्च 1926 में ज्येष्ठ पुत्र कन्हैयालाल का देहान्त हुआ, सितम्बर में बाबू जी घातक रोग से बीमार हुए और एक महीने तक संघर्ष करते रहे। उपरान्त अग्निमांद्य रोग का आक्रमण हुआ। 1927 के ग्रीष्मावकाश में जगन्नाथपुरी में एक महीने और जुलाई में कलकत्ते जाकर दो महीने उपचार होने पर भी यह रोग नहीं हटा। क्या यह मृत आत्माओं के आवाहन का और सी० आर० दास तथा गोस्वामी जी और अपनी माता के आदेश की अवहेलना करने का परिणाम तो नहीं था—यह बात बाबू जी के मन में पैठ गयी थी और मानसिक क्लेश का कारण बन गयी थी और ज्येष्ठ पुत्र की मृत्यु भी। इसके बाद यह प्रयोग बाबू जी ने छोड़ दिया।

बाबू जी का विश्वास फलित ज्योतिष में जीवनपर्यन्त अत्यधिक रहा। इस विद्या पर उन्होंने पुस्तक भी लिखी थी जो सभा से प्रकाशित हुई थी। स्वयं जन्म-कुण्डली, वर्ष-कुण्डली आदि बना लेते थे और ग्रह-विचार भी कर लेते थे।

सामुद्रिक विद्या (हस्तरेखा) का भी अच्छा ज्ञान था। 1900 के लगभग अपनी माता का हाथ देखकर कह बैठे थे कि उन पर भारी विपत्ति आने वाली है और कुछ दिनों बाद ही बाबू जी के पिता जी का स्वर्गवास हो गया था। माँ ने अपनी कसम दिलायी कि ऐसा कभी नहीं करना और यह हाथ देखना छोड़

दें। ऐसा ही हुआ और उसके बाद इन्होंने इस विद्या को गुप्त कर दिया। फिर भी ज्योतिष द्वारा इन्हें दुर्घटनाओं का आभास हो जाता था।

बाबू जी ने कई घातक **बीमारियों से संघर्ष** किया। 1902 में शिमला में तालू में फोड़ा हो गया था जिसके ठीक न होने के कारण शिमला की नौकरी छोड़कर काशी वापस आना पड़ा था। 1896 में बी० ए० की परीक्षा देने के एक दिन पहले रात्रि में गुर्दे का दर्द हुआ था और परीक्षा देने से वंचित रह गये थे। 1912 में गुदा स्थान में फोड़ा हो गया जो हकीम की दवाई से ठीक हुआ। 1926-27 में अंडकोश और अग्निमांद्य के रोग से पीड़ित रहे। 1932 में पुनः गुर्दे के दर्द का आक्रमण हुआ। 1937 मार्च में अतिसार हुआ। हालत बिगड़ती जा रही थी। गोपाललाल एल-एल० बी० के द्वितीय खंड के अंतिम प्रश्न पत्र की परीक्षा देने जाने को उद्यत था। प्रातः सात बजे माँ ने कहा कि बाबू जी की तबीयत ज्यादा खराब है—खाट काटने की नौबत आ सकती है। परीक्षा अगले साल दे देना। इस समय अपने बाबू जी का ख्याल कर। उनके आँसू वह रहे थे। विश्वविद्यालय जाने की अपेक्षा डॉक्टर सेठ को बुलाने गया और उनके जीवन की रक्षा हो गयी। इसके बाद 1942 की जुलाई में बाबू जी के हाथों में एक्जिमा का रोग हुआ। अँगुलियों के पोरों से लेकर कोहनी तक Weeping Eczema हुआ। इसके पहले 1934 में अँगुलियों में dry Eczema हुआ था जो जला कर और औषधियों द्वारा दबा दिया गया था। इस बार भयंकर रूप से स्फुटित हुआ। खाने-पीने मे असमर्थ हो गये थे। लखनऊ से गोपाललाल को तार देकर बुलाया जिसने होम्योपैथिक इलाज करके एक सप्ताह में रोगमुक्त कर अपने हाथों से भोजन-पानी के लिए स्वस्थ कर दिया। गोपाल को इस प्रणाली का अच्छा अधिकार है और अब रिटायर होने पर इसे अपना पेशा बना लिया है। बाबू जी का अग्निमांद्य भी दूर हो गया था और स्वस्थ जीवन व्यतीत करने लगे थे। कुछ महीनों के लिए लखनऊ भी जाकर अपने इस पुत्र के साथ रहने लगे थे।

परन्तु 1945 की जुलाई के अंतिम सप्ताह अर्थात् 21-22 तारीख को रक्ताभ और ज्वर का आक्रमण हुआ। आयुर्वेदिक विधि से चिकित्सा हुई परन्तु रोग का शमन न हुआ, बढ़ता ही गया। अंत में 7 अगस्त, 1945 की मध्य रात्रि अमावस्या लगने पर प्राणान्त हो गया। कदाचित् बाबू जी को इसका आभास पन्द्रह दिन पहले ही हो गया था। अपने ग्रहों की स्थिति निराशाजनक थी—मारकेश का योग होने वाला था। 15 जुलाई को गोपाललाल को नौकरी छोड़कर

लखनऊ से सपरिवार काशी आने का आदेश दिया। उन्हें आशा थी आश्वासन के आधार पर कि विश्वविद्यालय में उसे नियुक्ति मिल जायगी। परन्तु दैव प्रतिकूल हो गया था। 30 जुलाई से बाबू जी चेतनाशून्य होते चले गये थे और अंतिम दिन बड़ी शान्तिपूर्वक प्राण त्याग दिये थे।

मामो जी का देहान्त सात महीने सात दिन पूर्व हो गया था।

उपलब्धियाँ

व्यक्तिगत—बाबू जी ने जुलाई 1937 से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण किया। 15 जुलाई, 1937 को सभा से त्याग-पत्र दिया जो 14 अगस्त को स्वीकृत हुआ। 1927 में पहली जनवरी को राय साहब और जून 1933 को राय बहादुर की उपाधि प्रदान की गयी। 1938 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने साहित्य-वाचस्पति की उपाधि प्रदान की। 1943 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि से विभूषित किया।

आर्थिक—आर्थिक उपलब्धियों के विषय में जितना लिखा जा चुका है उसके बाद इतना ही शेष है कि मृत्यु के समय उनके बैंक के खाते में केवल पैंतालीस रुपये और इकतालीस पैसे (45·41) थे। नागरी प्रचारिणी सभा से रायल्टी या किसी साहित्यिक कार्य के लिए एक पैसा भी नहीं लिया। बाबू रामचन्द्र वर्मा से भी तीनों पुस्तकों के प्रकाशन के सात वर्ष तक रायल्टी का एक पैसा भी नहीं लिया। इण्डियन प्रेस से प्रकाशित पुस्तकों की रायल्टी उन्हें मिलती रही जो उन्हें मृत्यु उपरान्त भी प्राप्त होती रही। अन्तिम संस्कार और वार्षिक श्राद्ध तक में उसका ही उपयोग हुआ।

साहित्यिक—साहित्यिक उपलब्धियों में उनका योगदान अपूर्व रहा। 46 लेख, संकलित और संपादित ग्रंथ 82, पाठ्य पुस्तकें 27, मौलिक रचनाएँ 22 मिलाकर 177 हुईं। यदि इनमें हिन्दी साहित्य सम्मेलन, ओरियण्टल कान्फ-रेन्स, आर्यभाषा सम्मेलन, आगरा विश्वविद्यालय की और कानपुर के तीन भाषण आदि को सम्मिलित कर लिया जाय (क्योंकि ये सब भाषण लिखित रूप में ही प्रस्तुत होते थे) तो समस्त कृतियों की संख्या 200 के लगभग अवश्य पहुँच जायगी।

कृतित्व

लेख और लेखन-प्रक्रिया—बाबू जी ने छियालीस (46) लेख लिखे। इनमें से प्रथम पाँच लेख अँग्रेजी से अनुवादित हैं। प्रथम लेख 1894 में 'सन्तोष' शीर्षक का था। यह अँग्रेजी के लेख Hop's Esseup में 'Aids to content-

ment' का भावानुवाद है। यह बाँकीपुर से प्रकाशित मासिक पत्र 'बिहार-बंधु' में प्रकाशित हुआ था, परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी उसकी प्राप्ति न हो सकी। दूसरा लेख 'भारत वर्षीय आर्य-भाषाओं का प्रादेशिक विभाग और परस्पर सम्बन्ध' डॉक्टर ग्रियर्सन लिखित एक लेख का अनुवाद है। तीसरा लेख 'नागर जाति और नागरी-लिपि की उत्पत्ति' भी एक अँग्रेजी के लेख का अनुवाद है। चौथा लेख 'पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध के अदालती अक्षर और प्राइमरी शिक्षा' पंडित मदनमोहन मालवीय के अँग्रेजी लेख का अनुवाद है। इसी प्रकार पाँचवाँ लेख 'भारतीय भाषाओं की जाँच' भी अनुवादित लेख है। इसके बाद के बीस लेख 1900 से 1903 के बीच में लिखे गये जो सरस्वती में प्रकाशित होते रहे। 1903 से 1906 के बीच इनका कोई लेख कार्य बन्द-सा रहा। जीविकोपार्जन के लिए संघर्ष करना पड़ा। 1906 में केवल एक लेख 'व्यायाम' लिखा गया। फिर भी इस अवधि में भी बाबू जी की छह सम्पादित पुस्तकें और छह पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

1906 से 1912 की अवधि पुनः इनके जीविकोपार्जन का संघर्ष-काल तथा पारिवारिक अशान्ति का था। माता का स्वर्गवास, छोटे भाई का देहान्त, कश्मीर प्रवास आदि इनके मानसिक अस्थिरता का कारण था। साहित्यिक रचना न हो सकी। एक लेख 'चन्दवरदाई' 1911 में लिखा गया और छह सम्पादित ग्रंथ और चार पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

इस अवधि 1913 के बाद के साहित्यिक लेखों का लेखन क्रमशः अत्यन्त मंथर गति से हुआ।

बाबू जी का अधिकार अँग्रेजी और हिन्दी भाषा पर समान रूप से रहा। अतः अनूदित लेख भी मौलिक-से लगते हैं। साहित्यिक लेखों की एक विशेषता है। पहले लेखों को लिखते थे और बाद में अपनी पुस्तक में सम्मिलित कर लेते थे। विशेषकर विश्वविद्यालय में एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए पाठ्य-सामग्री इसी प्रकार तैयार की जाती थी। अपने दैनिक भाषणों को लिखित रूप में तैयार करते थे और प्रेस को प्रकाशनार्थ जाते थे। हिन्दी भाषा का विकास और साहित्यालोचन का निर्माण इसी प्रकार हुआ।

बाबू जी में एक खूबी थी। वे किसी लेखक, व्यक्ति या विद्यार्थी के आभार को मुक्तकंठ से स्वीकार करते रहे। लोगों को लिखने के लिए प्रोत्साहित करते रहे। फलस्वरूप अनेकों लेखकों का प्रादुर्भाव हुआ।

पाठ्य पुस्तकों का संकलन क्रमबद्ध किया। प्राइमरी शिक्षा से लेकर उच्चतम विश्वविद्यालयीय शिक्षा के लिए पाठ-सामग्री प्रस्तुत की। इस क्रमबद्ध निर्माण के फलस्वरूप हिन्दी का पठन-पाठन एक क्रमबद्ध रूप में विकसित हुआ। डी० लिट्० के लिए, उस समय पी-एच० डी० का व्यवधान नहीं था, भी समुचित विषय का चुनाव तथा शोध कार्य की व्यवस्था भी इन्होंने ही पहली बार की और डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के शोधकार्य की प्रशंसा देश-विदेश में हुई।

संपादित ग्रन्थों की संख्या लगभग एक सौ नब्बे है। पत्रिकाओं में सरस्वती और नागरी प्रचारिणी का प्रमुख स्थान है। रामचरितमानस के तीन अवतरण हुए और प्रत्येक के पाठ और टीका का संशाधन-परिवर्तन और परिवर्धन हुआ जिसका प्रकाशन क्रमशः 1904, 1916 और 1939 में हुआ। इसकी भी रायल्टी बाबू जी ने नहीं ली। दूसरा ग्रन्थ जिसकी रायल्टी नहीं ली, वह है शब्द-सागर। यह ग्रन्थ चार खण्डों में विभाजित है और कार्यकाल 1916 से 1926 तक का। इनकी सहायता के लिए एक संपादक मण्डल था जो इनके निरीक्षण में कार्य करता था। यह शब्दसागर हिन्दी का अभूतपूर्व ग्रन्थ है और काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया था। संपादन कार्य भी सभा के कार्यालय में ही होता था। बाबू जी ने इसी का संक्षिप्त रूप बाल शब्दसागर के नाम से सम्पादित किया। दूसरा कोश है हिन्दी वैज्ञानिक कोश जो 1906 में प्रकाशित हुआ। यह भी अनेक विद्वानों के सहयोग से सम्पादित हुआ। इसके अतिरिक्त अनेक लेखकों की रचनाओं की खोज और उसका सम्पादन किया जो हिन्दी साहित्य की अक्षुण्ण निधि हैं। मनोरंजन पुस्तक माला में पचास पुस्तकों का सम्पादन और प्रकाशन हुआ। इसमें विभिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखवायी गयी हैं।

मौलिक रचनाओं में हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्ट (अँग्रेजी में) है जो सात खण्डों में प्रकाशित हुई है। इसके अतिरिक्त जो मौलिक ग्रन्थ हैं उनमें प्रमुख साहित्यालोचन, भाषा-विज्ञान, हिन्दी भाषा का विकास, हिन्दी भाषा और साहित्य, रूपक रहस्य, भाषा रहस्य भाग 1 हैं।

बाबू जी की पाँच वक्तृताएँ ऐसी हैं जो हिन्दी के इतिहास में अपना प्रमुख स्थान रखती हैं। आर्यभाषा सम्मेलन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग-अलीगढ़) और ओरियण्टल कान्फरेन्स (पटना-बनारस)।

बाबू जी की कृतियों में हिन्दी साहित्य के भाण्डार की श्री-वृद्धि करने वाला,

तथा भूले-बिसरे अनेक ग्रन्थों और लेखकों को उजागर करने वाला कार्य हस्त-लिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज है। इस खोज-कार्य का इतिहास बहुत लम्बा-चौड़ा है। प्रारम्भ बाबू जी ने किया और 1900 से 1908 तक का खोज-कार्य इनके निर्देशन और निरीक्षण में हुआ जिसकी अन्तिम रिपोर्ट 1912 में प्रकाशित हुई। इसके बाद का कार्य अन्य विद्वानों ने किया।

नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अतिरिक्त दो संस्थापन और किये—आर्यभाषा पुस्तकालय और भारत कला भवन। आर्यभाषा पुस्तकालय तो अब भी नागरी प्रचारिणी सभा के भवन में ही स्थित है, परन्तु भारत कला भवन हिन्दू विश्वविद्यालय के एक भवन में स्थानान्तरित हो गया था और वहीं यह फला-फूला जिसके अध्यक्ष राय कृष्णदास थे।

बाबू जी के कृतित्व के वर्णन में बड़ी भारी त्रुटि होगी यदि उनके आन्दोलन कार्यों का उल्लेख न हो। यदि सम्यक् दृष्टिकोण से देखा जाय तो चार आन्दोलन प्रमुख हैं—कचहरी में हिन्दी, हिन्दी हिन्दुस्तानी, उच्च शिक्षा और हिन्दुस्तानी एकेडेमी।

'कचहरी में हिन्दी' आन्दोलन का नेतृत्व पंडित मदनमोहन मालवीय ने किया था। उन्होंने एक प्रपत्र तैयार किया था। इसके उपरान्त एक मेमोरियल देने की तैयारी की गयी जिसमें 60 हजार हस्ताक्षर 16 जिल्दों में बाँध कर दिये गये जिसका परिणाम हुआ कि सरकार ने हिन्दी को कचहरी की कार्यवाही के लिए स्वीकार किया और नागरी लिपि में प्रार्थना-पत्र, समन, सूचना पत्रादि छपने लगे तथा हिन्दी-उर्दू जानकार व्यक्ति की नियुक्ति होने लगी।

दूसरा आघात हिन्दी पर हिन्दुस्तानी को लेकर हुआ। इसके पृष्ठ-पोषक महात्मा गांधी थे। उन्होंने 1936 के आसपास बेसिक शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में हिन्दुस्तानी का समर्थन मातृभाषा और शिक्षा माध्यम के रूप में किया जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों की बहुतायत हो। बाबू जी को यह स्वीकार नहीं हुआ। काशी में सभा भवन में अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन (अक्टूबर, 1937) के अवसर पर गांधी जी के हिन्दुस्तानी के पक्ष-समर्थन का सन्देश लेकर स्व० डॉ० राजेन्द्रप्रसाद आये थे। बाबू जी ने इसका घोर विरोध किया था और यह प्रस्ताव रह गया। इसी वर्ष आगरा विश्वविद्यालय की ओर से कानपुर में बाबू जी ने तीन व्याख्यान दिये जिनमें से एक हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी पर भी था और इसमें उन्होंने अपने विचार प्रकट किये थे।

हिन्दी में उच्च शिक्षा का प्रचार बाबू जी का अन्यतम उद्देश्य रहा। सन् 1921 में हिन्दू विश्वविद्यालय में नियुक्त होकर एफ० ए०, बी० ए० और एम० ए० की परीक्षा के लिए हिन्दी की स्वतन्त्र पढ़ाई प्रारम्भ हुई। देखा-देखी अन्य विश्व-विद्यालयों और सम्बन्धित डिग्री कालेजों में भी हिन्दी की स्वतन्त्र पढ़ाई आरम्भ हुई और उत्तर प्रदेश इसमें अग्रणी रहा। 1939 में मद्रास विश्वविद्यालय में हिन्दी की एम० ए० परीक्षा में बाबू जी परीक्षक होकर गये थे। दक्षिण में भी कई विश्वविद्यालयों में अब तक हिन्दी की उच्चतम शिक्षा का प्रबन्ध हो गया था।

सरकार तो हिन्दुस्तानी के पक्ष में हमेशा रही, इसी कारण 1927 में हिन्दुस्तानी एकेडमी की स्थापना इलाहाबाद में हुई। हिन्दी और उर्दू के लेखकों को समान रूप से प्रोत्साहित करना और दोनों भाषा के ग्रंथों को प्रकाशित करना, इस संस्था का उद्देश्य था। परन्तु 1930 में 'हिन्दी और उर्दू को मिलाकर एक हिन्दुस्तानी भाषा की परिपुष्टि की जाय' यह घोषणा की गयी। इसके बाद ही इसके लिए आन्दोलन का आरम्भ हुआ। 1936 में कांग्रेस सरकार ने इसका पूर्णरूप से समर्थन किया। अब तक बाबू जी इस संस्था के सदस्य रहे परन्तु 1936 में अलग हो गये।

जुलाई, 1937 में विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण किया, और इसी वर्ष अगस्त में नागरी प्रचारिणी सभा से अलग हो गये। लगभग 50 वर्ष तक हिन्दी की अनन्य सेवा करके संन्यास ले लिया और 1945 की अगस्त 7 को स्वर्गारोहण किया।

नागरी प्रचारिणी सभा ने 1975 मई 17-18-19 को दिल्ली में बाबू जी की जन्मशती समारोह मनाया तथा एक स्मारिका प्रकाशित की थी।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग ने सम्मेलन पत्रिका का श्यामसुन्दर दास जन्मशती विशेषांक प्रकाशित किया।

साहित्यिक-कृतियों की सूची

(क) लेख

(1) सन्तोष (1894)

(2) भारतवर्षीय आर्य-भाषाओं का प्रादेशिक विभाग और परस्पर सम्बन्ध (1894)

(3) नागर जाति और नागरी लिपि की उत्पत्ति (1894)
(4) पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध के अदालती अक्षर और प्राइमरी शिक्षा (1898)
(5) भारतीय भाषाओं की जाँच (1898)
(6) शाक्यवंशीय गौतम बुद्ध (1899)
(7) जन्तुओं की सृष्टि (1900)
(8) शमशुल उल्मा मौलवी सैयद अली बिलग्रामी (1900)
(9) पंडितवर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर (1900)
(10) दानी जमशेद जी नौशेरवाँ जी टाटा (1900)
(11) भारतवर्ष की शिल्प विद्या (1900)
(12) फोटोग्राफी (1900)
(13) बीसलदेव रासो (1901)
(14) राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया (1901)
(15) हिन्दी का आदि कवि (1901)
(16) शिक्षा (1901)
(17) फतेहपुर सीकरी (1901)
(18) नीति शिक्षा (1902)
(19) कर्त्तव्य और सत्यता (1902)
(20) मुद्राराक्षस (1902)
(21) रासो शब्द (1902)
(22) यूनिवर्सिटी कमीशन (1902)
(23) लाला ब्रजमोहन लाल (1902)
(24) नागरी अक्षर और हिन्दी भाषा (1902)
(25) दिल्ली दरबार (1903)
(26) व्यायाम (1906)
(27) चन्दवरदाई (1911)
(28) हमारी लिपि (1913)
(29) समाज और साहित्य (1915)
(30) गोस्वामी तुलसीदास जी की विनयावली (1920)
(31) हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज (1920)
(32) रामावत सम्प्रदाय (1924)

(33) आधुनिक हिन्दी गद्य के आदि आचार्य (1926)
(34) भारतीय नाट्यशास्त्र (1926)
(35) गोस्वामी तुलसीदास (1927-28)
(36) सूरदास (1928)
(37) कबीरदास (1928)
(38) स्कन्दगुप्त (1928) (आलोचना)
(39) हिन्दी का वीरगाथा-काल (1929)
(40) बालकाण्ड का नया जन्म (1931) (आलोचना)
(41) चन्द्रगुप्त (1932) (आलोचना)
(42) देव नागरी लिपि (1937)—हमारी लिपि (1945)
(43) हिन्दुस्तानी भाषा (1937)—हमारी भाषा (1945)
(44) हमारे साहित्योदय की कथा (1937-45)
(45) भारतीय साहित्य का विवेचन (1937-45)
(46) हमारे साहित्य की विशेषताएँ (1937-45)

(ख) संकलित-ग्रंथ

(1) मानस-सूक्तावली (1920)
(2) संक्षिप्त रामायण (1920)
(3-4) हिन्दी निबन्ध-माला भाग 1-2 (1922)
(5) संक्षिप्त पद्मावत (1927)
(6) हिन्दी निबन्ध-रत्नावली भाग-1 (1941)

(ग) सम्पादित-ग्रंथ

(1) सरस्वती (1900, 1901, 1902)
(2) चन्द्रावली अथवा नासिकेतोपाख्यान (1901)
(3) छत्रप्रकाश (1903)
(4) रामचरितमानस (1904, 1916-1939)
(5) पृथ्वीराज रासो (1904-1912)
(6) हिन्दी वैज्ञानिक कोश (1906)
(7) वनिता-विनोद (1906)
(8) इन्द्रावती भाग-1 (1906)
(9) हम्मीर रासो (1908)

(10) शकुन्तला नाटक (1908)
(11) प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन की लेखावली (1911)
(12) बाला-विनोद (1913)
(13) हिन्दी शब्दसागर (1916-1926)
(14) मेघदूत (1920)
(15) दीनदयाल गिरि ग्रंथावली (1921)
(16) परमाल रासो (1921)
(17) अशोक की धर्मलिपियाँ (1923)
(18) रानी केतकी की कहानी (1925)
(19) भारतेन्दु नाटकावली (1927)
(20) कबीर ग्रंथावली (1928)
(21) राधाकृष्ण ग्रंथावली (1930)
(22) सतसई सप्तक (1930)
(23) द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ (1933)
(24) रत्नाकर (1933)
(25) बाल शब्दसागर (1935)
(26) त्रिधारा (1945)
(27) नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग 1 से 18
(28) मनोरंजन-पुस्तक माला संख्या 1 से 50

(1) आदर्श जीवन, (2) आत्मोद्धार, (3) गुरुगोविन्द सिंह, (4–5–6). आदर्श हिन्दू भाग 1-2-3, (7) राणा जंगबहादुर, (8) भीष्म पितामह, (9) जीवन के आनंद, (10) भौतिक विज्ञान, (11) लाल चीन, (12) कबीर वचनावली, (13) महादेव गोविन्द रानाडे, (14) बुद्धदेव, (15) मितव्यय, (16) सिक्खों का उत्थान और पतन, (17) वीरमणि, (18) नेपोलियन बोनापार्ट, (19) शासन-पद्धति, (20–21) 'हिन्दुस्तान भाग 1-2, (22) महर्षि सुकरात, (23) ज्योतिर्विनोद, (24) आत्मशिक्षण, (25) सुन्दरसार, (26-27) जर्मनी का विकास भाग 1-2, (28) कृषि कौमुदी, (29) कर्त्तव्यशास्त्र, (30–31) मुसलमानी राज्य का इतिहास भाग 1-2, (32) रणजीत सिंह, (33–34) विश्व प्रपंच भाग 1-2, (35) अहिल्याबाई, (36) राम चन्द्रिका, (37) ऐतिहासिक कहानियाँ, (38-39) हिन्दी निबंध-माला भाग 1-2, (40) सूर सुधा, (41) कर्त्तव्य, (42) संक्षिप्त राम स्वयंवर,

(43) शिशु-पालन, (44) शाही-दृश्य, (45) पुरुषार्थ, (46-47-48) तर्कशास्त्र भाग 1-2-3, (49) प्राचीन आर्य वीरता, (50) रोम का इतिहास ।

(घ) पाठ्य पुस्तकें (संग्रह)

(1) भाषा सार संग्रह भाग-1 (1902)
(2) भाषा पत्र बोध (1902)
(3) प्राचीन लेख मणिमाला (1903)
(4) आलोक चित्रण (1903)
(5) हिन्दी पत्रलेखन (1904)
(6) हिन्दी प्राइमर (1905)
(7) हिन्दी की पहली पुस्तक (1905)
(8) हिन्दी ग्रामर (1906)
(9) गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया (1908)
(10) हिन्दी संग्रह (1908)
(11) बालक विनोद (1908)
(12) सरल संग्रह (1919)
(13) नूतन संग्रह (1919)
(14) अनुलेखमाला (1919)
(15) नई हिन्दी रीडर भाग 6-7 (1923)
(16) हिन्दी संग्रह भाग 1-2 (1925)
(17) हिन्दी कुसुम संग्रह भाग 1-2 (1925)
(18) हिन्दी कुसुमावली (1927)
(19) Hindi prose selection (1927)
(20) साहित्य-सुमन भाग 1 से 4 (1928)
(21) गद्य रत्नावली (1931)
(22) साहित्य प्रदीप (1932)
(23) हिन्दी गद्य कुसुमावली भाग 1-2 (1936, 1945)
(24) हिन्दी प्रवेशिका पद्यावली (1939, 1942)
(25) हिन्दी प्रवेशिका गद्यावली (1939, 1942)
(26) हिन्दी गद्य संग्रह (1945)
(27) साहित्यिक लेख (1945)

(ङ) मौलिक एवं साहित्यिक रचनाएँ

(1) Nagari character (1896)

(2) Annual Report on the search of Hindi Manuscripts for 1900 (1903)

(3) ,, ,, ,, ,, ,, ,, 1901 (1904)

(4) ,, ,, ,, ,, ,, ,, 1902 (1905)

(5) ,, ,, ,, ,, ,, ,, 1903 (1906)

(6) ,, ,, ,, ,, ,, ,, 1904 (1907)

(7) ,, ,, ,, ,, ,, ,, 1905 (1908)

(8) First triennial Report on the search of Hindi Manuscripts for 1906–08 - (1912)

(9) हिन्दी कोविद रत्नमाला भाग 1–2 (1909, 1914)

(10) साहित्यालोचन (1922, 1937, 1941, 1943–संशोधन)

(11) भाषा-विज्ञान (1923, 1938, 1945–संशोधन)

(12) हिन्दी भाषा का विकास (1924)

(13) हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (1923)

(14) गद्य कुसुमावली (1925)

(15) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1927)

(16) हिन्दी भाषा और साहित्य (1930, 1937, 1944)

(17) गोस्वामी तुलसीदास (1931) हि० एकेडमी।

(18) रूपक रहस्य (1931)

(19) भाषा-रहस्य भाग - 1 (1935)

(20) हिन्दी के निर्माता भाग 1-2 (1940-1941)

(21) मेरी आत्म कहानी (1941)

(22) गोस्वामी तुलसीदास (1940-इ० प्रे०)

(च) वक्तृताएँ

(1) आर्यभाषा सम्मेलन (गुरुकुल काँगड़ी) 1914

(2) हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) 1915

(3) प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन (अलीगढ़)

(4) ओरियण्टल कान्फरेन्स (पटना)

(5) ,, ,, (बनारस)

—o—

संदर्भ ग्रन्थ

1. साहित्यिक लेख, 1945
2. सरस्वती-फरवरी 1975
3. ना० प्र० पत्रिका जुलाई 1974
4. सम्मेलन पत्रिका भाग 61 सं० 2,3,4 शक 1897
5. साहित्य संदेश-1945-46 Dec. Jan.
6. स्मारिका-1975
7. श्यामसुन्दरदास-सुधाकर पाण्डेय 1978
8. बाबू श्यामसुन्दरदास—डॉ० मीना 1969
   व्यक्तित्व और कृतित्व.
   (शोधग्रंथ)

—o—

हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज

सन् 1868 ई० में भारत सरकार ने लाहौर निवासी पंडित राधाकृष्ण के प्रस्ताव को स्वीकार कर भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रांतों में हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों की खोज का काम आरंभ करना निश्चय किया और इस निश्चय के अनुसार अब तक संस्कृत पुस्तकों की खोज का काम सरकार की ओर से बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई और मद्रास गवर्नमेण्टों तथा अन्य संस्थाओं और विद्वानों द्वारा निरंतर होता आ रहा है। इस खोज का जो परिणाम आज तक हुआ है और इससे भारतवर्ष की जिन-जिन साहित्यिक तथा ऐतिहासिक बातों का पता चला है वे पंडित राधाकृष्ण की बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता तथा भारत सरकार की समुचित कार्यतत्परता और विद्यारसिकता के प्रत्यक्ष और ज्वलंत प्रमाण हैं। संस्कृत पुस्तकों की खोज-सम्बन्धी डॉक्टर कीलहार्न, बूलर, पीटर्सन, भंडारकर और बर्नेल आदि की रिपोर्टों के आधार पर डॉक्टर आफ्रेक्ट ने तीन भागों में, संस्कृत पुस्तकों तथा उनके कर्त्ताओं की एक बृहत् सूची छापी है जो बड़े महत्त्व की है और जिसके देखने से संस्कृत-साहित्य के विस्तार तथा उसके महत्त्व का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। इसका नाम कैटेलोगस कैटेलोगोरम है। ऐसे ही महत्त्व के ग्रंथ आफ्रेक्ट का आक्सफर्ड की बोडलियन लाइब्रेरी का सूचीपत्र, एगलिंग का इण्डिया आफिस की पुस्तकों का सूचीपत्र, और बेवर का बर्लिन के राजपुस्तकालय का सूचीपत्र है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना के पहले ही वर्ष (सन् 1893 ई०) में इसके संचालकों का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर आकर्षित हुआ। सभा ने इस बात को भली-भाँति समझ लिया और उसे इसका पूरा-पूरा विश्वास हो गया कि भारतवर्ष की, विशेषकर उत्तर भारत की, बहुती-सी साहित्यिक तथा ऐतिहासिक बातें बेठनों में लपेटी, अँधेरी कोठरियों में बंद हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों में छिपी पड़ी हैं। यदि किसी को कुछ पता भी है अथवा किसी व्यक्ति-विशेष के घर में कुछ हस्तलिखित पुस्तकें संगृहीत भी हैं तो वे या तो मिथ्या मोहवश अथवा धनाभाव के कारण इन छिपे हुए रत्नों को सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित कर अपनी देशभाषा के साहित्य को लाभ पहुँचाने और उसे सुरक्षित करने से पराङ्मुख हो रहे हैं।

सभा यह भली-भाँति समझती थी कि इन छिपी हुई हस्तलिखित पुस्तकों

को खोज कर ढूँढ़ निकालने में तथा इनको प्राप्त करने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि सभ्यता की इस बीसवीं शताब्दी में भी ऐसे बहुत-से लोग मिल जाते हैं जो अपनी प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों को, देने की बात तो दूर रही, दिखाने में भी आनाकानी करते हैं। तथापि यह सोच कर कि कदाचित् नीति, धैर्य और परिश्रम से काम करने पर कुछ लाभ अवश्य होगा, सभा ने यह विचार किया कि यदि राजपूताने, बुन्देलखण्ड, संयुक्त प्रदेश तथा अवध और पंजाब में प्राचीन हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों के संग्रहों के खोजने की चेष्टा की जाय और उनकी एक सूची बनाई जा सके तो आशा है कि सरकार के संरक्षण, अधिकार तथा देख-रेख में इस खोज की अच्छी सामग्री मिल जाय। पर सभा उस समय अपनी बाल्यावस्था तथा प्रारंभिक स्थिति में थी और ऐसे महत्त्वपूर्ण और व्ययसाध्य कार्य का भार उठाने में सर्वथा असमर्थ थी। अतएव उसने भारत सरकार और एशियाटिक सोसाइटी बंगाल से यह प्रार्थना की कि भविष्य में हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों की खोज और जाँच करने के समय यदि हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तकें भी मिल जायँ तो उनकी सूची भी कृपाकर प्रकाशित कर दी जाय। एशियाटिक सोसाइटी ने सभा की इस प्रार्थना पर उचित ध्यान देते हुए उसकी अभिलाषा को पूर्ण करने की इच्छा प्रकट की। भारत सरकार ने भी इसी तरह का संतोषजनक उत्तर दिया। सन् 1895 के आरंभ में ही एशियाटिक सोसाइटी ने खोज का काम बनारस में आरंभ कर दिया और उस वर्ष लगभग 600 पुस्तकों की नोटिसें तैयार की गई। दूसरे वर्ष उक्त सोसाइटी ने इस काम के करने में अपनी असमर्थता प्रकट की और वहीं इस कार्य की इति-श्री हो गई। यह दुःख की बात है कि इन पुस्तकों की कोई सूची तक अब तक प्रकाशित नहीं की गई है। सभा ने संयुक्त प्रदेश की सरकार से भी खोज का काम कराने की प्रार्थना की थी। प्रांतिक सरकार ने अपने यहाँ के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर महोदय को लिखा कि वे संस्कृत-पुस्तकों की खोज के साथ-ही-साथ उसी ढंग पर ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्त्व की हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज का भी उचित प्रबंध कर दें। सरकार की इस आज्ञा की अवहेलना की गई और उसके अनुसार कुछ भी कार्य नहीं हुआ। यह अवस्था देख मार्च सन् 1899 में सभा ने प्रांतिक सरकार का ध्यान फिर इस ओर आकर्षित किया। अब की बार सरकार ने इस कार्य के लिये सभा को 400 रु० की वार्षिक सहायता देना और खोज की रिपोर्ट को अपने व्यय से प्रकाशित करना स्वीकार किया। उस समय से अब तक सभा इस काम को बराबर कर रही है। अब तक आठ रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें से पहली 6 (सन् 1900 से 1905 तक) तो वार्षिक हैं और

शेष दो त्रैवार्षिक (सन् 1906-1908 और 1909-1911) हैं। नवीं रिपोर्ट सरकार के पास विचारार्थ भेजी जा चुकी है और दसवीं लिखी जा रही है। सरकार ने इस खोज के काम के लिये अब 1000 रु० की वार्षिक सहायता देना आरंभ कर दिया है। अब तक जो आठ रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं उनमें से कुछ चुनी हुई महत्त्वपूर्ण बातों का वर्णन आगे दिया जाता है।

सन् 1900

इस खोज का काम नियमित रूप से सन् 1900 में आरम्भ हुआ। इस वर्ष सब मिलाकर 257 पुस्तकों की जाँच की गई जिनमें से 169 पुस्तकों का विवरण[1] रिपोर्ट में दिया है। इनमें से 157 पुस्तकें 90 ग्रंथकर्ताओं की बनाई हुई हैं। शेष 12 ग्रंथों के रचयिताओं का पता न चल सका। जिन 90 ग्रंथकर्ताओं का पता चला उनमें से 1 बारहवीं शताब्दी का, 2 चौदहवीं के, 1 पंद्रहवीं का, 22 सोलहवीं के, 18 सत्रहवीं के, 18 अठारहवीं के और 12 उन्नीसवीं शताब्दी के थे। बाकी 16 ग्रंथकर्ताओं के समय का पता नहीं लग सका। इन 16 ग्रंथों के अज्ञात ग्रंथकर्ताओं में से एक का समय 1781 ई० है। प्रायः सभी पुस्तकें पद्य में हैं। अधिकांश ग्रंथों का लिपिकाल सत्रहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी है, कुछ अठारहवीं शताब्दी के और एक सोलहवीं शताब्दी का है। इनकी लिपि देवनागरी, कैथी और मारवाड़ी है। इस वर्ष की रिपोर्ट में निम्नलिखित बातें महत्त्व की हैं।

(1) सबसे महत्त्व की पुस्तक जिसका विवरण इस वर्ष की रिपोर्ट में दिया गया है "पृथ्वीराजरासो" है। इसकी तीन प्रतियों का इस वर्ष पता चला जिनका लिपिकाल क्रमशः संवत् 1640, 1859 और 1878 है। संवत् 1640 से पहले की लिखी हुई पृथ्वीराजरासो की प्रति अब तक कहीं नहीं मिली है। एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के कार्य-विवरणों में यह प्रकाशित किया गया है कि उक्त संस्था को चंदबरदाई के असली रासो की प्रति का पता चल गया है और

---

1. इन विवरणों के लिये प्रायः "नोटिस" शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस विवरण में ग्रंथ का नाम, ग्रंथकर्ता का नाम, ग्रंथ का विस्तार, (अर्थात् प्रति ग्रंथ की अनुमानतः कितनी श्लोक-संख्या है। प्रति श्लोक 32 अक्षरों का माना जाता है।) लिपि, निर्माणकाल, लिपिकाल, ग्रंथ की अवस्था (अर्थात् जीर्ण, नवीन, प्राचीन, पूर्ण, खंडित आदि), रक्षित रहने का स्थान आदि रहता है और ग्रंथ के आदि और अंत का अंश उद्धृत किया जाता है।

उसका कुछ अंश उसके देखने में भी आया है। राजपूताने की ऐतिहासिक ख्यातों की खोज का काम भी एशियाटिक सोसाइटी के द्वारा हो रहा है। इसकी पहले वर्ष की रिपोर्ट में पृथ्वीराजरासो की इस प्रति से कुछ अंश उद्धृत भी किया गया है। पर आज तक यह पता न लगा कि पृथ्वीराजरासो की यह प्रति कागज भोजपत्रादि में से किस पर लिखी मिली है। उसमें कोई लिपिकाल दिया है या नहीं और वह किन अक्षरों में लिखी है। जब तक इन बातों का पूरा-पूरा विवरण न प्रकाशित किया जाय तब तक इसके असली होने का निश्चय नहीं हो सकता। जो अंश रिपोर्ट में उद्धृत किया गया है उससे इसके असली होने का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। इस अवस्था में यही कहा जा सकता है कि पृथ्वीराजरासो की सबसे प्राचीन प्रति जिसका अब तक पता चला है, संवत् 1640 की लिखी है। इसमें 64 समय[1] हैं। लोहानो आजानबाहु समय, पद्मावती व्याह समय[2] होलीकथा समय, महोबा समय और वीरभद्र समय इस प्रति में नहीं हैं। दुःख की बात है कि यह प्रति कहीं-कहीं से खंडित है।

पृथ्वीराजरासो के प्रामाणिक होने में बहुत कुछ संदेह किया जाता है। इस संदेह की हवा को बहाने वाले पहले-पहल उदयपुर के स्वर्गवासी महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास जी हुए। उन्होंने एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में एक लेख लिख कर इस ग्रंथ को अप्रामाणिक सिद्ध करने का उद्योग किया। उनके लिखने का इतना प्रभाव पड़ा कि एशियाटिक सोसाइटी ने, जो पृथ्वीराजरासो का एक संस्करण तथा उसका अँग्रेजी अनुवाद छाप रही थी, इस काम को बन्द कर दिया। कविराजा श्यामलदास जी का अनुमान था कि पृथ्वीराजरासो अकबर के समय में बना। यह बात तो इस प्रति से खंडित हो जाती है। इसमें संदेह नहीं कि रासो, जैसा वह हमें इस समय प्राप्य है, क्षेपकों से भरा पड़ा है। इन क्षेपकों की संख्या इतनी अधिक है कि इनको अलग करके शुद्ध रूप में इसे प्रकाशित करना असम्भव है। सन् 1901 की खोज में एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के पुस्तकालय में एक प्रति "प्रथीराजरायसा" की मिली। यह दो जिल्दों

1. "समय" से तात्पर्य सर्ग, अध्याय आदि से है।
2. एशियाटिक सोसाइटी की रिपोर्ट में पद्मावती विवाह उद्धृत किया गया है और इस प्रति में उस अंश का पूरा अभाव है। आश्चर्य की बात है कि प्राचीन प्रतियों में महोबा युद्ध के वर्णन का समय नहीं मिलता। यह युद्ध बड़े मार्के का हुआ है और इतिहास-प्रसिद्ध है।

में बँधी है और इसका लिपिकाल संवत् 1925 है। पहले खण्ड का नाम "महोबा खण्ड" और दूसरे का "कन्नौज खण्ड" है। इसके प्रत्येक "समय" के अन्त में कर्ता की जगह चन्दबरदाई का नाम दिया है, पर विशेष जाँच करने पर यह ग्रंथ न तो पृथ्वीराजरासो ही ठहरा और न इसका कर्ता चन्दबरदाई सिद्ध हुआ। पहले खण्ड में आल्हा-ऊदल की कथा तथा परमारदेव और पृथ्वीराज के युद्ध का सविस्तर वर्णन है। दूसरे खण्ड में संयोगिता के स्वयंवर, अपहरण, विवाह आदि तथा पृथ्वीराज और जयचंद के युद्ध का विस्तार के साथ वर्णन है। जिस बात का वर्णन चंद के वर्तमान क्षेपकपूर्ण रासो में एक-दो समयों में आ गया है उसे इस प्रति में दो बड़े-बड़े खण्डों में समाप्त किया गया है और सारी कृति चंद के सिर मढ़ दी गई है[1]।

इस घटना के उल्लेख करने से मेरा तात्पर्य यही है कि जब बड़े-बड़े ग्रंथ प्राचीन कवियों के नाम से बन सकते हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि पृथ्वीराजरासो में क्षेपक भर गये हैं और अब उनका अलग करना कठिन हो गया है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने संवत् 1631 में रामचरितमानस का लिखना प्रारम्भ किया था और संवत् 1680 में उनकी मृत्यु हुई। इसे 297 वर्ष हो चुके हैं। इस बीच में रामचरितमानस की यह दुर्गति हो गई है कि क्षेपकों की तो कुछ पूछ ही न रही, कांड भी सात के स्थान में आठ हो गये। जब तीन सौ वर्षों में एक अत्यंत प्रचलित ग्रंथ की यह अवस्था हो सकती है तो 750 वर्ष पुराने ग्रंथ के सम्बन्ध में जो न हो जाय सो थोड़ा है।

सन् 1900 की रिपोर्ट में इस बात को सिद्ध करने का बहुत उद्योग किया गया है कि पृथ्वीराजरासो बिल्कुल जाली नहीं है। इसके प्रमाण में अनेक बातें कही गई हैं। सबसे बड़ी बात जो इसके जाली होने के समर्थन में कही जाती है वह यह है कि इसमें भिन्न-भिन्न घटनाओं के जो संवत् दिये हैं वे ठीक नहीं हैं। रिपोर्ट में इस बात पर विचार किया गया है और इसके लिये तीन घटनाएँ चुन ली गई हैं—(1) पृथ्वीराज और जयचंद का युद्ध, (2) पृथ्वीराज और परमर्दि

---

1. मेरा अनुमान है कि यह ग्रंथ किसी बुन्देलखण्डी कवि का बनाया हुआ है और उसने देशानुराग में मस्त होकर अपने यहाँ की ऐतिहासिक घटनाओं को महत्त्व देने की इच्छा से इसे चंद के नाम से प्रचारित कर दिया है। देखो, परमालरासो, ना० प्र० ग्रंथमाला, भूमिका।

का युद्ध, (3) पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का युद्ध। पृथ्वीराज से संबंध रखनेवाले चार शिलालेखों का रिपोर्ट में उल्लेख है जो संवत् 1224 से 1244 के बीच के हैं। जयचंद से संबंध रखनेवाले तो अनेक दानपत्र मिल चुके हैं। इनमें से दो में जो संवत् 1224 और 1225 के हैं जयचंद को "युवराज" लिखा है और शेष में जो संवत् 1226 से 1243 के बीच के हैं उसे "महाराजाधिराज" लिखा है। इससे प्रमाणित होता है कि जयचंद कन्नौज की गद्दी पर संवत् 1226 के लगभग बैठा था। परमर्दिदेव का काल दानपत्रों से 1220 से 1260 तक सिद्ध होता है। तबकाते नासिरी के अँग्रेजी अनुवाद के 456 वें पृष्ठ की एक टिप्पणी में मेजर रवर्टी ने शहाबुद्दीन की मृत्यु का समय 588 हिजरी (संवत् 1248) सिद्ध किया है। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि पृथ्वीराज विक्रम संवत् की तेरहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में हुआ। पृथ्वीराज का अंतिम युद्ध संवत् 1248 में हुआ। अब पृथ्वीराजरासो में पृथ्वीराज का जन्म संवत् 1115, दिल्ली गोद जाना संवत् 1122, कन्नौज जाना संवत् 1151 और अंतिम युद्ध संवत् 1158 में लिखा है। इन चारों संवतों को जब हम और प्रमाणों से सिद्ध करने का उद्योग करते हैं तो यह पता लगता है कि ये चारों घटनाएँ वास्तव में संवत् 1205, 1212, 1241 और 1248 में हुईं। दोनों संवतों को मिलाने से इनमें 90 वर्ष का अंतर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यदि यह अंतर एक स्थान पर मिलता या किसी एक घटना के संबंध में होता अथवा भिन्न-भिन्न घटनाओं के संबंध में संवतों का अंतर भिन्न-भिन्न देख पड़ता तो हम इसे कवि की भूल मान लेते और ग्रंथ की ऐतिहासिकता में संदेह करते, पर जब सब स्थानों में ऐसे ही संवत् दिये हैं जिनका अन्तर विक्रम संवत् से 90 वर्ष का है तो हमें विचार करना पड़ता है कि यह कवि की भूल नहीं हो सकती, वरञ्च उसका जानबूझ कर ऐसा करना जान पड़ता है। पृथ्वीराजरासो के आदि पर्व में यह दोहा मिलता है—

> एकादस सै पंचदह, विक्रम जिम ध्रमसुत्त।
> त्रतिय साक प्रथिराज को, लिष्यौ विप्रगुन गुप्त॥

अर्थात् जिस प्रकार ध्रमसुत (युधिष्ठिर) से 1115 वर्ष पीछे विक्रम का संवत् चला उसी प्रकार विक्रम से 1115 वर्ष पीछे पृथ्वीराज का तीसरा शक ब्राह्मण (कवि) ने अपने गुण से गुप्त (गूढ़) करके लिखा है।

आगे चलकर यह दोहा मिलता है—

> एकादस सै पंचदह, विक्रम साक अनंद।
> तिह रिपुजय पुर हरन को, भय प्रथिराज नरिंद॥

अर्थात् अनंद विक्रम साक (संवत्) के वष 1115 में पृथ्वीराज का जन्म हुआ। इस संवत् का नाम अनंद विक्रम संवत् दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि पृथ्वीराज के समय में एक नये संवत् का प्रचार हुआ जो अनंद विक्रम संवत् कहलाया। अब यदि हम इस बात को ऊपर लिखे 90 वर्ष के अंतर से मिलाते हैं तो यह विदित होता है कि यह अनंद विक्रम संवत् वास्तविक विक्रम संवत् में से 90 वर्ष घटा देने से बनता है। यह संवत् क्यों चला और 90 वर्ष का अंतर क्यों माना गया इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। अनेक लोग इस संबंध में अनेक अनुमान करते हैं। कोई "अनंद" शब्द का अर्थ लगाता है, कोई ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार कर उन्हें इसका कारण बताता है, पर अब तक कोई ऐसी बात नहीं कही गई है जो सर्वथा मन में जम जाय।

उक्त वर्ष की रिपोर्ट में दस परवानों के फोटोचित्र छापकर इस बात को सिद्ध करने का उद्योग किया गया था कि यह अनंद संवत् उस समय के राजदरबार के कागज पत्रों में प्रचलित था। पर इन परवानों के सम्बन्ध में अनेक लोग अनेक संदेहजनक बातें कहते हैं अतएव हमें उनकी प्रामाणिकता का कोई आग्रह नहीं है।

जो कुछ कहा गया है उसका सारांश इतना ही है कि पृथ्वीराजरासो बिल्कुल जाली नहीं है। इसमें क्षेपकों की संख्या अवश्य अधिक है पर मूल चंदरबरदाई का है।

(2) दूसरी महत्त्व की पुस्तक जिसका इस वर्ष पता चला वह गोस्वामी तुलसीदास जी रचित "रामचरितमानस" या रामायण है। गोस्वामी जी ने संवत् 1631 में इस ग्रंथ का लिखना प्रारम्भ किया था और संवत् 1680 में उनकी मृत्यु काशी में हुई। इस पुस्तक की जो प्रति इस वर्ष मिली वह संवत् 1704 की लिखी है। यह महाराज काशिराज के पुस्तकालय में रक्षित है। सन् 1901 की रिपोर्ट में इस ग्रंथ के बाल काण्ड और अयोध्या काण्ड की अत्यंत प्राचीन प्रतियों का विवरण दिया गया है। इनमें से बाल काण्ड तो संवत् 1661 का लिखा है और अयोध्या काण्ड स्वयं तुलसीदास जी के हाथ का लिखा है। बाल काण्ड अयोध्या में रक्षित है और अयोध्याकाण्ड राजापुर (बाँदा) में। अयोध्या में रक्षित प्रति सम्पूर्ण रामायण की है पर बाल काण्ड को छोड़ शेष 6 काण्ड नये लिखे हुए जान पड़ते हैं। बाल काण्ड में भी पहले पाँच पृष्ठ नवीन लिख कर लगाये गये हैं। छठे पृष्ठ से पुरानी प्रति प्रारम्भ होती है। अंत के पत्र भी जीर्ण हो चले हैं

अतएव उनकी रक्षा करने के लिये जहाँ-तहाँ चिट लगा दिये गये हैं। पहले पत्र पर हिन्दी में कुछ लिखा है जो स्पष्ट पढ़ा नहीं जाता। इसमें "संवत् १८८६ कार्तिक कृष्ण ५ रविवार" लिखा है जिससे यह अनुमान होता है कि इस प्रति का उद्धार इस संवत् में किया गया। अंत में "संवत् १६६१ वैशाख सुदि ६ बुधे" लिखा है। अतएव यह स्पष्ट है कि पहले 5 पत्रों को छोड़ कर शेष प्रति संवत् 1661 की लिखी है।

सन् 1901 की रिपोर्ट में राजापुर में रक्षित अयोध्या काण्ड की प्रति का भी पूरा वर्णन है। कहते हैं कि गोस्वामी जी ने रामचरितमानस की दो प्रतियाँ अपने हाथ से लिखी थीं, जिनमें से एक तो वे किसी भाट के पास मलिहाबाद (लखनऊ) में छोड़ गये और दूसरी अपने साथ राजापुर लेते गये। राजापुर वाली प्रति को एक बार कोई चोर ले भागा। लोगों ने उसका पीछा किया तो उसने समस्त पुस्तक यमुना की धार में फेंक दी। यमुना में से किसी प्रकार केवल अयोध्या काण्ड निकल सका। शेष काण्डों का पता नहीं चला। कहते हैं कि यह प्रति वही यमुना से निकाली हुई प्रति है। इस पर अब तक जल के चिह्न हैं जिससे इस घटना की प्रामाणिकता पुष्ट होती है। मलिहाबाद वाली प्रति जनार्दन भट्ट नाम के एक पंडित के पास थी पर अब उसके वंशधरों के अधिकार में है। कहा जाता है कि यह प्रति भी तुलसीदास जी के हाथ की लिखी है। पर जाँच करने पर इस बात के सत्य होने में संदेह किया जाता है। जिन लोगों ने इस प्रति को देखा है उनका कहना है कि इसमें क्षेपक हैं जैसे गंगावतरण की कथा। इस अवस्था में इसे प्रामाणिक मानना असंभव है। अस्तु अब तक रामचरितमानस की तीन प्राचीन प्रामाणिक प्रतियों का पता चला है। एक तो बाल काण्ड जो अयोध्या में है और जो संवत् 1661 की लिखी है। दूसरी अयोध्या काण्ड जो राजापुर (जिला बाँदा) में है पर जिस पर कोई सन् संवत् नहीं दिया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने जीवन-काल में एक पंचनामा लिखा था। यह महाराज काशिराज के यहाँ रक्षित है। इसके अक्षर राजापुर की प्रति से बिल्कुल मिलते हैं। अतएव इसके तुलसीदास जी के हाथ की लिखी होने में कोई संदेह नहीं है। इसका लिपिकाल संवत् 1680 के पूर्व का होगा। तीसरी प्रति संवत् 1704 की लिखी महाराज काशिराज के पुस्तकालय में रक्षित है। बाल काण्ड और अयोध्या काण्ड के दो-दो पत्रों का फोटोचित्र भी सन् 1901 की रिपोर्ट में दिया गया है। हम इन दोनों चित्रों को यहाँ देकर विद्वानों को दोनों प्रतियों

के अक्षरों को मिलाने का अवसर देते हैं। वाल काण्ड के एक पत्रे का पाठ जो चित्र में दिया है इस प्रकार है—

राष विधाता ॥

देषु जनक हठि वालकु एहू।
कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू ॥
वेगि करहु किन आषिन्ह ओटा।
देषत छोट षोट नृप ढोटा ॥
विहसे लषनु कहा मन माही।
मूदे आषि कतहुं कोउ नाही ॥

॥ दोहा ॥

परसुरामु तब राम प्रति बोले उर अति क्रोधु।
संभु सरासनु तोरि सठ करसि हमार प्रवोधु ॥ २८१॥

वंधु कहै कटु संमत तोरे।
तू छल विनय करसि कर जोरे ॥
करु परितोषु मोर संग्रामा।
नाहि त छाडु कहाउव रामा ॥
छलु तजि करहि समरु सिवद्रोही।
वंधु सहित नत मारौं तोही ॥
भृगुपति वकहिं कुठार उठाए।
मन मुसुकाहि रामु सिर नाए ॥
गुनह लषनु कर हम पर रोसू।
कतहु सुधाइहु ते वड दोषू ॥
टेढ जानि सव वंदे काहू।
वक्र चंद्रमा ग्रसै न राहू ॥
राम कहेउ सिर तजिअ मुनीसा।
कर कुठा

दूसरे अर्थात् बाल काण्ड के अंतिम पत्रे का पाठ इस प्रकार है—

हं तहं रामु व्याहु सवु गावा।
सुजस पुनीत लोक तिहु छावा ॥

आए ब्याहि रामु घर जब तें ।
बसै अनंद अवध सब तब तें ।।
प्रभु विवाह जस भयेउ उछाहू ।
सकहि न वरनि गिरा अहिनाहू ।।
कवि कुल जीवनु पावन जानी ।।
राम सीय जसु मंगल षानी ।।
तेहि ते मैं कछु कहा बषानी ।
करन पुनीत हेतु निज बानी ।।

।। छंदु ।।

निज गिरा पावनि करन कारन राम जसु तुलसी कह्यो ।
रघुवीर चरित अपार वारिधि पारु कवि कौने लह्यो ।।
उपवात व्याह उछाहु मंगल सुनि जे सादर गावहीं ।
वैदेहि राम प्रसाद ते जन सवदा सुषु पावहीं ।।

।। सोरठा ।।

सिय रघुवीर विवाहु जे सप्रेम गावहि सुनहि ।
तिन्ह कहु सदा उछाहु मंगलायतन राम जसु ।।२६२।।

इति श्रीमद्रामचरितमानसे कल कलि कलुष विध्वंस............[1]
सुभमस्तु ।। सवत् १६६१ वैशाष शुदि ६ बुधे ।।

राजापुर में रक्षित अयोध्या काण्ड के एक पत्रे का पाठ इस प्रकार है—

करउं हठ झूठ सनेहु वढ़ाइ ।
मानि मातु कर नात वलि सुरति विसरि जनु जाइ ।।५६।।

दैव पितर सब तुम्हहि गोसाई ।
राषहु पलक नयन की नाई ।।
अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना ।
तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना ।।
अस विचारि सोइ करहु उपाई ।
सवहि जिअत जिहि भेंटहु आई ।।

---

1. शेष अंश हाशिये पर लिखा है जो स्पष्ट पढ़ा नहीं जाता ।

जाहु सुषेन वनहिं वलि जाऊं।
करि अनाथ जन परिजन गाऊं॥
सव कर आजु सुकृत फल वीता।
भयेउ करालु कालु विपरीता॥
वहु विधि विलपि चरन लपटानी।
परम अभागिनि आपुहि जानी॥
दारुन दुसह दाहु उरु व्यापा।
वरनि न जाहि विलाप कलापा॥
राम उठाइ मातु उर लाई।
कहि

इस पुस्तक के दूसरे पन्ने का पाठ इस प्रकार है

पि राम महतारी॥

तात सुनहु सिय अति सुकुमारी।
सासु ससुर परिजनहि पियारी॥

॥ दोहा ॥

पिता जनक भूपाल मनि, ससुर भानु कुल भानु।
पति रवि-कुल कैरव, विपिन, विधु गुनरूप निधानु॥५८॥

मैं पुनि पुत्र वधू प्रिय पाई।
रूप रासि गुन सील सुहाई॥
नयन पुतरि करि प्रीति वढ़ाई।
राषेउं प्रान जानकिहि लाई॥
कलप वेलि जिमि वहु विधि लाली।
सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली॥
फूलत फलत भयउ विधि वामा।
जानि न जाहि काहि परनामा॥
पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा।
सिय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जिअन मूरि जिमि जोगवत रहऊं।
दीप वाति नहि टारन कहऊं॥

दोनों पुस्तकों के पाठों को मिलाने से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि तुलसी-दास जी के हाथ की लिखी प्रति में य और व के नीचे बिन्दी दी है पर अयोध्या की प्रति में चार-पाँच जगह छोड़ कर और कहीं ऐसा नहीं है। फिर दोनों में दीर्घ 'ई' की मात्रा लिखने में भी भेद है। सारांश यह है कि यदि राजापुर की प्रति तुलसीदास जी के हाथ लिखी है तो अयोध्या की प्रति उनके हाथ की लिखी नहीं हो सकती।

(3) मलिक मुहम्मद जायसी ने सन् 927 हिजरी (संवत् 1578) में पद्मावती (पद्मावत) नाम का काल्पनिक कथात्मक काव्य ग्रन्थ लिखा था। हिन्दी-साहित्य में बहुत दिनों तक जायसी की कृति ही इस विषय का सर्वोत्तम और सबसे पहला ग्रन्थ माना जाता था। पर इस वर्ष की खोज में पद्मावती से 18 वर्ष पहले के बने हुए एक नवीन ग्रन्थ का पता चला। यह शेख़ कुतुबन का बनाया हुआ मृगावती नामक काव्य है। इसे सन् 909 हिजरी (संवत् 1560-61) में कवि ने रचा। कुतुबन शेरशाह सूर के पिता हुसेनशाह के समय में हुआ और मलिक मुहम्मद शेरशाह के समय में। कुतुबन हुसेनशाह के विषय में यह लिखता है—

साह हुसेन अहे बड़ राजा।
छत्र सिंहासन उनको छाजा॥
पंडित औ बुधवंत सयाना।
पढ़े पुरान अरथ सब जाना॥
धरम दुदिष्टिल उनको छाजा।
हम सिर छाह जियो जगराजा॥
दान देइ औ गनत न आवै।
बलि औ करन न सरबर पावै॥
राय जहां लौ गंद्रप रहहीं।
सेवा करहिं बार सब चहहीं॥

मलिक मुहम्मद शेरशाह के विषय में यह लिखता है—

शेरशाह दिल्ली सुलतानू। चारहुँ खंड तपै जस भानू॥
ओही छाज छात औ पाटा। सब राजैं भुइँ धरा लिलाटा॥
जाति सूर औ खाँडे सूरा। औ बुधवंत सबै गुन पूरा॥
सूर नवाई नवखंड भई। सातौ दीप दुनी सब नई॥

तहँ लग राज खड्ग करि लीन्हा । इसकंदर जुलकरन जो कीन्हा ।।
हाथ सुलेमाँ केरि अँगूठी । जग कहँ दान दीन्ह भरि मूठी ।।
औ अति गरू भूमि पति भारी । टेंक भूमि सब सृष्टि सँभारी ।।

दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज ।
बादशाह तुम जगत के जग तुम्हार मुहताज ।।१३।।

बरनौं सूर भूमिपति राजा । भूमि न भार सहै जो साजा ।।
हय मय सेन चलै जग पूरी । परबत टूटि उड़हिं होइ धूरी ।।
परी रेणु होइ रबिहिं गरासा । मानुष पंखि लेहि फिरि बासा ।।
भुंइ उड़ि गइ अंतरिछ मृत मंडा । ऊपर होय छाव महि मंडा ।।
डोलै गगन इंद्र हरि काँपा । बासुकि जाय पतारहिं चापा ।।
मेरु धसमसै समुद सुखाई । बनखँड टूटि खेह मिलि जाई ।।
अगलहिँ कहँ पानी गहि बाँटा । पिछलहिँ कहँ नहिं काँदौ आँटा ।।

जो गढ़ लियो न काहू चलत होय सब चूर ।
जौ यह चढ़ै भूमिपति शेरशाह जग सूर ।।१४।।

अदल कहों प्रथमैं जस होई । चाँटा चलत न दुखवै कोई ।।
नौशेरवाँ जो आदिल कहा । शाह अदल सर सौंहि न अहा ।।
अदल जो कीन्ह उमर की नाई । भई अहाँ सगरी दुनयाँई ।।
परी नाथ कोई छुवै न पारा । मारग मानुष से उँजियारा ।।
गऊ सिंह रेंगहिं एक बाटा । दोनौं पानि पिये एक घाटा ।।
नीर खीर छानै दरबारा । दूध पानि सब करै निरारा ।।
धर्म नियाव चलै सत भाखा । दूबर बली एक सम राखा ।।

सब पृथवी सीसहिं नई जोर जोर कै हाथ ।
गंग जमुन जौं लहि जल तौ लहि अम्मर नाथ ।।१५।।

पुनि रुपवंत बखानौं काहा । जावत जगत सबै मुख चाहा ।।
ससि चौदस जो दई सँवारा । ताहू चाहि रूप उँजियारा ।।
पाप जाइ जो दरसन दीसा । जग जुहार कै देत असीसा ।।
जैस भानु जग ऊपर तपा । सबै रूप वह आगे छिपा ।।
अस भा सूर पुरुष निरमरा । सूर जाहि दस आकर करा ।।
सौंह दृष्टि करि हेर न जाई । जेहि देखा सो रहा सिर नाई ।।
रूप सवाई दिन दिन चढ़ा । विधि सुरूप जग ऊपर गढ़ा ।।

रूपवंत मनि माथे चंद्र घाटि वह बाढ़ि।
मेदिनि दरस लुभानि असतुति विनवै ठाढ़ि ।।१६।।

पुनि दातार दई जग कीन्हा। अस जग दान न काहू दीन्हा ।।
वलि विक्रम दानी बड़ कहे। हातिम करण तियागी अहे ।।
शेरशाह सरि पूजन कोऊ। समुद सुमेर भंडारी दोऊ ।।
दान दाँग बाजै दरबारा। कीरति गई समुंदर पारा ।।
कंचन सूर परस जग भयो। दारिद भागि दिसंतर गयो ।।
जो कोइ जाय एक वेर माँगा। जन्म न हो पुनि भूखा नाँगा ।।
दस असुमेध जगत जे कीन्हा। दान पुन्य सइ सौंह न चीन्हा ।।

ऐस दानि जग उपजा शेरशाह सुलतान।
न अस भयो न होइय ना कोइ देय अस दान ।।१७।।

मृगावती का लिपिकाल नहीं दिया है पर पद्मावती संवत् 1747 की लिखी है। सन् 1901 की खोज में पद्मावती की और तीन प्रतियों का उल्लेख है जो संवत् 1847, 1879 और 1758 की लिखी हैं। सन् 1903 की रिपोर्ट में संवत् 1761 की लिखी एक प्रति का उल्लेख है।

सन् 1902 की रिपोर्ट में कवि नूर मुहम्मद के इन्द्रावती नाम के एक कथात्मक काव्यग्रन्थ का उल्लेख है जो सन् 1197 हिजरी (संवत् 1840) का बना है। यह कवि अपने समय के राजा मुहम्मद शाह का इस प्रकार वर्णन करता है—

कहौं मुहम्मद साह बखानूँ।
है सूरज दिहली सुलतानूँ ।।
धरम पंथ जग बीच चलावा।
निबरन सबरै सौं दुख पावा ।।
पहिरे सलातीन जग केरे।
आए मुहाँस बने हैं चेरे ।।
उहै साह नित धरम बढ़ावै।
जेहि पहराँ मानुष सुख पावै ।।
सब काहू पर दाया धरई।
धरम सहित सुलतानी करई ।।

धरम भलो सुलतान को धरम करै जो साह ।
सुख पावै मानुष सबै सब का होइ निबाह ।।

इसी सन् (1902) की रिपोर्ट में कवि कासिम साह कृत हंस-जवाहिर नाम के एक कथात्मक काव्यग्रन्थ का उल्लेख है जो सन् 1149 हिजरी (सम्वत् 1794) में रचा गया । एक दूसरे कवि शेख नबी के ज्ञानदीपक नामक कथात्मक काव्यग्रन्थ का भी उल्लेख है जो सन् 1024 हिजरी (सम्वत् 1672) में निर्मित हुआ । इस प्रकार कथात्मक काव्यग्रन्थों के प्रचार करने वाले मुसलमान कवियों में सबसे पहला कुतुबन, दूसरा मलिक मुहम्मद, तीसरा शेख नबी, चौथा कासिम और पाँचवाँ नूर मुहम्मद हुआ । ऐसे ग्रन्थों के लिखने वाले हिन्दू कवियों में हरराज और दामो नामक दो कवियों का उल्लेख सन् 1900 की रिपोर्ट में दिया है । पहले कवि ने सम्वत् 1607 में ढोला मारवणी चउपही और दूसरे ने सम्वत् 1516 में लक्ष्मणसेन पद्मावती नामक काव्यग्रन्थ लिखे । ऐसा जान पड़ता है कि ऐसे ग्रन्थों के लिखने की परिपाटी बहुत दिनों तक नहीं चली ।

सन् 1901

इस वर्ष 250 पुस्तकों की नोटिसें की गईं जिनमें से 129 का पूरा विवरण इस रिपोर्ट में दिया गया है । इनमें 129 ग्रन्थ 73 ग्रन्थकर्त्ताओं के रचे हुए हैं जिनमें 1 बारहवीं, 1 चौदहवीं, 12 सोलहवीं, 12 सत्रहवीं, 19 अठारहवीं, और 15 उन्नीसवीं शताब्दी के बने हुए हैं । शेष 13 ग्रन्थों के कर्त्ताओं का समय और 5 में नामों का पता न चल सका । इन 5 अज्ञात ग्रन्थकारों में से 1 अठारहवीं और 1 उन्नीसवीं शताब्दी का था । अधिकांश प्रतियों का लिपिकाल 19 वीं शताब्दी है ।

(1) इस वर्ष की रिपोर्ट में रामचरितमानस और पृथ्वीराजरासो की प्रतियों के अतिरिक्त, जिनके विषय में ऊपर लिखा जा चुका है, महाराज सावंतसिंह उपनाम नागरीदास और उनकी बहिन सुन्दरकुँवरि के अनेक ग्रन्थों का उल्लेख है ।

ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मारवाड़ की गद्दी पर महाराज उदयसिंह विराजते थे । इनके दो पुत्र सूरसिंह और कृष्णसिंह हुए । सम्वत् 1651 में महाराज उदयसिंह ने आसोब (प) नामक गाँव अपने पुत्र कृष्णसिंह को दे दिया, पर जब सूरसिंह अपने पिता की गद्दी पर यथासमय विराजे तो उन्होंने यह गाँव अपने छोटे भाई कृष्णसिंह से ले लिया और उसके बदले में दुधारो नामक

गाँव उन्हें दिया। कृष्णसिंह को यह बात स्वीकार नहीं हुई और वे मारवाड़ छोड़कर दिल्ली चले गये जहाँ उन्हें संवत् 1654 में हिंडोरा परगना मिला। इस परगने में संवत् 1668 में उन्होंने कृष्णगढ़ नाम का नगर बसाया। यह कृष्णगढ़ राज्य स्थापित होने की आदि-कथा है। महाराज कृष्णसिंह के चार लड़के हुए—सहमल, जगमल, भारमल और हरिसिंह। महाराज कृष्णसिंह के पीछे सहमल, उनके अनन्तर उनका भाई जगमल, उसके अनन्तर उनके छोटे भाई हरिसिंह और उसके पीछे उसके बड़े भाई भारमल का लड़का रूपसिंह गद्दी का मालिक हुआ। इन महाराज रूपसिंह ने संवत् 1700 में रूपनगर या रूपगढ़ नामक नगर बसाकर[1] उसे अपनी राजधानी बनाया। यही संवत् 1823 तक कृष्णगढ़ राज्य की राजधानी रहा। इसके अनन्तर कृष्णगढ़ नामक नगर पुन: अपने गौरव को प्राप्त हुआ। रूपसिंह के अनन्तर मानसिंह और मानसिंह के पीछे राजसिंह कृष्णगढ़ की गद्दी पर बैठे। इन राजसिंह के 5 लड़के हुए जिनमें तीसरे लड़के सावंतसिंह गद्दी के अधिकारी बने। महाराज राजसिंह के दो ग्रन्थों (रसपाय नाटक और बाहुविलास) का विवरण सन् 1902 की खोज की रिपोर्ट में दिया है। महाराज सावंतसिंह का जन्म संवत् 1756 में हुआ। संवत् 1805 में वे गद्दी पर बैठे और तीन वर्ष पीछे अपने लड़के सरदारसिंह को राज्य सौंप संवत् 1808 में मथुरा में जा बसे जहाँ संवत् 1822 में उनका गोलोकवास हुआ। इन्हीं महाराज सावंतसिंह का उपनाम नागरीदास था। ऐसा जान पड़ता है कि इन महाराज का जीवन बड़ा दु:खमय था। अभी गद्दी पर बैठे इन्हें थोड़े दिन हुए थे कि इनकी अनुपस्थिति में इनका छोटा भाई बहादुरसिंह जबरदस्ती गद्दी पर अधिकार जमा बैठा। महाराज सावंतसिंह को उससे लड़ाई लड़ अपना राज्य लेना पड़ा। पर इस घटना का उनके हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे राजपाट छोड़ मथुरा चले गये। ईश्वर की विचित्र लीला है। महाराज सावंतसिंह के लड़के महाराज सरदारसिंह के कोई संतति नहीं हुई और उनके पीछे कृष्णगढ़ का राज्य महाराज बहादुरसिंह और उनके वंशजों के अधिकार में चला गया। महाराज सावंतसिंह उपनाम नागरीदास के 30 ग्रन्थों का विवरण सन् 1901 की रिपोर्ट में दिया है। इनमें से दस ग्रन्थों में निर्माण-काल दिया है जो संवत् 1788 से संवत् 1819 के बीच में है अर्थात् सबसे पहले ग्रंथ (विहारचंद्रिका) का निर्माण-काल संवत् 1788 और अंतिम ग्रंथ (बनजन प्रशंसा-पदप्रबंध) का निर्माण-काल संवत् 1819 है।

---

1. वास्तव में बब्बेरक (बबेरा) नामक प्राचीन नगर का नाम बदल कर रूपसिंह ने उसे अपने नाम से प्रसिद्ध किया।

महाराज सावंतसिंह की बहिन सुन्दरकुँवरि के दस ग्रंथों का विवरण भी इस वर्ष की रिपोर्ट में दिया गया है। इनका निर्माण-काल संवत् 1817 से संवत् 1853 है। ऐसा जान पड़ता है कि सुन्दरकुँवरि महाराज बहादुरसिंह के पक्ष में थीं। महाराज सावंतसिंह का उन्होंने अपने ग्रंथों में कहीं उल्लेख नहीं किया है, पर महाराज बहादुरसिंह के विषय में उन्होंने अपने "वृन्दावन गोपीमाहात्म्य" नामक ग्रंथ में जो संवत् 1823 का रचित है यह लिखा है—

राजसिंह महाराजसुत सिंह बहादुर वीर।
विक्रम बल विद देत अति, दाता सुघर सुधीर ।।
भक्त परायण रसिकमणि, रूपनगर के राज।
निज भगनी सुंदरकुँवरि, लावत शुभ मग काज ।।

सुन्दरकुँवरि ने अपने "रामरहस्य" नामक ग्रंथ में जो संवत् 1853 का बना है अपने माता-पिता का उल्लेख इस भाँति किया है—

भूप रूपगढ़ राजसिंह, बाँकावत जिन भाम।
तिहि जु सुता हौं लहहु मम, सुंदरकुँवरि सु नाम ।।

(2) दूसरा उल्लेख करने योग्य ग्रन्थ तानसेन का "संगीतसार" है। इनका असली नाम त्रिलोचन मिश्र और पिता का मकरंद पांडे है। तानसेन स्वामी हरिदास जी के शिष्य थे। इस ग्रन्थ में पहले संगीत-विद्या-सम्बन्धी शब्दों का लक्षण, फिर रागों का नाम, प्रत्येक का लक्षण, स्वरूप आदि दिया है। तालाध्याय में ताल का पूरा-पूरा वर्णन, प्रत्येक ताल का नाम, लक्षण, प्रस्तार आदि दिये हैं। दुःख का विषय है कि यह ग्रन्थ खण्डित है। इसका लिपि-काल संवत् 1888 है।

(3) रीवाँ के राजकवि अजवेस ने संवत् 1892 में महाराज जयसिंह जू देव और महाराज विश्वनाथसिंह जू देव के समय में "बघेलवंशवर्णन" नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में आदि से लेकर व्याघ्रदेव तक के राजाओं के नाम आये हैं। चौलुक्य से लेकर व्याघ्रदेव तक 1038 राजाओं के नाम इसमें दिये हैं, जिनमें से 105 के नामों के अंत में "ऋषि," 102 में "मुनि," 49 में "चन्द्र," 89 में "भानु," 62 में "पाल," 77 में "साह," 98 में "देव," 122 में "सिंह," 108 में "सेन," 124 में "दत्त," 118 में "सी," और 7 में "देव" शब्द आया है। व्याघ्रदेव के पाँच पुत्रों के ये नाम दिये हैं—करनदेव (बघेलखंड के अधीश), कीरतिदेव (पीथापुर दक्षिण के राजा), सूरतिदेव (कोटा के अधीश), स्यामदेव (जोधपुर के अधीश) और सबसे छोटे कन्हरदेव जिनको "राव" की पदवी और

कसौरा गाँव दिया गया। इनके वंश में अब राजा साहब बारा और महाराव फलौटा हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस वंशावली तथा इन नामों का कुछ भी महत्त्व नहीं है, भाटों की वंशावलियों में ऐसे ही मनगढ़ंत तुकबन्दी के नाम मिलते हैं। पृथ्वीराजरासो को छोड़कर कहीं पर सोलंकियों (चालुक्यों) का अग्निवंशी होना लिखा नहीं मिलता। चालुक्यों के शिलालेखों और ताम्रपत्रों में उनकी वंशावली यों दी है—पुरुषोत्तम, ब्रह्मा, अत्रि, सोम, बुध, पुरूरवा, आयु, नहुष, ययाति, पुरु, जनमेजय, प्राचीश, सैन्ययाति, हयपति, सार्वभौम, जयसेन, महाभौम, देशानक, क्रोधानन, देवकि, ऋभुक, ऋक्षक, मतिवर, कात्यायन, नील, दुष्यन्त, भरत, भूमन्यु, सुहोत्र, हस्ति, विरोचन, अजमील, संवरण, सुधन्वा, परिक्षित्, भीमसेन, प्रदीपन, शान्तनु, विचित्रवीर्य, पाण्डु, अर्जुन, अभिमन्यु, परीक्षित, जनमेजय, क्षेमुक, नरवाहन, शतानीक और उदयन। उदयन से लेकर 59 चक्रवर्ती राजा अयोध्या में हुए और विजयादित्य दक्षिण में गया। प्रायः सभी लेखों और काव्यों में उन्हें चंद्रवंशी कहा है। एक लेख में ब्रह्मा, स्वायंभुव मनु, मानव्य, हरित, पंचशिखहारीति और चालुक्य क्रम देकर उससे वंश का नाम चलाया है। कश्मीरी कवि बिल्हण ने अपने विक्रमांकदेवचरित में कवि-स्वभाव से कल्पना की है कि ब्रह्मा ने संध्या करते समय जल से भरे हुए चुल्लू पर ध्यान दृष्टि डालकर त्रैलोक्य की रक्षा में समर्थ चौलुक्य वीर को उत्पन्न किया जिसके वंश में हारीत और मानव्य हुए। यह ब्रह्मा के चुल्लू की कथा पीछे के चार शिलालेखों में भी मिलती है जो चौलुक्य शव्द के निर्वचन पर से की गयी जान पड़ती है। कलचुरियों के एक लेख में द्रोण के शाप-जल के चुल्लू से चौलुक्य की उत्पत्ति कही गयी है। अयोध्या से दक्षिण जाने के पीछे सोलह राजा हुए, फिर कुछ काल चौलुक्यराजलक्ष्मी 'दुष्टावष्टब्ध' रही, पीछे जयसिंह ने चौलुक्य राज्य की स्थापना की। जयसिंह का समय निश्चित नहीं, किन्तु उसके पौत्र पुलकेशी प्रथम का राज्यांत समय 567 ई० है। दक्षिण या गुजरात के सोलंकियों के लेखों में कहीं व्याघ्रदेव का नाम नहीं मिलता। व्याघ्रदेव नामक एक राजा के शिलालेख बुन्देलखण्ड से मिले हैं किन्तु उसके दक्षिण या गुजरात के सोलंकियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध होने का कोई प्रमाण नहीं। पूर्वी सोलंकी राजा विजयादित्य पाँचवें का राज्यकाल ई० स० 925 है। उससे बेंगी का देश उसके छोटे भाई युद्धमल्ल के पुत्र ताडप ने छीन लिया किन्तु उसके वंशज सन् 1202 तक पिट्ठापुरम् पर राज्य करते रहे। पिट्ठापुरम् के सोलंकी राज्य का स्थापक विजयादित्य पाँचवें का पुत्र सत्याश्रय था। पिट्ठापुरम् के

राजाओं की नामावली में कहीं कीरतिदेव का नाम नहीं है। पीथापुर जहाँ बघेलों का राज्य होना पाया जाता है वह गुजरात का पीथापुर (पीथापुर माणसा) हो सकता है। कोटे और जोधपुर में करनदेव के भाइयों का राज्य होना भी कल्पित है।

(4) सदल मिश्र लिखित नासिकेतोपाख्यान नामक गद्य-ग्रन्थ सन् 1803 (संवत् 1860) में फोर्ट विलियम कालेज में रचा गया। सदल मिश्र लल्लूलाल के समसामयिक थे। हिन्दी गद्य को आधुनिक रूप देनेवालों में इन महाशय की गणना है।

(5) संवत् 1680 में जटमल ने गोराबादल की कथा लिखी। इस ग्रन्थ का विशेष भाग गद्य में है। इसमें सत्रहवीं शताब्दी के हिन्दी-गद्य का नमूना मिल सकता है। उदाहरण के लिए नीचे दो-चार पंक्तियाँ दी जाती हैं—

"गोरे की आवरत आवे सा वचन सुनकर आपने षावंद की पगड़ी हाथ में लेकर वाहा सती हुई, सो सीवपुर में जाके वाहा दोनों भेले हुवे। गोरा बादल की कथा गुरू के वस सरस्वती के महरवानगी से पूरन भई, तीस वास्ते गुरू कू व सरस्वती कू नमस्कार करता हु।"

(6) संवत् 1882 में महापात्र शिवनाथ ने जो महापात्र नरहरि (अकबर के आश्रित) के वंश में थे, "वंशावली" नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें रीवाँ राज्य की वंशावली महाराज जयसिंह तक की है। इस पुस्तक का जो अंश रिपोर्ट में उद्धृत किया गया है उससे इसके ऐतिहासिक मूल्य का कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता। यदि अजबेस के "बघेलवंश-वर्णन" और शिवनाथ की "वंशावली" की पूरी-पूरी जाँच की जा सके तो इनसे अनेक ऐतिहासिक बातें जानी जा सकें।

(ना० प्र० प० भाग १, १९२०)

———

हमारी लिपि

एक प्रकार से यह बात सर्वसम्मत-सी हो रही है कि भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के लिए एक भाषा और एक लिपि का प्रचार होना आवश्यक है। एक भाषा का प्रश्न तो कुछ कठिन है; क्योंकि इस देश में प्रधान प्रचलित भाषाओं के बोलने वालों को अपनी-अपनी भाषा का अभिमान है और उसकी अंगपुष्टि के लिए वे उद्योगी हो रहे हैं। उनसे यह आशा करना कदाचित् उचित न होगा कि वे सब अपनी-अपनी भाषाओं को छोड़कर एक राष्ट्रभाषा को स्वीकार करें और उसी की वृद्धि में तत्पर हों। कुछ लोगों का यह कहना है कि हम यह चाहते हैं कि सब लोग अपनी-अपनी भाषा की जैसे चाहें वृद्धि करें पर साथ ही वे एक भाषा को राष्ट्रीय पद के लिए अंगीकार कर उसकी उन्नति में दत्तचित्त हों। वास्तव में यह कथन बहुत ठीक है और उसी के अनुसार कार्य करने से सफल मनोरथ होने की सम्भावना है। इसमें सन्देह नहीं है कि हमारा भविष्य राष्ट्रभाषा हिन्दी ही है पर यह कहना कि वह इसी रूप में रहेगी जिसमें हम उसे आजकल लिखते और बोलते हैं बड़े साहस की बात है। मेरा अनुमान तो यह है कि हमारा भविष्य राष्ट्रभाषा के बनाने में हिन्दी, उर्दू, बँगला, मराठी और गुजराती इन पाँच भाषाओं को सहयोग देना पड़ेगा, इनके शब्दों का विशेष समावेश उसमें होगा और हमारा व्याकरण भी इन्हीं के आश्रय पर निर्धारित होगा. यद्यपि इसमें सन्देह नहीं है कि इन दोनों बातों में हिन्दी का विशेष अथवा बहुत अधिक अंश सम्मिलित रहेगा। यह विषय भविष्य का है और इसके लिये किसी निश्चित प्रणाली का अवलम्बन करना असम्भव है। मैंने इस बात का उल्लेख इसलिये किया है जिसमें यह बात ध्यान में बनी रहे कि हमारा भविष्य क्या है और हमें उन्हीं उपायों का अवलम्बन करना चाहिए जिनसे हमें अपने भविष्य के पूरा उतारने में सहायता पहुँच सके। मैं आज राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर कुछ लिखना नहीं चाहता। मेरा विचार अपने भावों को राष्ट्रलिपि के सम्बन्ध में प्रकट करने का है।

इस बात को सब लोग स्वीकार करते हैं कि देवनागरी लिपि का प्रचार समस्त देश में है। ऐसी कोई दूसरी लिपि इस समय भारतवर्ष में वर्तमान नहीं है जिसका इससे अधिक तो दूर रहा इतना भी प्रचार हो। इसका मुख्य कारण यह है कि संस्कृत भाषा इस लिपि में लिखी जाती है। कुछ लोगों का यह कथन

है कि देवनागरी लिपि भारतवर्ष की सब भाषाओं के लिये उपयुक्त नहीं है, इसमें कई उच्चारणों के लिये चिह्न नहीं हैं तथा कुछ अक्षर अनावश्यक हैं। एक विशेष भाषा के लिये उसके विशेष अक्षर ही उपयुक्त होते हैं, दूसरे अक्षरों में उस भाषा को लिखकर ठीक-ठीक उच्चारण करना कठिन है, जब तक पढ़ने वाला उस दूसरी भाषा से भी भली-भाँति परिचित न हो। यह नियम विशेषकर उन भाषाओं के विषय में लगता है जिनकी उत्पत्ति एक नहीं है। यद्यपि विद्वानों का यह सिद्धान्त है कि समस्त संसार की सब आर्य भाषाओं की उत्पत्ति एक अज्ञात भाषा से हुई जो अक्सस नदी के किनारे मध्य एशिया में बोली जाती थी तथापि समय पाकर ज्यों-ज्यों आर्य संतान भूमण्डल के भिन्न-भिन्न भागों में फैलती गयी त्यों-त्यों जलवायु के परिवर्तन तथा प्राकृतिक अवस्था के भेद से उनके रहन-सहन तथा बोलचाल में अन्तर पड़ता गया। यह अवस्था यहाँ तक बढ़ी कि जहाँ आर्य जाति के पूर्वज एक ही भाषा बोलते थे वहाँ उनकी संतानें एक-दूसरे से अलग होकर भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने लगीं। समय पाकर इन भाषाओं में भिन्नता की मात्रा और भी बढ़ती और दृढ़ होती गयी। लिपि के विषय में इतनी भिन्नता अब वर्तमान नहीं है। भूभाग के अधिक भाग में एक जननी-जनित अनेक भाषाएँ प्राय: एक ही लिपि में लिखी जाती हैं, जैसे योरप की भिन्न-भिन्न भाषाएँ उसी लिपि में लिखी जाती हैं जिसे हम अंग्रेजी लिपि का नाम देते हैं। पर भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न आर्य भाषाएँ भिन्न-भिन्न लिपियों में लिखी जाती हैं। समानता उनमें इतनी ही है कि वे सब एक ही प्राचीन लिपि के रूपान्तर हैं और सब में प्राय: एक ही सी ध्वनि तथा उनके लिये निर्धारित चिह्न वर्तमान हैं। भेद केवल उन चिह्नों के रूपों में है। केवल उर्दू ही एक ऐसी आर्य भाषा है जो इन सब से भिन्न है। यद्यपि उत्पत्ति तथा संगठन के ध्यान से उर्दू भी आर्य भाषाओं में से है परन्तु आजकल उसमें अरबी-फारसी से विशेष सहायता ली जाती है और क्रमश: उसके व्याकरण का रूप भी बदलता जा रहा है। वह आर्य भाषा होने पर भी आर्य अक्षरों में नहीं लिखी जाती। उसके लिये सेमेटिक अक्षर निर्धारित हैं जो दाहिनी ओर से बायीं ओर लिखे जाते हैं, यह एक मुख्य कारण है जिससे उर्दू की भारत-वर्षीय अन्य आर्य भाषाओं से विभिन्नता बढ़ती जा रही है। राजनीतिक कारणों से इस भाषा ने विशेष प्राबल्य प्राप्त किया है।

मैंने आरम्भ में यह कहा है कि एक विशेष भाषा के लिए एक विशेष अक्षर उपयुक्त होते हैं। मेरा अभिप्राय इससे यह है कि यह उद्योग करना कि संसार की सब भाषाएँ एक ही अक्षरों में लिखी जायँ कभी सफल नहीं हो सकता।

फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी, इटालियन आदि भाषाओं के लिये अंग्रेजी अक्षर ही उपयुक्त हैं। ये भाषाएँ देवनागरी अक्षरों में नहीं लिखी जा सकतीं। यह अवश्य है कि इन भाषाओं के शब्दों को हम देवनागरी अक्षरों में लिख सकते हैं पर एक ऐसा पुरुष जो इन भाषाओं से अनभिज्ञ हो देवनागरी में लिखे उन शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर सकेगा। यही अवस्था भारतवर्षीय आर्य भाषाओं की है। इनके लिये देवनागरी अक्षर अथवा उनके परिवर्तित रूप ही उपयुक्त हैं, दूसरे नहीं। हमारे अक्षरों के विशेष गुण तीन हैं—(1) उनमें हमारे प्रयोजन के लिये सब आवश्यक ध्वनियों के चिह्न वर्तमान हैं, अर्थात् हमारे शब्दों के लिए जितने उच्चारण हमें करने पड़ते हैं उनके लिये चिह्न वर्तमान हैं, कहीं भी दो अक्षरों को मिलाकर हमें एक अभीप्सित ध्वनि के लिये चिह्न स्थिर करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, (2) हमारी लिपि में एक ध्वनि के लिये एक चिह्न निर्धारित है, ऐसा नहीं कि एक ध्वनि के लिये कई चिह्न वर्तमान हों, (3) हमारी लिपि की भिन्न-भिन्न ध्वनियों के लिये जितने चिह्न निर्धारित हैं वे उसी नाम से प्रसिद्ध हैं जो उनके उच्चारण हैं अर्थात् यह अवस्था नहीं है कि चिह्नों के नाम कुछ और हों और काम उनका कुछ दूसरा हो हो। ये तीनों गुण हमारी लिपि को संसार की और सब लिपियों पर प्रधानता देते हैं। संस्कृत के संसर्ग के कारण ऋ और ऌ ॡ अक्षर हमारी लिपि में वर्तमान हैं पर इनके प्रयोग की हमें आवश्यकता नहीं पड़ती। अतएव इन्हें अपनी लिपि में से निकाल देना उचित जान पड़ता है। भारतवर्ष की आर्य भाषाओं में बँगला ही एक ऐसी भाषा है जिसके शब्द लिखे तो शुद्ध रूप में जाते हैं पर उनके उच्चारण में भेद पाया जाता है। बँगला लेखक लिखेंगे तो 'महाशय' और 'लक्ष्मी' पर उच्चारण करेंगे 'माशा' और 'लक्खी'। यह दोष शब्दों के उच्चारण में आ गया है पर ध्वनियों के चिह्नों और उच्चारणों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। वे वैसे ही हैं जैसे भारतवर्ष की अन्य आर्य लिपियों में। आर्य लिपियों से मेरा प्रयोजन उन लिपियों से है जो आर्य भाषाओं के सिखाने के लिये काम में लायी जाती हैं। मराठी में एक चिह्न अधिक है जो लिखा तो 'ल' की तरह जाता है पर उसका उच्चारण 'ड़' की तरह होता है। गुजराती की अवस्था सब प्रकार अनुकूल है। रही उर्दू की बात सो उसे अपनी देवनागरी लिपि में लिखने का उद्योग करना व्यर्थ और अनावश्यक है। उर्दू एक प्रकार से मुसलमानों की जातीय भाषा हो रही है। उसे फारसी अक्षरों में लिखना तथा उसकी अंगपुष्टि फारसी-अरबी के शब्दों से करना और उन्हीं भाषाओं के व्याकरणों से विशेष अंशों में सहारा लेना वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं। जब तक यह अवस्था वर्तमान है तब तक देवनागरी अक्षरों को उसके लिये उपयुक्त मानना अथवा न-

नये चिह्नों से उन्हें उपयुक्त बनाना अनुचित और अनावश्यक है। उर्दू भाषा का फारसी अक्षरों से सम्बन्ध छूट नहीं सकता, तब यह उद्योग क्यों किया जाय कि हम अपनी सर्वाङ्ग सुन्दर लिपि में नये-नये चिह्न घुसेड़ कर उसे जटिल कर दें और अपने बालकों की पढ़ाई में व्यर्थ की बाधा उपस्थित करें। अतएव उर्दू-भाषियों को छोड़कर अन्य आर्य भाषा-भाषियों में विद्या के प्रचार की ओर ध्यान करके हमें अपनी वर्णमाला को ज्यों-का-त्यों रहने देना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि दूसरी भाषाओं के उन शब्दों को जिन्हें हम अपनी भाषा में प्रयुक्त करते हैं हमें शुद्ध रूप में लिखना चाहिए जैसे ज़रा, मिज़ाज, क़ानून, फ़र्द आदि शब्दों के लिए हमें नीचे चिह्न देकर उन्हें शुद्ध रूप में लिखना चाहिये। यह साधारण बात है कि जब एक जाति का संघर्ष दूसरी जाति से होता है तब परस्पर भावों तथा शब्दों का परिवर्तन होता है। किसी भाषा की पुष्टता इसी बात में देखी जाती है कि वह दूसरी भाषा के शब्दों को अपने रंग में रँग कर अपना-सा बना ले। उन्हें शुद्ध रूप में रहने देना अपनी असमर्थता का परिचय देना है। हम तो यही चाहेंगे कि ज़रा, मिज़ाज, क़ानून, फ़र्द, मजिस्ट्रेट, लेफट-नेण्ट आदि शब्दों को अपने ढाँचे में ढालकर उन्हें सदा के लिये अपना लें तथा उनका प्रयोग अपने व्याकरण के अनुसार करें। कागज का बहुवचन कभी कागजात न लिखकर कागजों ही लिखना उचित होगा। रेलवे ट्रेन्स न कहकर रेलवे ट्रेनें हमें कहना चाहिए। यही हमारा सिद्धान्त रहना चाहिए और इसी से हमारी भाषा की अङ्ग-पुष्टि विशेषरूप से हो सकती है। दूसरी भाषा के शब्दों के लेने में हमारी अप्रतिष्ठा नहीं है, पर हमें यह दिखलाना चाहिये कि हममें इतनी शक्ति और उदारता वर्तमान है कि हम उन्हें अङ्गीकार करके अपना-सा बना सकते हैं।

कुछ लोगों का यह कथन है कि हमारी वर्णमाला में इतने अधिक अक्षर हैं और सयुक्त अक्षरों से उनके इतने रूप बन जाते हैं कि शुद्ध-शुद्ध लिखने मे अधिक जगह (Space) की आवश्यकता पड़ती है तथा छपाई के काम में इस कारण से बड़ी कठिनता तथा असुविधा उपस्थित होती है। यह कथन कई अंशों में सत्य है पर ध्यान रहे कि हम अपनी लिपि की सुन्दरता और पूर्णता को जगह (Space) के लिये नष्ट नहीं किया चाहते। फिर इस अभाव की बहुत कुछ पूर्ति बम्बई बाड़ी के टाइपों ने कर दी है। कलकतिया बाड़ी के टाइपों में यह दोष अनेक अंशों में वर्तमान है, पर इसका प्रभाव विशेषकर छापेखाने वालों पर पड़ता है और वही अपने भले-बुरे सुख-दुःख का पूर्ण विचार करने के अधिकारी हैं। हमें

इससे जो कुछ हानि होती है वह यही है कि हमारी पुस्तकों की छपाई में कागज कुछ अधिक लग जाता है तथा उनकी मोटाई अधिक होकर मूल्य में किञ्चित् वृद्धि हो जाती है। पर एक ओर अक्षरों की सुन्दरता और पूर्णता है और दूसरी ओर कागज की अधिकता के कारण पुस्तकों के मूल्य में नाममात्र की अधिकता करना है। थोड़े के लिये बहुत का खोना बुद्धिमत्ता नहीं है।

मैं पहले लिख चुका हूँ कि हमारी लिपि में सब आवश्यक ध्वनियाँ वर्तमान हैं, उसमें प्रत्येक ध्वनि के लिये उपयुक्त चिह्न वर्तमान हैं तथा उनके नामों में और ध्वनि संकेतों में कोई भेद नहीं है। ये गुण कुछ कम महत्त्व के नहीं हैं। इनका अभाव संसार की अन्य लिपियों मे प्राय: देखने में आता है। यह बात हमारी लिपि के गौरव को और भी बढ़ा देती है। पर साथ ही हमारी लिपि की लिखावट के ढंग में दो भारी दोष वर्तमान हैं जिन पर ध्यान दिलाना मैं आवश्यक समझता हूँ।

हमारे अक्षरों का आधुनिक रूप ऐसा बना है कि उनके लिखने में कोण अधिक बनाने पड़ते हैं। इस अवस्था का कारण इन अक्षरों के इतिहास तथा प्राचीन रूप पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगा। पूर्व काल में लिखने के लिये न कागज का आविष्कार हुआ था और न ऐसी लेखनी ही बनी थी जैसी कि आज-कल मिलती है। पूर्व काल में कठिन पदार्थों (जैसे पत्थर, लोहा, ताँबा आदि) पर लेख खोदे जाते थे। इसके लिये एक कड़ी तथा तीव्र लेखनी की आवश्यकता है। इस अवस्था में यह अनिवार्य है कि अक्षरों के जो रूप बनाये जायँ उनके कोण अधिक बनें। यह बात देवनागरी अक्षरों के पूर्व रूपों को देखने से स्पष्ट हो जाती है। इसका परिणाम यह हुआ कि अब तक हमारे अक्षरों की लिखावट में कोण अधिक बनाने पड़ते हैं। इस कारण अक्षरों के लिखने में गोलाई नहीं आती जिससे शीघ्र लिखने में रुकावट पड़ती है।

इस पहले दोष के कारण एक दूसरा दोष हमारी लिपि में और आ गया है। वह यह है कि इन अक्षरों के लिखने में कलम को बेर-बेर उठाना पड़ता है जिससे समय का बहुत कुछ नाश होता है।

यदि हमारे अक्षरों में गोलाई आ जाती और उनका रूप ऐसा हो जाता कि बिना कलम उठाये कई अक्षरों को हम एक साथ लिख सकते तो हमारी लिखावट में आवश्यक तीव्रता आ जाती। इसके विरुद्ध कुछ लोगों का यह वक्तव्य है कि जहाँ लिखने में शीघ्रता प्राप्त होती है वहाँ साथ ही हाथ के लिखे लेखों के

पढ़ने में कठिनता भी अधिक बढ़ जाती है और अन्त में दोनों का लेखा बराबर हो जाता है। जहाँ इस समय लिखने में समय अधिक लगता है वहाँ पढ़ने में कम समय लगता है। अक्षरों को गोल तथा मिलाकर लिखने योग्य बनाने से लिखने में अवश्य समय कम लगेगा, पर साथ ही उसके पढ़ने में अधिक समय लगेगा। इन महाशयों ने इस बात का विरोध यहाँ तक किया है कि यह भी कह डाला है कि ऐसा करने में हमें शीघ्र ही टाइप राइटरों की आवश्यकता पड़ जायगी।

इस प्रश्न के सम्बन्ध में मेरा यह निवेदन है कि यद्यपि मैं यह मानने के लिये प्रस्तुत हूँ कि यह आपत्ति कुछ अंशों में सत्य अवश्य है पर इसका मूल कारण इन अक्षरों की बनावट ही है जिनका उदाहरण लेकर यह प्रमाण उपस्थित किया जाता है। फारसी लिपि की शिकस्ता लिखावट में यह आपत्ति विशेष रूप से घटती है पर ध्यान रहे कि इन अक्षरों के नस्तालीक रूप में उन दोषों के अतिरिक्त जो देवनागरी लिपि के सम्बन्ध में मैंने दिखाये हैं और अनेक अभाव भी उपस्थित हैं। शीघ्रता उपलब्ध करने के लिये इन दोषों को दूर करने का उद्योग नहीं किया गया वरन् उनकी विशेष वृद्धि की गयी है। अतएव मेरा कथन है कि इस उदाहरण को लेकर एक सिद्धान्त को स्थिर करना उचित नहीं है। फिर क्या आधुनिक देवनागरी लिपि के लिखने वाले ऐसे वर्तमान नहीं हैं जिनका लिखा बिना अभ्यास के पढ़ना कठिन है। इसके अतिरिक्त यह बात भी विचार करने योग्य है कि समय का प्रवाह हमें किधर लिये जा रहा है। उसके प्रतिकूल चलने में हमारा कल्याण नहीं है। आजकल तो सब ओर इसी बात की धुन है कि जितना थोड़ा समय किसी काम के करने में लगे उतना ही अच्छा है। इसलिये मेरी यह प्रार्थना है कि हिन्दी के विद्वानों और प्रेमियों को इस प्रश्न पर विचार करना चाहिये कि क्या देवनागरी लिपि के लिखने के लिये नये चिह्नों का स्थिर करना आवश्यक है ? यदि है तो वे क्या होने चाहियें ?

(1913)

भारतवर्षीय आर्य देशभाषाओं का प्रादेशिक विभाग और परस्पर सम्बन्ध

वर्तमान काल में जो भाषाएँ भारतवर्ष में बोली जाती हैं वे प्रायः तीन मुख्य भागों में विभक्त हैं—(1) आर्य भाषाएँ, (2) द्रविड़ भाषाएँ, और (3) स्फुट भाषाएँ। कोलेरियन और तिबतवर्मीय बोलियाँ तृतीय भाग के अन्तर्गत हैं। कोलेरियन बोलियों के बोलने वाले हिन्दुस्तान के पहाड़ी मध्य प्रदेशों में और तिवतवर्मीय बोलियों के बोलने वाले उन पहाड़ों में वास करते हैं जो भारतवर्ष के उत्तर और उत्तर-पूर्व की ओर इस देश के सीमा-स्वरूप अविचल भाव से खड़े हैं। द्रविड़ भाषाओं का अधिकार दक्षिण प्रदेश में फैला हुआ है परन्तु इनकी भिन्न-भिन्न बोलियाँ गंगा की तराई के निकट तक पायी जाती हैं। आर्य भाषाओं के विषय में यह कहा जा सकता है कि वे भारतवर्ष के सम्पूर्ण उत्तरी प्रदेश में फैली हुई हैं, यहाँ तक कि वे कश्मीर और नेपाल में होकर हिमांचल पर्वत तक पहुँची हुई हैं। ये भाषाएँ गंगा के चारों ओर और ब्रह्मपुत्र नदी के दोनों ओर के देशों में सीदिया तक फैली हुई हैं। सिन्धु नद के निकटस्थ स्थानों में भी इनका अधिकार पाया जाता है और पूर्वीय और पश्चिमीय किनारों की ओर बहुत दूर दक्षिण तक भी इन्होंने अपना आधिपत्य जा जमाया है, यहाँ तक कि एक ओर खाँड़, गोंड और तेलुगु भाषाओं के और दूसरी कानडी भाषा के राज्य में भी इनके अखण्ड यश का प्रभाव वर्तमान है।

इस लेख में मैं इन आर्य भाषाओं को 'भारतवर्षीय आर्य देशभाषाओं' के नाम से पुकारूँगा। भारतवर्षीय आर्य देश-भाषाओं से मेरा तात्पर्य उन भाषाओं से है जो आजकल इस देश में प्रचलित हैं और न कि उन प्राचीन भाषाओं से जैसे—वैदिक, संस्कृत, पाली अथवा प्राकृत भाषाएँ, जिनकी गिनती अब प्रचलित भाषाओं में नहीं हो सकती। इनको बहुधा लोग गौड़ भाषाओं के नाम से पुकारते हैं। यह गौड़ शब्द उत्तरी हिन्दुस्तान की गौर वा गौड़ जाति से निकला है और बंगाल के गौड़ राज्य से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। भारतवासी लेखकों ने इस गौड़ शब्द को द्रविड़ शब्द से विभेद करने के अर्थ में लिया है अतएव द्रविड़ भाषाओं से भिन्न भाषाओं को गौड़ भाषाओं के नाम से पुकारना सर्वथा अनुचित नहीं

है। परन्तु गौड़ शब्द के दो अर्थ होने के कारण और सर्वमान्य न होने से यह उचित होगा कि इन भाषाओं को "भारतवर्षीय आर्य देशभाषाओं" ही का नाम दिया जाय।

विद्वानों तथा प्राचीन तत्त्ववेत्ताओं को इस बात के स्मरण दिलाने की कोई आवश्यकता नहीं है कि बीम्स, हार्नली और ग्रियर्सन ऐसे विद्वानों के गूढ़ अनुसंधानों से विद्या की कैसी कुछ उन्नति हुई है। इन विद्वानों के वे ग्रंथ जो भारतवर्ष की भाषाओं के विषय में लिखे गये हैं विद्यारूपी प्रवाह हैं जिनके निकट प्रत्येक मनुष्य को जो इस देश की भाषाओं की यथार्थता जानना चाहता है, अपनी प्यास बुझाने के लिए अवश्य जाना पड़ेगा। बीम्स साहब लिखित इस विषय का पहिला ग्रंथ सन् 1872 ई० में प्रकाशित हुआ और डॉक्टर हार्नली का इसके 9 वर्ष उपरान्त। इन दोनों ग्रंथों में यथासाध्य यह दिखाया गया कि भारतवर्ष के किस स्थान में कौन भाषा बोली जाती है और उसका भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं से क्या सम्बन्ध है। उस समय की अवस्था और विद्या सम्बन्धी उन्नति और उत्साह पर ध्यान देकर यह कहा जा सकता है कि जो कुछ इन विद्वानों ने लिखा है वह ठीक और सर्वाङ्गपूर्ण है। परन्तु उस समय भाषाओं के गिनने और उनकी ठीक-ठीक संख्या जानने का कोई भी उद्योग नहीं किया गया था, यहाँ तक कि भाषाओं के अधिकार की सीमा तक भी ठीक रीति पर निर्धारित न हुई थी। थोड़ी-सी भाषाओं के विषय में जो कुछ जाना जा सका वह बाईबिल (Bible) के अशुद्ध अनुवाद और थोड़े-से शब्दों के द्वारा हुआ जो एक-आध स्थान पर एकत्रित कर लिये गये थे। परन्तु अब हम लोगों को प्रत्येक भाषाओं के व्याकरण और कोश मिल सकते हैं। बीम्स ने कश्मीरी और नेपाली भाषाओं पर कुछ ध्यान नहीं दिया और डाक्टर हार्नली ने भी बीम्स के दस वर्ष उपरांत इन भाषाओं को अपने विचार-क्षेत्र में ले लेने का साहस तक न किया परन्तु अब हमको नेपाली भाषा का एक व्याकरण और एक कोश तथा दोनों भाषाओं की छपी हुई कुछ पुस्तकें प्राप्त हैं और हम उनके द्वारा इन भाषाओं पर विचार कर सकते हैं। डॉ० गियर्सन ने इस सामग्री को उपस्थित पा और इस विषय के उद्योग में तत्पर हो उक्त कथित दोनों भाषाओं को भी अपनी गणना में लिया और इस बात को पूर्णतया निर्धारित कर दिया कि भारतवर्षीय आर्य देशभाषाओं में कौन-कौन कहाँ-कहाँ बोली जाती हैं और उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है। डॉ० गियर्सन के उक्त विषयक लेख की पूर्ण सहायता और आश्रय से यह लेख लिखा गया है। यद्यपि इस विषय की समाप्ति डॉ० ग्रियर्सन द्वारा हुई पर यह पंडित प्रवर बीम्स के ही उत्कट प्रयत्न का फल था कि सन् 1872 से

अंग्रेजों का एक दल जिसमें केलाग (Kellogg), टेम्पल (Temple) और परगिटर (Pargiter) ऐसे लोग थे, भारतवर्षीय भाषाओं की जाँच में तत्पर हुआ और अपने अत्यन्त कष्ट और परिश्रम के उपरान्त बचे हुए समय को इन अनुसंधानों के प्रति अर्पण कर कि उत्तरी भारत के वासी वास्तव में कौन-कौन भाषाएँ बोलते हैं और जिन्हें वे बोलते हैं उन्हें किस नाम से पुकारते हैं निज महत्त्व और विद्यानुरागिता का पूर्ण परिचय दिया और हम लोगों को सदा सर्वदा के लिए अनुगृहीत किया।

सन् 1891 ई० की मनुष्य-गणना भी बड़े सुअवसर पर हुई। भारतवर्ष की भाषाओं के पृथक्-पृथक् विभाग करने के निमित्त बहुत कुछ सामग्री इकट्ठी की जा चुकी थी और उनके यथाक्रम विभाग करने का भी उद्योग हो चुका था। विद्वान् लोग उन भाषाओं के समूह निर्धारित भी करने लगे थे जिनके विषय में उनके पूर्व विद्वान् लोग लिख गये थे। सन् 1891 ई० में प्रथम बार भारतवर्ष की भाषाओं की गणना की गयी और हम लोगों ने न केवल इस बात के कहने में अपने को समर्थ पाया कि कितने लोग अमुक-अमुक भाषाओं को बोलते हैं वरञ्च हम यह भी कह सके कि अमुक-अमुक स्थान में अमुक-अमुक भाषाएँ बोली जाती हैं। अत्यंत आश्चर्य मालूम होता है कि क्यों भाषाओं के स्थान निर्धारित होने में कुछ-न-कुछ सन्देह बना ही रहा। इस सन्देह का मुख्य कारण यही है कि एक नाम का अर्थ अंग्रेज विद्वानों ने कुछ और लिया और उस स्थान के वासियों ने उसका कुछ दूसरा ही अर्थ माना। जैसे कुछ वर्ष पहिले तक अंग्रेज कहते थे कि तिरहुत के रहने वाले हिन्दी बोलते हैं परन्तु तिरहुत वासी कहते थे कि हिन्दी द्वाब में बोली जाती है, वे मैथिली बोलते हैं। इसी प्रकार से अन्य भाषाओं के विषय में भी गड़बड़ रहा और उनके नामकरणों में शंका बनी रही तथा बोली और भाषा की सीमा ठीक-ठीक निर्धारित न हो सकी। मनुष्य-गणना से यह सब सन्देह दूर हुआ। हम अब यह कह सकते हैं कि अमुक स्थान के वासी अपनी भाषा को अमुक नाम से पुकारते हैं।

इस प्रकार से यह निश्चय हो जाने पर कि इन भाषाओं के बोलने वाले इन-इन स्थानों में रहते हैं बिलायती विद्वान् आ उपस्थित हुए और इस बात के निश्चय करने में तत्पर हुए कि किसे भाषा, देश भाषा और किसे बोली कहते हैं और किन-किन बोलियों के समूह से कौन-कौन भाषा बनती है। इस लेख में इन विद्वानों के उक्त विषय से सम्बन्धित सिद्धान्तों का वर्णन करना ही मेरा मुख्य उद्देश्य

है। यह कार्य बेन्स साहब लिखित सन् 1891 की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट के पाँचवें अध्याय से बहुत सुगम हो गया है। इस रिपोर्ट में मातृ-भाषाओं पर जो कुछ लिखा गया है उससे बहुत-सी बातों का पता लगता है और वह इस उत्तम क्रम मे लिखा गया है कि प्रत्येक भाषा-तत्त्ववेत्ता को उससे अमूल्य सहायता मिल सकती है।

सन् 1891 की मनुष्य-गणना के अनुसार भारतवर्ष में बर्मा को छोड़कर 2850,00,000[1] के लगभग वासी हैं। इन 28,50,00,000 मनुष्यों में से लगभग 210,000,000[2] मनुष्य भारतवर्षीय आर्य देशभाषाओं को 5,30,00,000 द्राविड़ी भाषाओं को और शेष अर्थात् 2,20,00,000 मनुष्य अन्य (स्फुट) भाषाओं को बोलते हैं।

भारतवर्षीय आर्य देशभाषाओं के विभाग नीचे इस विषय के विद्वानों के मत के अनुसार किये जाते हैं। बोलियों के विषय में आगे चलकर लिखा जायगा।

(क) उत्तर पश्चिमीय कुल

(1) उत्तर पश्चिमीय समूह

(1) सिन्धी—लगभग	2,590,000	मनुष्य बोलते हैं
(2) कश्मीरी—लगभग	4,090,000	मनुष्य बोलते हैं
(3) पश्चिमी पंजाबी—लगभग	3,000,000	मनुष्य बोलते हैं

(ख) मध्य कुल

(2) पश्चिमी मध्य समूह

(4) पूर्वी पंजाबी—लगभग	14,720,000	मनुष्य बोलते हैं
(5) गुजराती—लगभग	11,060,000	,, ,, ,,
(6) राजपूतानी—लगभग	13,150,000	,, ,, ,,
(7) हिन्दी—लगभग	35,820,000[3]	,, ,, ,,

1. नेपाल में मनुष्य-गणना न होने के कारण इस संख्या में वहाँ की बस्ती भी लगभग अनुमान से पचास लाख गिन ली गयी है।
2. इनमें अनुमान से राजपूताना और नेपाल ऐसे भारत खंडों की बस्ती भी गिन ली गयी है जहाँ भाषा-गणना नहीं हुई थी।
3. यह संख्या केवल अनुमान से मान ली गयी है क्योंकि सन् 1891 की मनुष्य-गणना में बैसवाड़ी और बिहारी अलग नहीं की गयी वरञ्च हिन्दी के अन्तर्गत रखी गयी हैं। सेन्सस रिपोर्ट में हिन्दी बोलने वाले 8,58,19,093 लिखे हैं।

और पूर्व की ओर राजपूतानी भाषा की मारवाड़ी बोली में विलीन हो जाती है तथा पश्चिम की ओर इसकी सीमा बिलोचिस्तान की भाषाएँ हैं। सिन्धी भाषा की मुख्य तीन बोलियाँ हैं। (1) लारी जो लारू वा लोअर (अधस्तन) सिन्ध, समुद्रतट और सिन्धु नद के डेल्टा में बोली जाती है। (2) सिरैकी जो सिरो या अपर (ऊपरीय) सिन्ध (सिन्ध हैदराबाद के उत्तर) में और (3) थरेली जो शिकारियों और थर या सिन्ध के मरुस्थल में (यह मरुस्थल मारवाड़ और सिन्ध के बीच की सीमा है) बसनेवाली जातियों में सुनने में आती है। तृतीय बोली में मारवाड़ी बहुत मिली हुई है। लारी लिखने पढ़ने की बोली है और सिरैकी सबसे उत्तम और शुद्ध समझी जाती है। कच्छी को जो इस लेख में गुजराती की बोली मान कर उसी के अन्तर्गत रखी गयी है, सिन्धी की बोली मान लेना अनुचित न होगा।

(2) **कश्मीरी**—संकुचित अर्थ में यह भाषा कश्मीर की घाटियों में बोली जाती है। इस लेख में मैंने बहुत-सी आर्य पहाड़ी बोलियों को जो कश्मीर घाटी के उत्तर और पश्चिम की ओर, चित्राल, और दूसरे स्थानों में तथा पंजाब और कश्मीर के बीच के पहाड़ी प्रदेशों के बीच में बोली जाती हैं "पश्चिमीय पहाड़ी बोलियों" के अन्तर्गत रखा है। सन् 1891 की मनुष्य-गणना के अनुसार 1,520000 मनुष्य पश्चिमीय पहाड़ी बोलियों का और 29000 मनुष्य जो भारतवर्ष के भिन्न भागों में बसते हैं कश्मीर भाषा को (निज मातृभाषा समझ) बोलते हैं। कश्मीर में जहाँ की बस्ती 2,540000 है भाषाओं की गणना नहीं हुई थी—ठीक कश्मीर की तीन बोलियाँ भी हैं अर्थात् (1) कामराजी जो कश्मीर की तराई के उत्तर भाग में (2) मराजी जो कश्मीर तराई के दक्षिण भाग में और (3) यामराजी जो श्रीनगर में बोली जाती है। परन्तु अभी तक कश्मीर की भाषा के विषय में पूर्ण रूप से अनुसंधान नहीं हुआ है अतएव अभी वहाँ की भाषाओं के विषय में निश्चय रूप से कुछ भी कहा नहीं जा सकता। कश्मीरी भाषा की पूर्वी सीमा तिबतीय भाषाएँ, उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी सीमा मध्य एशिया की अज्ञात बोलियाँ, दक्षिण-पश्चिमी सीमा पंजाबी भाषा और दक्षिणी सीमा पंजाबी भाषा और मध्य पहाड़ी बोलियाँ हैं। सिन्धी से भी बढ़कर कश्मीरी भाषा, भारतवर्षीय आर्य भाषाओं की अग्रवर्तिनी (Out Post) है।

(3) **पश्चिमी पंजाबी**—इसके नाम ही से यह विदित होता है कि यह पश्चिमी पंजाब की भाषा है और मुलतान और मातृ गुमरी के जिलों में अर्थात् निम्नस्थ (Lower) सतलज और चनाब के द्वाब में और बहावलपुर राज्य में बोली जाती है। इस भाषा की पश्चिमी सीमा अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान

की सरहद (Frontier) है। अधिक उत्तर की ओर यह सिन्धु नद और झेलम नदी के द्वाब तक चली गयी और उस स्थान पर इसकी पश्चिमी सीमा सिन्धु नद है। इसकी उत्तरी सीमा कश्मीरी भाषा और उत्तर-पूर्वी और उत्तरी सीमाएँ पूर्वी पंजाबी भाषा है जिनमें यह क्रमशः मिल जाती है। इसी प्रकार से दक्षिण-पूर्व की ओर राजपूतानी भाषा और दक्षिण की ओर सिन्धी भाषा में यह लीन हो जाती है। इस भाषा के स्थानिक शब्द-विभेद बहुत हैं परन्तु बोलियाँ बहुत थोड़ी हैं। मुलतानी को एक भिन्न बोली मानना चाहिए। थोड़े दिन पूर्व तक पंजाब प्रान्त की एक ही भाषा अर्थात् पंजाबी मानी जाती थी परन्तु अब विद्वानों ने इस मत का खण्डन कर दिया है और पंजाब में दो भाषाओं का अधिकार मानते हैं। पश्चिमी पंजाबी भाषा मुलतान की बोली मानी जाती थी और इसी कारण से उसे मुलतानी कहते भी थे। इस भाषा का स्थान सिन्ध और पंजाब के बीच की सीमा पर होने के कारण यह सीमा पर एक भ्रष्ट बोली और सिन्धी और पंजाबी भाषाओं से मिल कर बनी हुई मानी जाती थी। इसको जाटकी व जाट लोगों की भाषा, अच्छी व बहावलपुर अन्तर्गत उच्छ स्थान की बोली और हिन्दकी भी कहते थे। हिन्दकी नाम से यह भाषा हजारा जाति में प्रसिद्ध थी। प्रधान पंजाबी सदा से अमृतसर की बोली मानी जाती है और यद्यपि यह कहा जाता था कि लाहौर के पश्चिम ओर की भाषा का इस प्रधान बोली से कुछ अनिश्चित भेद है तथापि यह पंजाबी की बोली मानी गयी और लहिन्दा नाम से प्रसिद्ध रही। परन्तु पादरी बाम्फोर्ड के अनुसन्धान से इस मत का खण्डन होता है। इस विद्वान् के अनुसंधान से यह सिद्ध होता है कि सारे पश्चिमी पंजाब की एक भिन्न ही भाषा है जिसका कश्मीरी और सिन्धी भाषाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है और जिसका अमृतसर की पंजाबी भाषा के व्याकरण और कोष से बहुत भेद है। अतएव अब यह एक भिन्न भाषा मानी जाती है। कश्मीरी और सिन्धी भाषाओं के साथ यह भारतवर्षीय आर्य देशभाषाओं का एक कुल जिसे 'उत्तर पश्चिमी कुल' का नाम दिया गया है बनाती है।

(4) **पूर्वी पंजाबी**—इस भाषा के साथ जिसे अब तक केवल पंजाबी भाषा कहते थे हम प्रथम भारतवर्षीय आर्य देशभाषाओं के मध्य कुल से परिचित होते हैं। यह भाषा पंजाब के पूर्व की ओर बोली जाती है। इसकी पश्चिमी सीमा झेलम नदी, उत्तरी सीमा हिमालय पर्वत, पूर्वी सीमा सतलज और यमुना नदियों के बीच की रेखा और दक्षिणी सीमा बहावलपुर का राज्य है। इसके पश्चिम और दक्षिण की ओर पश्चिमी पंजाबी भाषा, उत्तर और उत्तर-पूर्व की ओर कश्मीरी भाषा

और पश्चिमी पहाड़ी बोलियाँ और पूर्व की ओर हिन्दी भाषा है जिसमें यह क्रमश: लीन हो जाती है। इसकी एक बोली डोगरी है जिसका प्रचार जम्मू से लेकर पश्चिम की ओर है और जिसका पश्चिमी पहाड़ी बोली से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(5) **गुजराती**—यह नाम गुजरात की भाषा का है। गुजरात बाम्बे प्रेसीडेन्सी का पश्चिमीय तटस्थ भाग है जिसके उत्तर ओर रन आफ कच और दक्षिण ओर बम्बई का नगर है। गुजरात में सूरत और बड़ौदा तथा काठियावाड़ के राज्य अन्तर्गत हैं। गुजराती और सिन्धी भाषाओं के बीच की सीमा कच्छ है जहाँ की भाषा कच्छी (जिसे 440000 मनुष्य बोलते हैं) इस लेख में गुजराती के अन्तर्गत मानी गयी है परन्तु वास्तव में यह दोनों के बीच की बोली है और इस कारण से दोनों भाषाओं में इसका उल्लेख किया जा सकता है। पश्चिम और उत्तर-पश्चिम की ओर गुजराती भाषा की सीमा राजपूतानी भाषा है जिसमें यह सब प्रकार के विभेद चिह्नों को आक्रान्त करती हुई मिल गयी है। दक्षिण और पश्चिम की ओर इसकी सीमा मराठी भाषा है जिससे इसका भेद बहुत स्पष्ट है। गुजरात की बोलियाँ उनके बोलने वालों के क्रम से तीन मानी गयी हैं अर्थात् हिन्दू, मुसलमान और पारसी परन्तु इसके स्थानिक विभेद बहुत कम हैं। बहुत प्राचीन काल से दक्षिण में गुजराती रेशमी कपड़ा बीनने वालों के कई उपनिवेश हैं। केवल इन्हीं लोगों में प्राचीन गुजराती भाषा पतनुली नाम की बोली स्वरूप में अब तक रक्षित है। इनकी संख्या 78000 है।

(6) **राजपूतानी**—सुभीते के लिए यह नाम राजपूताने की बहु-संख्यक बोलियों को दिया गया है जिनमें जोधपुर सहित मारवाड़ की मारवाड़ी बोली सबसे मुख्य है। साधारणत: यह राजपूताने की भाषा कही जा सकती है क्योंकि राजपूताने में कोई प्रधान बोली नहीं है। प्रत्येक जाति की बोली और उसके रूप-विन्यास आदि दूसरी जाति की बोली आदि से भिन्न हैं। मारवाड़ी को छोड़कर इसमें और भी अनेक बोलियाँ अन्तर्गत हैं जैसे (1) मैयर लोगों की मैरवाड़ी जो अरावली पहाड़ के उत्तर ओर सुनने में आती है (2) मेवाड़ी जो अरावली पहाड़ के दक्षिण ओर सुनने में आती है और जिसका मध्य स्थान उदयपुर है और (3) बीकानेरी जो मारवाड़ के उत्तर और पश्चिम ओर बीकानेर में बोली जाती है। इन सब बोलियों का पश्चिमीय समूह बनता है। पूर्वीय समूह में जयपुरी, हरौती अलवरी और उज्जयनी आदि बोलियाँ अन्तर्गत हैं।

जयपुरी जयपुर में बोली जाती है। हरौती हारा लोगों की बोली है और

कोटा और बूँदी में इसका प्रचार है। अलवरी अलवर की बोली है जो जयपुर के उत्तर और पूर्व की ओर स्थित है, उज्जयनी इन्दौर की बोली है, यह हैरोती के दक्षिण ओर है। इन सब बोलियों का परस्पर बहुत घनिष्ठ कुल सम्बन्ध है। राजपूतानी की पश्चिमी सीमा पश्चिमी पंजाबी भाषा, सिन्धी भाषा की थरेली बोली और गुजराती भाषा है। इन सब भाषा और बोलियों में सीमा स्थान पर राजपूतानी ऐसी मिल गई हैं कि उनका वहाँ पर विभेद होना असम्भव ज्ञात होता है। उत्तर की ओर राजपूतानी की सीमा हिन्दी भाषा की वृज और कन्नौजी बोलियाँ हैं जिनसे भी इसका विभेद सीमा-स्थल पर नहीं किया जा सकता, पूर्व की ओर बैसवाड़ी भाषा की बुन्देलखण्डी और बघेलखण्डी बोलियाँ हैं और दक्षिण की ओर मराठी भाषा है। बुन्देलखण्डी और बघेलखण्डी बोलियों से सीमा-स्थल पर राजपूतानी भाषा का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा मुलतानी, थरेली, वृज और कन्नौजी बोलियों से उसी स्थान पर है परन्तु मराठी से सीमा पर इसका संसर्ग जरा-सा भी नहीं ज्ञात होता है।

(7) हिन्दी—इस शब्द के तीन भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। इसके एक अर्थ में तो वह पुस्तकें लिखने की भाषा है जो गंगा की तराई में और पूर्व में भागलपुर तक देखने में आती है, पर यह भारतवर्ष के किसी प्रदेश की भाषा व बोली नहीं है। इसी कारण से पण्डित लेखक उसे शुद्ध हिन्दी के नाम से पुकारते हैं। दूसरे अर्थ में गुजराती और पंजाबी भाषाओं को छोड़कर भारतवर्षीय भाषाओं के दो मध्य समूहों की सब बोलियों का नाम हिन्दी है। इस प्रकार से इस अर्थ में राजपूताने की सब बोलियाँ मारवाड़ी इत्यादि, अवध और बुन्देलखण्ड की बैसवाड़ी भाषा और बिहार की बोलियाँ इसके अन्तर्गत हैं। यही अर्थ बहुधा अंग्रेज लोग हिन्दी में लेते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है। यही कारण है कि एतद्देशीय लेखकों ने हिन्दी का यह विस्तृत अर्थ कभी नहीं लिया। तीसरा अर्थ हिन्दी से वह है जो इस लेख में लिया गया है। इस अर्थ के अनुसार हिन्दी पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा है और कानपुर से प्रारम्भ होकर पश्चिम की ओर फैलती चली गयी है। उत्तर की ओर हिन्दी की सीमा भाषाओं का उत्तरी समूह अर्थात् नेपाली और मध्य पहाड़ी भाषाएँ हैं। इसकी पश्चिमी सीमा पंजाबी, दक्षिणी सीमा राजपूतानी और पूर्वी सीमा बैसवाड़ी भाषाएँ हैं। बैसवाड़ी पश्चिमीय और पूर्वीय मध्य समूहों के बीच की भाषा है। हिन्दी की दो बोलियाँ हैं (1) वृजभाषा वा व्रज और (2) कन्नौजी। वृजभाषा गंगा के ऊपरीय द्वाब में बोली जाती है और इसकी दक्षिणी सीमा आगरे नगर के निकट है। यह मथुरा और दिल्ली के निकटस्थ स्थानों की देश भाषा है। उत्तर से यह सवा

लाख पर्वत के उस ओर तक चली गयी है जहाँ पर मध्य पहाड़ी भाषा में मिल जाती है। यमुना के पश्चिम ओर हिन्दी, पंजाबी और पश्चिमीय राजपूतानी भाषाएँ आपस में ऐसी मिल गयी हैं कि उनकी सीमा अलग-अलग निर्धारित नहीं की जा सकती। बृज भाषा की उत्पत्ति बृज से है जहाँ पूर्वकाल में ग्वालवंशियों का निवास था और जहाँ पर कृष्ण भगवान् ने अपनी बाल्यावस्था बितायी थी। बृज की राजधानी मथुरा है। धर्म सम्बन्धी कारणों से इस भाषा में अनेक ग्रंथ बने और वे सब उत्तर भारत में भली प्रकार से समझे जाते हैं। कन्नौजी लोअर द्वाब की बोली है और दक्षिण-पूर्व की ओर कानपुर के आगे तक फैली हुई है। इलाहाबाद के निकट यह बैसवाड़ी में लीन हो जाती है।

इस स्थान पर उर्दू, हिन्दुस्तानी और शुद्ध हिन्दी के विषय में कुछ कहना अत्यन्त आवश्यक है। उर्दू मिश्रित भाषा है जो पहिले-पहल सैनिकों की बोली थी और जिसका प्रचार आक्रमणकारी मुगलों की सेना में हुआ। मुगलों की फौजों के सिपाही सब विदेशी थे जो हिन्दूकुश पहाड़ के उस ओर वास करते थे और जो अरबी और फारसी की भिन्न बोलियाँ बोलते थे। भारतवासियों के साथ व्यवहार करने की आवश्यकता अधिक होने के कारण एक नवीन भाषा की उत्पत्ति हुई और उसकी उन्नति ज्यों-ज्यों मुगल सिपाहियों के साथ-साथ हिन्दू सिपाहियों की संख्या बढ़ती चली, अधिक होने लगी। इस नवजात भाषा का व्याकरण तो एतद्देशीय था अर्थात् पंजाबी, मारवाड़ी और ब्रजभाषा से बना। परन्तु कोष के शब्दों में से कुछ एतद्देशीय और कुछ विदेशीय रहे। जैसा कि सब भाषाओं में होता आया वैसे ही उर्दू में क्रिया तो सब एतद्देशीय रही और संज्ञा का अधिकांश विदेशीय। एक ऐसी भाषा में जिसे राजा और प्रजा दोनों आपस के व्यवहार में बोलने लगे, शब्दों का हेर-फेर आवश्यक हुआ। आगरा और दिल्ली में जहाँ मुगल राजधानी बहुधा रही, ब्रजभाषा का प्रचार रहा, इसलिए उर्दू का भरण-पोषण ब्रजभाषा द्वारा अधिक हुआ। दिल्ली और आगरा दोनों स्थानों में बड़े-बड़े बाजार थे अतएव धीरे-धीरे उर्दू बजारू भाषा हुई और अन्त में प्रसिद्ध टोडरमल के उद्योग से दरबार की (फारसी को छोड़कर) एक द्वितीय भाषा समझी जाने लगी। उर्दू जब इस अवस्था को पहुँच गयी तो मुसलमान इसे सुधारने लगे और इसी में अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का लिखना प्रारम्भ किया। हिन्दुओं ने इस भाषा में निज कवित्व आदि शक्तियों का सञ्चार नहीं किया और मुहम्मदीय मतानुयायियों ने इसे अरबी और फारसी के शब्दों से परिपूर्ण करना प्रारम्भ किया। आजकल अब किताबी उर्दू की यह अवस्था है—व्याकरण तो एतद्देशीय है परन्तु शब्द अरबी और फारसी

के। ऐसी भाषा को साधारणतः हिन्दू न समझ सके और उन्होंने उधर विशेष ध्यान भी नहीं दिया। अब रही बजारू उर्दू—यह ज्यों-की-त्यों रही और इसमें कुछ भी परिवर्तन न हुआ क्योंकि इसकी स्थिति ही केवल इसी बात पर निर्भर रही कि हिन्दू और मुसलमान दोनों इसे सुगमता से समझें। इसी कारण से व्याकरण तो इसका उर्दू ही ऐसा रहा परन्तु शब्दों में विशेष भेद रहा अर्थात् कोश एतद्देशीय हुआ। कठिन-कठिन फारसी और अरबी के शब्दों के स्थान पर सुगम शब्दों का प्रचार हुआ। यह बजारू उर्दू यद्यपि किसी एक मुख्य स्थान की देशभाषा नहीं है परन्तु भारतवर्ष में सब लोगों के उसे भली प्रकार से समझने के कारण उसका पोषण अत्यन्त आवश्यक है। इसी बजारू उर्दू को अब 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं। इसका व्याकरण जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ब्रजभाषा से निकला है और इसी कारण से हिन्दूमात्र इसे अच्छी तरह से समझ सकते हैं। इस भाषा के द्वारा नेपाली राजपूत से और पंजाबी बंगाली से बातचीत कर सकता है यद्यपि वे एक-दूसरे की भाषा को नहीं जानते।

'शुद्ध हिन्दी' यह शब्द इस शताब्दी के प्रारम्भ में डॉ० गिलक्रुष्ट और अन्य विलायती विद्वानों की रचना का है। इन विद्वानों के पूर्व यह शब्द कहीं देखने-सुनने में नहीं आता। इन विद्वानों के समय के कुछ पहिले बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी स्थापित हो चुकी थी और लोग संस्कृत तथा हिन्दू धर्म की ओर आकर्षित होने लगे थे। डॉ० गिलक्रुष्ट और उनके साथियों ने यह समझा कि हिन्दुस्तानी उत्तरी भारत की भाषा है जिसको मुसलमानों ने इस प्रयोजन से कि हिन्दू न समझें फारसी और अरबी के शब्दों से परिपूर्ण कर रखा है। अतएव गिलक्रुष्ट साहब ने उन दिनों के एक प्रसिद्ध पंडित[1] को इसलिए नियुक्त किया कि वह अनेकों हिन्दुस्तानी पुस्तकों का अनुवाद एक नवीन भाषा में करें जिसमें प्रत्येक अरबी और फारसी के शब्दों के स्थान पर संस्कृत के शब्द रखे जाने के व्यतिरिक्त और कोई काम नहीं था। इसका परिणाम वह भाषा हुई जिसे अब लोग 'शुद्ध-हिन्दी' कहते हैं। इस भाषा का व्याकरण उर्दू ऐसा मिश्रित है परन्तु शब्दकोश निराला एतद्देशीय है। ऐसी हिन्दी भाषा को हिन्दुओं के व्यतिरिक्त न कोई समझ और न पढ़ सकता है। सबसे शुद्ध हिन्दी को जिसमें बड़े कड़े संस्कृत शब्दों का खजाना रहता है, केवल पंडित जी महाराज ही समझ सकते हैं। ऐसी भाषा में वही सब दोष आ जाते हैं जो फारसी-अरबी मिश्रित उर्दू में पाये जाते

---

1. लल्लूलाल जी।

हैं। परन्तु जब कभी ध्यानपूर्वक हिन्दी लिखी जाती है और बड़े-बड़े संस्कृत शब्दों के स्थान पर ठेठ हिन्दी के शब्दों का प्रयोग किया जाता है तब शुद्ध हिन्दी अत्यन्त उपयोगी होती है और उसके द्वारा हिन्दूमात्र निज कार्य सम्पादन कर सकते हैं। शुद्ध हिन्दी निज साहित्य में कुछ विशेष भाग्यशालिनी हुई। छापे की कलों के इस देश में प्रचलित होने से इसके साहित्य की वृद्धि और भी शीघ्र हुई। इस अवस्था में अंग्रेजी गवर्नमेण्ट और मिशनरियों से हिन्दी को विशेष सहायता मिली। इस प्रकार से इसकी एक भिन्न स्थिति ही हो गयी है। यद्यपि पद्य में इस भाषा का प्रचार नहीं है तथापि अम्बाले से लेकर कोसी तक हिन्दुओं के बीच में इसने मातृभाषा के स्थान को आरोहण किया है। आजकल इस भाषा के ग्रन्थों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती चली जा रही है। अन्त में उर्दू-फारसी शब्दों से पूरित रहने के कारण केवल फारसी अक्षरों में ही शुद्धतापूर्वक लिखी जा सकती है और शुद्ध हिन्दी भी संस्कृत शब्दों से पूरित रहने के कारण देवनागरी वा भारतवर्षीय अन्य अक्षरों में शुद्धतापूर्वक लिखी जा सकती है परन्तु हिन्दोस्तानी में न संस्कृत के और न फारसी के कठिन शब्द रहते हैं अतएव वह लेखक की इच्छानुसार देवनागरी और फारसी दोनों अक्षरों में शुद्धतापूर्वक लिखी जा सकती है।

अब भाषाओं के उत्तरी समूह की ओर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि हिमालय की आर्य भाषाएँ कश्मीर से दार्जिलिंग तक केवल 'पारवतिया या पहाड़ी' इसी नाम से पुकारी जाती हैं। इनके पुनः तीन और गौड़ भाग हैं —(1) पश्चिमीय पहाड़ी, जिसकी गणना कश्मीरी के अन्तर्गत की जा चुकी है, (2) मध्य पहाड़ी, और (3) पूर्वीय पहाड़ी वा नेपाली।

(8) **मध्य पहाड़ी**—इस भाषा की पश्चिमीय सीमा का प्रारम्भ उस स्थान से है जहाँ पश्चिमीय पहाड़ी भाषा की सीमा का अन्त है। इन दोनों पूर्वीय और पश्चिमीय पहाड़ी भाषाओं के बीच की सीमा-रेखा ठीक-ठीक खींचना तो बड़ा कठिन है परन्तु उस रेखा को पश्चिमोत्तर प्रदेश की पश्चिमी सीमा के साथ-ही-साथ मानना अनुचित और अशुद्ध न होगा। 'मध्य पहाड़ी' मसूरी के निकटस्थ गढ़वाल और नैनीताल के निकटस्थ कुमायूँ प्रांतों की भाषा है। इसकी दो बोलियाँ हैं—(1) गढ़वाली जिसे 6,48,000 मनुष्य बोलते हैं और (2) कमौनी जिसे 5,05,000 मनुष्य बोलते हैं। मध्य पहाड़ी भाषा की पूर्वीय सीमा नेपाल की पश्चिमी सीमा के निकट 81° पूर्व अक्षांश ही मानना होगा।

(9) **नेपाली**—यह नाम नेपाल की भाषा का है। परन्तु यह नाम ठीक

नहीं है क्योंकि नेपाल में एक आर्य भाषा के व्यतिरिक्त और कम-से-कम 13 तिबत-वर्मीय भाषाएँ हैं जिनकी 16 बोलियाँ हैं और जो नेपाल के भिन्न-भिन्न पहाड़ी प्रदेशों में बोली जाती हैं। अंग्रेजों ने नेपाल की आर्य भाषा को ही 'नेपाली' नाम दिया है क्योंकि गोर्खा लोग जो ब्रिटिशदल के भारतवर्ष में एक मुख्य और वीर अंग हैं इसी भाषा को बोलते हैं। गोर्खा लोग अपनी भाषा को खास, पहाड़िया या पारवतिया के नाम से पुकारते हैं। यदि हम दूसरी आर्य भाषाओं को जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है पश्चिमी पहाड़ी और मध्य पहाड़ी भाषाओं का नाम दें तो इसे (नेपाली को) पूर्वीय पहाड़ी भाषा कहना असमीचीन न होगा। 12 वीं शताब्दी के लगभग एक दल राजपूतों और ब्राह्मणों का नेपाल को गया। लोक-कथा के अनुसार इस दल में हरिसिंह के साथ चित्तौर के कुछ राजपूत लोग भी उसके (चित्तौर) मुसलमानों द्वारा विध्वंस हो जाने पर गये। ये लोग वहाँ की आर्य और तिबतवर्मीय जातियों से जो वहाँ पहिले से वास करती थीं जा मिले और उनके साथ विवाहादि कर्म आरम्भ कर दिया। इनसे जो संतति उत्पन्न हुई वह जाति में अपने राजपूत और ब्राह्मण पुरषाओं से नीच हुई। इसीलिए उनको 'खास' यह नाम दिया गया। 'खास' या 'खासनु' शब्द का अर्थ नेपाली भाषा में पतित का है। परन्तु ब्राह्मणों ने उनकी उपनयन आदि क्रिया की और उन्हें जाति में उच्च बनाया। यह इतिहास गोर्खा जाति का है जिनका मुख्य निवास-स्थान गोर्खा नगर है जो काठमाण्डू से 25 कोस उत्तर-पश्चिम को स्थित है। इनकी भाषा को नेपाल की दूसरी जातियों ने भी सीख लिया और उसे (भाषा को) भी 'खास' या खासरपुरा का नाम दे दिया है। आजकल नेपाल में यही 'खास' सर्वसाधारण की भाषा है। नेपाल में आज तक मनुष्य-गणना नहीं हुई परन्तु सबसे नये अनुमान के अनुसार वहाँ की बस्ती 50,00000 मनुष्यों की है जिनमें से 3000000 के लगभग नेपाली भाषा बोलते हैं। भारतवर्षीय मनुष्य-गणना के अनुसार 24,000 मनुष्य पूर्वीय पहाड़ी बोली इस देश में बोलते हैं। नेपाली भाषा की पालपा नामक एक बोली भी है जो घाटी के पश्चिम किनारे पर बोली जाती है परन्तु इसके विषय में विशेष और कुछ ज्ञात नहीं है। नेपाली भाषा की उत्पत्ति पर ध्यान देने से यह प्रकट हो जाता है कि इसका भारतवर्ष की पश्चिमीय आर्य देश भाषाओं से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(10) **बैसवाड़ी**—यह भाषा भारतवर्षीय आर्य देशभाषाओं के दूसरे कुल की प्रथम भाषा है। इससे और दूसरे कुल की भाषाओं से अनेक स्थानों पर बहुत भेद पाया जाता है। यह भेद बैसवाड़ी भाषा में स्पष्ट नहीं है क्योंकि

उसका स्थान दोनों के मध्यस्थ है और यह दोनों से मिलकर बनी हुई है। इस बात का निश्चय करना कि बैसवाड़ी भाषा की गिनती पश्चिमी मध्य समूह में वा पूर्वी मध्य समूह में की जाय कठिन है। प्रत्येक विषय और प्रबन्ध पर विचार करके विद्वानों ने इसकी गणना पूर्वी मध्य समूह ही में की है। बैसवाड़ी भाषा वास्तव में अवध प्रान्त की भाषा है जहाँ बैसे जाति का निवास स्थान है। यह गंगा (प्रयाग के निकट) और यमुना के उस पार तक पहुँची हुई है और बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड के मुख्य भागों में भी इसका प्रचार है। इसकी उत्तरी सीमा नेपाली भाषा, पश्चिमी सीमा हिन्दी और राजपूतानी भाषाएँ और पूर्वी सीमा बिहारी भाषा है। दक्षिण की ओर इसकी हद्द मध्य भारत के पहाड़ी प्रदेशों में वास करने वाली गोंड़ जाति है। सीमा पर विचार करके यह कहा जा सकता है कि उत्तर में नेपाल की तराई से लेकर दक्षिण में जबलपुर और पश्चिम में कानपुर से लेकर मिर्जापुर तक यह भाषा फैली हुई है। इसकी दो मुख्य बोलियाँ हैं। (1) प्रधान बैसवाड़ी जो अवध में बोली जाती है और जिसे 1,25,00000 मनुष्य बोलते हैं। इसे कौशली वा अवधी भी कहते हैं। यह ब्रज भाषा के तुल्य लिखी-पढ़ी जाती है। शुद्ध हिन्दी का प्रचार केवल गद्य में ही है परन्तु बैसवाड़ी और ब्रजभाषा सैकड़ों वर्ष से पद्य लिखने के काम में आती हैं। ब्रजभाषा के उन्नति और प्रचार का कारण सनातन धर्म की उन्नति और प्रचार है। बैसवाड़ी भाषा के प्रचार का कारण इसका उत्तरी मध्यभारत की अत्यंत पूर्व और पश्चिम की बोलियों में मध्य स्थानापन्न होना ही है। हिन्दी और बिहारी से इसका एक-सा परस्पर सम्बन्ध है। पुनः अवध बहुत काल तक भारतीय सभ्यता का केन्द्र स्थान रहा और उसी प्रान्त में भगवान् रामचन्द्र ने जन्म ग्रहण किया था, फिर इस भाषा के उन्नति और प्रचार के कारण कविकुलचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जी हैं जिन्होंने सत्रहवीं शताब्दी में इस भाषा में निज प्रसिद्ध रामायण लिखी। तुलसीदास के समय से लेकर उत्तरी भारत में पद्य इसी भाषा में लिखा जाने लगा और ब्रजभाषा में (जिसमें केवल इसके पूर्व पद्य रचना होती थी) अब केवल कृष्ण और गोपियों से सम्बन्धित चरित्रों का वर्णन किया जाता है। दूसरी बोली वह है जो गंगा के दक्षिण ओर बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड में बोली जाती है। प्रधान बैसवाड़ी में और इसमें भेद बहुत कम है और यह बोलने वाले के इच्छानुकूल कभी बुन्देलखण्डी और कभी बघेलखण्डी कही जाती है। इस भाषा का रीवाँ राज्य से (जो बघेलखण्ड के अन्तर्गत है) सम्बन्ध होने के कारण यह कभी 'रिवाई' भी कही जाती है।

(11) **बिहारी**—यह बिहार प्रान्त की भाषा है परन्तु इसका प्रचार दक्षिण छोटा नागपुर और मध्यप्रदेश के कुछ भागों तक फैला हुआ है। यह पहली भाषा है जिसमें स्पष्ट रूप से पूर्वीय होने के चिह्न पाये जाते हैं। बहुत दिनों तक लोग इसे हिन्दी की एक बोली समझते थे परन्तु यह विचार उनका विचार-शून्य था। इसका हिन्दी की किसी बोली की अपेक्षा मराठी और बंगाली से अधिक सम्बन्ध है और ब्रज और कन्नौजी से यह कहीं भिन्न है। इसका व्याकरण और वाक्यरचना-परिपाटी निरी दूसरी है। बिहारी भाषा की उत्तरी सीमा नेपाली भाषा, दक्षिणी सीमा उड़िया और तेलुगु भाषाएँ, पूर्वी सीमा बंगाली और दक्षिणी सीमा बैसवाड़ी भाषाएँ हैं। इसका अधिकार पश्चिम में मिर्जापुर तक फैला हुआ है जहाँ यह क्रमशः अवध की बोलियों में विलीन हो जाती है। काशी की प्रसिद्ध नगरी में भी इसी भाषा का आधिपत्य है। इसकी पूर्वी सीमा महानद, उत्तरी गंगा और राजमहल की दक्षिणी पहाड़ियाँ मान लेना चाहिए। इस बात का निश्चय करना बहुत कठिन है कि महानद के किनारे पर बंगाली भाषा का प्रचार है वा बिहारी का। गंगा के दक्षिण ओर दक्षिण बिहारी और बंगाल के बीच के पहाड़ी प्रदेशों की कोलेरियन, संथाली और द्राविड़ी भाषाओं से इसकी सीमा का अन्त है। इन अनार्य भाषाओं से इसका कुछ भी अंश अपवादित नहीं हुआ है। दक्षिण की ओर यह क्रमशः सम्बलपुर की उड़िया का रूप धारण कर लेती है क्योंकि छत्तीसगढ़ी मे जो बिहारी भाषा की दक्षिणी बोली है, उड़िया भाषा के बहुत-से विशेष गुण पाये जाते हैं। बिहारी भाषा की चार बोलियाँ हैं। (1) मैथिली जिसे तिरहुत वा प्राचीन मिथिला में और उसके निकटस्थ पूर्वी भागों में 9000000 मनुष्य बोलते हैं (2) भोजपुरी जो पश्चिम की ओर गंगा के दोनों ओर नेपाल की तराई से लेकर जबलपुर तक बोली जाती है (3) माघी वा मागधी और (4) छत्तीसगढ़ी। भोजपुरी बनारस और आजमगढ़ के जिलों में, सारन के ग्रामीणों में और शाहाबाद की (जहाँ भोजपुर का प्राचीन नगर स्थित था) सिपाही जाति में बोली जाती है। इसके दक्षिण राज्य और बघेलखण्डी के दक्षिण-पूर्व राज्य के बीच की सीमा का ठीक-ठीक निर्धारित होना बड़ा कठिन है। इसकी दक्षिण में अंतिम सीमा प्रध्यप्रदेश की पहाड़ी गोंड जाति है। मध्यभारत में लगभग 12000,000 मनुष्य इसे बोलते हैं। माघी या मागधी प्राचीन मगध में बोली जाती है जहाँ अशोक का राज्य था और जिस स्थान में प्राचीन मागधी प्राकृत की उत्पत्ति हुई। शुद्ध रूप से यह पटना और गया के जिलों में जहाँ की बस्ती लगभग 4000,000 है बोली जाती है। इसके और

मैथिली के अधिकार के बीच में गंगा और इसके और भोजपुरी के अधिकार के बीच में सोन नदी सीमा-स्वरूप प्रवाहित हैं। दक्षिण में इसका आधिपत्य छोटे नागपुर तक चला गया है जहाँ यह उन आर्य लोगों के बीच में बोली जाती है जो लोग उस प्रान्त के द्राविड़ लोगों में जा बसे हैं। पुनः छोटे नागपुर से लेकर यह रायपुर के जिले तक पहुँची हुई है। इस स्थान पर यह एक भिन्न बोली हो जाती है और छत्तीसगढ़ी नाम से समझी जाती है। छत्तीसगढी की पश्चिमी सीमा मराठी भाषा, पूर्वी सीमा सम्बलपुर की उड़िया भाषा, दक्षिणी सीमा तेलुगु भाषा और उत्तरी सीमा गोंड जाति का उपनिवेश है। छत्तीसगढ़ी में मराठी और उड़िया भाषाओं का बहुत कुछ अंश मिश्रित है।

(12) **मराठी**—यह भाषा उत्तरी-दक्षिणी उपत्यका, बिहार, मध्यप्रदेश, और नीजाम राज्य के पश्चिमी भागों में तथा कोकनेतट में बोली जाती है। इसकी उत्तरी सीमा गुजराती राजपूतानी और हिन्दी भाषाएँ, पूर्वी और दक्षिणी सीमा तेलुगु और कनारी भाषाएँ और पश्चिमी सीमा अरब का समुद्र है। मराठी की दो बोलियाँ हैं। (1) एक तो मुख्य बोली वा प्रधान मराठी जो भरतवर्ष की टेबुल भूमि (Table Land, उन्नत भूमि) में प्रचलित है और (2) कोकनी जो कोकन में बोली जाती है। कोकन पश्चिमी घाट और समुद्र के किनारे के बीच के भूभाग का नाम है। इन दो के व्यतिरिक्त एक गोआनी वा भ्रष्ट मराठी भी है जिसे गोआ के पुर्तगाली बोलते हैं। सन् 1891 की मनुष्य-गणना के अनुसार 314000 मनुष्य कोकनी, और 38000 मनुष्य गोआनी बोलियाँ बोलते हैं। टेबुल लैण्ड की मराठी के स्थानिक विभेद बहुत कम हैं। इसकी और दूसरी निकटस्थ आर्य भाषाओं की सीमा-रेखा बहुत ही स्पष्ट है परन्तु कोकनी में कनारी भाषा का अंश बहुत अधिक दीख पड़ता है। ज्यों-ज्यों दक्षिण की ओर इसको देखिए त्यों-त्यों यह कनारी होती चली जाती है, यहाँ तक कि मंगलौर पहुँचते-पहुँचते तो इसके रूप का पूर्ण परिवर्तन हो जाता है और यह पूर्णतया लुप्त हो जाती है। इसलिए मंगलौर इसका अंतिम स्थान है जहाँ तक आर्य भाषाएँ भारतवर्ष के पश्चिम ओर फैली हुई हैं। इस स्थान पर यह ध्यान कर लेना आवश्यक होगा कि यद्यपि मराठी भारतवर्ष के पश्चिम ओर बोली जाती है पर वास्तव में पूर्व कुल के अन्तर्गत है।

(13) **बंगाली**—यह बंगाल प्रान्त की भाषा का नाम है। इसकी उत्तरी

सीमा नेपाली और हिमालय की तिबतवर्मीय भाषाएँ, दक्षिण सीमा बंगाल की खाड़ी, दक्षिण-पश्चिम सीमा उड़िया भाषा, पश्चिमी सीमा गंगा के उत्तर की ओर की बिहारी भाषा (जिसमें यह उस स्थान पर क्रमशः परिवर्तित हो जाती है) और गंगा के दक्षिण ओर छोटा नागपुर की कोलेरियन जाति, उत्तर-पूर्व की सीमा आसामी भाषा और पूर्व की सीमा आसाम और उपरीय वर्मा की तिबतवर्मीय जातियाँ हैं। इस भाषा के बोलने वालों की संख्या 41000,000 है। यह संख्या हिन्दी बोलने वालों की संख्या से भी 5000000 अधिक है। बंगाली भाषा की बोलियों के विषय में यह कहा जा सकता है कि इसकी भिन्न-भिन्न बोलियों की गिनती नहीं की जा सकती। जो बंगाली भाषा बोली जाती है उसमें और जो लिखने-पढ़ने के कामों में आती है बहुत अधिक भेद है। मुख्य भेद शब्दों का है। लिखने-पढ़ने की भाषा में संस्कृत के शब्द अधिक रहते हैं और उसे साधु भाषा कहते हैं। सबसे उत्तम और शुद्ध बंगाली राढ़ वा मध्य बंगाल में बोली जाती है। यद्यपि बंगाली भाषा की बोलियों के सर्वमान्य विभाग नहीं हैं परन्तु प्रत्येक जिले की बोली में भेद है। वे एक-दूसरी से नहीं मिलतीं। साधारणतः बंगाली की चार बोलियाँ कही जाती हैं—(1) दीनाजपुर और रंगपुर की उत्तरी बंगाली जिसका क्रमशः आसामी भाषा में रूपान्तर हो जाता है (2) ढाका और चटगाँव की पूर्वी बंगाली (3) वह विचित्र बंगाली जो मुसलमान बोलते हैं और जिसमें अरबी और फारसी के शब्द और पद भरे रहते हैं और (4) मिदनापुर की दक्षिण पश्चिमी बंगाली जिसका रूपान्तर क्रमशः उड़िया में हो जाता है।

(14) **आसामी**—यह भाषा आसाम में ब्रह्मपुत्र नदी की तराई में बोली जाती है। इसका जन्म उत्तरी बंगाली द्वारा बिहारी भाषा से हुआ है परन्तु अब यह एक स्वाधीन भाषा हो गयी है और इसके शब्दों के उच्चारणों में कुछ विचित्रता आ गयी है। इसकी पश्चिमी सीमा बंगाली भाषा है और बाकी तीन ओर यह तिबतवर्मीय जातियों से घिरी हुई है। इस भाषा की किसी बोली का अभी तक पता नहीं लगा है।

(15) **उड़िया या उतकली**—यह भाषा उड़ीसा प्रान्त में, मध्य प्रदेशस्थ सम्बलपुर के निकटस्थ स्थानों में और मद्रास प्रान्त में बोली जाती है। इन प्रान्तों के मध्यस्थ पहाड़ी प्रदेशों में खाँड जाति निवास करती है जो द्राविड़ी भाषा बोलती है अतएव उड़िया भाषा का प्रदेश दो मुख्य भागों में विभक्त है। उड़िया भाषा की उत्तरी सीमा बंगाली भाषा (जिसमें मेदिनीपुर के जिले में इसका रूपान्तर हो जाता है) और दक्षिणी सीमा द्राविड़ी, खाँड और तेलुगु भाषाएँ हैं।

पश्चिम की ओर यह क्रमशः छत्तीसगढ़ी (म०प्र०) की भ्रष्ट बिहारी में मिल जाती है। इसकी पूर्वी सीमा बंगाल की खाड़ी है। उड़िया भाषा की कोई बोली नहीं है परन्तु यह शुद्ध रूप से गमसर राज्य में बोली जाती है। गमसर राज्य मद्रास प्रान्तस्थ गंजम जिले में है।

उड़िया भाषा के साथ-साथ हम भारतवर्षीय आर्य देशभाषाओं और बोलियों का प्रादेशिक विभाग भी समाप्त करते हैं। इस लेख में इन भाषाओं और बोलियों के प्रथम तीन कुल माने गये हैं अर्थात् उत्तर-पश्चिमी, मध्य और पूर्वीय। तदुपरान्त इनके 6 समूह किये गये हैं अर्थात् (1) उत्तर-पश्चिमी, (2) पश्चिम मध्य, (3) उत्तरी, (4) पूर्वी मध्य, (5) दक्षिणी और, (6) पूर्वी। अब इन भागों और समूहों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में कुछ कहना बाकी रह गया है और उसी का वर्णन अब यहाँ पर किया जायगा। उचित होगा कि इस विषय का विचार इन भाषाओं के जन्म-स्थान से किया जाय। इस विषय के धुरन्धर विद्वानों और पंडितों की यह सम्मति है कि अत्यंत प्राचीन संस्कृत व्याकरण लेखकों से यह ज्ञात होता है कि अंग्रेजी शताब्दी के 250 वर्ष पूर्व उत्तर भारत-वर्ष में एक आर्य भाषा बोली जाती थी जिसकी उत्पत्ति क्रमशः वैदिक समय की प्राचीन सस्कृत से हुई और जो उस समय सर्व-साधारण के परस्पर व्यवहार की भाषा थी। इसके साथ ही एक ऐसी संस्कृत का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें ब्राह्मण पंडितों ने अपने काव्य साहित्य तथा अन्य-अन्य शास्त्रों को लिखा। इस भाषा को प्राकृत का नाम दिया गया और अभी तक यह उसी नाम से प्रसिद्ध है। संस्कृत की तरह से इस भाषा का संस्कार आदि नहीं हुआ और यह जैसी-की-तैसी रही। उस प्राकृत भाषा की कोई बोली आदि रही वा नहीं यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता परन्तु जब हम यह देखते हैं कि वैदिक समय में भी बोलियाँ रहीं तो यह भी संभव है कि प्राकृत की भी बोलियाँ रही हों। प्राकृत का प्रचार सिन्धु नद से लेकर काशी तक था। इस अवस्था में यह कभी नहीं माना जा सकता कि इसके भेद न रहे हों और यह सब स्थानों में एक-सी ही रही हो, वरञ्च ऐसा ज्ञात होता है कि इसके भिन्न प्रदेशानुसार आठ भेद थे।

विक्रम संवत् के 200 वर्ष पूर्व अशोक के समय के यज्ञ वा अन्य कार्य और स्थानसूचक स्तम्भ आदि इसी भाषा में खुदे हुए पाये जाते हैं और इस स्थान पर हम इस बात के चिह्न पाते हैं कि उत्तरी भारत की भाषा की दो मुख्य बोलियाँ थीं एक पश्चिमी और दूसरी पूर्वी प्राकृत।

धीरे-धीरे ये प्राकृत भाषाएँ धर्म वा राजनैतिक सम्बन्धीय कारणों से पढ़ी

जाने लगीं। इनमें पद्य रचना हुई और नाटकों में इनका प्रचार हुआ। हमें इन भाषाओं के व्याकरण उन महाशयों के लिखे हुए प्राप्य हैं जो उस समय में रहे जब से इन भाषाओं के प्रचार में क्षति आने लगी और इनकी गिनती अप्रचलित भाषाओं में होने लगी। सुभीते के लिए इन भाषाओं के अप्रचलित होने का समय 1000 शताब्दी मान लेना उचित होगा।

इन नयी लिखने-पढ़ने की भाषाओं के व्याकरणों के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष में एक पूर्वी और दूसरी पश्चिमी प्राकृत रही जिन दोनों के विभेदक गुण बहुत स्पष्ट रहे। पश्चिमी प्राकृत को सौरसेनी कहते हैं। यह नाम सूरसेन वा द्वाब देश से निकला है जहाँ इसके प्रचार का मुख्य स्थान था। पूर्वी प्राकृत वा मागधी मगध की भाषा थी। मगध का आधुनिक नाम दक्षिण बिहार है। इन दो के व्यतिरिक्त एक तीसरी भाषा भी रही जिसे अर्द्ध-मागधी कहते थे और जो मागधी और सौरसेनी दोनों से मिलकर बनी।

सामयिक उन्नति पर विचार करके देखा जाय तो आज दिन भी भाषाओं की यही अवस्था उत्तर भारत में है। पहिले तो पश्चिमी भाषाओं का एक कुल है जिसका नमूना व्रजभाषा है जो द्वाब में इण्डस से लेकर कानपुर तक बोली जाती है और एक पूर्वी भाषाओं का कुल है जिसका नमूना दक्षिण बिहार की भाषा है और जो मिर्जापुर से लेकर बंगाल और आसाम की पूर्वी सीमा तक बोली जाती है। कानपुर और मिर्जापुर के बीच में बैसवाड़ी भाषा है जिसके विषय में यह निश्चय करना कि यह पूर्वी कुल की भाषा है वा पश्चिमी कुल की, बहुत कठिन है परन्तु यह प्राचीन अर्द्ध-मागधी के स्थानापन्न है।

इन दो (पश्चिमी और पूर्वी) मुख्य प्राकृत भाषाओं के बीच में भिन्नता क्रमश: होती रही। बहुत उत्तर-पश्चिम की भाषा ने एक नयी बोली का प्रादुर्भाव किया। इस नयी बोली का नाम अपभ्रंश हुआ और इसी से सिन्धी और कश्मीरी भाषाओं की जो उत्तरी-पश्चिमी समूह के अंतगत हैं, उत्पति हुई। कुछ काल उपरान्त सौरसेनी के चार भाग हुए अर्थात् (1) गुजराती, (2) अवन्ती, (3) मुख्य सौरसेनी, और (4) महाराष्ट्री। इन चारों से क्रमानुसार गुजराती, पश्चिमी राजपूतानी, पूर्वी पंजाबी, हिन्दी और पूर्वी राजपूतानी का प्रादुर्भाव हुआ। पूर्वी मागधी (जिससे बिहारी निकली है) से कुछ और बोलियों का जन्म हुआ। उनमें से एक तो गोंडी वा प्राच्य हुई और दूसरी उतकली। गोंडी आधुनिक बंगाली है और उतकली उड़िया।

पश्चिमी पंजाब में निस्सन्देह किसी समय उत्तर-पश्चिमी अपभ्रंश बोली जाती थी परन्तु राजनैतिक कारणों से और मध्य भारत की बढ़ती सभ्यता के कारण इसका लोप हुआ और इसके स्थान पर पश्चिमी मध्य समूह की एक भाषा जो प्राचीन सौरसेनी से निकली थी प्रचलित हुई। सिन्धी और कश्मीरी भाषाओं की भी गति उत्तर-पश्चिमी अपभ्रंश ऐसी होती परन्तु एक की राजपूताने की मरुभूमि ने और दूसरी की पहाड़ों ने रक्षा की।

बाकी प्राकृत बोलियों के (जिनका नाम ऊपर लिखा जा चुका है) विषय में उनके नाम के व्यतिरिक्त और कुछ नहीं मालूम और उनका प्रादेशिक विभाग भी निश्चित नहीं हो सकता जैसे महाराष्ट्री—इसके विषय में कुछ विद्वानों का यह विचार है कि यह सौरसेनी की एक शाखा है जिसमें पद्य लिखा जाता था परन्तु यह भारतवर्ष के किसी भाग की बोली कभी भी नहीं रही। इस अवस्था में पूर्वी राजपूतानी को पश्चिमी राजपूतानी की तरह अवन्ती से उत्पन्न मानना पड़ेगा।

एक बात यहाँ कह देना ठीक होगा। मुख्य-मुख्य प्राकृत भाषाओं के नमूने हम लोगों को मिलते हैं परन्तु इन नमूनों की भाषा से हम लोग आधुनिक देशभाषाओं की उत्पत्ति का पता नहीं लगा सकते। ये नमूने जो हम लोगों को प्राप्त हैं वे भाषाओं के अप्रचलित होने के उपरान्त लेखकों द्वारा निज गठित नियमानुसार लिखे गये हैं। हम लोग यह नहीं जान सकते कि प्रचलित समय में कैसी प्राकृत बोली जाती थी परन्तु हम लोग यह जानते हैं कि अपभ्रंश के व्यतिरिक्त जो उत्तर-पश्चिम में बोली जाती थी एक प्रकार की भ्रष्ट सौरसेनी भी थी जिसे ग्रामीण लोग बोलते थे। इस ग्रामीण सौरसेनी का एक बारहवीं शताब्दी का लिखा हुआ व्याकरण अब तक प्राप्य है। अपभ्रंश से अलग रखने के लिए हम इस ग्रामीण सौरसेनी को अपभ्रंश सौरसेनी का नाम देंगे। यद्यपि व्याकरणकारों ने इसका वर्णन नहीं किया है परन्तु इसमें संदेह नहीं कि एक प्रकार की अपभ्रंश मागधी वा भ्रष्ट पूर्वी प्राकृत भी रही जिसे प्राकृत भाषा के विद्वान् अब भी पुनः बना सकते हैं। इस अपभ्रंश अर्थात् भ्रष्ट पूर्वी और पश्चिमी प्राकृत से और न कि व्याकरण और साहित्य की संस्कारयुक्त प्राकृत से हम लोग आधुनिक आर्य देशभाषाओं की उत्पत्ति का पता लगा सकते हैं।

अब मराठी के विषय में कहना बाकी रह गया है। इसका जन्म उस प्राकृत बोली से हुआ जिसे वैदर्भी वा दाक्षिणात्य कहते हैं और जिसके विषय में नाम के व्यतिरिक्त और कुछ भी हम लोगों को मालूम नहीं है। वैदर्भी का अर्थ विदर्भ

वा आधुनिक बिहार की भाषा का है। थोड़े-से दृष्टान्त जो इनके नाटकों में मिलते हैं इन बोलियों के विषय में कुछ विशेष विज्ञता हमें प्रदान नहीं करते। केवल हमको इनके विषय में इतना ज्ञात है कि प्राकृत बोलियों की सूची में ये मागधी और अर्द्ध-मागधी अर्थात् पूर्वी प्राकृत के समूह में ली गयी हैं। यही अवस्था इनकी आज-कल भी है। मराठी भाषा व्याकरण और कोश में पूर्वी भाषाओं का और न कि पश्चिमी भाषाओं का अनुकरण करती है। अतएव मराठी भाषा पूर्वी भाषा कुल के अन्तर्गत है और यद्यपि इसकी सीमा बहुत दूर तक पश्चिमी कुल की राजपूतानी और गुजराती भाषाओं की सीमा के साथ चली गयी है परन्तु मराठी का संसर्ग उनके साथ वैसा ही नहीं हुआ जैसा कि दक्षिण की द्राविड़ी भाषाओं से। यह गुजराती और राजपूतानी में कहीं भी नहीं मिली है वरञ्च इनकी सीमा बहुत स्पष्ट और अमिश्रित है परन्तु जहाँ यह पूर्वी कुल की छत्तीसगढ़ी से मिलती है, निरा अनर्गल भाव धारण करती है और दोनों भाषाओं में कोई भेद नहीं रहता। यद्यपि छत्तीसगढ़ी बिहारी भाषा की एक बोली है परन्तु इसे अच्छी तरह समझने के हेतु मराठी भाषा का भी जानना अत्यंत आवश्यक है। उक्त बातों पर विचार करके दक्षिण-पश्चिमी मराठी को भाषाओं के पूर्वी कुल के अन्तर्गत रखना ही उचित होगा।

अब हमें भाषाओं के उत्तरी समूह के विषय में कहना बाकी रह गया है नेपाली भाषा की उत्पत्ति का वर्णन तो हो ही चुका है। नेपाली भाषा राजपूताने की भाषा और नेपाल की आर्य जाति की बोलियों से मिलकर बनी है। इसलिए इसकी उत्पत्तिमूलक तो राजपूतानी है और यह भाषाओं के पश्चिमी कुल के अन्तर्गत है।

मध्य पहाड़ी की उत्पत्ति तो अन्धकारमय है। यद्यपि इसका व्याकरण नेपाली से मिलता है परन्तु इसके हिन्दी के साथ स्वाधीन सम्बन्ध होने के भी चिह्न पाये जाते हैं। नेपाली की तरह इसे भी पश्चिमी कुल के अन्तर्गत मानना उचित होगा जिससे सम्पूर्ण उत्तरी समूह निकला है।

अन्त में आशा है कि निम्नलिखित विवरण चित्र से भारतवर्षीय आर्य देशभाषाओं का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा।

—o—

यह लेख मान्यवर डॉ० ग्रियर्सन लिखित एक लेख का (अनेक परिवर्तन सहित) अनुवाद है। (1894)

भारतवर्षीय भाषाओं की जाँच

अनेक बेर भाषातत्त्ववेत्ताओं ने इस बात के निर्धारित करने का उद्योग किया है कि भारतवर्ष में कौन-कौन भाषाएँ और बोलियाँ बोली जाती हैं और उनके कितने भेद तथा उनके विस्तार की क्या सीमा है। परन्तु उपयुक्त और आवश्यक सामग्री के न मिलने से इन उद्योगों का यथेच्छ और विश्वासदायक फल अब तक नहीं प्राप्त हुआ। बीम्स साहब का इस विषय का पहिला ग्रन्थ सन् 1872 ई० में प्रकाशित हुआ था और डॉक्टर हार्नली का इसके 9 वर्ष अनन्तर। इन दोनों ग्रन्थों में यथासाध्य यह दिखाया गया कि भारतवर्ष के किस स्थान में कौन भाषा बोली जाती है और उसका भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं से क्या सम्बन्ध है। परन्तु उस समय तक भाषाओं के गिनने और उनको ठीक-ठीक जानने का कोई भी अच्छा उद्योग नहीं किया गया था। यहाँ तक कि भाषाओं के अधिकार की सीमा भी ठीक रीति से निर्धारित न हुई थी। कुछ भाषाओं के विषय में जो कुछ जाना जा सका वह बाइबिल के अशुद्ध अनुवाद और कुछ शब्दों के द्वारा हुआ जो एक-आध स्थान पर एकत्रित कर लिये गये थे। बीम्स साहब ने कश्मीरी और नेपाली भाषाओं पर कुछ ध्यान नहीं दिया और डॉक्टर हार्नली ने बीम्स साहब के 1 वर्ष उपरान्त उन भाषाओं को अपने विचार-क्षेत्र में ले लेने का साहस तक न किया। इन दो विद्वानों के उद्योग के साथ-ही-साथ केलाग, टेम्पल और परगिटर ऐसे विद्वानों ने इस विषय की जाँच में अपना अमूल्य समय लगाया।

सन् 1891 ई० की मनुष्य-गणना भी बड़े सुअवसर पर आयी। भारतवर्ष की भाषाओं के पृथक्-पृथक् विभाग करने के निमित्त बहुत कुछ सामग्री इकट्ठी की जा चुकी थी और उनके यथाक्रम विभाग करने का भी उद्योग हो चुका था। सन् 1891 ई० में प्रथम बार भारतवर्ष की भाषाओं की गणना की गयी जिसमें यह स्थिर किया गया कि अमुक-अमुक स्थान के रहने वाले अमुक-अमुक भाषाओं को बोलते हैं और उनकी संख्या इतनी है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस गणना से अनेक नयी बातों का पता लगा परन्तु भाषाओं की गणना ऐसी नहीं हुई जिससे उस पर पूरा भरोसा किया जा सके वा जिसकी सहायता से प्रत्येक नगर वा जिले की भाषा और बोलियों का पूर्ण रीति से वर्णन हो सके।

सन् 1872 ई० में जब मिस्टर बीम्स ने भाषाओं की यथार्थता जानने के

लिये अनुसंधान प्रारम्भ किये तो उस समय न किसी भाषा का कोश और न व्याकरण कहीं प्राप्य था। अतएव उस समय के अनुसंधानों के मार्ग में बहुत कुछ आपत्तियाँ थीं परन्तु विद्वानों के प्रशंसनीय उद्योगों से प्रत्येक भाषा के कोश और व्याकरण बने जिससे भाषाओं की जाँच में सुगमता हुई। इस प्रकार से मनुष्य-गणना के हो जाने पर और प्रत्येक भाषाओं को भली-भाँति से जानने की सामग्री उपस्थित पाने पर प्रसिद्ध डॉक्टर ग्रियर्सन ने सन् 1895 ई० में भारतवर्षीय आर्य भाषाओं के क्रम स्थिर करने का भार अपने ऊपर लिया और एक लेख उस विषय पर लिखा परन्तु फिर भी आवश्यक सामग्री के अभाव के कारण उस अनुसंधान का फल ऐसा नहीं हुआ कि जिस पर पूरा-पूरा विश्वास किया जा सके क्योंकि थोड़े ही काल के अनन्तर डॉक्टर ग्रियर्सन को पुनः अपने मत को सुधारने और भाषाओं के क्रम को स्थिर करने की आवश्यकता पड़ी। निदान इस प्रकार से बराबर उद्योग होने पर भी आज तक आर्य भाषाओं के विषय में कुछ ठीक-ठीक निश्चय न हुआ।

सन् 1886 ई० में वायना की ओरियेण्टल कांग्रेस ने भारत गवर्नमेण्ट को भारतवर्षीय भाषाओं और बोलियों के नियमित जाँच की आवश्यकता दिखाकर इस बात पर जोर दिया कि वह निज अधिकार में यह आवश्यक और उपयोगी कार्य करे। पहले यह विचारा गया कि भारतवर्ष की प्रत्येक भाषा और बोली के व्याकरण की जाँच की जाय और उनके नमूने एकत्रित किये जायँ परन्तु प्रान्तिक गवर्नमेण्टों की सम्मति लेने पर भारत गवर्नमेण्ट ने यह निश्चय किया कि बंगाल, पश्चिमोत्तर प्रदेश, अवध, पंजाब, मध्यप्रदेश, राजपूताना, बम्बई और आसाम में इस बात का पता पूरी तरह से लगाया जाय कि प्रत्येक नगर वा जिले में कौन-कौन भाषाएँ और बोलियाँ बोली जाती हैं और उनके बोलने वालों की कितनी संख्या है। इस निश्चय के अनुसार केवल मद्रास और बर्मा इन दो प्रान्तों की जाँच भविष्यत् के लिये छोड़ दी गयी और बाकी भारतवर्ष में अथवा यों कहिये कि आर्य भाषाओं की जाँच स्वीकृत की गई। इस जाँच से आशा है कि अब भाषा तत्त्ववेत्ताओं को उपयुक्त सामग्री मिल सके और यहाँ की भाषाओं तथा बोलियों का प्रदेशिक विभाग और परस्पर सम्बन्ध पूर्णतया निश्चित हो जाय।

इस कार्य सम्पादन के लिये डॉक्टर ग्रियर्सन अध्यक्ष नियत किये गये और प्रत्येक जिले के अफसरों और करद राज्यों के पोलिटिकल अफसरों को यह आज्ञा दी गयी कि वे सब इस जाँच में डॉक्टर ग्रियर्सन को उनके आदेशानुकूल पूर्ण सहायता करें। डॉक्टर ग्रियर्सन ने इसका प्रबन्ध इस प्रकार से किया है। सबसे

पहिले एक छपा हुआ कागज प्रत्येक जगह भेज दिया गया जिसमें यह पूछा गया कि (1) कौन भाषा और बोली वहाँ बोली जाती है (2) वहाँ उस भाषा और बोली का क्या नाम है और (3) बोलने वालों की कितनी संख्या है ।

इस जाँच का यह अंश समाप्त हो चुका है और प्रत्येक स्थान से इन प्रश्नों के उत्तर आ गये हैं । अब इनसे प्रत्येक प्रान्त की एक-एक सूची बनाई गई है। यह सूची दो भागों में विभक्त है । पहले भाग में प्रत्येक जिले के क्रम से भाषाओं का वर्णन है अर्थात् इस भाग मे यह दिखाया गया है कि अमुक जिले में अमुक भाषाएँ और बोलियाँ बोली जाती हैं वे अमुक 'कुल' और 'समूह' की हैं और उनके बोलने वालों की इतनी संख्या है । दूसरे भाग में भाषाओं का वर्णन उनके कुल और समूह के अनुसार किया गया है अर्थात् इस भाग में यह दिखाया गया है कि अमुक कुल और समूह की अमुक-अमुक भाषाएँ और बोलियाँ अमुक-अमुक स्थानों में बोली जाती हैं और उनके बोलने वालों की इतनी संख्या है।

जब ये सूचियाँ तैयार हो गईं तो प्रत्येक अफसरों के पास उन प्रान्तों की सूचियाँ भेज दी गईं जहाँ से उन अफसरों का सम्बन्ध था और उनसे यह प्रार्थना की गई कि वे अब भाषाओं के नमूने दें । नमूने उसी भाषाओं के माँगे गये जिन्हें वहाँ के प्राचीन वासी बोलते हैं-जैसे बनारस में (1) बनारसी (2) हिन्दुस्तानी (3) गुजराती (4) पंजाबी (5) मारवाड़ी (6) मराठी (7) बंगाली और नेपाली बोलियाँ बोली जाती हैं । इसलिये इस स्थान से केवल बनारसी बोली के नमूने माँगे गये । दो प्रकार के नमूने चाहे गये प्रथम एक नियत कथा का अनुवाद और दूसरे कुछ ऐसे पदों का संग्रह जो उस स्थान के रहने वाले साधारणतः बोलते हों । जिस कथा का अनुवाद चाहा गया वह अन्त में पाठकों के जानने के लिए दे दी गई है । दूसरे पदों के संग्रह के विषय में यह निश्चय किया गया कि यदि साधारण बोल-चाल के पद न एकत्रित हो सकें तो घरेलू गीतों से ही कार्य चल सकेगा ।

इस कार्य में जो लोग सहायक हुए उन सभी का भाषातत्त्ववेत्ता होना तो किसी प्रकार से सम्भव था ही नहीं इसलिये यह आवश्यक हुआ कि भाषाओं के नमूने एकत्रित किये जायँ जिससे उन भाषाओं की यथार्थता ठीक-ठीक मालूम हो जाय । नमूने प्रायः एकत्रित हो चुके हैं । केवल बम्बई प्रान्त में अभी कुछ कार्य बाकी रह गया है । उसके समाप्त हो जाने पर मिस्टर ग्रियर्सन का यह कार्य होगा कि इस सब सामग्री से वे यह निश्चय करें कि भारतवर्ष में कितनी भाषाएँ और बोलियाँ हैं तथा उन का परस्पर में क्या सम्बन्ध है । जब तक मिस्टर ग्रिय-

र्सन की रिपोर्ट न निकले तब तक इस जाँच के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता पर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बहुत-सी नई बातों का पता लगे और आधुनिक आर्य भाषाओं की यथार्थता ज्ञात हो जाय। इस जाँच की रिपोर्ट निकलने पर मेरा विचार उस लेख को पुनः ठीक करने का है जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग प्रथम संख्या दूसरी में "भारतवर्षीय आर्य देश-भाषाओं का प्रादेशिक विभाग और परस्पर सम्बन्ध" के नाम से छप चुका है। आज केवल उस कथा को लिख कर जिसका अनुवाद सब जगह से मँगाया गया था यह लेख समाप्त किया जाता है।

"किसी मनुष्य के दो पुत्र थे, उनमें से छुटके ने पिता से कहा कि हे पिता अपनी सम्पत्ति में से जो मेरा अंश हो सो मुझे दीजिये। तब उसने उनको अपनी सम्पत्ति बाँट दी। कुछ दिन अनन्तर छुटका लड़का सब कुछ एकट्ठा करके दूर देश चला गया और वहाँ लुचपन में दिन बिताते हुए उसने अपनी सम्पत्ति उड़ा दी। जब वह सब कुछ उड़ा चुका तब उस देश में बड़ा अकाल पड़ा और वह कंगाल हो गया और आके उस देश के निवासियों में से एक के यहाँ रहने लगा जिसने उसे अपने खेतों में सुअर चराने पर रखा। और वह मारे भूखों के उस भूसी से जिन्हे सुअर खाते थे अपना पेट भरता था क्योंकि उसको कोई कुछ नहीं देता था। तब उसे चेत हुआ और उसने कहा कि मेरे पिता के यहाँ कितने मजूरों के खाने पर भी बहुत रोटियाँ बची रहती हैं और मैं भूख से मरता हूँ। इसलिये मैं उठ के अपने पिता के पास जाऊँगा और उनसे कहूँगा कि हे पिता मैंने स्वर्गदेव से विरुद्ध और आपके सामने पाप किया है इसलिये मैं फिर आपका पुत्र कहाने के योग्य नहीं हूँ। मुझे अपने मजूरों में से एक के समान समझिये। तब वह उठके अपने पिता के पास चला पर दूर ही से उसके पिता ने उसे देख के दया की और दौड़ के उसे गले लगाया और चूमा। पुत्र ने उससे कहा कि हे पिता मैंने स्वर्गदेव से विरुद्ध और आपके सामने पाप किया है इसलिये मैं फिर आपका पुत्र कहाने योग्य नहीं हूँ। परन्तु पिता ने अपने दासों से कहा कि सबसे उत्तम वस्त्र निकाल के इसे पहिनाओ और इसके हाथ में अँगूठी और पाँवों में जूते पहिनाओ और हम लोग मिलकर खायें और आनन्द करें क्योंकि यह मेरा मरा हुआ पुत्र फिर जिया है, खो गया था फिर मिला है। तब वे आनन्द करने लगे।

उसका जेठा पुत्र खेत में था और जब वह आते हुए घर के निकट पहुँचा तब उसने बाजे और नाच का शब्द सुना और उसने अपने सेवकों में से एक

को अपने पास बुला के पूछा कि यह क्या है। उसने उससे कहा कि आपका भाई आया है इसलिये आपके पिता ने उत्तम भोजन दिया है क्योंकि उसे भला चंगा पाया है। यह सुन उसने क्रोध किया और लौटना चाहा पर उसका पिता बाहर आ उसे मनाने लगा। उसने पिता को उत्तर दिया कि देखिये मैं इतने बरसों से आपकी सेवा करता हूँ और कभी आपकी आज्ञा का उल्लंघन न किया और आपने मुझे एक मेमना भी न दिया जिससे मैं अपने मित्रों के संग आनन्द करता। परन्तु यह आपका पुत्र जिसने वेश्याओं के संग आपकी सम्पत्ति उड़ा दी है ज्योंही आया त्योंही आपने उसके लिये उत्तम भोजन दिया है। पिता ने उससे कहा कि हे पुत्र तू सदा मेरे संग है इसलिये जो कुछ मेरा है सो सब तेरा है परन्तु आज तुझे आनन्द करना और हर्षित होना उचित था क्योंकि यह तेरा मरा हुआ भाई फिर जिया है, खो गया था फिर मिला है।"

(ना० प्र० प० भाग ३
१८९४)

नागर जाति और नागरी-लिपि की उत्पत्ति

भाषातत्त्ववेत्ताओं ने हिन्दी और नागरी वा देवनागरी के पृथक्-पृथक् अर्थ माने हैं। हिन्दी से अर्थ भाषा का और नागरी वा देवनागरी से लिपि का है। यह भेद केवल इस बात पर माना गया है कि जिसमें पुरातत्त्व सम्बन्धी विषयों के अनुसंधान में किसी प्रकार से गड़बड़ न होने पावे। हमारे भाषा-लेखकों ने इस निर्णय पर ध्यान नहीं दिया, वे इन शब्दों को भाषा और लिपि दोनों अर्थों में प्रयोग करते हैं परन्तु भाषातत्त्व सम्बन्धी लेखों में इसका भेद मानना समीचीन जान पड़ता है।

आजकल नागरी लिपि की उत्पत्ति के विषय में संस्कृतज्ञों तथा पुरातत्त्व-वेत्ताओं में बहुत कुछ लिखा-पढ़ी हो रही है। इस विषय को सबसे पहिले बनारस संस्कृत कालेज के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉक्टर हाल ने उठाया और भारतवर्ष के प्रधान-प्रधान पण्डितों से पत्र द्वारा इस विषय पर सम्मति चाही कि नागरी लिपि तथा 'नागरी' वा 'देवनागरी' इस नाम की उत्पत्ति किस समय से है। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में बाबू नगेन्द्रनाथ वसु ने एक लेख अंग्रेजी तथा बँगला भाषा में लिखा है जिसका अनुवाद भाषा पाठकों के अवलोकनार्थ इस लेख में किया जाता है। आशा है कि विद्वन्मंडली इस पर विचार कर उचित निर्णय से बाधित करेगी।

नागरी अक्षरों की उत्पत्ति पर विचार करने में निम्नलिखित मुख्य बातों पर हमें विचार करना होगा।

(1) 'नागर' इस नाम का क्या कारण है ?

(2) किस स्थान से इस नाम की उत्पत्ति हुई ?

(3) किसने यह नाम दिया और क्या उसका कोई सम्बन्ध इस नाम से है ?

(4) कब यह उत्पन्न हुआ ?

(5) नागराक्षरों की उत्पत्ति क्रमशः किस प्रकार से हुई ?

कुछ भारतवर्षीय पण्डितों का यह मत है कि यह शब्द 'नागर' से निकला है, कुछ पण्डितों का यह कहना है कि 'देवनागर' से अर्थ उसका है जो देवताओं के नगर में उत्पन्न हुआ हो। दूसरों का यह मत है कि ये अक्षर पहिले-पहल

देवलोक में उत्पन्न हुए, अतएव इनका नाम देवनागर पड़ा। परन्तु मेरी समझ में यह सम्मति ठीक नहीं जान पड़ती क्योंकि यदि नागर की व्युत्पत्ति 'नगरेभवं' से हो तो 'नगर' से किस नगर का अर्थ हो सकता है, शास्त्रिकनियमानुसार जब कभी हम किसी अक्षर का नाम लेते हैं तो हमको यह बतलाना आवश्यक होता है कि इस अक्षर की उत्पत्ति किस प्रधान नगर वा पुरुष द्वारा हुई। परन्तु पण्डित-गण इसका उत्तर नहीं दे सकते। अतएव 'नगरेभवं' से इसकी उत्पत्ति मानना किसी प्रकार से उचित नहीं जान पड़ता। राजा राधकान्तदेव सम्पादित 'शब्द-कल्पद्रुम' और 'वाचस्पत्याभिधानं' में 'नागर' के नगर देश के अक्षर लिखा है परन्तु किसी प्रमाण से इस कथन की पुष्टि नहीं की गयी अतएव दूसरे कोश-कर्त्ताओं ने इसका अनुकरण नहीं किया।

डॉक्टर टेलर अपने 'अल्फाबेट्' शीर्षक ग्रन्थ के दूसरे भाग (पृष्ठ 349) में लिखते हैं :—

"नागरी शब्द का अत्यन्त विवादित अर्थ है। एक मत तो यह है कि ये अक्षर पहिले काशी में लिखे जाते थे और 'नगरेभवं' से उनकी व्युत्पत्ति है। नगर के अर्थ काशी के हैं। डॉक्टर बरनेल का विश्वास है कि नाग लिपि से ये निकले हैं। यही अर्थ उस समय नागरी का माना गया था जब ललितविस्तर ग्रन्थ का अनुवाद हुआ। तीसरा यह है कि ये गुजरात के नागर ब्राह्मणों के अक्षर हैं और चौथा मत यह है ये अक्षर शाहवंशीय राजाओं के हैं जो नागवंशीय कहलाते थे।"

उन्होंने यह भी लिखा है कि " 'देवनागरी' इस शब्द का जिसके अर्थ दैविक नागरी के हैं, भारतवर्षीय लेखक प्रयोग नहीं करते। ऐसा जान पड़ता है कि गत शताब्दी के अन्त में किसी अंग्रेज ने इस नाम का प्रचार किया। परन्तु यह शब्द अब प्रयोग में आने लग गया है। प्राचीन लिपि सम्बन्धी ग्रन्थों में भी इसी अर्थ में लिया गया है। अतएव अब इस नाम का बदलना उचित नहीं। वरन् देवनागरी से उन अक्षरों को समझना चाहिए जिनमें बहुधा संस्कृत की पुस्तकें छपती हैं और नागरी से और सब अक्षरों को जो देवनागरी से निकले हैं और जिनका मुख्य रूप देवनागरी है जैसे गुजराती इत्यादि।"

अब इन बातों पर ध्यान देकर मेरा सिद्धान्त यह है कि इन अक्षरों की उत्पत्ति नागर जाति से एक नगर नामक स्थान में हुई और यही कारण है कि इनको नागराक्षर वा नागरी-लिपि कहते हैं।

750 वर्ष पूर्व पण्डित शेषकृष्ण[1] ने निज 'प्राकृतचन्द्रिका' नाम के ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न भाषाओं का इस प्रकार से वर्णन किया है।

महाराष्ट्री तथावन्ती शौरसैन्यर्धमागधी।
वाह्लकी मागधी चैव षडेता दाक्षिणात्यजाः[2] ॥

व्राचण्डो लाटवैदर्भावुपनागरनागरौ।
वार्वरावन्त्य पाञ्चाल-टाक्कमालव-कैकयाः ॥
गौडोड्र दैव-पाश्चात्य-पाण्ड्या-कौन्तल-सैंहलाः।
कालिङ्ग प्राच्य-कार्णाट-काञ्चा-द्राविड़-गौर्जराः ॥
आभीरो मध्यदेशीयः सूक्ष्मभेदव्यवस्थिताः ॥
सप्तविंशत्यपभ्रंशा वैडालादिप्रभेदतः ॥

अर्थात् महाराष्ट्री, अवन्ती, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, वाह्लकी, मागधी, ये 6 मुख्य प्राकृत भाषाएँ हैं जिनकी उत्पत्ति दक्षिण भारत से हुई। व्राचण्ड, लाट, वैदर्भ, उपनागर, नागर, वार्वर, आवन्त्य, पाञ्चाल, टाक्क, मालव, कैकन, गौड़, उड्र, दैव, पाश्चात्य, पाण्ड्य, कौन्तल, सैंहल. कालिंग, प्राच्य, कार्णाट, काञ्चा, द्राविड़, गौर्जर, आभीर, मध्यदेशीय, वैडाल—ये 27 प्रकार की अपभ्रंश बोलियाँ हैं जिनमें परस्पर कुछ-न-कुछ भेद है।

इन श्लोकों में से अब प्रकट होता है कि महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी आदि भाषाओं की तरह से (जिनका नाम उन-उन प्रान्तों से निकला है जिनमें वे बोली जाती थीं) अपभ्रंश बोलियाँ भी जैसे नागर, उपनागर और दैव भी देश के उन-उन भागों में प्रचलित थीं जिनमें इनका नामकरण हुआ।

अब यह विचारना चाहिए कि किस स्थान से यह नाम प्रचलित हुआ।

भारतवर्ष में कई स्थान ऐसे हैं जिनका नाम 'नगर' है। बंगाल में 'नगर' एक स्थान है जो पहले वीरभूमि की राजधानी था। तांजोर के एक प्रसिद्ध बन्दर का नाम नगर है। मैसूर में एक बड़े विस्तृत खंड का भी यही नाम है। इस खंड में एक गाँव और ताल्लुक का भी नगर नाम है। पंजाब प्रान्त के काँगड़ा जिले में व्यास नदी पर दो प्रसिद्ध स्थान 'नगर' और 'नगरकोट' नाम के हैं।

1. इनका दूसरा नाम कृष्णपण्डित था और शेषवंशोद्भव नरसिंह के ये पुत्र थे। डॉक्टर भण्डारकर के अनुसार रामचन्द्र जो शेषकृष्ण का भतीजा था सन् 1150 ई० में हुआ।
2. 'अष्टेता दाक्षिणात्यजाः' भी पाठ है।

इनको छोड़ कर दरभंगा में 'नगर-बस्ती' सिन्ध में 'नगरपरकर' और बस्ती जिले में 'नगरखास' नाम के स्थान हैं। दक्षिण में बहुत-से ऐसे ग्राम हैं जो नगरम नाम से प्रसिद्ध हैं।

नागर नाम में भी यही गड़बड़ है। उत्तर बंगाल में इस नाम की दो नदियाँ हैं—एक पूरनिया और दीनाजपुर के बीच में और दूसरी बगुरा और राजशाही के बीच में प्रवाहित है। ढाका जिले में इस नाम का एक गाँव है। राजपूताना में 9, 10 स्थान ऐसे हैं जिनके नाम नगर हैं। इनमें तीन प्रसिद्ध हैं। एक जयपुर राज्य में, दूसरा मारवार में और तीसरा रंथम्भोर से 5 कोस दक्षिण-पश्चिम की ओर है। सन्ताल परगने में एक गाँव का भी यही नाम है। राजपूताना में चित्तौर के निकट ही एक अति प्राचीन नगर का भी नागर नाम है। सिक्के और दूसरी वस्तुओं से जो यहाँ खोदने पर निकलीं सर कनिंघाम साहब ने यह निश्चित कर दिया है कि यह नगर विक्रम सम्वत् के पूर्व से यहीं पर स्थित है परन्तु इसका पुराना नाम ताम्रवती नगरी है।

इन स्थानों से जिनके नाम ऊपर लिखे जा चुके हैं हमको नागरी अक्षरों के उत्पत्ति स्थान का कुछ भी पता नहीं लगता।

काबुल के निकटस्थ पहाड़ों में एक 'नागर' नाम की बड़ी प्रबल जाति वास करती है। अभी थोड़े ही दिन बीते हैं जब इस नागर जाति ने ब्रिटिश राज्य से विरोध ठाना था। कुछ महाशयों का यह मत है कि नागरी अक्षरों की उत्पत्ति इसी जाति से है क्योंकि आर्य लोग जब मध्य एशिया से क्रमशः भारतवर्ष में आये तो सम्भव है कि इस जाति के अक्षरों को किसी-न-किसी रूप में लेते आये हों। परन्तु मैं इस मत का पोषक नहीं हो सकता। ये नागर लोग यद्यपि अब मुसलमान हैं पर उत्पत्ति इनकी राजपूताने से है और राजपूताना को वे अब तक अपना पूर्वस्थान मानते हैं। इस अवस्था में यह कदापि नहीं हो सकता कि नागराक्षर काबुल के उत्तर से भारतवर्ष में आये हों।

इन स्थानों को छोड़कर बम्बई प्रदेशान्तर्गत अहमदनगर जिले में 'नगर' नाम का एक बड़ा भारी भाग है। इस खण्ड का क्षेत्रफल 619 वर्ग मील है।[1] इस स्थान में एक जाति ब्राह्मणों की वास करती है जो नागर जाति कहलाती है। अहमदनगर का दूसरा नाम 'नगर' भी है परन्तु इस नाम का प्रचार वहीं के वासियों में है। वे कहते हैं कि सन् 1411 ई० में सुल्तान अहमद के इस नगर

1. Bombay Gazetteer, vol. VII. P. 608.

को स्थापित करने के बहुत काल पहले से इस खण्ड का नाम 'नगर' प्रसिद्ध था। ये नागर ब्राह्मण स्कन्दपुराण के नागर खण्ड में जो उनकी उत्पत्ति के विषय में लिखा है उसे सत्य मानते हैं। नागर खण्ड में लिखा है कि सरस्वती नदी के किनारे हाटकेश्वर का दूसरा नाम 'नगर' है। नगरप्रान्त के रहने वाले नागर ब्राह्मण कहते हैं कि नागर खण्ड में जिस हाटकेश्वर का वर्णन है वह सरस्वती नदी पर श्रीगुण्डी में हाटकेश्वर के प्राचीन मन्दिर का ही नाम है।[1] नगर वा अहमदनगर हाटकेश्वर क्षेत्र की सीमा के अन्तर्गत था। अनेक तीर्थस्थान जिनका नागर खण्ड में वर्णन है इसी नगरप्रान्त में थे। इन सब का सिद्धेश्वर, नागनाथ और हाटकेश्वर को छोड़कर दुष्ट यवनों की नीचता के कारण अब केवल नाम मात्र शेष रह गया है। यदि हम नागर ब्राह्मणों के कहने पर विश्वास करें तो इसी स्थान को हमें प्राचीन 'नगर' (जिसका नागर खण्ड म वर्णन है) मानना पड़ेगा। श्रीगुण्डी में जो हाटकेश्वर तीर्थ है वह प्राचीन स्थान नहीं है जिसका नागर खण्ड में वर्णन है वरञ्च यह उसके कुछ काल पीछे बनाया गया है।

नागरखण्ड में ऐसी कथा है कि एक नागर ब्राह्मण, जिसका नाम चम्पशर्मा था पुष्प नामक एक पुरुष का दान ग्रहण करने के कारण जाति से निकाल दिया गया। जब उसके सब सम्बन्धियों ने उसे छोड़ दिया तो वह सरस्वती नदी के दाहिनी ओर एक स्थान पर जाकर रहने लगा। इस ब्राह्मण की सन्तान को 'बाह्य नागर' का नाम दिया गया। इन बाह्य नागरों ने नागर खण्ड में जिस प्रकार के हाटकेश्वर के मन्दिर का वर्णन है वैसा ही एक मन्दिर हाटकेश्वर नाम से सरस्वती नदी के दाहिने तट पर श्रीगुण्डी में बनवाया। नागर खण्ड के अनुसार 'नगर' सरस्वती के उत्तर ओर और हाटकेश्वर की सीमा के अन्दर है। हाटकेश्वर का विस्तार 5 कोस का है। परन्तु आजकल जिस स्थान का नाम अहमदनगर है वह श्रीगुण्डी से 5 कोस से अधिक दूरी पर है और सरस्वती उसके निकट नहीं बहती। इन बातों पर विचार कर मैं इन नागर ब्राह्मणों का पूर्व स्थान आधुनिक अहमदनगर नहीं कह सकता। ऐसी कोई दन्तकथा भी नहीं सुनने में आती जिससे कहा जा सके कि नागराक्षरों की उत्पत्ति भी इसी स्थान से हुई है।

नागरों की उत्पत्ति

मुझे एक मित्र द्वारा यह बात ज्ञात हुई है कि गुजरात के नागर पण्डितों

---

1. List of Antiquarian Remains in Bombay Presidency, by J Burgess, p. 107.

का यह मत है कि नागराक्षरों की उत्पत्ति उन्हीं के पुरुषाओं द्वारा हुई। बहुत-से नागर ब्राह्मण अब तक गुजरात में रहते हैं और वे अपने को और ब्राह्मणों से श्रेष्ठ मानते हैं।[1] गुजरात के हिन्दू राजाओं ने इन नागर ब्राह्मणों की प्राचीन काल से अत्यन्त प्रतिष्ठा की है क्योंकि इन्हीं लोगों को बहुधा मंत्री आदि के पद दिये जाते थे। ये नागर ब्राह्मण अपनी उत्पत्ति के विषय में स्कन्दपुराण को प्रमाण मानते हैं। नागर खण्ड में नागर ब्राह्मणों की उत्पत्ति के विषय में यह लिखा है।

आनर्त के राजा चमत्कार एक समय कुष्ठ रोग से अत्यन्त पीड़ित हुए। उन्होंने रोगनाश के लिए अनेक उपाय किये पर सब निष्फल हुए। अन्त में यह रोग यहाँ तक बढ़ा कि राजा अपने जीवन से भी निराश हो बैठे। एक दिन वह विश्वामित्र के आश्रम पर गये और अपना दुःख रो सुनाया। ऋषिराज को यह वृत्तान्त सुन अत्यन्त करुणा हुई और उन्होंने राजा को सङ्खतीर्थ में स्नान करने की सम्मति दी। राजा ने वैसा ही किया और उनका समस्त शरीर निर्मल और स्वच्छ हो गया। इसके उपरान्त राजा ने इस तीर्थ के निकट ही एक नगर चमत्कारपुर नाम से बसाया। इस नगर का विस्तार एक कोस का था। राजा की आज्ञा से नगर अत्यन्त सुन्दर बनाया गया और दूर-दूर से कुलीन तथा अन्य वेदज्ञ-ब्राह्मण इसमें बसने के लिए बुलाये गये। कुछ काल उपरान्त इस स्थान में चित्रशर्मा नामक एक ब्राह्मण उत्पन्न हुआ, इसने बहुत काल तक तपस्या कर महादेव को प्रसन्न किया। महादेव ने हाटकेश्वर रूप में दर्शन दे उसको वर-प्रदान से सन्तुष्ट किया। चारों ओर से लोग हाटकेश्वर लिंग का दर्शन करने आने लगे। यह देख चमत्कारपुर के ब्राह्मणों ने सोचा कि चित्रशर्मा तो उनसे किसी प्रकार से बढ़कर नहीं है परन्तु उसने जन-साधारण से यश और प्रतिष्ठा प्राप्त की है तो इसी प्रकार से हम लोग भी क्यों न करें ? इस प्रकार से निश्चय कर उन ब्राह्मणों ने घोर तप करना प्रारम्भ किया। महादेव प्रसन्न होकर इन ब्राह्मणों के सम्मुख प्रकट हुए और कहा "इस जगत् में केवल 68 शैवक्षेत्र हैं, मैं अपने को 68 भागों में विभक्त करके इन 68 स्थानों में वास करता हूँ. अतएव तुम्हें सन्तुष्ट करने के लिए मैं 68 स्वरूप में प्रकट होऊँगा।" इस प्रकार से 68 मन्दिर बने और सब

1. नागर ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता के प्रमाण में यह श्लोक कहते हैं :—

श्रेष्ठा गावः पशूनां च यथा पद्मसमुद्भव।
विप्राणामिह सर्वेषां तथा श्रेष्ठा हि नागराः॥

(नागरखण्ड 169।15)

ब्राह्मण 68 गोत्रों में विभक्त होकर शिव के एक-एक स्वरूप की पूजा करने लगे। (नागर खण्ड, अध्याय 106 और 107)

एक समय अनर्त के राजा को यह ज्ञात हुआ कि उसके राज्य पर कोई बड़ी भारी विपत्ति उसके लड़के के (जो अभी उत्पन्न नहीं हुआ था) दुष्ट ग्रहों के कारण आने वाली है। राजा ने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध ज्योतिषियों को एकत्रित किया और उनसे सम्मति चाही। इन ज्योतिषियों ने उन्हें ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ होमादि कराने की सम्मति दी। राजा ऐसी आज्ञा पा चमत्कारपुर में स्वयं गये और ब्राह्मणों से निज पुत्र के मंगल के लिए आवश्यक कृत्य करने की प्रार्थना की। 16 ब्राह्मणों ने तब होमादि करना प्रारम्भ किया।

इन पूजा-पाठादिक के साथ-साथ नगर में और आनन्दोत्सव भी होते रहे। इन उत्सवों के बीच में भयानक विघ्न भी आकर उपस्थित होने लगीं—अर्थात् राजकुमार के बुरे ग्रहों के कारण राजा के घोड़े, हाथी, रथ और प्रजा का नाश होने लगा। यह अवस्था देख चमत्कारपुर के ब्राह्मण बड़े दुःखित हुए और सोचने लगे कि हम 16 ब्राह्मण नियतरूप से पूजा-पाठादिक करते हैं तो भी कुछ उपकार नहीं होता, अतएव हम लोग अब अग्निदेवता को शाप देंगे। यह देख अग्निदेवता ने उनके सम्मुख प्रकट होकर कहा, "ब्राह्मणों वृथा क्रोध से मुझे शाप न दो। तुम्हारी पूजा भलाई करने के बदले तुम में से त्रिजाट ब्राह्मण के दुराचार के कारण बुराई उत्पन्न कर रही है। यही कारण है कि सूर्यादि यह तुम्हारी पूजा स्वीकार नहीं करते और नगर में दिनोंदिन मरी बढ़ती जाती है। अतएव इस ब्राह्मण को अलग करके तुम लोग पुनः पूजा प्रारम्भ करो, तुम्हारे राजा को सुख प्राप्त होगा और उसके शत्रुओं का नाश होगा।" अग्निदेवता के इन वाक्यों को सुन वे अत्यन्त लज्जित हुए और कहने लगे कि यह कदापि सम्भव नहीं हो सकता कि त्रिजाट उनकी पूजा को किसी प्रकार से बिगाड़ता हो। अग्निदेवता ने कहा, "तुम सब अग्निकुण्ड में मेरे स्वेद में स्नान करो और अपने को पवित्र करो। निस्संदेह इस ब्राह्मण ने तुम्हारी पूजा को बिगाड़ा है और जब यह ब्राह्मण स्नान करके निकलेगा तो तुम लोग इसके शरीर पर पीप से भरे हुए फोड़ों को देखोगे।" उन ब्राह्मणों ने वैसा ही किया और त्रिजाट के शरीर पर फोड़े देख पड़े। त्रिजाट अत्यन्त लज्जित हुआ और उसके हृदय में इतना अधिक पश्चात्ताप और दुःख हुआ कि वह सब छोड़ जंगल में चला गया और वहाँ घोर तप करने लगा।

महादेव ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिया और वर-प्रदान की इच्छा प्रकट की। त्रिजाट ने उन्हें साष्टांग प्रणाम करके कहा "देवेश, मैं अपनी माता के पाप के कारण अनर्त के राजा और चमत्कारपुर की प्रजा के सम्मुख अत्यन्त लज्जित हुआ हूँ अतएव मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए कि उन सब ब्राह्मणों में मैं श्रेष्ठ माना जाऊँ।" महादेव ने कहा, "कुछ काल ठहरो, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।" ऐसा कह कर महादेव अन्तर्हित हो गये।

इस बीच में एक घोर विपत्ति चमत्कारपुर पर आयी। एक वर्ष नागपञ्चमी के दिन मौद्गल्य गोत्र के देवराज का पुत्र कुछ अन्य ब्राह्मणों के साथ नागतीर्थ में स्नान करने गया और वहाँ सर्पराज के पुत्र रुद्रमाल को एक साधारण जलसर्प मान उसने लकड़ी से मार डाला। इस पर अपने राजा की आज्ञा पा अनेक तीव्र विष वाले साँप चमत्कारपुर में आये और वहाँ की प्रजा का काट-काट कर नाश करने लगे। कुछ लोग भाग गये, कुछ मर गये। पर थोड़े-से ब्राह्मणों ने उस जंगल में जाकर शरण ली जहाँ त्रिजाट तप करता था। त्रिजाट ने उन्हें ढाँढ़स दिया और भयरहित होने को कहा और तप में पुनः लीन हो गया। महादेव ने पुनः दर्शन देकर कहा, "मैं तुम्हें एक मंत्र बताता हूँ जिसके पाठ करने से भयानक-से-भयानक सर्प के विष का कुछ भी प्रभाव न होगा।" वह मंत्र यह था :—

गरं विषमिति प्रोक्तं न तत्रास्ति च साम्प्रतम्।
मत्प्रसादत्त्वया ह्येतदुच्चार्यं ब्राह्मणोत्तम॥
नगरं नगरं चैतच्छ्रुत्वा ये पन्नागधमाः।
तत्र स्थास्यन्ति ते वध्या भविष्यन्ति यथा सुखम्॥
अद्य प्रभृति तत्स्थानं नगराख्यं धरातले।
भविष्यति सुविख्यातं तत्र कीर्तिविवर्धनम्।
तथान्योऽपि च यो विप्रो नागरः शुद्धवंशजः।
नगराख्येन मंत्रेण अभिमन्त्यु त्रिधा जलम्॥
प्राणिनं कालसंदष्टमपि मृत्युवशंगतम्।
प्रकरिष्यति जीवन्तं प्रक्षिप्य वदने स्वयम्॥
(नागरखण्ड 107।78-82)

हे ब्राह्मणोत्तम, तुम नगर में जाकर कह दो कि गर शब्द का अर्थ विष का है परन्तु मेरे प्रसाद से अब विष नहीं है। किसी अधम साँप को जो तुम्हें नगर में, न गरम्, (अर्थात् विष नहीं है) कहते सुनकर भी वहाँ रहेगा तुम यथेच्छा

मार सकोगे। आज से उस प्रसिद्ध स्थान का नाम भूमि पर नगर हुआ और वह तुम्हारी कीर्ति को बढ़ावेगा। कोई शुद्धवंशोद्भव नागर ब्राह्मण नगर मंत्र से तीन बार जल को मंत्रित करके फेंकने से कैसे ही साँप के कटे हुए जीव की रक्षा कर सकेगा।

ऐसा कह कर महादेव तो अन्तर्हित हो गये और त्रिजाट उन ब्राह्मणों को साथ लेकर चमत्कारपुर में आया। सभी ने मिलकर 'न गरम्' चिल्लाना प्रारम्भ किया। इस सिद्ध मंत्र के प्रभाव से चमत्कारपुर के सर्प विषहीन हो गये और निज प्राण-रक्षा के लिए भागने लगे। इस कार्य से त्रिजाट की बड़ी प्रशंसा हुई और उसे अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। आज से चमत्कारपुर का नाम नगर हुआ और वहाँ के ब्राह्मण नागर कहलाने लगे।

(नागर खण्ड—अध्याय 106–108)

अतएव नागर खण्ड के प्रमाण पर नगर का प्राचीन नाम चमत्कारपुर था और वह आनर्त के राजा चमत्कार से स्थापित किया गया, इस स्थान का दूसरा नाम हाटकेश्वर है। नागर-खण्ड के अनुसार हाटकेश्वर क्षेत्र आनर्त देश के दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित है और उसकी सीमा का घेरा 10 मील का और नगर का फैलाव 2 मील का है।[1] हाटकेश्वर के पूर्व ओर गया-शीर्ष, पश्चिम ओर विष्णुपद, उत्तर और दक्षिण ओर गोकर्णेश्वर हैं।[2] इस हाटकेश्वर की

1. अस्मिन्नैर्ऋत दिग्भागे देशे चानर्तसंज्ञके ।।
तत्राद्य स्थापितं लिङ्गं हाटकेन सुरोत्तमैः ।
.... लोके पाताले हाटकेश्वरम् ।। (नागर खण्ड 4 । 51-52)
नगरं कल्पयामास स्थाने तत्र महत्तमम् ।
प्राकारेण सुतुङ्गेन परिखाढ्येन सर्वतः ।
आयाम व्यासतश्चैव क्रोशमात्रं मनोहरम् । (नागरखण्ड 11 । 63-24)

2. पंचक्रोशप्रमाणेन क्षेत्रं ब्राह्मणसत्तमाः ।
आयामव्यासतश्चैव चमत्कारपुरोद्भवम् ।।
प्राच्यां तस्य गयाशीर्षं पश्चिमेन हरेः पदम् ।
दक्षिणोत्तरयोश्चैव गोकर्णेश्वरसंज्ञितौ ।।
हाटकेश्वरसंज्ञस्तु पूर्वमासीद्द्विजोत्तमः ।
तत्क्षेत्रं प्रथितं लोके सर्वपातकनाशनम् ।।
यतः प्रभृति विप्रेभ्यो दत्तं तेन महात्मना ।
चमत्कारेण तत्स्थानं नाम्ना ख्यातिं ततो गतम् ।। (नागर खण्ड 16 । 3-6)

सीमा के अन्तर्गत अचलेश्वर, गोकर्णेश्वर, गयाशीर्ष, मारकण्डेश्वर, चित्रेश्वर, धुन्धुमारेश्वर, मयानीश्वर, आनन्देश्वर, कपिलेश्वर, कलनेश्वर, अनर्त्तेश्वर, शूद्रकेश्वर, अजपालीश्वर, वाणेश्वर, लक्ष्मणेश्वर, त्रिजाटेश्वर, अम्बारेवती, केदारेश्वर, वृष्भद्रेश्वर, सत्यसन्धेश्वर, अठेश्वर, धर्मराजेश्वर, मिष्टानन्देश्वर, चित्राङ्गदेश्वर, अमरकेश्वर, वटेश्वर, मकरेश्वर, कालेश्वर, पशुपतेश्वर आदि तीर्थ-स्थान हैं तथा और छोटे सैकड़ों तीर्थ-स्थान भी उसके अन्तर्गत हैं जैसे—पातालगंगा, गंगा-यमुना, प्राची (पूर्व) सरस्वती, नागतीर्थ, शंखतीर्थ, मृगतीर्थ, लिङ्गभेदोद्भव तीर्थ, रुद्रावर्त, रामह्रद, चक्रतीर्थ, मातृतीर्थ, सुधार तीर्थ आदि।

नागरखण्ड में एक स्थान पर स्वयं महादेव ने कहा है कि 'नैमिषारण्य, केदारनाथ, पुष्कर, भूमिजंगल, वाराणसी, कुरुक्षेत्र, प्रभास और हाटकेश्वर ये ही मुख्य तीर्थस्थान हैं। जो मनुष्य श्रद्धा से इन आठ तीर्थों में स्नान करता है उसे समस्त तीर्थों के स्नान करने का फल होता है। इन आठ तीर्थों में भी एक-दूसरे से उत्तम वा न्यून हैं, हाटकेश्वर उत्तम तीर्थों में से है। मेरे आदेश से सब तीर्थों का फल इस हाटकेश्वर में है। अतएव कलियुग में जो मनुष्य मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा रखते हों उन्हें हाटकेश्वर तीर्थ को जाना चाहिए।' (नागर खण्ड, अध्याय 103)

मिस्टर विलसन ने कहा है कि नागर शब्द नगर से निकला है और 'विशेषण' है। गुजराती ब्राह्मणों की 6 प्रधान जाति का यही नाम है और यह नाम उन्हें गुजरात के उत्तर-पूर्व की ओर के कुछ नगरों में वास करने के कारण दिया गया है।[1]

नागरखण्ड के अनुसार यह कहा जा चुका है कि त्रिजाट के हाटकेश्वर के सर्परहित करने पर उस स्थान का नाम 'नगर' हुआ और वे ब्राह्मण जो उस समय उसके साथ आकर वहाँ रहने लगे, नागर कहलाने लगे।[2]

गुजरात के नागर ब्राह्मण अब तक यह मानते हैं कि उनका पूर्व वास-स्थान आनन्दपुर (आधुनिक बड़नगर) है। यह स्थान गुजरात के कड़ी जिले में है और महाराज बड़ौदा के अधीन है। कुछ पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इस स्थान का

1. Willson, Indian Castes, Vol. II, p. 96.
2. नागरखण्ड में लिखा है कि त्रिजाट के आने के पहिले हाटकेश्वर में साँपों के कारण एक मनुष्य भी न रह गया था, त्रिजाट ने पुनः 84 गोत्र के ब्राह्मणों को भिन्न-भिन्न स्थानों से बुलाकर नगर को बसाया।

नाम नगर-आनादपुर भी बताया है।[1] मेरी समझ में यह आता है कि स्यात् आनन्दपुर के नागर ब्राह्मणों ने अपने वासस्थान को बड़नगर का नाम इसलिये दिया कि जिससे बाह्य नागरों द्वारा स्थापित 'नगर' नामक स्थान से उनका स्थान अलग रहे।[2]

हाटकेश्वर का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान अब तक बड़नगर में है और यहाँ के ब्राह्मण महाराज गैकुआड़ के मंगल के लिए नित्यप्रति शान्ति-पाठ करते हैं। अब तक हजारों यात्री इस स्थान को जाते हैं।

वे मन्दिर और तीर्थ जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है अब तक बड़नगर और निकटस्थ स्थानों में ठीक उसी रूप में पाये जाते हैं जैसा कि नागर खण्ड में उनके विषय में लिखा है। यहाँ के रहने वाले सरस्वती नदी को उतनी ही पवित्र मानते हैं जितनी कि गंगा मानी जाती है।

नागर ब्राह्मण कहते हैं कि एक समय वह था जब प्रतिवर्ष लाखों यात्री भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों से हाटकेश्वर क्षेत्र में आते थे। पण्डों के नौकर जगह-जगह इसीलिये घूमते थे कि लोग दर्शन करने वहाँ आवें। बहुत-से नागर ब्राह्मण अपनी पुस्तकों को अब तक नागरी लिपि में लिखते हैं—यहाँ तक कि द्रविड़ और करनाट में जहाँ भिन्न प्रकार के अक्षरों का प्रचार है ये नागर ब्राह्मण यद्यपि बहुत काल वहीं रहने से अपनी मातृभाषा भूल गये हैं और वहीं की भाषा बोलते हैं परन्तु लिखने में नागरी अक्षरों ही को काम में लाते हैं।

विजयनगर और अनगुण्डी के निकट रहने वाले नागर ब्राह्मणों के विषय में मिस्टर स्टोक्स लिखते हैं कि ऐसा जान पड़ता है कि ये लोग 'नागर' के उत्तर-पूर्व से आये हैं और यहाँ अनगुण्डी और विजयनगर के राजाओं के अधीन रहे हों। ये कनारी भाषा बोलते हैं परन्तु अपनी पुस्तकें नागरी और बालबोध[3] अक्षरों में लिखते हैं।[4]

जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है उस पर ध्यान देने से यही ज्ञात होता

---

1. Epigraphica Indica, Vol. I. p. 295.
2. नागरखण्ड में यह लिखा हुआ है कि चम्प शर्मा जब जाति से निकाला गया तो उसने अपने साथियों के साथ सरस्वती नदी के दाहिनी ओर नागरेश्वर और नगरादित्य की मूर्तियाँ स्थापित कीं। अतएव यह असम्भव नहीं है कि बाह्यनागरों ने 'नगर' नाम का एक स्थान बसाया हो।
3. बालबोध नागरी का एक बहुत आधुनिक रूप है। (Burnell S. I. Palaeography p. 44.)
4. Indian Antiquary, 1874, p. 230.

है कि वे ब्राह्मण जिन्हें त्रिजाट अपने संग लाया नागर कहलाने लगे और उनके भाषा और अक्षर 'नगर' नगर में रहने के कारण नागर व नागरी कहलाने लगे। उन ब्राह्मणों का नागराक्षरों से एक विचित्र सम्बन्ध है—यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी यदि उन अक्षरों पर ध्यान दिया जायगा जो वे नागर ब्राह्मण जिन्हें सैकड़ों वर्ष अन्य स्थानों में रहते बीत गये हैं काम में लाते हैं।

नागरी लिपि की उत्पत्ति

भारतवर्षीय अनेक पण्डितों का यह मत है कि नागरी-लिपि की उत्पत्ति छपने की विद्या के प्रचार के समय से है। प्राचीनलिपिमाला के रचयिता उदयपुर निवासी पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द भी इस मत का अनुमोदन करते हैं परन्तु मेरी सम्मति इससे भिन्न है।

प्राचीन पुस्तकों में जिनमें और लिपियों का वर्णन है नागरी लिपि का नाम भी नहीं पाया जाता। जैसे ललितविस्तर नामक ग्रंथ में लिखा है कि जब विश्वामित्र दाराकाचार्य राजकुमार सिद्धार्थ को लिखना सिखाने लगे तो राजकुमार ने निम्नलिखित 64 प्रकार की लिपियों का वर्णन किया। (1) ब्राह्मी (2) खरोष्टी (3) पुष्करसारी (4) अङ्ग (5) वंग (6) मगध (7) मांगल्य (8) मनुष्य (9) अंगुलीय (10) शकारि (11) ब्रह्मवल्ली (12) द्राविड़ (13) किनारि (14) दक्षिण (15) उग्र (16) संख्या (17) अनुलोम (18) अर्धधनु (19) दरद (20) खास्य (21) चीन (22) हूण (23) मध्याक्षर-विस्तर (24) पुष्प (25) देव (26) नाग (27) यक्ष (28) गन्धर्व (29) किन्नर (30) महोरग (31) असुर (32) गरुड़ (33) मृगचक्र (34) चक्र (35) वायुमरुत् (36) भौमदेव (37) अन्तरीक्षदेव (38) उत्तरकुरुद्वीप (39) अपरगौड़ (40) पूर्व-विदेह (41) उत्क्षेप (42) निक्षेप (43) विक्षेप (44) प्रक्षेप (45) सागर (46) वज्र (47) लेख-प्रतिलेख (48) अनुद्रुत (49) शस्त्रावर्त (50) गणनावर्त (51) उत्क्षेपावर्त (52) निक्षेपावर्त (53) पदलिखित (54) द्विरुत्तर-पद-सन्धि (55) दशोत्तर पदसन्धि (56) अध्याहारिणी (57) सर्वरुतसंग्रहणी (58) विद्यानुलोमा (59) विमिश्रित (60) ऋषितपस्तप्ता (61) रोचमानन्धारणी प्रेक्षणा (62) सर्वौषधिनिष्यन्दां (63) सर्वसारसंग्रहणी (64) सर्वभूतरुतग्रहणी।[1]

1. अथ बोधिसत्व उरगसारचन्दनमयं लिपिफलकमादाय दिव्यवर्णकं सुवर्णतिलकं समन्तान्मणिरत्नप्रत्युप्तं विश्वामित्रमाचार्यमेवाह। कतमां भो उपाध्याय लिपिं मे शिक्षयिष्यति। ब्राह्मीं खरोष्टीं पुष्करसारीं अंग-लिपिं वंग-लिपिं मगध-लिपिं मांगल्य-लिपिं मनुष्य-लिपिं अंगुलीय लिपिं शकारि-

एक अत्यन्त प्राचीन जैनग्रन्थ के चतुर्थ अंग में उस लिपि का नाम जो आदिजिन ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी से उत्पन्न हुई है ब्राह्मी लिखा गया है। ब्राह्मीलिपि के अन्तर्गत निम्नलिखित 18 प्रकार की लिपियों के नाम दिये हैं। [1] वाम्भी [2] जवनालिया [3] दोष ऊरिया [4] खरोट्ठिया [5] खरसारिया [6] पहाराइया [7] उच्चतरिया [8] अखकरपुट्ठिया [9] भोगवयत्ता [10] वेयणत्तिया [11] निराहइया [12] अंक [13] गणिय [14] गन्धव्व [15] आदस्स [16] माहेसर [17] दामी [18] बोलिदि-लिपि।[1]

जैन लोगों के चतुर्थ उपांग अर्थात् प्रज्ञापना सूत्र में निम्नलिखित 18 प्रकार की लिपियों का वर्णन है। (1) वम्भी (2) जवणालिया (3) दासपूरिया

लिपि ब्रह्मवल्ली-लिपि द्राविड़-लिपि किनारि-लिपि दक्षिण-लिपि उग्र लिपि संख्या-लिपि अनुलोम लिपि अर्धधनुर्लिपि दरद-लिपि खास्य-लिपि चीन-लिपि हूण-लिपि मध्याक्षर-विस्तर-लिपि पुष्प-लिपि देव-लिपि नाग-लिपि यक्ष-लिपि गन्धर्व-लिपि किन्नर-लिपि महोरग-लिपि असुर-लिपि गरुड़-लिपि मृगचक्र-लिपि चक्र-लिपि वायुमरुल्लिपि भौमदेव-लिपि अन्तरीक्ष-देव-लिपि मुत्तरकुरुद्वीप-लिपि अपरगौड़ादि-लिपि पूर्वविदेह-लिपिमुत्क्षेप-लिपि विक्षेप-लिपि प्रक्षेप-लिपि सागर-लिपि वज्र-लिपि लेखप्रतिलेख-लिपि सनुद्रुत-लिपि शास्त्रावर्त-लिपि गणनावर्त-लिपि मुत्क्षेपावर्त-लिपि निक्षेपावर्त-लिपि पादलिखित-लिपि द्विरुत्तरपदसन्धि-लिपि यावद्दशोत्तरपदसन्धि-लिपि मध्याहारिणि लिपि सर्वरुतसंग्रहणी-लिपि विद्यानुलोमा-लिपि विमिश्रित-लिपिमृषितपस्तप्तां रोचनमानन्धरणी प्रेक्षण-लिपि सर्वौषधिनिष्यन्दां सर्वसारसंग्रहणीं सर्वभूतरुतग्रहणीमासाम्भो उपाध्याय चतुःषष्टिलिपीनां कतमां-लिपिं मां त्वं शिक्षयिष्यसि।

(ललितविस्तरे 10 अ०)

1. वम्भी एणं लिवीए अठारस-विह लेक्खविहाने।⋯वम्भी जवणालिया दोस-ऊरिया खरोट्ठिया खरसारिया पहाराइया उच्चत्तरिया अक्खरपुत्थिया भोगवयत्ता वेयणतिया निराहइया अंकलिवि गणिअलिवि गन्धव्व-लिपि आदस्सलिवि माहेसरलिवि दामिलिवि बोलिदिलिवि।

(समवाय 18 श स्थान)

जैन लोगों का कथन है कि ये अंग महावीर के समय में लिखे गये और उनकी मृत्यु के 164 वर्ष उपरान्त (ईसा के 363 वर्ष पूर्व) पाटलीपुत्र के श्रीसंघ में एकत्रित किये गये थे।

(4) खरोट्ठी (5) पुक्खरसारिया (6) भोगवइया (7) पहाराइया (8) अन्तर-करिया (9) अक्खरपुट्ठिया (10) वेणनिया (11) निणहइया (12) अंक (13) गणित (14) गन्धव्व (15) आयस्स (16) माहेसरी (17) दामिली (18) पोलिन्दा।[1]

परन्तु कुछ लोग कह सकते हैं कि जिन लिपियों के नाम ऊपर लिखे गये हैं उनमें देव लिपि, भौमदेव-लिपि और अन्तरीक्षदेव-लिपि का भी वर्णन हुआ है। अतएव यह सम्भव है कि देवनागरी व नागरी लिपि का प्राचीन नाम इन तीनों में से एक हो। परन्तु मेरी सम्मति में यह उचित नहीं जान पड़ता कि नागरी लिपि का नाम न मिलने से यह मान लिया जाय कि इसका प्राचीन नाम देव वा अन्य कोई लिपि था।

इन लेख के प्रारम्भ में यह कहा जा चुका है कि प्राकृतचन्द्रिका के रचयिता शेषकृष्ण ने 27 प्रकार की भ्रष्ट भाषाओं में 'नागर' 'उपनागर' और 'दैव' भाषाओं का भी नाम लिखा है।[2] यह सम्भव है कि इन तीन प्रकार की भाषाओं की तरह तीन प्रकार की लिपियों का भी प्रचार रहा हो। सम्भव है कि देव वा भौमदेवलिपि जिनका वर्णन ललितविस्तर में है दैवलिपि वा दैवभाषा की लिपि के कुछ सदृश रही हो।

परन्तु मुझे कोई भी प्रमाण ऐसा नहीं मिला जिससे मैं यह कह सकूँ कि देव लिपि के अर्थ नागरी लिपि से है। किसी-किसी स्थान में नागरी के अर्थ देव-नागराक्षर के हो सकते हैं परन्तु देवाक्षर का ऐसा अर्थ कहीं भी सुनने में नहीं आता। इस अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि दैव वा भौमदैव लिपि से प्रयोजन नागरी लिपि ही का है।

अब सब कोई इस बात को मानते हैं कि ललितविस्तर ग्रन्थ ईसा के पूर्व

---

1. बम्भी एनम् लिवीए अठारसविह-लिक्ख विहाणे पणत्ते नाम् बम्भी जवणा-लिया दासपूरिया खरोट्ठी पुक्खरसारिया भोगवइया पहाराइया उपअन्तर-करिया अक्खरपुट्ठिया वेणणिया निणहइया अंकलिवि गणितलिवि गन्धव्व-लिवि आयस्सलिवि माहेसरी दामिली पोलिन्दा सेऽत्तं भाषारिया (पन्नवणा)।

टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है - ब्राह्मीयवनानीत्यादयोलिपिभेदारतु सम्प्रदायादवशेयः।

2. शेषकृष्ण के पूर्व इन तीन प्रकार की भ्रष्ट भाषाओं का भी नाम कहीं नहीं मिलता।

दूसरी या तीसरी शताब्दी में लिखा गया था। चतुर्थ उपाङ्ग प्रज्ञापनाक्षूत्र के प्रथम कारकाचार्य श्यामार्य ने लिखा था। खरतरगच्छ पट्टावली के देखने से ज्ञात होता है कि श्यामार्य महावीर के निर्वाण के 376 वर्ष पूर्व (ईसा के 151 वर्ष पूर्व) जीवित थे। अतएव अब यह निश्चय हुआ कि 2000 वर्ष पूर्व नागर या नागरी नाम की कोई लिपि नहीं थी।

अब यह विचारना चाहिए कि नागर नाम का प्रयोग सबसे पहिले कब हुआ।

नन्दीसूत्र[1] नामक जैनग्रन्थ में सबसे पहिले नागरी लिपि का नाम मिलता है। जैनाचार्य लक्ष्मीवल्लभगणी ने 'कल्पसूत्र कल्पद्रुम कलिका' में यह लिखा है—

"अब श्रीऋषभदेवेन ब्राह्मीदक्षिणहस्तेन अष्टादशलिपयो दर्शिताः। नन्दीसूत्रे उक्ता यथा—1. हंसलिपि, 2. भूतलिपि, 3. यक्ष लिपि, 4. राक्षसीलिपि, 5. उडडीलिपि, 6. यावनीलिपि, 7. तुरक्की लिपि, 8. कीरीलिपि, ९. द्राविडी लिपि, 10 सैन्धवीलिपि, 11. मालवीलिपि, 12. नडीलिपि, 13. नाग लिपि, 14. पारसीलिपि, 15. लाटीलिपि, 16. अनिमित्तलिपि, 17. चाणकीलिपि, 18. मौलदेवी।"

पुनः ग्रन्थकार ने लिखा है—"देशविशेषादन्या अपि लिपयस्तद्यथा—1. लाटी, 2. चौडी, 3. डाहली, 4. कणाडी, 5. गूजरी, 6. सोरठी, 7. मरहठी, 8. कौङ्कणी, 9. खुरामाणी, 10. मागधी, 11. सिंहली, 12. हाडी, 13. कोरी, 14. हम्मीरी, 15. परतीरी, 16. मसी, 17. मालवी, 18. महायोधी, इत्यादयो लिपयः पुनरङ्कानां गणित कला दर्शिता वामहस्तेन सुन्दरी प्रतिलिपि दर्शिता।"

जैनाचार्य का कथन है कि नन्दी सूत्र 'कल्पसूत्र' के कुछ वर्ष पहिले लिखा गया था। कल्पसूत्र महावीर की मृत्यु (निर्वाण) के 920 वर्ष उपरान्त[2] आनन्दपुर (बड़नगर) में बल्लभी राजा ध्रुवसेन की आज्ञानुसार प्रकाशित हुआ था। अतएव अब यह सिद्ध हुआ कि नागरी लिपि का प्रथम वर्णन हमें 4थी या 5वीं शताब्दी (ईसवी) में मिला, नागरी लिपि का वर्णन चौथी शताब्दी के किसी साल में नहीं मिलता और न इस बात का निश्चय ही है कि प्रथम इस लिपि की उत्पत्ति

1. नागरीलिपि के जिस रूप का प्रचार दक्षिण में है उसे नन्दीनागरी लिपि कहते हैं।
2. ईसवी सन् 453।

किस समय हुई तो अब यह आवश्यक हुआ कि हम प्राचीन दानपत्रों, हस्त-लिखित पुस्तकों या स्तूप पर के लेखों पर ध्यान दें और उनसे कुछ पता लगावें। इस विषय में बड़े अनुसन्धान और समय की आवश्यकता है कि नागराक्षरों की क्रमोन्नति का पता लगाया जाय। परन्तु डॉक्टर बुहलर इस विषय का एक ग्रन्थ लिख रहे हैं अतएव आशा है कि पाठकगण उससे लाभ उठावेंगे। नागरी अक्षरों में आज तक जिन ताम्रपत्र, हस्तलिखित ग्रन्थ या स्तूपलेखों का पता लगा है उनमें गुर्जर नृप दद्द प्रशान्तराग का ताम्रपत्र जिस पर 415 शक सम्वत् दिया है और जो बगमुरा में मिला था सबसे प्राचीन है[1]। समस्त ताम्रपत्र पर लेख उस समय की गुजराती लिपि में लिखा है परन्तु अन्त में राजा के लिखित शब्द नागरी अक्षरों में हैं—

'स्वहस्तोऽयं मम श्रीवितरागसुनो श्रीप्रशान्तरागस्य'

राजा का हस्ताक्षर ही केवल नागराक्षरों में लिखा रहने के कारण ऐसा ज्ञात होता है कि यद्यपि उस समय और उसके पूर्व गुजरात में अन्य लिपियों का प्रचार था किन्तु राजवंशीय लोग नागराक्षरों में ही लिखते थे। प्रशान्तराग के ताम्रपत्र के उपरान्त सौराष्ट्र नृप जैङ्कदेव का ताम्रपत्र जिस पर 794 सम्वत् (737 ई०) खुदा हुआ है नागराक्षरों में मिलता है। यह ताम्रपत्र धिनिकी ग्राम में द्वारिकापुरी के दक्षिण ओर समुद्रतट पर मिला था[2]। यह ताम्रपत्र जैङ्कदेव ने निज मंत्री भट्टनारायण के कहने पर मुदगल गोत्र के एक ईश्वर नामक मनुष्य को दिया गया था। इसके उपरान्त हमें दान्तीदुर्ग खङ्गावलोक का दानपत्र जिसका सम्वत् 675 शक है मिलता है।[3] इस पत्र में इ, ए, घ, च, ण, न, व, और ञ अक्षरों का रूप प्राचीन गुजराती लिपि-सा है परन्तु इनमें नागराक्षरों की क्रमोन्नति प्रकट होती है। वास्तव में गुजरात के राष्ट्रकूट राजाओं के उद्योग द्वारा ही नागरी अक्षरों का इतना अधिक प्रचार हुआ। नागराक्षरों की क्रमोन्नति निम्न-लिखित ताम्रपत्रों से क्रमशः स्पष्ट प्रकट होती है।

---

1. Indan Antiquary, Vol. XVII.
2. Indian Antiquary, Vol. XII. 155.
3. Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, Vol. II, p. 371, and Indian Antiquary, Vol. XI, p. 110.

दाता का नाम	समय
राष्ट्रकूट नृप ध्रुव (द्वितीय)	757 शक (1)
इन्द्रनित्य वर्ष	836 ,, (2)
गोविन्दसुवर्ण वर्ष	855 ,, (3)
कृष्ण-अकाल वर्ष	862 ,, (4)
अमोघ वर्ष	894 ,, (5)

यद्यपि ध्रुव (द्वितीय) ताम्रपत्र प्राचीन नागराक्षरों में खुदा हुआ है परन्तु उसमें ट, ध, ण, ए और कई दूसरे अक्षरों का रूप गुप्ताक्षरों ऐसा है। गोविन्द-सुवर्ण वर्ष, इन्द्रनित्य वर्ष और अमोघ वर्ष के दानपत्रों में आधुनिक नागरी लिपि का दर्शन स्पष्ट रूप से होता है। दद्द, जैज्ज, दन्तिदुर्ग और ध्रुव के ताम्रपत्रों में स्वर अक्षरों के चिह्न प्राचीन गुप्त लिपि से निकले हुए ज्ञात होते हैं परन्तु उनका रूप आधुनिक नागराक्षरों-सा जान पड़ता है। गोविन्दसुवर्ण वर्ष और दूसरे ताम्र-पत्रों के अक्षरों में कहीं-कहीं भेद दीख पड़ता है। अर्थात् स्वर अक्षरों के चिह्न जो उन पत्रों में हैं वे वङ्गीय और मैथिली लिपि ऐसे हैं। इसमें ऐसा प्रकट होता है कि स्वराक्षरों के चिह्न जो वङ्गीय और मैथिली लिपियों में हैं प्राचीन हैं अर्थात् 6वीं या 7वीं शताब्दी (ईसवी) के पूर्व से उनकी उत्पत्ति है। नागरी लिपि में यदि ये चिह्न हों तो उसे गुजरात में जैन नागरी लिपि कहते हैं।

नागरी लिपि का पूर्ण प्रचार 9वीं वा 10वीं शताब्दी ईसवी से हुआ जान पड़ता है। 9वीं और 10वीं शताब्दी के बीच में जो रूप नागर लिपि का था आज भी वही है, जो कुछ भेद पड़ा है वह लेख या खोदने वाले की विशेषता के कारण से हुआ है।

तो अब जैनग्रन्थों और प्राचीन लेखों से जिनका ऊपर वर्णन हुआ है यह स्पष्ट होता है कि नागरी लिपि का प्रचार 5वीं शताब्दी में था। मैंने कहा है कि नागरी लिपि की उत्पत्ति नागर खण्ड के नागर ब्राह्मणों द्वारा हुई। ये नागर ब्राह्मण गुजरात के रहने वाले हैं और सबसे प्राचीन नागरी लिपि का जो पता लगा है वह भी गुजरात ही से है। ये प्रमाण मेरे कथन को पुष्ट करते हैं।

---

(1) Indian Antiquary Vol. XIV p. 200 (2) Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society Vol. XVIII. (3) Indian Antiquary Vol, XII. p. 280 (4) Journal of the Bombay branch of the Royal Asiatic Society Vol. XVIII. (5) Indian Antiquary Vol. XII. p. 266.

परन्तु यहाँ पर एक प्रश्न पूछा जा सकता है। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने उन सब प्राचीन लेखों को जो तीसरी और सातवीं शताब्दी के बीच में मिले थे गुजराती लिपि में खुदा हुआ कहा है। दक्षिण में भी जो दानपत्रादि मिले हैं वे भी इन्हीं अक्षरों में खुदे हुए हैं। इन बातों पर ध्यान देकर सोचना चाहिए कि क्या कारण हुआ कि नागर ब्राह्मणों ने अपने देश में जो लिपि प्रचलित थी उससे भिन्न लिपि ही का प्रचार किया ? गुजराती लिपि पर पूर्णतया ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जायगा कि नागरी लिपि की उत्पत्ति उससे नहीं है वरन् गुप्ताक्षरों के अत्यन्त प्राचीन रूप से उनकी उत्पत्ति स्पष्ट है। तो अब यह जान पड़ता है कि नागरी लिपि को नागर-ब्राह्मण गौड़, मगध या अन्य किसी स्थान से गुजरात में लाये हों। नागर खण्ड (स्कन्दपुराण) के 108 वें अध्याय में लिखा है कि जब प्रसिद्ध त्रिजात ने चमत्कार-पुर को सर्परहित किया तो उसने उन ब्राह्मणों को जो अपने घर-बार सहित दूर-दूर से हाटकेश्वर में आये थे, धन दानादि बहुत 'नगर' में बसाया[1]। इससे स्पष्ट है कि थोड़े-से ब्राह्मण द्वारा दूर से 'नगर' में बसने के लिए आये।

मैं पहले कह चुका हूँ कि आनन्दपुर 'नगर' या 'वड़नगर' का प्राचीन नाम है। 'आनन्दपुर' यह नाम चौथी, पाँचवीं और छठवीं शताब्दी (ईसवी) के ताम्रपत्रों पर केवल मिलता है। जैनकल्पसूत्र में लिखा है कि वल्लभी राजा ध्रुवसेन के आज्ञानुसार वह ग्रन्थ आनन्दपुर के जनसाधारण के सम्मुख पढ़ा गया था। चीनी यात्री ह्विेनथशांग ने यहाँ पर अनेक बौद्ध सङ्घाराम और हिन्दू-मन्दिरों को देखा था। हिन्दू-मन्दिर जो उसने देखे हों स्यात् हाटकेश्वर के तथा और वे सब मन्दिर हों जिनका नागर खण्ड में वर्णन है। अब प्रश्न यह है कि यद्यपि चौथी वा पाँचवीं शताब्दी में हम नन्दीसूत्र में नागरी लिपि का वर्णन पाते हैं पर क्या कारण है कि नागर खण्ड को छोड़ कर उस समय के और किसी प्राचीन लेख या ताम्रपत्र में यह नहीं मिलता ? ऐसा सम्भव जान पड़ता है कि वल्लभी राजाओं के समय में उन राज्य-सेवकों ने जो किसी दूसरे धर्म को मानते रहे हों इस नाम को न माना हो, वे सब इसे आनन्दपुर ही कहते हों ?[2] स्यात् राष्ट्रकूट

---

1. त्रिजातस्य च वाक्येन येन पुरादपि द्रुतम्।
   समागच्छन्ति विप्रेन्द्राः पुरवृद्धिः प्रजायते ॥
   न कश्चिद्याति संसक्ता दौस्थादन्यत्र च द्विजाः।
   ततस्तेषां सुतैः पौत्रैर्नप्तृभिश्च सहस्रशः ॥
   तत्पुरं वृद्धिमापन्नैर्दूर्वाङ्कुरैरिव द्विजाः। (नागरखण्ड 108 अ०)
2. नागरखण्ड में आनन्देश्वर महादेव का वर्णन है, स्यात् इस महादेव से अर्थ आनन्दपुर का हो।

और चौलुक्य राजाओं के समय से इस स्थान का नाम नगर पड़ा हो क्योंकि इन वंशों के राजा नागर ब्राह्मणों को बहुत-कुछ मानते थे और उनका सम्मान करते थे।

मैं नागर खण्ड के अनुसार इस बात का वर्णन कर चुका हूँ कि किस प्रकार से त्रिजात ब्राह्मण ने अपने साथियों सहित सर्पों का नाश कर या उनको वहाँ से निकाल कर हाटकेश्वर क्षेत्र को बचाया। इस कथा का अर्थ मैं इस प्रकार से वर्णन करूँगा। वल्लभी राजाओं के बहुत काल पूर्व नागपूजक नागवंशीय या शाहवंशीय राजा गुजरात में राज्य करते थे। स्यात् शैव्य लोगों ने नाग जाति को पराजय देकर आनर्त को जीत लिया और वहाँ निज धर्म की उत्कृष्टता स्थापित करने के लिए हाटकेश्वर क्षेत्र बनाया हो। यह चौथी शताब्दी (ईसवी) के अन्त में हुआ। इसके उपरान्त बहुत-से शैव्य ब्राह्मण भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर यहाँ एकत्रित हुए और नागर कहलाने लगे। यह सम्भव है कि इन ब्राह्मणों में से कुछ मगध, कान्यकुब्ज और गौड़ देश से आये हों और निज लिपि को अपने साथ लेते आये हों और उसका नाम कुछ काल उपरान्त 'नागरी लिपि' पड़ा। गुर्जर राजाओं के पुरोहित प्रसिद्ध कवि सोमेश्वर लिखित सुरथोत्सव ग्रन्थ से यह ज्ञात होता है कि नागर ब्राह्मण बहुत काल तक 'नगर' मे रहे। उस ग्रन्थ में लिखा है :—एक 'नगर' नाम का स्थान है जहाँ नागर ब्राह्मण रहते हैं और जो पवित्राग्नि तथा अन्य पूजादि के कारण से जो वे नित्य करते हैं, एक पवित्र स्थान है। इन स्थानों में मानो ब्राह्मणों का रूप धारण करके देवता स्थान की पवित्रता और उस पर शिव की दया के कारण से वास करते हैं। इस स्थान में वशिष्ठगोत्रीय तथा प्रसिद्ध गुलेचवंशीय ब्राह्मण वास करते थे। इस पवित्र कुल में सोलशर्मा उत्पन्न हुआ। इसे मूलराज (पाटन के चौलुक्य वंश का प्रथम राजा) ने अपना पुरोहित बनाया।[1]

1. अस्ति प्रशस्ताचरणप्रधानं स्थानं द्विजानां नगराभिधानम्।
कर्तुं न शक्नोति कदापि यस्य त्रेतापवित्रस्य कलिः कलङ्कम्॥
चञ्चत्पञ्चमखाग्नि भग्नतमसि स्थानेत्र नेत्रानल—
ज्वालाप्रज्वलितप्रसून धनुषा देवेन दत्तोदये।
आविर्भूतमभूतपूर्वचरितश्रेष्ठाद्वशिष्ठात्ततः।
सत्कर्मोद्धर-मध्वर-स्थितिविदां स्थानेत्र गोत्रं महत्॥
येषामशेषाधिपतिः प्रसन्नः सन्नद्धपाणिः फणिकङ्कणेन।
स एव संभूतिमिहाप्नुवन्ति कुले गुलेचाभिधया प्रसिद्धे॥
श्रीसोलशर्म्मा विमलेकुलेऽत्र जन्म द्विजन्मप्रवरः प्रपेदे।
यः स्वर्गितः सोमरसेन यागे पितॄंश्च पिण्डैरपृणत्प्रयागे।
श्रीगुर्जरक्षिशिभुजाकिलमूलराजदेवेन दूरमुपरुध्य पुरोदधे यः॥
(सुरथोत्सव 15 श सर्ग)

सोमेश्वर पुनः लिखता है कि उसके पुरखा गुर्जर के चौलुक्य राजाओं के सदा से पुरोहित रहे और कोई-कोई राष्ट्रकूट राजाओं के भी पुरोहित हुए।[1]

मूलराज ने 10 वीं शताब्दी (ईसवी) में राज्य किया। सोमवर्ष के कथन से सिद्ध होता है कि मूलराज के बहुत काल पहले से नागर ब्राह्मण वहाँ रहते थे यद्यपि 'नागर' नाम का प्रचार इसी के समय से हुआ।

चीनी यात्री के समय में (7 वीं शताब्दी ईसवी) यहाँ पर अनेक हिन्दू-मन्दिर रहे। नागर खण्ड के अनुसार नागर ब्राह्मणों ने ही नगर या चमत्कार पुर के सब मन्दिरों को स्थापित किया।

मैं नन्दीसूत्र में (जो चौथी व पाँचवीं शताब्दी में बना) नागरी लिपि के स्पष्ट वर्णन के विषय में लिख चुका हूँ तथा यह भी दिखा चुका हूँ कि गुर्जर राजा दद्द प्रशान्तराग के समय से ही नागरी लिपि का प्रचार हुआ। यह अत्यन्त विचित्र है कि बहुतांश ताम्रपत्र जो नागरी लिपि में खुदे हुए गुजरात में मिले हैं उन ब्राह्मणों को दिये गये हैं जो कान्यकुब्ज, पाटलीपुत्र, पौन्द्रवर्धन, आदि स्थानों से गुजरात में आये हैं। प्रशान्तराग का दानपत्र 415 शक में भट्ट गोविन्द को जो भट्ट महिधर का पुत्र तथा कान्यकुब्ज का रहने वाला था दिया गया था। राष्ट्रकूट राजा नित्यवर्ष का दानपत्र भी 836 शक में लिखा गया और सिद्धपभट्ट का जो वेल्लपभट्ट का पुत्र तथा पाटलीपुत्र का रहने वाला था दिया गया था। इसी प्रकार से राष्ट्रकूट राजा सुवर्ण वर्ष का ताम्रपत्र भी 854 शक में केशव दीक्षित को दिया गया था। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीन काल से कान्यकुब्ज, पाटलीपुत्रादि स्थानों से ब्राह्मण गुजरात में आकर बसते रहे। इस प्रकार से नागरी लिपि गुजरात में आयी और उसका प्रचार हुआ।

सैकड़ों प्रशंसापत्र जो बड़नगर में पत्थर पर खुदे पड़े हैं इस बात को स्पष्टतापूर्वक प्रकट करते हैं कि गुर्जर राजा नागर ब्राह्मणों का कितना अधिक सम्मान करते थे। इन्हीं राष्ट्रकूट और चौलुक्यवंशीय गुर्जर राजाओं के ही द्वारा नागरी लिपि का प्रचार बढ़ा। लाट के राजा कर्कसुवर्ण के दानपत्र में जिस पर 734 शक सम्वत् खुदा है लिखा है—

गोडेन्द्र वङ्गपति-निजयदुर्विदग्ध—
सद्गुर्जरेश्वर दिगर्गलतां च यस्य।

---

1. दुष्टार्य-कोटि कदनोत्कट-राष्ट्रकूट-कल्पेन शिल्पितरणाङ्गनकौङ्कणेन।
सर्वप्रधानपुरुषाधिपतिः प्रतापमल्लेन भूपतिमतल्लिकया क्वतो यः।

नीत्वा भुजं विहृतमालवरक्षणार्थं
स्वामी तथान्यमपि राज्यच्छलानि भुङ्क्ते ।।[1]

पुनः अकालवर्ष के ताम्रपत्र (शक 862) में राष्ट्रकूट राजा नृपतुंग के पुत्र गुर्जरेश्वर कृष्णराज के विषय में लिखा है कि—

तस्यार्जित गुर्जरोहृत-हटल्लारोद्भूर-श्रीमदो
गौड़ानां विनयव्रतार्पणगुरुः सामुद्रा-निद्राहरः ।
द्वारस्थान्ध्र-कलिङ्ग-गाङ्ग मगधैरभ्यर्चितार्ज्ञश्चिरं
सूनुः सुनृतवाग्भुवः परिदृढः श्रीकृष्णराजोऽभवत् ।।[2]

इन श्लोकों से यह प्रकट होता है कि नौवीं और दसवीं शताब्दी (ईसवी) में गुर्जर के राष्ट्रकूट राजाओं ने गौड़, वङ्ग, कलिङ्ग, गङ्ग, मगध, मालव आदि स्थानों को जीता।[3]

निदान यह निश्चय हुआ कि नौवीं और दसवीं शताब्दी में तथा गुजरात के राष्ट्रकूट राजाओं के समय में नागर ब्राह्मणों के अक्षर समस्त आर्यावर्त में नागरी लिपि के नाम से प्रचलित हुए और अब मुद्रण-यंत्रों के तथा पुरातत्त्ववेत्ताओं और पण्डितों के कारण से सारे जगत् में फैल गये हैं।

× × ×

इस स्थान पर बाबू नरेन्द्रनाथ वसु का लेख समाप्त हुआ। इस लेख के ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से ये प्रश्न सब विचारशील मनुष्यों के मन में उत्पन्न होंगे। यदि नागरी लिपि की उत्पत्ति किसी 'नगर' नाम के एक विशेष स्थान मे हुई तो क्या अब उस स्थान के कोई भी चिह्न विद्यमान हैं ? जब हम यह देखते हैं कि साधारण-से-साधारण बातों के लिए स्थान स्मरण रहते हैं तो यह कभी सम्भव नहीं जान पड़ता कि एक ऐसे स्थान का वर्णन कि जिसके द्वारा हमारी लिपि का नामकरण हुआ, हिन्दुओं के ग्रन्थों या दन्तकथा मात्र में भी न हो। 'नगर' नामक स्थानों के विषय में जो कुछ लिखा गया उससे उस नगर के विषय में जहाँ से नागरी लिपि की उत्पत्ति मानी गयी है कुछ विशेष पता नहीं लगता। हाँ, यदि यह मान भी लिया जाय कि नागरी लिपि की नागर ब्राह्मणों के द्वारा उत्पत्ति हुई तो क्या यह संगत नहीं जान पड़ता कि उसका अधिकार नागर ब्राह्मणों के मुख्य वासस्थान गुजरात में ही रहा हो ? पुनः मुख्य लिपि का इतना अधिक

1. Indian Antiquary, 1883, p. 160.
2. Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, Vol. XVIII. p. 246.
3. कन्नौज के राठौर राजा भी राष्ट्रकूटवंशीय थे।

प्रचार उत्तर भारत में क्यों है और उसके उत्पत्ति स्थान में एक भ्रष्ट लिपि का प्रचार कैसे हुआ ? क्या हिन्दुओं की भाषा और विशेषकर उनके अक्षरों का प्रचार दक्षिण भारत से उत्तर भारत में हुआ वा उत्तर भारत से दक्षिण में ? चमत्कारपुर के 'नगर' हो जाने के विषय में क्या यह अर्थ उचित नहीं जान पड़ता कि पहिले वह पुर (गाँव) रहा और पुनः नगर (शहर) हो गया ?

इस लेख के लिख जाने पर मैंने इसे काशी के प्रसिद्ध विद्वान् को दिखाया। उन्होंने अपनी सम्मति इस प्रकार से लिखी "मुझे तो यह सम्भव जान पड़ता है कि नागरी लिपि की उत्पत्ति नगर से है। नागर के अर्थ नगर में बसने वाले के हैं और नागरी के अर्थ उन अक्षरों के हैं जो नगर में बसने वाले लिखते हैं। अत्यन्त प्राचीन काल में प्रत्येक देश में नगर के बसने वाले गाँव वालों से अधिक बुद्धिमान और सभ्य माने गये हैं। अतएव यह मान लेना समीचीन जान पड़ता है कि नगरवासियों के एक प्रकार के अक्षरों का प्रयोग करने के कारण समस्त स्थानों में उन्हीं का प्रचार हुआ। मेरे अनुमान से नागरी की उत्पत्ति किसी विशेष स्थान से नहीं हुई वरन् नगरवासी जन-साधारण से इसका अर्थ है। 'देवनागरी' शब्द से एक और भी उत्तम अक्षरों का अनुमान होता है। इन अक्षरों को उत्तमता प्रदान करने के लिए इन्हें 'देवताओं की नागरी' कहा गया। पुनः कोई वस्तु जो उत्तमता के उच्च शिखर तक पहुँची हो वह दैवागत मानी जाती है क्योंकि मनुष्य निज रचित वस्तुओं को ऐसा कभी नहीं मान सकता कि वे श्रेष्ठतम हैं। संस्कृत लिखने में जिस लिपि का प्रयोग किया जाता है उससे बढ़कर उत्तम, सुन्दर और कार्य-साधक स्यात् ही इस भूमण्डल पर कोई दूसरी लिपि हो।"

लोग इस विषय में चाहे कैसी सम्मति क्यों न प्रकाशित करें पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि 'नागरी लिपि' की उत्पत्ति का यही इतिहास है, दूसरा हो ही नहीं सकता। इसमें सन्देह नही कि यदि हम इसकी तथा अन्य ऐसे ही विषयों की खोज में सदा लगे रहेंगे तो बहुत कुछ पता लगा भाषा और विद्या की उन्नति में सहायक होंगे परन्तु इसके साथ ही सब अनुमान मात्र ही रहेगा, निश्चय रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकेगा।

(ना० प्र० प० भाग २, १८९४)

नागरी अक्षर और हिन्दी भाषा[1]

आठवें इम्पीरियल टेबुल में पढ़े-लिखे आदमी पाँच भागों में बाँटे गये हैं। यह भाग (1) केवल उर्दू जानने वालों (2) केवल हिन्दी जानने वालों (3) और (4) हिन्दी और उर्दू दोनों जानने वालों (जो लोग हिन्दी ज्यादा जानते हैं उनका उर्दू ज्यादा जानने वालों से भेद किया गया है) और दूसरी भाषा जानने वालों के हिसाब से किया गया है। यहाँ पर यह कह देना चाहिये कि यद्यपि यह भेद भाषा का किया गया है, पर असल में यह केवल अक्षरों ही का भेद है, अर्थात् आठवें टेबुल में जो 'हिन्दी' और 'उर्दू' शब्द आये हैं, उनसे केवल 'फारसी अक्षर' और 'नागरी वा उससे मिलते हुए अक्षर' ही समझना चाहिये। आगे के अध्याय में दिखलाया जायगा कि उर्दू और गद्य की हिन्दी एक ही भाषा है, और इन दोनों के व्याकरण भी एक ही हैं, पर उनमें शब्दों का प्रयोग करना लेखक की रुचि पर निर्भर है। पढ़े-लिखे लोगों का उनके अक्षर जानने के हिसाब से जो भाग किया गया है, वह ध्यान देने लायक है। जिस समय इस प्रान्त में सरकारी राज्य फैला, उस समय यहाँ की कचहरियों में फारसी भाषा और अक्षर जारी थे। यह बात सन् 1837 ईस्वी तक रही और उस सन् में फारसी भाषा की जगह यहाँ की भाषा कर दी गयी, पर अक्षर ज्यों-के-त्यों रखे गये। उस समय अगर कचहरी में कभी नागरी या उससे मिलते हुए अक्षरों में लिखे हुए किसी कागज के पेश करने की बारी आती, तो उसके साथ ही फारसी अक्षरों में भी उसकी नकल देनी पड़ती थी। 1900 ईस्वी में गवर्नमेण्ट ने एक आज्ञा जारी की जिसमें कचहरियों और सरकारी कर्मचारियों के पास नागरी अक्षरों में भी अर्जी आदि देने की आज्ञा दी गयी और यह भी आज्ञा हुई कि जो सूचनाएँ प्रजा को दी जायँ वे फारसी और नागरी दोनों ही अक्षरों में हों। उस आज्ञा में यह दिखलाया गया था कि यद्यपि केवल नागरी वा उससे मिलते हुए अक्षर जानने वालों की संख्याओं का ठीक-ठीक पता नहीं था पर सन् 1891 ईस्वी की मनुष्य-गणना से विदित हुआ था कि जहाँ केवल 54000 लेखकों ने फारसी अक्षरों में काम किया वहाँ 120000 लेखकों ने नागरी व कैथी में (जो कि नागरी का एक

1. संयुक्त प्रदेश के सेंसस सुपरिण्टेण्डेण्ट ने अपनी रिपोर्ट में नागरी अक्षर और हिन्दी भाषा के विषय में जो कुछ लिखा है यह उसका अनुवाद है।

बहुत मिलता हुआ रूप है) किया। जब सर्वसाधारण आज्ञाओं पर विचार कर रही थी तो इसके विरोधियों ने कहा कि इन अक्षरों का मनुष्य-गणना के लेखकों में जो नम्बर पाया गया है, वह सर्वसाधारण के नम्बर का ठीक अनुमान नहीं है, पर इस बेर की मनुष्य-गणना से विदित होता है कि यद्यपि मनुष्य-गणना के लेखकों के नम्बर में और सर्वसाधारण में हिन्दी-उर्दू जानने वालों के ठीक नम्बर में फरक है, पर वह फरक विरोधियों के और भी विपक्ष में है। क्योंकि लेखकों में तो नागरी या कैथी अक्षर लिखने वाले, फारसी अक्षर लिखने वालों के केवल ढाई गुने ही थे। पर असल में जहाँ 1016069 आदमी नागरी या कैथी जानने वाले हैं, वहाँ केवल 259043 ही मनुष्य फारसी अक्षर जानने वाले हैं, अर्थात् नागरी या कैथी जानने वाले चौगुने हैं। जो लोग इन दोनों अक्षरों को जानते हैं, उनमें से 67324 तो नागरी या कैथी से फारसी अक्षर अच्छी तरह जानते हैं और 265679 फारसी की अपेक्षा नागरी या कैथी ही अधिक जानते हैं। इस सम्बन्ध में अलीगढ़ जिले का हाल लिखा जा सकता है। सन् 1891 ईस्वी की मनुष्य-गणना में जिस जिले में जिन अक्षरों में जितने फार्म भरे गये थे, उसी अन्दाज से इस बेर भी हर जिले में नागरी और फारसी अक्षरों के फार्म भेजे गये थे। इस हिसाब से अलीगढ़ जिले के लिए जो अन्दाज किया गया था वह बिलकुल ही झूठ निकला। इसका कारण यह है कि सन् 1891 की मनुष्य-गणना में ज्यादा करके पटवारी लोग काम करते थे और ये लोग उस जिले में अक्सर फारसी अक्षर ही लिखते हैं। पर इस बेर ये बन्दोबस्त के काम में लगे रहने के कारण, मनुष्य-गणना का काम नहीं कर सके। आठवें टेबुल से जान पड़ेगा कि इस जिले में जहाँ 6022 आदमी फारसी अक्षर लिख-पढ़ सकते हैं और इसलिये वहाँ बहुत-से नागरी फार्म और भेजने पड़े। इस रिपोर्ट में नागरी और उसके बिगड़े हुए रूपों में भेद करने का उद्योग नहीं किया गया है, क्योंकि किसी एक जिले में जो कैथी लिखी जाती है, उससे दूसरे जिले की कैथी में बहुत फरक पाया जाता है। डाकखाने में भिन्न-भिन्न तरह के अक्षरों की प्रतिलिपि की एक पुस्तक है, जिसमें इस प्रान्त की कैथी के ग्यारह नमूने हैं। यह पुस्तक एक पढ़े-लिखे हिन्दू को दिखलायी गयी। वह नागरी और कैथी के भी उस नमूने को तो सहज ही में पढ़ सका जो उसके जिले में लिखा जाता था और कैथी के एक दूसरे नमूने को भी, जो कि एक पास के जिले में लिखा जाता था, कठिनाई से पढ़ सका, लेकिन बाकी नमूनों को नहीं पढ़ सका। लखनऊ के दफ्तर में आस-पास से आये हुए इन्हीं तरह-तरह के कैथी अक्षरों में लिखे हुए फार्मों के पढ़ने में बड़ी ही दिक्कत हुई

और कानपुर के दफ्तर में अजमेर-मेरवाड़ा के फार्म को भाषा और जन्म-स्थान के लिए फिर से लिखना पड़ा, क्योंकि 'मेरवाड़ा', 'मेवाड़' और 'मारवाड़' शब्दों में बड़ा ही गड़बड़ था। महाजनी अक्षरों में और भी ज्यादा कठिनाई है क्योंकि उनमें मात्रा प्रायः बिलकुल ही छोड़ दी जाती है। इस अक्षर में लिखी हुई एक चिट्ठी की बात प्रसिद्ध है, जिससे बड़ी ही गड़बड़ मची थी। एक महाजन अपने घर से दूसरे शहर की अपनी कोठी में गया। उसके गुमाश्तों ने उसके घर समाचार लिखा कि 'लाला जी अजमेर गये हैं, बड़ी बही भेज दो' परन्तु वह पत्र यों पढ़ा गया कि "लाला जी आज मर गये हैं बड़ी बहू भेज दो।" अस्तु इतने तरह के जुदे-जुदे अक्षर होने के कारण यह बात आवश्यक हुई कि इनमें से कोई एक प्रधान चुन लिया जाय, और गवर्नमेण्ट ने बहुत दिनों से इसके लिए देवनागरी अक्षर चुने हैं और गाँव से कागज-पत्रों में (जो कि इस तरह के मुख्य सरकारी कागज हैं जिनमें फारसी अक्षर नहीं व्यवहार किये जाते) सब तरह के कैथी अक्षर लिखने की मनाही कर दी है। सन् 1882 ईस्वी के एजूकेशन कमीशन ने यह दिखलाया था कि इस आज्ञा का एक फल यह हुआ कि अवध की पाठशालाओं को (जिनमें नागरी के बिगड़े हुए रूप पढ़ाये जाते थे) सरकारी प्राइमरी स्कूलों की अपेक्षा बड़ी हानि पहुँची। पर इस समय तो नागरी पढ़ लेने का ज्ञान प्रायः उन लोगों में भी प्रचलित हो गया है जो लोग कि लिखने में नागरी के बिगड़े हुए रूप काम में लाते हैं।

मनुष्य-गणना का तो केवल लिखने-पढ़ने की योग्यता ही से सम्बन्ध है। शिक्षा का मुकाबला करने के लिए शिक्षा विभाग के उस हिसाब पर विचार करना चाहिये जो स्कूलों के लोअर प्राइमरी स्टेज से सम्बन्ध रखता है। इस दर्जे के विद्यार्थियों की संख्या सन् 1890-91 में 146088 थी, पर सन् 1900-01 में 257144 हो गयी है। इनमें से अधिकांश विद्यार्थी उन स्कूलों में हैं जो Local funds से चलते हैं। सन् 1890-91 में ऐसे स्कूलों में 118640 विद्यार्थी थे और 1900-1901 में 174483। प्राइमरी स्कूलों में Local funds का जो व्यय होता है वह दस वर्षों में 547172 रु० से बढ़कर 619548 रु० हो गया है। परन्तु सन् 1895 के अन्त में एक नयी बात हुई, जिसका प्राइमरी शिक्षा पर बड़ा ही असर हुआ और जो बढ़ता ही जायगा। उस समय के पहले गाँवों के बहुत-से छोटे-छोटे स्कूलों को सरकार नहीं मानती थी और न उन्हें कुछ सहायता देती थी। पर अब उन्हें डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के जरिये से धन की कुछ सहायता मिलने लगी। इसका फल यह हुआ कि प्राइमरी एडेड स्कूलों की

हाजिरी बहुत ही बढ़ गयी। अर्थात् सन् 1890-91 में 11991 थी और 1900-01 में 62810 हो गयी। मैं इस बात का कोई कारण बतलाने में असमर्थ हूँ कि हर एक जिले के लिखे-पढ़े लोगों की संख्या में इतना फरक क्यों है। यदि इसका कारण यह बतलाया जाय कि जिस जिले में लोग शिक्षा का ज्यादा मान करते हैं, वहाँ ज्यादा शिक्षा है, तो यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि इससे शिक्षा की इच्छा में क्यों भेद होना चाहिये। यहाँ पर यह भी कह देना चाहिये कि जहाँ लिखे-पढ़े आदमियों की संख्या सबसे ज्यादा है वहाँ नागरी या उसका कोई बिगड़ा हुआ रूप ही ज्यादा काम में आता है, केवल रुहेलखण्ड ही एक ऐसी कमिश्नरी है जहाँ केवल फारसी अक्षर जानने वाले नागरी जानने वालों से अधिक हैं, पर वहाँ लिखे-पढ़े मनुष्यों की संख्या दूसरी कमिश्नरियों से कम है। इसका केवल यही सारांश निकाला जा सकता है कि फारसी अक्षरों से नागरी सहज में सीखी जा सकती है। आठवें टेबुल से साफ जान पड़ता है कि हिन्दू लोग नागरी पढ़ना अच्छा समझते हैं और मुसलमान लोग फारसी पढ़ना। पर कठिनाई तो यह बतलाने में पड़ती है कि रुहेलखण्ड कमिश्नरी में जहाँ पर फारसी अक्षर और नागरी अक्षर जानने वाले हिन्दुओं की संख्या दूसरे जिलों की अपेक्षा बराबरी पर अधिक पहुँचती है, वहाँ नागरी का इतना कम प्रचार क्यों है, नागरी सीखने के लिए जो सुगमताएँ हैं, वे तो सम्भवतः प्रान्तों के सभी हिस्सों में बराबर है और कुमाऊँ डिवीजन को छोड़कर और सब जिलों की कचहरियों में अक्षरों के प्रचलित होने में भी कोई भेद नहीं है जिसे हम इसका कारण बतला सकें। यहाँ पर यह भी कह देना चाहिये कि खाली नागरी ही जानने वालों में फारसी जानने वालों से प्रायः कम योग्यता पायी जाती है। मनुष्य-गणना के दफ्तरों में यह देखा गया है कि साधारण प्रजा में से वे गणना करने वाले जिनके फार्म फारसी अक्षरों में भरे गये थे, वे नागरी वालों से अच्छी तरह भरे गये थे। दूसरी बात ध्यान देने लायक यह है कि मनुष्य-गणना के हिसाब के अनुसार पढ़े-लिखे मनुष्यों का जो विभाग किया गया है, वह शिक्षा विभाग के हिसाब मे बिलकुल उलटा है। कुमाऊँ में मनुष्य-गणना और शिक्षा विभाग दोनों ही की संख्या से शिक्षा की अधिकता प्रकट होती है। पर मेरठ और रुहेलखण्ड कमिश्नरियों में लिखे-पढ़े लोगों की संख्या सबसे कम है; पर फिर भी उनमें स्कूल जाने वाले बालकों की संख्या सबसे अधिक है। इससे यह विदित होता है कि बुन्देलखण्ड तथा इन प्रान्तों के पूरब में पश्चिम की अपेक्षा प्रारम्भिक शिक्षा का अधिक प्रचार है। पहाड़ी जिलों में थोड़े

प्राइवेट स्कूल हैं, पर सरकारी स्कूलों में शिक्षा की बड़ी जरूरत है। पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों के विषय में एक बात ऐसी है जिससे अंग्रेजों को सबसे ज्यादा आश्चर्य होता है। वह यह कि वे लोग बहुत कम पढ़े हुए जान पड़ते हैं। पुस्तकों के स्वत्व के लिए जो रजिस्टरी की गयी है, उससे जान पड़ता है कि इस देश में स्कूल की पुस्तकों और कुञ्जियों को छोड़ कर दो तरह की पुस्तकों अर्थात् धर्म सम्बन्धी (पद्य की) पुस्तकों और उपन्यासों का ही सबसे ज्यादा प्रचार है। केवल नागरी ही जानने वालों में इनके अधिक प्रचार का कारण भी है। वह यह कि आजकल नागरी की पुस्तकें बहुधा ऐसी बनावटी भाषा में लिखी जाती हैं कि वे साधारण आदमी की समझ में नहीं आतीं और जो ज्यादा लोकप्रिय अच्छे काव्य हैं, वे प्रायः या तो प्राचीन भाषा में हैं या भिन्न-भिन्न बोलियों में लिखे हुए हैं, जो कि लोकप्रिय होने पर भी जल्दी समझ में नहीं आते। इसलिए बहुत करके हिन्दुस्तानी लोग चिट्ठी-पत्री और हिसाब-किताब लिख-पढ़ लेने ही के लिए पढ़ना सीखते हैं और उनका उद्देश्य किताब पढ़ने का नहीं होता। शिक्षा-प्रचार के कर्मचारी लोग भी अंग्रेजी पढ़ने वाले विद्यार्थियों की यही शिकायत करते हैं। इन विद्यार्थियों में से बहुत-से तो कोई गलत या सही तार लिख लेने के लायक होते ही स्कूल से उठ जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इन प्रान्तों में इतनी कम शिक्षा होने का एक खास कारण यह है कि यहाँ के लोगों में पढ़ने की आदत का अभाव है और जो लोग केवल नागरी जानते हैं, उनमें इस आदत के पड़ने में लिखने का एक बनावटी ढंग बड़ी बाधा डालता है। यह अभाव ज्यादा पढ़े-लिखे हुए लोगों में भी, जो कि बहुतायत से नीचे दरजों की सरकारी नौकरी में हैं पाया जाता है। भाषा में खास करके इतिहास, जीवन-चरित्र, यात्रा और विज्ञान की पुस्तकों का बड़ा अभाव है और इसी प्रकार की दूसरे विषयों की भी पुस्तकें जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के बहुत-से योरोपियन साहित्य में वर्तमान हैं, इन प्रान्तों में नहीं पायी जातीं। डॉक्टर ग्रियर्सन ने अपने वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान नाम की पुस्तक में खेद के साथ दिखलाया है कि इस देश में केवल एक ही समालोचक अर्थात् बाबू हरिश्चन्द्र हुए। और यहाँ पर यह कह देना भी उचित होगा कि उनकी बहुत-सी पुस्तकों में संस्कृत के कोष की भरमार पायी जाती है। मेरी समझ में विद्या के प्रचार और उसकी अधिकता दोनों ही में उन्नति करने के लिए तो अच्छे और लोकप्रिय ग्रन्थों का बनाना ही मुख्य है। एक दूसरी बात भी विद्या की उन्नति में बाधा डालती है। आठवें अध्याय में, जिसमें भिन्न-भिन्न जातियों का वर्णन है, जातियों के विभाग दिये हैं। नवें और दसवें विभाग

में 55 फी सैकड़ा ऐसे लोग हैं जिनके छूने में भी पाप समझा जाता है और इसी-लिये इन जातियों के लड़के बहुत-से स्कूलों में भरती नहीं किये जाते। दसवें विभाग में, जिनकी संख्या फी सैकड़ा 5 है, ऐसी जातियाँ हैं जिनके विषय में भी विरोध हो सकता है। आठवें और नवें विभाग में, जिनकी संख्या 41 फी सैकड़ा है, काश्तकार, कारीगर, आदि जातियाँ हैं, जिनमें पढ़ना-लिखना बेकाम समझा जाता है। अब केवल 30 फी सैकड़ा ऐसे लोग बच गये जिनमें शिक्षा की कोई बाधा नहीं है और जिनमें बिना कठिनाई के इसका प्रचार हो सकता है। सन् 1900-1901 की शिक्षा विभाग की रिपोर्ट से जान पड़ता है कि स्कूल जाने की उमर वाले लड़कों में से 11 फी सैकड़ा स्कूलों में पढ़ते थे। इस-लिए यदि शिक्षा के विचार से इन प्रान्तों की उन्नति होनी जरूरी है तो साधारण लोगों की उपेक्षा को दूर करने और नीच जातियों की शिक्षा में सुभीता होने की आवश्यकता है। स्त्री शिक्षा में दो बाधाएँ हैं। पहली तो यह कि अच्छी पढ़ाने वाली नहीं मिलतीं, क्योंकि यह समझा जाता है कि पढ़ाने का काम लज्जावती स्त्रियाँ नहीं कर सकतीं और दूसरे यह कि छोटी-छोटी लड़कियाँ यद्यपि लड़कियों के स्कूलों में भेजी जाती हैं पर बहुत ही थोड़ी उमर में उनका पढ़ना बन्द कर दिया जाता है। इससे परदे और बाल-विवाह के कारण उन्हीं लोगों में स्त्री शिक्षा का प्रचार नहीं होने पाता जिनमें यह हो सकता है। इन प्रान्तों में स्त्री शिक्षा का काम विशेषकर मिशनरियों के हाथ में है और मेथोडिस्ट एपिस्को-पेल मिशन ने इसके लिये बड़ा उद्योग किया है और लखनऊ में औरतों के लिए एक कालेज भी स्थापित कर रखा है। जिस देश के रहने वाले कुछ सभ्य हो जाते हैं, उनमें प्रायः देखा गया है कि वहाँ की पुस्तकों की भाषा में उस देश की बोलचाल की भाषा से फरक पड़ जाता है। यह भेद या तो भाषा के व्याकरण में हो, या शब्दों में, या लेख-प्रणाली में। प्रायः इन तीनों ही में कम या ज्यादा भेद पाया जाता है। लेख-प्रणाली का अधिक सम्बन्ध इस विषय से नहीं है, वरन् ऊँचे विचारों से है; पर यह भी कह देना चाहिये कि इनसे पूरबी देश की बहुत-सी भाषाओं में योरोप की भाषाओं की अपेक्षा अधिक रँगीलेपन और अत्युक्ति की जरूरत होती है। वाक्य-रचना और मुहावरे के रूपों में व्याकरण के जो भेद पाये जाते हैं; वे प्रायः एक ही होते हैं। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों कुछ भिन्न-भिन्न समूहों को बड़े-बड़े समूहों में करके उन्हें एक ही नियम के अधीन करने की इच्छा होती जाती है। किसी जाति की भिन्न-भिन्न भाषाएँ, चाहे वे एक ही भाषा से निकली हों और चाहे वे जुदी-जुदी भाषाएँ हों, काल

पाकर उन सब के रूप एक ही हो जाते हैं। पर यह बात उन देशों की वास्तविक या कल्पित भिन्नता पर भी निर्भर है जिनमें उस जाति के भिन्न-भिन्न लोग रहते हैं, और इस एक रूप का हो जाना उतने ही देश में होता है जितने में कि आपस में मेल-मिलाप और व्यवहार रहता है। निस्सन्देह भाषा में बराबर फरक हुआ करता है, पर यह फरक उन दिनों में कम होता है जब कि विद्या के विषय की कुछ धूमधाम बनी रहती है और छापे के प्रचार ने तो इन फरकों को और भी कम कर दिया है। भाषा में ये सब साधारण फरक तो आप ही होते रहते हैं, पर इसके सिवाय उसमें दूसरी भाषाओं के मेल से और भी असाधारण फरक पड़ जाते हैं। अस्तु जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है उसका तात्पर्य यह है कि, किसी जाति की बोलचाल की भाषा में कई तरह के व्याकरण के रूप पाये जाते हैं, और इन रूपों की भिन्नता का कम या ज्यादा होना उस जाति के भिन्न-भिन्न लोगों के मेल-मिलाप पर, और देश के जिन भिन्न-भिन्न भागों में वे रहते हैं उनमें बेरोक-टोक के संसर्ग पर निर्भर है। किसी साहित्य के बनने में यह प्रायः देखा गया है कि कोई एक आदर्श चुन लिया जाता है, पर इस चुनाव के सिद्धान्त में जुदी-जुदी भाषाओं में भेद होता है। इन प्रान्तों के इतिहास से मालूम होता है कि आजकल की भाषाओं में ऊपर कहे हुए परिवर्तन किस तरह से हो चुके हैं। भारतवर्ष में जिन मुसलमानों ने हमला किया, वे जुदी-जुदी जातियों के थे; पर जान पड़ता है कि उन सभों ने अपनी भाषा फारसी रखी, अथवा इतना तो अवश्य है कि अट्ठारवीं शताब्दी के अन्त में उत्तरी भारतवर्ष के अधिक हिस्सों में फारसी ही राज्य भाषा पायी गयी थी। यह तो निश्चय जानना चाहिये कि इन हमला करने वालों ने शुरू से ही अपनी प्रजा की भाषा बोलने का उद्योग किया था और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि दिल्ली के आसपास जो भाषा बोली जाती है, उससे वे परिचित भी हो गये हों। इस प्रकार से पश्चिमी हिन्दी एक नयी भाषा निकली। इस भाषा में बहुत ही ज्यादा फारसी के शब्द मिलाये गये और फिर फारसी में भी तुरकी और अरबी के शब्द लिये गये थे। यह मिश्रित भाषा उर्दू अर्थात् सेना की भाषा कहलायी। उर्दू की उत्पत्ति के विषय में जुदे-जुदे लेखकों की विपरीत रायें हैं। कोई तो कहते हैं कि उर्दू की उत्पत्ति मुसलमान लोगों के हिन्दुस्तानी भाषा सीखने के कारण हुई और कोई कहते हैं कि टोडरमल की आज्ञा से हिन्दुओं ने फारसी सीखने का जो उद्योग किया, उससे इसकी उत्पत्ति हुई। अस्तु यह कोई आवश्यक बात नहीं है, और हम कह सकते हैं कि उर्दू की उत्पत्ति सम्भवतः इन दोनों ही कारणों से हुई होगी। जान पड़ता है कि उन्नीसवीं

शताब्दी के शुरू में, जब ब्रटिश सरकार के हाथ में पश्चिमोत्तर प्रदेश का बहुत-सा भाग आ गया था, उस समय यद्यपि अदालती दस्तावेजों में फारसी लिखी जाती थी पर राज्य करने वालों और प्रजा में परस्पर व्यवहार का जरिया असल में उर्दू ही थी। फारसी, जो कि यहाँ बोली नहीं जाती, उसको राज्य भाषा रखने में जो कठिनाइयाँ होती थीं उनको दूर करने के लिए, सन् 1831 इस्वी में, भारतवर्ष की गवर्नमेण्ट ने बङ्गाल और पश्चिमोत्तर प्रदेश में उसके स्थान पर इस देश की भाषा कर दी। अब यहाँ पर एक दूसरी बात का कह देना भी आवश्यक है, जिसने कि इस प्रान्त की भाषा की उन्नति की है और अब भी कर रही है। ऊपर लिखी हुई बातों के सिवाय यहाँ के गद्य की भाषा और पद्य की भाषा में भेद होना कुछ असाधारण नहीं है। उर्दू को छोड़ कर यहाँ की और तीनों भाषाओं में से किसी में भी अट्ठारवीं शताब्दी तक गद्य, सच पूछिये तो, था ही नहीं। और उर्दू के गद्य और पद्य में भी थोड़ी ही पुस्तकें हैं। इसका कारण यह है कि हिन्दू लोग जब गद्य लिखना चाहते थे तो संस्कृत में लिखते थे और मुसलमान लोग ज्यादा करके फारसी और अरबी में लिखते थे। पर मलिक मोहम्मद (सन् 1540) तथा कुछ और ग्रन्थकार लोग अपने काव्य के ग्रन्थ उर्दू में भी लिखना बुरा नहीं समझते थे। उर्दू को राज्य भाषा बनाने का जो निश्चय किया गया, उसके करीब दस वर्ष पीछे प्राइमरी शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान गया और तब उर्दू पढ़ाने के लिए पाठ्य पुस्तकों के बनाने की आवश्यकता हुई, क्योंकि उस समय कोई पुस्तक पढ़ायी जाने लायक नहीं थी। इसके पहले सन् 1803 में लल्लू जी लाल ने फोर्ट विलियम कालेज के डॉक्टर गिलक्रिष्ट (Gilchrist) के कहने से उच्च हिन्दी की उत्पत्ति की। उन्होंने ब्रजभाषा में लिखे हुए भागवत पुराण के दसवें स्कन्ध को लेकर उसका उर्दू भाषा में अनुवाद किया, जिसमें वे विदेशी भाषा के शब्दों को काम में नहीं लाये। इस तरह से उच्च हिन्दी और उर्दू का व्याकरण एक ही है, सिवाय इसके कि वाक्य-विन्यास में कहीं-कहीं पर बहुत थोड़ा भेद है। और अधिक भेद शब्दों के प्रयोग में है। आफिस की भाषा और खासकर कचहरी की भाषा में, और साधारण बोलचाल की भाषा में, जितना फरक है वह तो अच्छी तरह से जाहिर ही है। हमारे कचहरियों के लेखकों का फारसी में लिखने की पुरानी आदतों का छोड़ना कठिन था; खासकर इसलिए कि, पूरब देश के निवासी बिना काम के भी कठिन-कठिन शब्दों का प्रयोग करना पसन्द करते हैं। उर्दू के स्वीकार किये जाने के कोई चालीस वर्ष पीछे तक वह केवल व्याकरण ही के हिसाब से यहाँ की भाषा थी, पर इस भाषा के

शब्द साधारण बोलचाल के शब्दों से कहीं भिन्न थे। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि साधारण बोलचाल और काम के लिए भी शब्दों का अभाव था, क्योंकि इस अवस्था में अरबी और फारसी के अधिक शब्दों को काम में लाने की ओर लोगों की अधिक रुचि थी। पर गवर्नमेण्ट का सिद्धान्त यही रहा है कि कचहरी की भाषा जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक, जनसाधारण की भाषा ही हो जाय, और पिछले तीस वर्षों में इसका फल यह हुआ है कि कचहरी की भाषा बहुत-कुछ साधारण हो गयी है। क्योंकि जिस देश में शिक्षा बहुत-से कामों के लिए आवश्यक समझी जाती है, वहाँ की अपेक्षा उस देश में गवर्नमेण्ट की इच्छा अधिक पूरी हो सकती है जहाँ लोग थोड़ा-बहुत लिख-पढ़ लेने के सिवाय अधिक शिक्षा खाली सरकारी नौकरी के लिए पाते हैं। इसमें यहाँ तक सफलता हुई है कि एक दल उर्दू के ऐसे कवियों का भी बन गया है जो कि अपने पूर्वजों की नाईं बड़ी उच्च भाषा में कविता न करके सीधी-सादी भाषा में करता है। पर उच्च हिन्दी की दशा इससे उलटी हो रही है। यह दिखलाया जा चुका है कि उर्दू स्वाभाविक तरह से कई सौ वर्ष में एक स्वच्छ और सीधी-सादी भाषा हो गयी, पर उच्च हिन्दी बिलकुल बनावटी भाषा है। पिछले कुछ वर्षों के भीतर "नागरी प्रचारिणी सभा" नाम की एक सभा उच्च हिन्दी की त्रुटियों को दूर करने और हिन्दी की उन्नति करने के लिए स्थापित हुई है। इस सभा ने जो पुस्तकें छपवायी हैं उनसे जान पड़ता है कि, उसकी समझ में, जहाँ संस्कृत शब्द नहीं हैं उनकी जगह पर संस्कृत के शब्द काम में लाना ही भाषा को शुद्ध करना है। वह यह भी नहीं विचारती कि जिन शब्दों की जगह पर संस्कृत के शब्द काम में लाये जाते हैं, वे साधारण आदमियों को अच्छी तरह मालूम हैं या नहीं। यहाँ तक भी देखने में आता है कि जो संस्कृत ही के साधारण शब्द हैं, उनकी जगह पर शुद्ध संस्कृत के शब्द इसलिए काम में लाये जाते हैं कि पहिले वाले शब्दों को गाँव वाले काम में लाते हैं। अर्थात् यों समझिये कि तद्भव शब्दों की जगह तत्सम शब्द ठीक उसी तरह से काम में लाये जाते हैं जैसे कि कोई फ्रांस देश का विद्वान् Royal के स्थान पर Regal शब्द को ज्यादा अच्छा समझे। आजकल की प्रायः सभी नागरी पुस्तकों में इस तरह के उदाहरण बहुतायत से मिलते हैं। "हुक्म," "कायदा", "कागज" आदि साधारण शब्दों की जगह पर "आज्ञा," "नियम," "पत्र" इत्यादि काम में लाये जाते हैं, जिनमें से कि पहिले दोनों शब्दों को तो कोई भी बिना लिखा-पढ़ा गाँव का रहने वाला न समझेगा और तीसरा शब्द भी जिस शब्द की जगह पर

लाया गया है उससे ज्यादा प्रसिद्ध नहीं है। "पहिला" और "मानस वा मनई" शब्द भी ऐसे प्रसिद्ध हैं जैसा कि कोई शब्द हो सकता है, पर वे गँवारू समझे जाकर घृणा किये जाते हैं और उनकी जगह पर "प्रथम" और "मनुष्य" काम में लाये जाते हैं। हम दिखला चुके हैं कि यह बात वैसी ही है जैसा कि कोई अँग्रेज 'Impenetrability of matter' की जगह पर 'unthoroughsomeness of stuff' लिखे। नीचे एक उच्च हिन्दी की पुस्तक से कुछ अंश लेकर उसका अंग्रेजी में अनुवाद किया जाता है और उसमें जहाँ-जहाँ बिना काम के संस्कृत शब्द रखे गये हैं वहाँ वहाँ अँग्रेजी में ये लैटिन के शब्द रखे जाते हैं जिससे यह बात अच्छी तरह से समझ में आ जायगी—"परन्तु उसमें एक कठिनाई पड़ती थी। मनुष्यमात्र की गणना की अपेक्षा थोड़ी ही गउओं को यह रोग था; इस कारण इस चेप का बहुधा अभाव बना रहता था" अनुवाद :—"Autem there was a difficultas in this Visus (let: "Regarded" or having regard to) the manerus of the humanum genus few cows had this disease for the ratio there continued to be magna paucitas of the serum."

यह आजकल की उच्च हिन्दी का एक ठीक नमूना है जो कि पुस्तकों, अखबारों और स्कूलों की शिक्षा में प्रचलित है और हिन्दुस्तानी में इसका नाम "भाषा" या "ठेठ हिन्दी" है। अब तक बोल-चाल की भाषा में तो इसने बहुत कम उन्नति की है, पर इसे पण्डित लोग बोलते हैं, और जो हिन्दू कुछ संस्कृत जानते हैं वे भी इसी तरह से बोलते हैं। पर जब वे किसी पण्डित से बात करते हैं, उस समय तो उच्च हिन्दी में बोलना जरूरी समझते हैं। ऐसे लोग प्राय: समझते हैं कि उच्च हिन्दी ही शुद्ध हिन्दी है और इस प्रान्त की सब भाषाएँ उसी के बिगड़े हुए रूप हैं, जैसा कि "भाषा" वा "ठेठ" शब्द से नाम पड़ता है। मुसलमान लोग ठीक इसी तरह से सब भाषाओं को उर्दू का अपभ्रंश समझते हैं। उच्च हिन्दी का बनावटी होना तो ठीक इसी से समझ लीजिए कि ऊपर लिखे हुए हिन्दी के वाक्यों में से जिन 9 शब्दों का लैटिन में अनुवाद किया गया है उनमें से केवल तीन शब्द मेरे आफिस के दो हिन्दू क्लार्कों की समझ में आ सके। इनमें से एक तो एण्ट्रेन्स पास था, और नागरी तो दोनों ही जानते थे, पर उच्च हिन्दी में किसी ने शिक्षा नहीं पायी थी। ऊपर के तीनों वाक्यों में से एक क्लार्क तो एक वाक्य का अनुवाद कर सका और दूसरे ने तीनों में से एक भी नहीं समझा। इस प्रान्त की भाषा में एक और भी विचित्रता है, जिसको एक हिन्दू डिप्टी कलेक्टर, जो पूर्वी हिन्दुस्तान के रहने वाले हैं और जिन्होंने बिहार और पश्चिमी हिन्दुस्तान में काम किया है, यों वर्णन करते हैं—

"जब कभी कोई हिन्दुस्तानी सज्जन किसी विदेशी या किसी दूसरे हिन्दुस्तानी सज्जन से भी बात करेगा तो वह उर्दू में बोलेगा। जब वह किसी गँवार या बिना पढ़े आदमी से बात करेगा तो भी उर्दू ही में करेगा और जब वह अपने नौकरों वा घर के लोगों से बात करेगा तो भी उर्दू ही में करेगा। यदि वहाँ कोई अनपढ़ बाहरी आदमी या कोई दूसरी जाति का आदमी हो, वा ऐसा आदमी हो, जो उसके गाँव या कुटुम्ब का न हो, वैसे मैं अपने मित्रों, मातहतों, अर्दलियों और दूसरों के सामने अपने नौकरों से भी उर्दू में बातचीत करता हूँ। अपनी स्त्री और भाई-बन्धु से, अपने गाँव के काश्तकारों से और अपने घर के नौकरों से शुद्ध और सीधी पूरबी हिन्दी बोलता हूँ, यही दशा संयुक्त प्रदेश के हर एक हिन्दू की है, और इसके पूरबी भाग के लोग तो एक सीढ़ी और चढ़ के अपने हिन्दू मित्रों में बिहारी तक भी बोलते हैं। यह दशा केवल हिन्दुओं ही की नहीं, वरन् गाँव के रहने वाले सब मुसलमानों में और कुछ नगर के रहने वाले मुसलमानों की भी है। अभी हाल में मैं एक दिन रेल में यात्रा कर रहा था, जिसमें अवध के एक बड़े इज्जतदार ताल्लुकेदार भी थे। उनके साथ एक दूसरा मुसलमान भी था जो कदाचित् उनका सम्बन्धी हो और निस्सन्देह उनके इलाके का नौकर था। ये महाशय मुझे नहीं जानते थे, और न दूसरे एक बङ्गाली महाशय को ही जानते थे जो कि हम लोगों के साथ बैठे थे। कुछ देर तक वे अपने मुसलमान साथी से अपने इलाके के कामकाज की बातें शुद्ध पूरबी हिन्दी में करते रहे, जब तक कि हम लोगों ने एक-दूसरे से (निस्सन्देह उर्दू में) बातचीत करना नहीं शुरू किया। मैं जिस समय यह पत्र लिखा रहा था, उसी समय एक प्रतिष्ठित मुसलमान सज्जन, जो कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे एक डिप्टी कलेक्टर थे और अब छुट्टी पर थे, मुझसे मिलने आये। हम लोग इसके पहिले एक-दूसरे को नहीं जानते थे। हम लोग कुछ अंग्रेजी मिली हुई उर्दू में बात-चीत करते रहे, पर वह एक गाँव के रहने वाले हैं और पिछले दो-तीन महीने उसी गाँव में रह कर आये हैं, इसलिए 20 मिनट के भीतर-भीतर उनके मुँह से कई बार भूल से पूरबी हिन्दी निकल गयी।"

अतएव इससे ये बातें जान पड़ती हैं कि सर्व-साधारण लोग और अपने घर में पढ़े-लिखे लोग भी, खासकर यदि वे हिन्दू हों तो, स्थानिक भाषा बोलते हैं। उन जगहों के लिखे-पढ़े लोग भी घर पर छोड़कर और सब जगह उर्दू बोलते हैं, जहाँ की भाषा उर्दू नहीं है। पद्य या तो उर्दू में और या पश्चिमी हिन्दी की ब्रजभाषा में लिखा जाता है। इसके लिए पूरबी हिन्दी अब बहुत काम में लायी

जाती है, पर इसी के एक प्राचीन रूप को तुलसीदास एक काम में लाये हैं, जिनकी बनायी रामायण इस प्रान्त के हिन्दुओं की बाइबिल समझना चाहिए। बिहार की भोजपुरी भाषा साहित्य के कामों में कभी नहीं लायी गयी। यहाँ की तीनों भाषाओं में बहुत-सी कविता हैं जो कि कण्ठस्थ सुनी जाती हैं और जिसे सिवाय अन्वेषी विदेशियों के और किसी ने कभी नहीं लिखा है। आजकल के पद्य के लिए ब्रज की भाषा इसलिए चुनी गयी है, क्योंकि लोग समझते हैं कि उस भाषा में बड़ा लालित्य और अत्यन्त सुन्दरता दिखलायी जा सकती है। शायद यह विचार इसलिए है कि पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों के वैष्णव आचार्यों में से बहुतों ने और खासकर आगरे के अन्धे कवि सूरदास ने, उसी भाषा में कविता की है। इन बहुत तरह की भाषाओं के होने के कारण जो दिक्कतें पड़ती हैं, वे इस कारण कम हो जाती हैं कि यदि परिचित शब्द काम में लाये जायँ तो प्रायः इस प्रान्त के सब हिस्सों के लोग उर्दू और उच्च हिन्दी के व्याकरण के रूपों को अच्छी तरह समझ सकते हैं। हाँ, पहाड़ियों में, पश्चिमी हिन्दी के बुन्देली भागों में, और बिहार में बहुत-से ऐसे लोग भी पाये जाते हैं जो इन्हे कठिनता से समझ सकते हैं। यह भी याद रखना चाहिए कि इस प्रान्त के सब हिस्सों के अधिकांश लोग किसी विदेशी से बातचीत करने में स्थानिक रूपों का प्रयोग करते हैं, पर जो शब्द वे काम में लाते हैं वे कई भाषा के मिले हुए होते हैं। दोनों मुख्य भाषाओं में से उर्दू का प्रचार बहुत ज्यादा होता जाता है और उसके लिखने की भाषा उसके बोलचाल की भाषा के बहुत निकट आती जाती है, पर उर्दू-हिन्दी का व्याकरण यद्यपि एक ही है, पर उसमें जैसे शब्द काम में लाये जाते हैं उसके कारण वह उन पढ़े-लिखे लोगों की भी समझ में नहीं आती जो संस्कृत न जानते हों, या जिन्होंने उसकी शिक्षा स्कूल में न पायी हो और उसकी सम्भावना किसी बोलचाल की भाषा से भी अधिक भिन्न होते जाने की है। विदेशी भाषाओं में से फारसी का उर्दू के कोष पर बहुत-कुछ असर पड़ा है, और उसका कुछ प्रभाव शब्दों के विन्यास पर भी पड़ा है। आजकल उर्दू पर अंग्रेजी का भी कुछ असर पड़ रहा है, जिसका कारण यह है कि अंग्रेजी ही उच्च शिक्षाओं का मुख्य द्वार है। यह असर खासकर उनके कोष पर पड़ा है, और वह ऐसी दशाओं में निस्सन्देह स्वाभाविक भी है, जहाँ कि अंग्रेजी राज्य के शुरू होने ही से उन भावों के प्रकट करने पर जो पहिले-पहल उनके सामने आये, पड़ा। जैसे, म्यूनिसिपैलिटी, टाउन हाल, मेम्बर, रेल, बोतल आदि साधारण शब्द हो गये हैं। वह पाण्डित्य दिखलाने की इच्छा, जिसके कारण चालीस वर्ष पहिले उर्दू की

और आलकल हिन्दी की घृणा की गयी है, वही नीचे लिखे हुए तरह के वाक्यों का भी कारण है।

"इस एविडेन्स में बहुत डिस्क्रीपेन्सी हैं और निहायत इम्पार्टेण्ट बला यह कि······"

यह ध्यान रहे कि ऐसी भाषा किसी अंग्रेज से बोलने में उसके सुभीते के लिए काम में नहीं लायी जाती, वरन् हिन्दुस्तानी-हिन्दुस्तानी आपस में भी ऐसी भाषा बोलते हैं, आजकल शिक्षा अंग्रेजी में दी जाने के कारण भाषा में अंग्रेजी के मुहावरे और बनावट की भी नकल की जाती है और किसी-किसी हिन्दुस्तानी ग्रन्थकार के उर्दू ग्रन्थों में कहीं-कहीं पर यह कहा जा सकता है कि यह वाक्य अंग्रेजी वाक्य का अनुवाद है। भाषा के दोनों मुख्य रूपों के भविष्यत् का विचार करने में 1891 की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट में, जो मिस्टर जे० आर० लोवेल के वाक्य से उद्‌धृत किये गये हैं, वे यहाँ पर फिर लिखे जाने लायक हैं—

"केवल उन्हीं शब्दों से नये बल से भाषा की पुष्टि की जा सकती है जो आजकल के लोगों को प्रचलित हों। जिस भाषा को लिखने-पढ़ने की भाषा कहते हैं, वह ज्यादा ही पण्डिताई से भरी और विदेशी होती जाती है, यहाँ तक कि अन्त में वह भाषा विचारों को जाहिर करने के लिए वैसी ही बेकाम हो जाती है जैसी की माङ्क लोगों की लैटिन भाषा।············जिस भाषा के शब्दों का प्रयोग कम हो गया है और जनसाधारण के बोल-चाल के शब्दों को नहीं ग्रहण करती उस भाषा में कोई अच्छी और गम्भीर पुस्तक नहीं हो सकती············ शब्द सदा ही बोलचाल से उठते जाते हैं, इसलिए जहाँ की भाषा नियमों से बहुत ही जकड़ दी जाती है, वहाँ के विचार, बढ़ने के द्वार भी कम होते जाते हैं, और इसलिए वहाँ का साहित्य भी हृष्ट-पुष्ट पेड़ों की नाईं न होकर चीन देश के बौने पेड़ों की नाईं हो जाता है।"

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि मुहावरे और शब्दों का प्रयोग जाति सम्बन्धी बात समझी जाती है। इस बात को कहीं पर लिखने की आवश्यकता नहीं है कि उर्दू और हिन्दी का व्याकरण साधारण रीति से एक ही है। आज दिन भी कुछ मुसलमान लोग अपनी बोलचाल और पुस्तकों में जितने फारसी और अरबी के शब्द भर सकते हैं उतने भर देते हैं, और कुछ लोग तो एक ऐसी भाषा में लिखना ही पसन्द करते हैं जिसे वे फारसी कहते हैं, और जो आजकल की फारसी से कोष में उतनी ही भिन्न है जितनी कि स्पेन्सर की 'फेयरी क्वीन'

टेनिसन से । इसी प्रकार से कुछ हिन्दू लोग भी संस्कृत के कोष को लूट-पाट के साहित्य बनाना चाहते हैं । ऊपर लिखी हुई सभा ने यह भी प्रकट किया है कि वह एक वैज्ञानिक कोष बना रही है; पर यह स्पष्ट है कि उसने इस पर ध्यान नहीं दिया कि नयी-नयी वैज्ञानिक आवश्यकताओं के लिए विदेशों की आजकल की सब भाषाओं में यह निश्चय हो चुका है कि ग्रीक और लैटिन के शब्द काम में लाये जायँ । इन बातों की असारता को बहुत-से हिन्दुस्तानी लेखकों ने समझा था । यहाँ पर भूतपूर्व राजा शिवप्रसाद का नाम लिया जा सकता है, जिसने लेख-प्रणाली को सीधी बनाकर उसे जनसाधारण की बोलचाल के निकट लाने का उद्योग बड़ी सफलता से किया । इस देश और दूसरे देशों के साहित्य के इतिहासों से यह स्पष्ट जाना जाता है कि जब लेखकों ने नित्य की बोलचाल की भाषा काम में लायी तभी उस भाषा की पूरी उन्नति हुई है और यह कहा जा सकता है कि इसी नियम पर चलने से अब भी लाभ हो सकता है ।

पिछले दस वर्षों में इन प्रान्तों में जितनी पुस्तकें छपीं, उनसे जान पड़ता है कि उनमें से सौ में पैंतालिस तो उर्दू की थीं । इससे ऊपर लिखी बात की और भी पुष्टि होती है कि लेखनी द्वारा विचार प्रकट करने में उर्दू अधिक जनप्रिय होती जाती है ।

(१६०२)

———

हिन्दी साहित्य का वीरगाथा-काल

जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का स्थायी प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उसका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारणस्वरूप इन परिस्थितियों का किञ्चित् दिग्दर्शन भी साथ-ही-साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हम हिन्दी साहित्य के 900 वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर सकते हैं—

(1) आदि काल—(वीरगाथा-काल, सं० 1050 से 1375)
(2) पूर्व मध्य काल—(भक्ति काल, सं० 1375—1675)
(3) उत्तर मध्य काल—(रीति काल, सं० 1675—1850)
(4) आधुनिक काल—(गद्य काल, सं० 1850—1984)

यद्यपि इन कालों की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ही इनका नामकरण किया गया है पर यह न समझना चाहिए कि किसी विशेष काल में और प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थीं। उदाहरण के लिए जैसे भक्ति काल या रीति काल को लें तो वीर रस के अनेक काव्य मिलेंगे जिनमें वीर राजाओं की प्रशंसा उसी ढंग की मिलेगी जिस ढंग की वीरगाथा-काल में हुआ करती थी। अतः प्रत्येक काल का वर्णन यहाँ इस रीति पर किया जायगा कि पहले तो उक्त काल की विशेष प्रवृत्ति-सूचक उन रचनाओं का वर्णन होगा जो उस काल के लक्षण के अंतर्गत होंगी; पीछे संक्षेप में उनके अतिरिक्त और प्रकार की ध्यान देने योग्य रचनाओं का उल्लेख रहेगा।

प्राकृत काल की अंतिम अपभ्रंश अवस्था के उपरांत ही विक्रम संवत्

1050 से हिन्दी साहित्य का अभ्युदय माना जा सकता है। अतः हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक स्वरूप की झलक पाने के लिए हमें अपभ्रंश की रचनाओं की ओर ध्यान देना पड़ता है। ये रचनाएँ अधिकांश फुटकर पद्यों के रूप में हैं जो जनता के बीच कहे-सुने भी जाते थे और राजसभाओं में पढ़े भी जाते थे। जनसाधारण के बीच प्रचलित पद्य प्रायः नीति और श्रृंगार सम्बन्धी ही मिलते हैं और राज-सभाओं में सुनाये जाने वाले नीति श्रृंगार आदि विषय प्रायः दोहे में कहे जाते थे और वीर रस सम्बन्धी पद्य छप्पय में। राजाश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ किया करते थे अथवा युद्ध-क्षेत्र में स्वयं तलवार चलाते और दूसरों को अपनी वीरोल्लासिनी कविता से उत्साहित करते थे। ऐसे कवियों ही की रचनाओं के रक्षित रहने का अधिक सुभीता था। वे राजकीय पुस्तकालयों में भी रक्षित रहती थीं और भट्ट-चारण जीविका के विचार से उन्हें अपने उत्तराधिकारियों के पास भी छोड़ जाते थे। इसी रक्षित परंपरा का विकास हमारे हिन्दी-साहित्य के प्रारंभिक काल में मिलता है। अतः इस काल को हम वीरगाथा-काल कह सकते हैं।

भारत के इतिहास में यह वह समय था जबकि मुसलमानों के हमले उत्तर-पश्चिम की ओर से लगातार होते रहते थे। इनके धक्के अधिकतर भारत के पश्चिम-प्रांत के निवासियों को सहने पड़ते थे जहाँ हिन्दुओं के बड़े-बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे। गुप्त साम्राज्य के ध्वस्त होने पर हर्षवर्द्धन (मृत्यु वि० 704) के उपरांत भारत का पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता और बल-वैभव का केन्द्र हो रहा था। कन्नौज, दिल्ली, अजमेर, अन्हलवाड़ा आदि बड़ी-बड़ी राजधानियाँ उधर ही प्रतिष्ठित थीं। उधर की भाषा ही शिष्ट भाषा मानी जाती थी और कवि-चारण आदि उसी भाषा में रचना करते थे। प्रारंभिक काल का जो साहित्य हमें उपलब्ध है उसका आविर्भाव उसी भूभाग में हुआ। अतः यह स्वाभाविक है कि उसी भूभाग की जनता की चित्तवृत्ति की छाप उस साहित्य पर हो। हर्षवर्द्धन के उपरांत ही साम्राज्य-भावना देश से अंतर्हित हो चुकी थी और खंड-खंड होकर जो गहरवार, चौहान, चन्देल और परिहार आदि राजपूत राज्य पश्चिम की ओर प्रतिष्ठित थे वे अपने प्रभाव की वृद्धि के लिए परस्पर लड़ा करते थे। लड़ाई किसी आवश्यकतावश नहीं होती थी, कभी-कभी तो शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिए यों ही मोल ली जाती थी। बीच-बीच में मुसलमानों के भी हमले होते रहते थे। सारांश यह कि जिस समय से हमारे हिन्दी साहित्य का अभ्युदय होता है, वह

लड़ाई-भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था और सब बातें पीछे पड़ गयी थीं।

महमूद गजनवी (मृत्यु वि० 1087) के लौटने के पीछे गजनवी सुलतानों का एक हाकिम लाहौर में रहा करता था और वहाँ से लूट-मार के लिए देश के भिन्न-भिन्न भागों पर विशेषतया राजपूताने पर चढ़ाइयाँ हुआ करती थीं। इन चढ़ाइयों का वर्णन फारसी तवारीखों में नहीं मिलता पर कहीं-कहीं संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों में मिलता है। साँभर (अजमेर) का चौहान राजा दुर्लभराज द्वितीय मुसलमानों के साथ युद्ध करने में मारा गया था। अजमेर बसाने वाले अजयदेव ने मुसलमानों को परास्त किया था। अजयदेव के पुत्र अर्णोरज (आना) के समय में मुसलमानों की सेना फिर पुष्कर की घाटी लाँघकर उस स्थान पर जा पहुँची जहाँ अब आना सागर है। अर्णराज ने उस सेना का संहार कर बड़ी भारी विजय प्राप्त की। वहाँ म्लेच्छ मुसलमानों का रक्त गिरा था इससे उस स्थान को अपवित्र मानकर वहाँ अर्णोराज ने एक बड़ा तालाब बनवा दिया जो आना सागर कहलाया। आना के पुत्र बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के समय में वर्तमान किशनगढ़ राज्य तक मुसलमानों की सेना चढ़ आयी जिसे परास्त कर बीसलदेव ने आर्यावर्त के बड़े भूभाग से मुसलमानों को निकाल दिया। इस बात का उल्लेख दिल्ली के अशोक लेख वाले शिवालिक स्तम्भ पर खुदे हुए बीसलदेव के वि० सं० 1220 के लेख से पाया जाता है। शहाबुद्दीन गोरी की पृथ्वीराज पर पहली चढाई (सं० 1247) के पहले भी गोरियों की सेना ने नाड़ौल पर धावा किया था, पर हार कर उसे लौटना पड़ा था। इसी प्रकार महाराज पृथ्वीराज के मारे जाने और दिल्ली तथा अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने के पीछे भी बहुत दिनों तक राजपूताने आदि में कई स्वतंत्र हिन्दू राजा थे जो बराबर मुसलमानों से लड़ते रहे। इनमें सबसे प्रसिद्ध रणथम्भौर के महाराज हम्मीरदेव हुए हैं जो महाराज पृथ्वीराज चौहान की वंश-परंपरा में थे। वे मुसलमानों से निरंतर लड़ते रहे और उन्होंने उन्हें कई बार हराया था। सारांश यह कि पठानों के शासन-काल तक हिन्दू बराबर स्वतन्त्रता के लिए लड़ते रहे।

राजा भोज की सभा में खड़े होकर राजा की दानशीलता का लम्बा-चौड़ा वर्णन करके लाखों रुपये पाने वाले कवियों का समय बीत चुका था। राजदरबारों में शास्त्रार्थों की वह धूम नहीं रह गयी थी, पाण्डित्य के चमत्कार पर पुरस्कार का विधान भी ढीला पड़ गया था। उस समय तो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता या

रणक्षेत्रों में भी जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरा करता था वही सम्मान पाता था।

इस दशा में काव्य और साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों की पूर्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। इस समय तो केवल वीरगाथाओं की उन्नति संभव थी। इस वीरगाथा को हम दोनों रूपों में पाते हैं— मुक्तक के रूप में भी और प्रबंध के रूप में भी। फुटकर रचनाओं का विचार छोड़ यहाँ वीरगाथात्मक प्रबन्ध काव्यों का ही उल्लेख किया जाता है। जैसा कि योरोप में वीर-गाथाओं का प्रसंग 'युद्ध और प्रेम' रहा वैसे ही यहाँ भी था। किसी राजा की कन्या के प्रेम का संवाद पाकर छल-बल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित कर उस कन्या को हर कर लाना वीरों का गौरव और अभिमान का काम माना जाता था। इस प्रकार थोड़ा शृंगार का मिश्रण भी इन काव्यों में रहता था, पर गौण रूप से, प्रधान रस वीर ही रहता था। जहाँ राजनीतिक कारणों से भी युद्ध होता था वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी, जैसे शहाबुद्दीन के यहाँ से एक रूपवती स्त्री का पृथ्वीराज के यहाँ आना ही लड़ाई की जड़ लिखी गयी है। इस प्रकार इन काव्यों में प्रथानुकूल कल्पित घटनाओं की ही अधिकतर योजना रहती थी।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वीर काव्यों के पूर्व की रचना के कुछ फुटकर दोहे मिलते हैं जिनकी भाषा अपभ्रंश के नियमों से सर्वथा बद्ध नहीं है। इस भाषा को यद्यपि हम प्रचलित देश भाषा का ठीक-ठीक रूप नहीं मान सकते पर उसमें देश भाषा का अधिक आश्रय स्पष्ट दिखायी पड़ता है। हेमचन्द्र ने जो अपभ्रंश के दोहे दिये हैं वे सब-के-सब नागर अपभ्रंश में नहीं हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों के रूप और प्रयोग उनमें मिलते हैं। यह इतिहासप्रसिद्ध बात है कि बौद्धों और जैनों ने अपने धर्मोपदेश के लिए देशभाषाओं का अवलंबन लिया। प्राकृत और अपभ्रंश के पठन-पाठन का क्रम जैनों में बराबर चला आता है। सबसे प्राचीन रचनाओं के नमूने जैन ग्रंथों ही में मिलते हैं। वि० सं० 990 में देवसेन नामक एक जैन ग्रंथकार हुए हैं। उन्होंने श्रावकाचार नाम की एक पुस्तक दोहे में बनायी है। इसकी भाषा अपभ्रंश के कटघरे से बाहर निकली हुई है और कहीं-कहीं पीछे की प्रचलित काव्य भाषा से बिल्कुल मिलती-जुलती है, जैसे—

जो जिण सासण भाषियउ सो मइ कहियउ सारु।
जो पाले सइभाउ करि सो तरि पावइ पारु॥

इसी प्रकार के फुटकर दोहे हेमचन्द्र के व्याकरण तथा कुमारपाल प्रतिबोध, प्राकृत पिंगल सूत्र आदि ग्रंथों में भी पाये जाते है जिनमें कई स्थानों (पूरब और पश्चिम) के प्रयोग मिलते हैं। ये दोहे किसी एक समय के बने नहीं हैं, मुञ्ज और भोज (सं० 1036) के समय से लेकर हम्मीरदेव (सं० 1353) के समय तक के हैं। जनश्रुतियों पर कुछ विश्वास किया जाय तो हिन्दी भाषा में ग्रंथ-रचना का पता विक्रम की आठवीं शताब्दी से लगता है। शिवसिंह सरोज में लिखा है कि भोजराज के पूर्व पुरुष राजा मान सं० 770 में राज्य करते थे। उनके दरबार के पुष्य बंदीजन नामक एक कवि ने दोहों में एक अलंकार ग्रंथ लिखा था। पर इस पुस्तक का कोई पता नहीं। जो उल्लेख योग्य ग्रंथ मिलते हैं वे वीरगाथा के रूप में ही हैं। अतः इनकी परम्परा और इनके स्वरूप का कुछ वर्णन आवश्यक है।

ये वीर गाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—प्रबन्ध काव्य के साहित्यिक रूप में और वीर गीतों के रूप में। साहित्यिक प्रबन्ध के रूप में जो सबसे प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध है वह है पृथ्वीराजरासो। वीर गीत के रूप में हमें सबसे पुरानी पुस्तक बीसलदेवरासो मिलती है, जिसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास मिलता है। जो रचना कई सौ वर्षों से लोगों से बराबर गायी जाती रही हो उसकी भाषा अपने मूल रूप में नहीं रह सकती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'आल्हा' है जिसके गाने वाले प्रायः समस्त उत्तरी भारत में पाये जाते हैं। यहाँ पर वीर काल के उन ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है जिनकी या तो प्रतियाँ मिलती हैं या कहीं उल्लेख मात्र पाया जाता है।

(1) **खुमानरासो**—सं० 810 और 1000 के बीच में चित्तौर के रावल खुमान नाम के तीन राजा हुए हैं। कर्नल टाड ने इनको एक मानकर इनके युद्धों का विस्तार से वर्णन किया है। उनके वर्णन का सारांश यह है कि कालभोज (वाप्पा) के पीछे खुम्माण गद्दी पर बैठा, जिसका नाम मेवाड़ के इतिहास में प्रसिद्ध है और जिसके समय में बगदाद के खलीफा अलमामूं ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। खुम्माण की सहायता के लिए बहुत-से राजा आये और चित्तौड़ की रक्षा हो गयी। खुम्माण ने 24 युद्ध किये और वि० सं० 869 से 893 तक राज्य किया। यह समस्त वर्णन दलपत विजय नामक कवि के रचित खुमानरासो के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है, पर इस समय खुमानरासो की जो प्रति प्राप्त है वह अपूर्ण है, उसमें महाराणा प्रताप सिंह तक का वर्णन है। कालभोज

(बाप्पा) से लेकर तीसरे खुमान तक की वंश-परम्परा इस प्रकार है—कालभोज (बाप्पा), खोम्माण, मत्तट, भर्तृपट्ट, सिंह, खोम्माण (दूसरा) महायक, खोम्माण (तीसरा) कालभोज का समय वि० सं० 791 से 810 है और तीसरे खुम्माण के उत्तराधिकारी भर्तृपट्ट (दूसरे) के समय के दो शिलालेख वि० सं० 999 और 1000 के भर्तृपट्ट मिले हैं। अतएव इस 190 वर्ष का औसत लगाने पर तीनों खुम्माणों का समय अनुमानतः इस प्रकार निश्चित होता जान पड़ता है।

खुम्माण (पहला)—वि० सं० 810—835
,, (दूसरा)— ,, ,, 870—900
,, (तीसरा)— ,, ,, 965—990

अब्बासिया वंश का अलमामूँ वि० सं० 870 से 890 तक खलीफा रहा। इस समय के पूर्व खलीफों के सेनापतियों ने सिन्ध देश की विजय कर ली थी और उधर से राजपूताने पर मुसलमानों की चढ़ाइयाँ होने लगी थीं। अतएव यदि किसी खुम्माण से अलमामूँ की सेना से लड़ाई हुई होगी तो वह दूसरा खुम्माण रहा होगा और उसी के नाम पर खुमानरासो की रचना हुई होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो खुमानरासो मिलता है उसमें कितना अंश पुराना है। उसमें महाराणा प्रताप सिंह तक का वर्णन मिलने से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस रूप में यह ग्रंथ अब प्राप्य है वह उसे वि० सं० की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। शिवसिंह सरोज के कथनानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नामक एक काव्य ग्रंथ लिखा था जिसमें श्री रामचन्द्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था। यह नहीं कहा जा सकता कि दलपत विजय असली खुमानरासो का रचयिता था अथवा उसके पिछले प्रक्षिप्त रूप का।

(2) **बीसलदेवरासो**—नरपति नाल्ह कवि विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का समकालीन था। कदाचित् यह राजकवि था। इसने बीसलदेवरासो नामक एक छोटा-सा (100 पृष्ठ का) ग्रन्थ लिखा है जो वीर गीत के रूप में है। ग्रन्थ में निर्माण-काल यों दिया है—

बारह सै बहोत्तराँहाँ मँझारि।
जेठ वदी नवमी बुधवारि॥
'नाल्ह' रसायण आरंभइ।
सरदा तुठि ब्रह्म कुमारि॥

'बारह सै बहोत्तर' का स्पष्ट अर्थ 1212 है। 'बहोत्तर' शब्द 'बरहोत्तर' 'द्वादशोत्तर' का रूपान्तर है जिसका अर्थ 'द्वादशोत्तर' बारह सै अर्थात् 1212 होगा। गणना करने पर वि० सं० 1212 में ज्येष्ठ बदी 9 को बुधवार ही पड़ता है। कवि ने अपने रासो में सर्वत्र वर्तमान ही काल का प्रयोग किया है जिससे वह बीसलदेव का समकालीन जान पड़ता है। विग्रहराज चतुर्थ (बीसलदेव) का समय भी 1220 के आसपास है। इसके शिलालेख भी सं० 1210 तथा 1220 के प्राप्त हैं। बीसलदेव रासो में चार खण्ड हैं, यह काव्य लगभग 2000 चरणों में समाप्त हुआ है। इसकी कथा का आधार यों है—

खण्ड 1. मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से (साँभर के) बीसलदेव का विवाह होना।

खण्ड 2. बीसलदेव का उड़ीसा-विजयार्थ प्रस्थान तथा वहाँ पहुँचकर विजय लाभ करना।

खण्ड 3. राजमती का विरह-वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना।

खण्ड 4. भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लिवा जाना तथा बीसलदेव का वहाँ जाकर राजमती को फिर चित्तौड़ लाना।

दिये हुए संवत् के विचार से कवि अपने चरितनायक का समकालीन जान पड़ता है। पर वर्णित घटनाएँ, विचार करने पर, बीसलदेव के बहुत पीछे की लिखी जान पड़ती हैं जबकि उनके सम्बन्ध में कल्पना की गुंजाइश हुई। यह घटनात्मक काव्य नहीं है—इसमें दो ही घटनाएँ हैं—बीसलदेव का विवाह और उनका उड़ीसा जाना। इनमें से पहिली बात तो कल्पनाप्रसूत प्रतीत होती है। बीसलदेव से 100 वर्ष पहले ही धार के प्रसिद्ध परमार राजा भोज का देहान्त हो चुका था। अतः उनकी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह किसी पीछे के कवि की कल्पना ही प्रतीत होती है। उस समय मालवा में भोज नाम का कोई राजा नहीं था। बीसलदेव की एक परमार वंश की रानी थी। यह बात परम्परा से अवश्य प्रसिद्ध चली आती थी क्योंकि इसका उल्लेख पृथ्वीराजरासो में भी है। इसी बात को लेकर पुस्तक में भोज का नाम रखा हुआ जान पड़ता है। अथवा यह हो सकता है कि धार के परमारों की राज्योपाधि ही भोज रही हो और उस आधार पर कवि ने उसका यह उपाधिसूचक नाम ही केवल दे दिया हो, असली नाम न दिया हो। पर सम्भव है इन्हीं में से किसी की कन्या के साथ

बीसलदेव का विवाह हुआ हो। परमार कन्या के सम्बन्ध में कई स्थानों पर जो वाक्य आये हैं उन पर ध्यान देने से यह सिद्धान्त पुष्ट होता है कि राजा भोज का नाम कहीं पीछे से न मिलाया गया हो। जैसे—'जनमी गोरी तू जेसलमेर', 'गोरड़ी जेसलमेर की'। आबू के परमार भी राजपूताने में फैले हुए थे। अतः राजमती का उनमें से किसी सरदार की कन्या होना भी सम्भव है। पर भोज के अतिरिक्त और भी नाम इसी प्रकार जोड़े हुए मिलते हैं—जैसे 'माघ आचारज, कवि कालिदास'।

जैसा पहले कह आये हैं, अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) बड़े वीर और प्रतापी थे और उन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध कई चढ़ाइयाँ की थीं और कई प्रदेशों को मुसलमानों से खाली कराया था। दिल्ली और हाँसी के प्रदेश इन्होंने हाँसी के भीतर मिलाये थे। इनके वीर चरित्र का बहुत-कुछ वर्णन इनके राजकवि सोमदेव रचित 'ललित विग्रहराज नाटक' (संस्कृत) में मिलता है जिसका कुछ अंश बड़ी-बड़ी शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है और राजपूताना म्यूजियम में सुरक्षित है। पर 'नाल्ह' के इस बीसलदेवरासो में, जैसा कि होना चाहिये था, न तो उक्त वीर राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठ कर विदेश जाने का (प्रोषितपतिका के वर्णन के लिए) मनमाना वर्णन है। अतः इस छोटी-सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है। पर जब हम देखते हैं कि यह कोई काव्य ग्रन्थ नहीं है केवल गाने के लिए रचा गया था तो बहुत-कुछ समाधान हो जाता है।

भाषा की परीक्षा करके देखते हैं तो उसमें मारवाड़ी और राजस्थानी का पूरा मेल पाया जाता है। जैसे, सूकइछै (=सूखता है) पाटण थी (=पाटण से); भोज तणा (=भोज का), खण्ड खण्डरा (=खण्ड खण्ड का) इत्यादि। गुजराती का मेल भी कहीं-कहीं है। भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में समयानुसार बहुत-कुछ फेर-फार होता आया है। पर लिखित रूप में रक्षित होने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत-कुछ बचा हुआ है। उदाहरण के लिए—मेलन=मिलाकर, जोड़कर। चितह=चित्त में। रणि=रण में। प्रापिजइ=प्राप्त करें। ईणी विधि=इस विधि। ईसउ=ऐसा। इसी प्रकार 'नयर' (नगर), 'पसाउ' (प्रसाद), 'पयोहर' (पयोधर) आदि प्राकृत शब्द भी हैं जिनका प्रयोग कविता में अपभ्रंश काल से लेकर पीछे तक होता रहा।

आये हुए कुछ फारसी, अरबी, तुरकी शब्दों की ओर भी ध्यान जाता है। जैसे महल, इनाम, नेजा, ताजनो (ताजियाना), चाबुक आदि। जैसा कहा जा चुका है, पुस्तक की भाषा में फेर-फार अवश्य हुआ है अतः ये शब्द पीछे से मिले भी हो सकते हैं और कवि द्वारा व्यवहृत भी। कवि के समय से पहले ही पंजाब में मुसलमानों का प्रवेश हो गया था और मुसलमान इधर-उधर जीविका के लिए फैलने लगे थे। अतः ऐसे साधारण शब्दों का प्रचार कोई आश्चर्य की बात नहीं। वीसलदेव के सरदारों में ताजुद्दीन मियाँ भी मौजूद हैं—

महल पलाण्यो ताजदीन।
खुरसाणी चढ़ि चाल्यो गोंड़॥

उपर्युक्त विवेचना के अनुसार यह पुस्तक न तो वस्तु के विचार से और न भाषा के विचार से अपने असली और मूल रूप में कही जा सकती है। रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचद ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना कहा है (राजपूताने का इतिहास, भूमिका, पृ० 19)। नरपतिनाल्ह की पोथी का विकृत रूप यह अवश्य है जिसके आधार पर हम भाषा और साहित्य सम्बन्धी कई तथ्यों पर पहुँचते हैं। पहली बात ध्यान देने की यह है कि राजपूताने के एक भाट का विशुद्ध राजस्थानी में न लिखकर ब्रज या हिन्दी में लिखने का प्रयत्न करना। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियों के साथ-साथ ब्रज या मध्य देश की भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों के बीच पिंगल भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। शुद्ध राजस्थानी भाषा का अपभ्रंश के योग से जो साहित्यिक रूप था वह डिंगल कहलाता था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में हम केवल पिंगल भाषा में लिखे ग्रंथों का ही विचार कर सकते हैं। दूसरी बात जो कि साहित्य से सम्बन्ध रखती है वीर और शृंगार का तारतम्य है। इस ग्रंथ में शृंगार की ही प्रधानता है, वीर रस का किञ्चित् आभासमात्र है। संयोग और वियोग के गीत ही कवि ने गाये हैं।

(3) **चंदबरदाई** (सं० 1225—1249)—यही हिन्दी का प्रथम महाकवि माना जाता है और इसका पृथ्वीराजरासो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। चंद दिल्ली के अंतिम हिन्दू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज के सामंत और राजकवि थे। इससे इनके नाम में भावुक हिन्दुओं के लिए एक विशेष प्रकार का आकर्षण है। ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी जहाँ लाहौर में इनका जन्म हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों ने एक ही

दिन यह संसार भी छोड़ा था। ये महाराज पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं, उनके सखा और सामंत भी थे, तथा षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदः शास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक अनेक विद्याओं में पारंगत थे। इन्हें जालन्धरी देवी का इष्ट था जिनकी कृपा से अदृष्ट काव्य भी कर सकते थे। इनका जीवन पृथ्वीराज के जीवन के साथ ऐसा मिला-जुला था कि अलग नहीं किया जा सकता। युद्ध में, आखेट में, सभा में, यात्रा में ये सदा महाराज के साथ रहते थे और जहाँ जो बातें होती थीं सब में सम्मिलित रहते थे।

पृथ्वीराजरासो ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमें 69 समय (सर्ग या अध्याय) हैं। प्राचीन समय में प्रचलित प्रायः सब छंदों का व्यवहार हुआ है—मुख्य छंद हैं, कवित्त (छप्पय), दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या। जैसे कादम्बरी के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग बाण के पुत्र ने पूरा किया है वैसे ही रासो के पिछले भाग का भी चंद के पुत्र जल्ह द्वारा पूर्ण किया जाना कहा जाता है। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले गया तब कुछ दिनों पीछे चंद भी वहीं गये। जाते समय कवि ने अपने पुत्र जल्ह के हाथ में रासो की पुस्तक देकर उसे पूर्ण करने का संकेत किया। जल्ह के हाथ में रासो के सौंपे जाने और उसके पूरे किये जाने का उल्लेख रासो में है—

पुस्तक जल्हन हत्थ है चलि गज्जस नृप काज।

× × ×

रघुनाथ चरित हनुमंतकृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथिराज सुजस कवि चंद कृत चंद नंद उद्धरिय तिमि॥

पृथ्वीराजरासो में आबू के यज्ञकुण्ड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति तथा चौहानों के अजमेर में राज्य-स्थापन से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का सविस्तर वर्णन है। इस ग्रंथ के अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र और अर्णोराज के पौत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तुँवर (तोमर) राजा अनंगपाल की कन्या से हुआ था। अनंगपाल की दो कन्याएँ थीं—सुन्दरी और कमला। सुन्दरी का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल के साथ हुआ और इस संयोग से जयचंद राठौर की उत्पत्ति हुई। दूसरी कन्या कमला का विवाह अजमेर के चौहान सोमेश्वर के साथ हुआ जिनके पुत्र पृथ्वीराज हुए। अनंगपाल ने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लिया जिससे अजमेर और दिल्ली

का राज्य एक हो गया । जयचंद को यह बात अच्छी न लगी । उसने एक राजसूय यज्ञ करके सब राजाओं को यज्ञ के भिन्न-भिन्न कार्य करने के लिए निमंत्रित किया और इस यज्ञ के साथ ही अपनी कन्या संयोगिता का स्वयंवर रचा । राजसूय यज्ञ में सब राजा आये पर पृथ्वीराज नहीं आये । इस पर जयचंद ने चिढ़कर पृथ्वीराज की एक स्वर्ण-मूर्ति द्वारपाल के रूप में द्वार पर रखवा दी । संयोगिता का अनुराग पहले से ही पृथ्वीराज पर था, अतः जब वह जयमाल लेकर रंगभूमि में आयी तब उसने पृथ्वीराज की मूर्ति को ही माला पहना दी । इस पर जयचंद ने उसे घर से निकाल कर गंगा के किनारे के एक महल में भेज दिया । इधर पृथ्वीराज के सामंतों ने आकर यज्ञ-विध्वंस किया । फिर पृथ्वीराज ने चुपचाप आकर संयोगिता से गांधर्व-विवाह किया और अन्त में वे उसे हर ले गये । रास्ते में जयचंद की सेना से बहुत युद्ध हुआ पर संयोगिता को लेकर पृथ्वीराज कुशलपूर्वक दिल्ली पहुँच गये और वहाँ भोग-विलास में ही उनका सारा समय बीतने लगा, राज्य की रक्षा का ध्यान न रह गया । बल का बहुत कुछ ह्रास तो जयचंद तथा और राजाओं के साथ लड़ते-लड़ते हो चुका था और बड़े-बड़े सामंत मारे जा चुके थे । अच्छा अवसर देख शहाबुद्दीन चढ़ आया पर हार गया और पकड़ा गया । पृथ्वीराज ने उसे छोड़ दिया । वह बार-बार चढ़ाई करता रहा और अन्त में पृथ्वीराज पकड़कर गजनी भेज दिये गये । कुछ काल पीछे कवि चंद भी गजनी पहुँचे । एक दिन चंद के इशारे पर पृथ्वीराज ने शब्दवेधी बाण द्वारा शहाबुद्दीन को मारा और फिर दोनों एक-दूसरे को मार कर मर गये । शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के वैर का कारण यह लिखा गया है कि शहाबुद्दीन अपने यहाँ की एक सुन्दरी पर आसक्त था जो एक दूसरे पठान सरदार हुसेनशाह को चाहती थी । जब ये दोनों शहाबुद्दीन से तंग हुए तब हारकर पृथ्वीराज के पास भाग आये । शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के यहाँ कहला भेजा कि उन दोनों को अपने यहाँ से निकाल दो । पृथ्वीराज ने उत्तर दिया कि शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है, अतः उन दोनों की हम बराबर रक्षा करेंगे । इसी वैर से शहाबुद्दीन ने दिल्ली पर चढ़ाइयाँ कीं । यह तो पृथ्वीराज का मुख्य चरित्र हुआ । इसके अतिरिक्त बीच-बीच में बहुत-से राजाओं के साथ पृथ्वीराज के युद्ध और अनेक राज कन्याओं के साथ विवाह की कथाएँ रासो में भरी पड़ी हैं ।

ऊपर लिखे वृत्तांत और रासो में दिये हुए संवतों का ऐतिहासिक तथ्यों के साथ मेल न खाने के कारण अनेक विद्वानों ने पृथ्वीराजरासो के पृथ्वीराज के समकालीन किसी कवि की रचना होने में संदेह किया है और उसे 16वीं

शताब्दी में लिखा हुआ एक जाली ग्रंथ ठहराया है। रासो के भीतर चंगेज तैमूर आदि कुछ पीछे के नाम आने से यह संदेह और भी पुष्ट किया गया है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा रासो में वर्णित घटनाओं तथा संवतों को बिलकुल भाटों की कल्पना मानते हैं। पृथ्वीराज की सभा के कश्मीरी कवि जयानक ने संस्कृत में 'पृथ्वीराज विजय' नामक एक काव्य लिखा है जिसमें शहाबुद्दीन की पहली चढ़ाई तक का वर्णन है। उसमें दिये हुए संवत् तथा घटनाएँ ऐतिहासिक खोज के अनुसार ठीक ठहरती हैं। उसमें पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी लिखा है जिसका समर्थन हाँसी के शिलालेख से भी होता है। उक्त ग्रंथ अत्यन्त प्रामाणिक और समकालीन रचना है। उसके अनुसार सोमेश्वर का दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की पुत्री से विवाह होना और पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद जाना, राणा समरसिंह का पृथ्वीराज का समकालीन होना और उनके पक्ष से लड़ना आदि बातें असंगत सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार आबू के यज्ञ से चौहान आदि चार अग्नि कुलों की उत्पत्ति की कथा भी शिलालेखों की जाँच करने पर कल्पित ठहरती है, क्योंकि इनमें से सोलंकी आदि कई कुलों के प्राचीन राजाओं के शिलालेख मिले हैं जिनमें वे चन्द्रवंशी आदि कहे गये हैं. अग्नि कुल का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

चन्द ने पृथ्वीराज का जन्मकाल सं० 1115 में, दिल्ली गोद जाना 1122 में, कन्नौज जाना 1151 में और शहाबुद्दीन के साथ युद्ध 1158 में लिखा है। पर शिलालेखों और दानपत्रों में जो संवत् मिलते हैं उनके अनुसार रासो में दिये हुए संवत् ठीक नहीं हैं। अब तक ऐसे दानपत्र वा शिलालेख जिनमें पृथ्वीराज, जयचंद और परमर्दिदेव (महोबे के राजा परमाल) के नाम आये हैं इस प्रकार मिले हैं—

पृथ्वीराज के—4 जिनके संवत् 1224 और 1244 के बीच में हैं। जयचंद के—12 जिनके संवत् 1224 और 1243 के बीच में हैं। परमर्दिदेव के —6 जिनके सं० 1223 और 1258 के बीच में हैं। इनमें से एक संवत् 1239 का है जिसमें पृथ्वीराज और परमर्दिदेव (राजा परमाल) के युद्ध का वर्णन है।

इन संवतों से पृथ्वीराज का जो समय निश्चित होता है उसकी सम्यक् पुष्टि फारसी तवारीखों से हो जाती है। फारसी इतिहासों के अनुसार शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज का प्रथम युद्ध 587 हि० (वि० सं० 1248—ई० सन् 1191) में हुआ। अतः इन संवतों के ठीक होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं!

पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने रासो के पक्ष समर्थन में इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि रासो के सब संवतों में यथार्थ संवतों से 90-91 वर्ष का अंतर एक नियम से पड़ता है। उन्होंने यह विचार उपस्थित किया कि यह अंतर भूल नहीं है, वलिक किसी कारण से रखा गया है। इसी धारणा को लिये हुए उन्होंने रासो के इस दोहे को पकड़ा।

एकादस से पुंचदह विक्रम साक अनंद।
तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद॥

और 'विक्रम साक अनंद' का अर्थ किया—अ=शून्य और नन्द=६ अर्थात् 90 रहित विक्रम संवत्। अब क्यों ये 90 वर्ष घटाये गये इसका वे कोई उपयुक्त कारण नहीं बता सके। नन्दवंशी शूद्र थे इसलिए उनका राजत्वकाल राजपूत भाटों ने निकाल दिया। इस प्रकार की विलक्षण कल्पना कर वे रह गये। पर इन कल्पनाओं से किसी प्रकार का समाधान नहीं होता। आज तक और कहीं प्रचलित संवत् में से कुछ काल निकालकर संवत् लिखने की प्रथा नहीं पायी गयी। फिर यह विचारणीय अवश्य है कि जिस किसी ने प्रचलित विक्रम संवत् में से 90-91 वर्ष निकालकर पृथ्वीराजरासो में संवत् दिये हैं उसने क्या ऐसा जान-बूझकर किया है अथवा धोखे या भ्रम में पड़कर। ऊपर जो दोहा उद्धृत किया गया है उसमें 'अनंद' के स्थान पर कुछ लोग 'अनिंद' पाठ का होना अधिक उपयुक्त मानते हैं। अर्थात् इससे यह भाव स्पष्ट हो जाता है कि यह विक्रम का अनिंद्य साका है। इसी रासो में एक दोहा यह भी मिलता है—

एकादस सै पंचदह विक्रम जिम ध्रमसुत्त।
त्रतिय साक प्रथिराज कौ लिष्यौ विप्र गुन गुप्त॥

इससे भी नौ के गुप्त करने की बात कही गई है, पर कितने में से नौ कम करने से यह तीसरा शक बनता है यह नहीं कहा है और न यही कहीं कहा है कि इस तीसरे शक के चलाने का क्या कारण है। पर बात संवत् ही तक नहीं है। इतिहास-विरुद्ध कल्पित घटनाएँ जो भरी पड़ी हैं उनके लिए क्या कहा जा सकता है? माना कि रासो इतिहास नहीं है, काव्य ग्रन्थ है, पर काव्य ग्रन्थों में सत्य घटनाओं में बिना किसी प्रयोजन के उलट-फेर नहीं किया जाता। जयानक का पृथ्वीराज विजय भी तो काव्य ग्रन्थ ही है—फिर उसमें क्यों घटनाएँ और नाम ठीक-ठीक हैं? इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि

ये सब गड़बड़ अंश प्रक्षिप्त हैं और पृथ्वीराजरासो के नाम से प्रसिद्ध जो ग्रन्थ आजकल मिलता है उसमें बहुत ही अल्प अंश चंद कृत हो सकता है।

भाषा की कसौटी पर यदि ग्रंथ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बेठिकाने है—उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। दोहों की और कुछ-कुछ कवित्तों की (छप्पयों की) भाषा तो ठिकाने की है, पर त्रोटक आदि छोटे छंदों में तो कहीं-कहीं अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी मनमानी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत-प्राकृत की नकल की हो। कहीं तो भाषा आधुनिक साँचे में ढली-सी दिखाई पड़ती है, क्रियाएँ नये रूपों में मिलती हैं। पर साथ ही कहीं-कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में भी पायी जाती है जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के साथ-साथ शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिह्न पुराने ढंग के हैं। इस दशा में भाटों के इस वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रन्थ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का रह गया है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पृथ्वीराज के समय में चन्द नाम का राजकवि था और उसने सुन्दर छंदों में ग्रन्थ लिखे थे। पृथ्वीराज विजय के पाँचवें सर्ग में विग्रहराज के पुत्र चन्द्रराज का वर्णन करता हुआ जयानक लिखता है—

तनयश्चन्द्रराजस्य चन्द्रराज इवाभवत्।
संग्राहं यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात् ।।१५।।

अर्थात् उसका पुत्र ग्रन्थकार चन्द्रराज के समान सुवृत्तों (अच्छे छंदों और आचरणशील पुरुषों) का संग्रह करने वाला हुआ। इस श्लोक की टीका करते हुए सोलराज का पौत्र तोनराज पुत्र जोनराज, जो कश्मीर में जैनडल आविदीन चौथे के समय (सं० 1474-1524) में हुआ था, यह लिखता है—

"चन्द्रराजाख्यश्चन्द्रो ग्रंथकारस्य इवास्य पुत्रः चन्द्रराजाख्यो भवत् शोभमानां वृत्तानां वसन्ततिलकादीनामिव सुवृत्तानां सदाचाराणां पुरुषाणां यस्संग्रहमकरोत।" इससे स्पष्ट है कि चन्द्रराज ग्रन्थकार ने सुललित छंदों में ग्रंथ रचे थे। सम्भवतः यह हमारा चन्दबरदाई ही था जो जयानक का समकालीन था। किसी दूसरे चन्द्र से इसका तात्पर्य नहीं ज्ञात होता। यदि यह अनुमान ठीक है तो चन्दबरदाई ने कई ग्रन्थ लिखे होंगे। वे सब अब या तो काल-कवलित हो गये या कहीं छिपे पड़े होंगे।

महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने सन् 1909 से 1913 तक राजपूताने में प्राचीन ऐतिहासिक काव्यों की खोज में तीन यात्राएँ की थीं। उनका विवरण बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने छापा है। उस विवरण में पृथ्वीराजरासो के विषय में बहुत कुछ लिखा है। उनका कहना है कि कोई-कोई तो चन्द के पूर्व पुरुषों को मगध से आया हुआ बताते हैं, पर पृथ्वीराजरासो में लिखा है कि चन्द का जन्म लाहौर में हुआ था। कहते हैं कि चन्द पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय में राजपूताने में आया और पहले सोमेश्वर के दरबार और पीछे से पृथ्वीराज का मन्त्री, सखा और राजकवि हुआ। पृथ्वीराज ने नागौर बसाया था और वहीं बहुत-सी भूमि चन्द को दी थी। शास्त्री जी का कहना है कि नागौर में अब तक चन्द के वंशज रहते हैं। इसी वंश के वर्तमान प्रतिनिधि नानूराम भाट से शास्त्री जी की भेंट हुई, इससे उन्हें चन्द का वंशवृक्ष प्राप्त हुआ जो इस प्रकार है—

- चन्दबरदाई
  - गुणचन्द
  - जल्लचन्द
    - सीताचन्द
      - वीरचन्द
        - हरिचन्द
          - रामचन्द्र
            - विष्णुचन्द्र
            - उद्धरचन्द
            - रूपचन्द
            - बुद्धचन्द्र
              - खेमचन्द
              - गोविन्दचन्द्र
                - जयचन्द
                  - मदनचन्द
                    - |
                  - शिवचन्द
                  - बलदेवचन्द्र
            - देवचन्द्र
            - सूरदास
            - |
  - ×
  - ×

- चौतचन्द
- बेनीचन्द
  - गोकुलचन्द
    - कर्णचन्द
      - गुणगंगचन्द
      - मोहनचन्द
        - जगन्नाथ
        - रामेश्वर
          - गंगाधर
            - भगवानसिंह
              - कर्मसिंह
                - मथुरासिंह
                  - बाग्गोविंदसिंह
                    - मानसिंह
                      - विजयसिंह
                        - आनन्दराय जी
                          - आसोजी
                          - गुमानजी
                          - कर्णीदान
                            - घमंडीरामजी
                              - वृद्धिचन्दजी
                                - नानूराम
                            - बुधजी
                          - जैथमलजी
                          - वीरचन्दजी
  - वसुचन्द
  - लेखचन्द
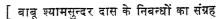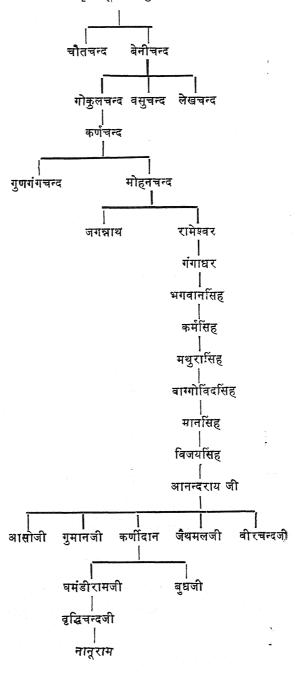
नानूराम का कहना है कि चन्द के चार लड़के थे, इनमें से एक मुसलमान हो गया। दूसरे का कुछ पता नहीं, तीसरे के वंशज अंभोर में जा बसे और चौथे जल्ल का वंश नागौर में चला। पृथ्वीराजरासो में चन्द के लड़कों का उल्लेख इस प्रकार है—

दहति पुत्र कविचन्द के सुन्दर रूप सुजान।
इक्क जल्ह गुन वावरो, गुन समंद ससिमान ॥

पृथ्वीराजरासो में कवि चंद के दसों पुत्रों के नाम दिये हैं। 'सूरदास' की 'साहित्य लहरी' में एक पद ऐसा आया है जिसमें उन्होंने अपनी वंशावली दी है। वह पद यह है—

प्रथम ही प्रथु यज्ञ तें भे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप ॥

पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गापुत्र तेरो भयो अधिकाय ॥

पारि पायन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन।
तासु वंस प्रसंस में भौ चंद चारु नवीन ॥

भूप पृथ्वीराज दीन्हों तिन्हे ज्वाला देस।
तनय ताके चार कीनो प्रथम आप नरेस ॥

दूसरे गुनचंद ता सुत सीलचंद सरूप।
वीरचंद प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप ॥

रत्नभार हमीर भूपति संगत खेलत जाय।
तासु वंस अनूप भो हरिचंद अति विख्याय ॥

आगरे रहि गोपचल में रहौ ता सुत वीर।
पुत्र जनमे सात ताके महाभट गंभीर ॥

कृष्णचंद्र उदारचंद्र जु रूपचंद सुभाइ।
बुद्धिचंद प्रकाश चौथे चंद भे सुखदाइ ॥

देवचंद प्रवोध संसृतचंद ताको नाम।
भयो सप्तो नाम सूरजचंद मंद निकाम ॥

इन दोनों वंशावलियों के मिलाने पर मुख्य भेद यह प्रकट होता है कि

नानूराम ने जिनको जल्लालचंद की वंश-परंपरा में बताया है सूरदास जी उन्हें गुणचंद की परंपरा में कहते हैं। बाकी नाम प्रायः मिलते हैं।

नानूराम का कहना है कि चंद ने तीन या चार हजार श्लोक संख्या में अपना काव्य लिखा था। उसके पीछे उनके लड़के ने अंतिम दस समयों को लिखकर उस ग्रंथ को पूरा किया। पीछे से और लोग उसमें अपनी रुचि अथवा आवश्यकता के अनुसार जोड़-तोड़ करते रहे। अंत में अकबर के समय में इसने एक प्रकार से परिवर्तित रूप धारण किया। ऐसी किंवदंती है कि अकबर ने इस प्रसिद्ध ग्रंथ को सुना था। उसके इस प्रकार उत्साह प्रदर्शन पर कहते हैं कि, उस समय रासो नामक अनेक ग्रंथों की रचना की गई। जो कुछ हो, नानूराम का कहना है कि असली पृथ्वीराज की प्रतिलिपि मेरे पास है। उसने महोबा समय की नकल महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री को दी थी। इस समय को उन्होंने अपनी रिपोर्ट में ज्यों-का-त्यों छाप दिया है। हम इसकी प्रतिलिपि नीचे देते हैं जिसमें यह विदित हो जाय कि जिसको असली रासो कहते हैं वह कैसा है—

दुहरा (दोहा)

मौहब राज चंदेल कर। वोहो बलवंत राजाँन।
पंचस दिष के प्रचंड। महावीर बलवाँन ॥१॥

छंद पद्धरी

मोहबे राज चंदेल किन। घामलां भाग बिसराम लीन।
आरंभ घावना किया संज। निरमला निरउन भाग भंज ॥२॥

तहाँ देष रूप दरषत अनूप। देषे बिसित सुगंद चूप।
नौ नौ प्रकास फुलवार रूप। आरंब षूबता देष भूप ॥३॥

मकान रच्यां च्यार घायला पूर। अत्यंत महा विकराल सूर।
अतीत राय अधमुत चहुँवाँन। लिंगरि चंड पंडिर नान ॥४॥

तिन पास च्यार षिज मत्त होय। तवि बाग बनाई धके जोय।
तहाँ माग मंझ परवेश कीन। सुलताँन मंझ सुगंद लीन ॥५॥

रहियत्त रूषवारो बागवान। देषे साँवत बरजे तमाम।
उतरो नहीं इत बाग माँहि। चंदेल राय कौ हुकम नाँहि ॥६॥

हम बागवान बर्जंत तोय। इन बाग मंझ उतरे न कोय।
इकहुँ सावंत बोलत बचन। मोमती बरज इक रह बरन ॥७॥

मोदी लिथाँन प्रथीराज भूप। सिँभरि सिंघ ना मोह दूत।
मोह सिह चाव चालत्त राह। उज्जार भाग कौ कराँ नाह ॥८॥

उतरे जहाँ बादल अवास। पुक्कार तोयता राय पास।
चालत नहीं दिन च्यार हेक। तुम राय जाय बल करभि सेप ॥९॥

तब बागवान उच्चरत वैन। उन दई बान कावल केन।
परसुनी गाल चहुवान कैंन। षग तोल सिस मेल्यो भवँन ॥१०॥

तब चलि मालनि करि पुकार। चंदेल राय राजा मँझार।
चंदेल राय तोय क्रियाद्। मोय समय मारकिनो विषाद ॥११॥

चंदेलराय उच्चरत अेम। मोहराज मँह कहोक केह केम।
अैसो जुकूँ बलवंत सुर। फुरमाय राय बोलब हजूर ॥१२॥

कहियत मालनि महरवाँन। चहुँवान वंस मैं दिलीथाँन।
मादल महल मे बसे जाय। षिजमत्तदार समुसियत धाय ॥१३॥

कर हुँकम राय पठाय दूत। पचि सूर के के हरिय कूंत।
चाले सुदूत भागन सदोव। जानंत एक सावंत मेव ॥१४॥

पठे सुजाय बागन मंझार। षिजमत्त धाव सावंत सार।
ललकार करन पच्चिसतांम। सुन उठे च्यार सावंत नाम ॥१५॥

धावता पूर अधभुत अपार। छोड़े बिसार षिजमत्तदार।
कर कोप कन बोले चहुवाँन। घिरकार तोय छत्रि प्रवाँन ॥१६॥

धादला हबरामिन कन्न। धिक्कार तोय भाता संमान।
मुज पास आव देहत्त वीर। जिवत्त जाय तुम जवां भीर ॥१७॥

धिक्कार तोय राजन समेत। तोय राय तेय सिर रेत रेत।
अब आव पासमोय करहु हत्थ। तुम संग किते छत्रि सुअत्थ ॥१८॥

षगतोल बोल चाँवड राय। पंडिर राय छत्रि सवाय।
लिङ्करि अंग बहोत्तरिय घाव। अतित राय संग्राम भाव ॥१९॥

सुवच्यार घाव को पे सवाय। समसेर आँन कर पंझलाय।
पच्चिस मार पच्चास पिठ। पच्चास मार इफ भाजरिठ ॥२०॥

इक सौ मार दोय सौ जुआाय। दोय सौ जो मार दस सत्त आय।
राय संग लोक उचारे हजार। पीछले लोक को कौन पार ॥२१॥

संग्राम मंडेपुर मंझार। सांवत फौज पर षाग झार ॥२२॥

चौपई

एक पहुर में साँवत सारे। लोक हजार पाँच तहँ मारे।
ये सांवत पृथिराज पियारे। केते ईंदल सँकर बुहारे ॥२३॥

मारे लोक हजार अठारा। उमय हूर इकबीस सिंगारा।
दोउ घरिअ पच्छिसूँ पूँगे। धूम ध्यान के चुषट पुग्गे ॥२४॥

तापिछ लोक च्यार दस मारे। पिछले पहुर पचास सिगारे।
तब दल थंभ चंदेल जुहारे। साँवत युगे महल मंझारे ॥२५॥

महलन मध्ये घाव सिवाये। फते २ कर सांमत आये।

कवत (छप्पय)

लूटन नगर मौहबो आँन चहुँवान दी रायत।
मोह चित्त आंनन्द जित चहुँवान न पावत॥

षुलरे चहुंवाँन जान करब अरुपडव।
सिरजीत अप्रबल मारि जिसे नव षंडव॥

घिन साँवत मनुसूर समद से नर पड हंके।
मझदेश मारवि नाँव सँमर सूं सूके॥
चक्रवंत चहुँवाँन तास घर छवि इधक नर।
सिष्ट सितसा पुरस भव मे राजन् इमस भर॥

मोहौब मझार संग्राम सुध इधक इधक जस जस उचर।
साँवत इस प्रथिराजरा भरदाय चंद किरतकर ॥२६॥

दोहरा (दोहा)

सुनिह बात भ्रातन द्रिगत उपकरत अम्भेर।
मांनूं क्रोध मे कोप कर कर में कर समसेर ॥२७॥

छंद जात भुजंगी

सिर कोपियो राय चंदेल भ्रांत। लंघुभ्रत फिमिर चाले सुराँत॥
अस बंस छतीस संग्राम सुरं। महा भूप साथे मुगटं हजूरं ॥२८॥

तहं संग सूर असुरं अपारं। महाभारथि अेम सासूर भारं।
तिहँ जात कुल नाम साँवत होई। मह म्रकट नरमिरम ताल जोई ॥२९॥

तहं जुद्ध संग्राम सांवत प्रवान । येहि यौह मलिरना कौन ज्यांन ।
तिह मारषग्गं करूं टूक टुक्कं । नहिं औरकं मरि ना नाह ढक्कं ॥३०॥
अनि क्रोध कं कोप फौजां चालं । जिमि इंद्र घटान सावन कलानं ।
अगलान पानि पिछलान कोय । तिह मंन संग्राम भारत्थ जोय ॥३१॥
तह चलिय मालहे माल डंडे । तहाँ मार बलवाँन किय षंड षंडे ।
असि भिद्ध फौज चलाई तहारं । तपे जो मना जोर सौहाल झारं ॥३२॥
तिह मोहोब बान कब्बान कस्ते । षगब्बार तो वार सोभा रसस्ते ।
हस्ती घूमते चले फौजान मध्धं । तुरि पीठ पाषर कसे तेग बध्धं ॥३३॥
यहि विधना फौज सावंत घेरे । तहं लोक महलन को और दौरे ।
तिह राय नोनंम भारत्थ होई । महा भीर बलवांन मरिया न सोई ॥३४॥
महलां मंझ सांवत निचत्त सोही । मानों डरे नासक्त नासं महोही ।
तब उच्चरे भने भारत्थ रायं । लघुभ्रात कुंजीत कहां दिस जायं ॥३५॥
तुजे मार षंगा धरा टूक डारे । मेरे भ्रांत निपंच दस सीस सिरे ।
असावान जवान भारत्थ उचारे । तुम लोक हजार पचास मारे ॥३६॥
असा कौन बलवान मोय थान आवे । तुजे धावना भ्रांत भवना सिवावे ।
तुज सामने मुझ सों पाव मंडं । तुज मार पगां करु षंड षंडं ॥३७॥
असो कौन बलवांन तुम कौन सूरं । तुम किसे न पास छत्री हजूरं ।
बक बोल साँवंत बयने उचारं । मुझ राय चहुवाँन नासूर भारं ॥३८॥
मैहथा नहि दांन दिल्ली हजूरी । प्रथी राजरि पास षिजमत पूरि ।
तहां षरारे महा बैन बोले । मैहे ता सरूपं षर्ग तोले ॥३९॥
तब होय साँवंत क्रोधं अपारं । करे तोलवे चंद्र वेदे त्रिवारं ।
पग मेटिये घाव अवतार तेनं । तहाँ जुद्ध संग्राम नाकोड मंडनं ॥४०॥
दल सांम हहालिया सूरभिरं । मनु आप संग्राम सांवंत घिरं ।
तिह मार साँवंत अनन्न तोले । हहक्कार हक्कर झक्कार बोले ॥४१॥
दले ऊलटे अेम साँवंत आरं । तहां मार संग्राम साँवंत जोरं ।
तबे चालिये वांन प्रवाँन बेनं । जिनू सामै है च्यार साँवंत मेनं ॥४२॥
दले टुक्क टुक्कं तिहां षाग झाटं । तहां चंड पंडिर चाले निहाटं ।
वहे च्यार तरवार एके सीरिसि । इमे राय चहुवाँन अतीत सौसि ॥४३॥

महा जुध्ध होषे संग्राम सूरं । तहां झुषिये आन आजेक सूरं ।
तहां सामिये कौन ना मिर ढक्कं । महा भारथि तास कै कंठ सुक्कं ।।४४।।

तनंगा आला बहु जुद्ध जियं । वहे फूल धारा मंनु बीज दीपं ।
तां समिय सूर अन्नेक हारे । यना च्यार खर्ब बहु लोक मारे ।।४५।।

बहे रक्त नाला न दिजे मनिरं । भये जोगनि सह त्रपत्र त्रमिरं ।
परे सुर गयेंद सानेक वारि । सबे च्यार समसी सन्न्यास मारि ।।४६।।

देषे सुरना हाथ भारत्थराई । तये राय नौ लोक भागे न जाई ।
जिनु मार षग्गां समे दल्ल ढायौ । अनुजस सामंत चंदेल गायौ ।।४७।।

पृथ्वीराजरासो का यह सन्दर्भ कहाँ तक असली है इसके विषय में कुछ कहना बड़ा कठिन है । यह नहीं बताया गया है कि यह असली रासो कागज, भोजपत्र अथवा किस चीज पर लिखा है, उसमें कोई लिपिकाल दिया है या नहीं और उसके अक्षर कैसे हैं । फिर महोबा समय की भाषा-शैली तथा शब्द-प्रयोगों को देखकर बहुत सन्देह होता है । फिर यह भी बात विचारणीय है कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने पृथ्वीराजरासो का जो संस्करण निकाला है उसमें महोबा समय को सन्दिग्ध बताया गया है—उसके चन्द के लिखे हुए या उसके आधार पर पुनः संकलित होने में सन्देह प्रकट किया गया है । बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में दो खण्डों में पृथ्वीराजरासो की एक प्रति है - उसकी पुष्पिका में उसका रचयिता चन्द बताया गया है । पर इस प्रति में और काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित प्रति में आकाश-पाताल का अन्तर है । एक खण्ड में महोबा युद्ध का वर्णन है और दूसरे खण्ड में संयोगिता-स्वयंवर क कथा है । पहले खण्ड को काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने परमालरासो के नाम से प्रकाशित किया है । दूसरे खण्ड का नाम पंगरासो रखा गया है, पर वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ । सारांश यह है कि अभी तक असली रासो का ठीक-ठीक पता नहीं लगा है । जो ग्रन्थ पृथ्वीराजरासो के नाम से प्रसिद्ध माना जाता है, उसमें प्रक्षिप्त अंश बहुत है और उसमें से असली अंश को अलग करना बहुत कठिन है । फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उसमें प्राचीन छंद वर्तमान हैं और उन्हें असली रासो का अंश मानना ठीक होगा । सबसे प्राचीन प्रति जो इसी ग्रन्थ की लिखी मिली है उसका लिपिकाल सम्वत् 1642 है ।

4. **भट्ट केदार, मधुकर कवि** (सम्वत् 1224-1243)—जिस प्रकार चन्दबरदाई ने महाराज पृथ्वीराज का कीर्तिगान किया है उसी प्रकार भट्ट

केदार ने कन्नौज के सम्राट् जयचन्द का गुण गाया है। रासो में चन्द और भट्ट केदार ने 'जयचन्द प्रकाश' नाम का एक महाकाव्य लिखा जिसमें महाराज जयचन्द के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन था। इसी प्रकार का 'जयमयंक जस चन्द्रिका' नामक एक बड़ा ग्रन्थ मधुकर कवि ने भी लिखा था। पर दुर्भाग्य से ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। केवल इनका उल्लेख सिघायच दयालदास कृत 'राठौड़ाँरी ख्यात' में मिलता है जो बीकानेर के राज पुस्तक भांडार में सुरक्षित है। इस ख्यात में लिखा है कि दयालदास ने आदि से लेकर कन्नौज तक का वृत्तान्त इन्हीं दोनों ग्रंथों के आधार पर लिखा है।

इतिहासज्ञ इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तर भारत के दो प्रधान साम्राज्य थे। एक तो गहरवारों (राठौरों) का विशाल साम्राज्य जिसकी राजधानी कन्नौज थी और जिसके अन्तर्गत प्रायः सारा मध्यप्रदेश काशी से कन्नौज तक था और दूसरा चौहानों का जिसकी राजधानी दिल्ली थी और जिसके अन्तर्गत दिल्ली से अजमेर तक का पश्चिमी प्रान्त था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों में गहरवारों का साम्राज्य अधिक विस्तृत, धन-धान्य सम्पन्न और देश के प्रधान भाग पर था। गहरवारों को दो राजधानियाँ थीं—कन्नौज और काशी। इसी से कन्नौज के गहरवार राजा काशिराज कहलाते थे। जिस प्रकार पृथ्वीराज का प्रभाव बुन्देलखण्ड के राजाओं पर था। कालिंजर या महोवे के चन्देल राजा परमर्दिदेव (परमाल) जयचन्द के मित्र या सामन्त थे जिसके कारण पृथ्वीराज ने उन पर चढ़ाई की थी। चन्देल कन्नौज के पक्ष में दिल्ली के चौहान पृथ्वीराज से बराबर लड़ते रहे।

5. जगनिक (सं० 1230)—ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होंने महोवे के दो देश-प्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह) के वीर चरित का बिस्तृत वर्णन एक वीर गीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था जो इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीर गीतों का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरी भारत में—विशेषतः उन सब प्रदेशों में जो कन्नौज साम्राज्य के अन्तर्गत थे—हो गया। जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी भाषी प्रान्तों के गाँव-गाँव में सुनाई पड़ते हैं। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और बरसात में गाये जाते हैं। गाँव में जाकर देखिये तो मेघ-गर्जन के बीच में किसी अल्हैत के ढोल के गम्भीर घोष के साथ यह वीर हुंकार सुनाई देगी—

बारह बरिस लै कूकर जीऐं, और तेरह लै जीऐं सियार।
बरिस अठारह छत्री जीऐं, आगे जीवन के धिक्कार।।

इस प्रकार पुस्तक के साहित्यिक रूप में न रहने पर भी जनता के कण्ठ में जगनिक के संगीत की वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि अनेक बल खाती हुई अब तक चली आ रही है। इस दीर्घकालीन यात्रा में उसका बहुत कुछ कलेवर बदल गया है। देश और काल के अनुसार भाषा में ही परिवर्तन नहीं हुआ है, वस्तु में भी बहुत अधिक परिवर्तन होता आया है। बहुत-से नये अस्त्रों (जैसे बंदूक, किरिच), देशों और जातियों (जैसे फिरंगी) के नाम सम्मिलित हो गये हैं और बराबर होते जाते हैं। यदि यह ग्रन्थ साहित्यिक प्रबन्ध-पद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं-न-कहीं राजकीय पुस्तकालयों में इसकी कोई प्रति रक्षित मिलती। पर यह गाने के लिये ही रचा गया था इससे पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढ़े, जनता ही के बीच इसकी गूँज बनी रही—पर यह गूँज मात्र है, मूल शब्द नहीं। आल्हा का प्रचार यों तो सारे उत्तर भारत में है पर बैसवाड़ा इसका केन्द्र माना जाता है। वहाँ इसके गाने वाले बहुत अधिक मिलते हैं। बुन्देलखण्ड में—विशेषत: महोबे के आस-पास—भी इसका चलन बहुत है।

इन गीतों के समुच्चय को सर्वसाधारण 'आल्हा खण्ड' कहते हैं, जिससे अनुमान होता है कि आल्हा खण्ड सम्बन्धी ये वीर गीत जगनिक के रचे उस बड़े काव्य के एक खण्ड के अन्तर्गत थे जो चन्देलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया होगा। आल्हा और ऊदल परमाल के सामन्त थे और बनाफर शाखा के क्षत्रिय थे। इन गीतों का एक संग्रह 'आल्हाखण्ड' के नाम से छपा है। फर्रूखाबाद के तत्कालीन कलेक्टर मि० चार्ल्स इलियर ने पहले-पहल इन गीतों का संग्रह करके 60–70 वर्ष पूर्व छपवाया था।

6. **शारंगधर** (सं० 1353 के लगभग)—महाराज पृथ्वीराज के मारे जाने पर शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज को अपनी अधीनता स्वीकार कराके अजमेर की गद्दी पर बिठाया। महाराज पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करने के कारण गोविन्दराज से अजमेर छीन लिया जिससे वे रणथम्भौर चले आये और वहाँ राज्य स्थापित किया। इन्हीं गोविन्दराज के वंशज सुप्रसिद्ध वीर हम्मीरदेव हुए जो मुसलमानों से बराबर लड़ते रहे और अन्त में सं० 1358 ई० में अलाउद्दीन की दूसरी चढ़ाई में मारे गये। पहली चढ़ाई अलाउद्दीन ने 1357 में की थी जिसमें उसे हार खाकर

भागना पड़ा था। हम्मीर अपना वंश-परम्परागत साम्राज्य मुसलमानों से छीनने का बराबर प्रयत्न करते रहे जिससे उन्हें बहुत लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं और उनकी वीरता के फुटकर पद्य देश में चारों ओर उनके समय में ही फैल गये थे। प्राकृत पिंगल सूत्र में अपभ्रंश के ऐसे बहुत-से पद्य छन्दों के उदाहरण में उद्धृत मिलते हैं—

> को हे चलिअ हम्मीर वीर गअजुह संजुत्ते।
> किअड कट्ठ ता कन्द मुच्छि मेच्छिय के पुत्ते[1] ॥
>
> हम्मीर वीर जब रण चलिआ तुरअ तुरअति जुज्झिया।
> अघ पर णाहि बुज्झिया ॥

ये फुटकर पद्य अवश्य किसी अपभ्रंश के बड़े काव्य के अंश जान पड़ते हैं जिसमें हम्मीर की वीरता का विस्तृत वृत्त रहा होगा।

नयचंद सूरि ने 'हम्मीर महाकाव्य' नाम का वृहद् ग्रंथ संस्कृत में लिखा है। इसी प्रकार शारंगधर के नाम से भी हमीररासो और हम्मीर काव्य के नाम से दो भाषा काव्य ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। पर आजकल जो हम्मीररासो नाम की पुस्तक मिलती है वह पीछे की रचना है, समकालीन नहीं। यदि शारंगधर हम्मीर के दरबारी कवि थे और उन्होंने संवत् 1357 में हम्मीर काव्य या हम्मीर रासो की रचना की थी तो ऊपर उद्धृत पद्य संभवतः उन्हीं ग्रन्थों में से किसी एक के होंगे।

7. **नल्लसिंह भट्ट** (सं० 1355)—इनका विजयपालरासो नाम का एक ग्रंथ मिला है जिसमें संवत् 1093 ई० में वर्तमान करौली के विजयपाल नामक राजा के युद्धों का वर्णन है। इस ग्रंथ की भाषा प्राकृत-अपभ्रंश मिली हुई है।

मोटे हिसाब से वीरगाथा काल महाराज हम्मीर के समय तक ही समझना चाहिए। उसके उपरान्त मुसलमानों का साम्राज्य भारत में स्थिर हो गया और हिन्दू राजाओं को न तो आपस में लड़ने का उतना उत्साह रहा, न मुसलमानों से। जनता की चित्तवृत्ति बदलने लगी और विचारधारा दूसरी ओर चली। मुसलमानों के न जमने तक तो उन्हें हटाकर अपने धर्म की रक्षा का वीर प्रयत्न होता रहा, पर मुसलमानों के जम जाने पर अपने धर्म के इस व्यापक और

---

1. मूर्च्छित होकर म्लेच्छों के पुत्रों ने।

हृदय ग्राह्य रूप के प्रचार की ओर ध्यान हुआ जो सारी जनता को आकर्षित रखे और धर्म से विचलित न होने दे।

इस प्रकार की स्थिति के साथ-ही-साथ भावों तथा विचारों में भी परिवर्तन हो गया, पर इससे यह न समझना चाहिए कि हम्मीर के पीछे किसी वीर काव्य की रचना ही नहीं हुई। समय-समय पर इस प्रकार के अनेक काव्य लिखे गये। हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक विशेषता यह भी रही है कि एक विशिष्ट काल में काव्य-सरिता जिस रूप में वेग से प्रवाहित हुई वह यद्यपि आगे चलकर मन्द गति से बहने लगी, पर 800 वर्षों के हिन्दी-साहित्य के इतिहास में हम उसे कभी भी सर्वथा सूखी हुई नहीं पाते।

(1929, नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग 9, पृ० 17-45)

———

हिन्दी का आदि कवि

आजकल प्राय: सभी प्राचीन विषयों के अनुसन्धान की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो रहा है और प्राय: सभी पढ़े-लिखे लोग इन विषयों में अपना अनुराग प्रकट करते हैं। इसलिए ऐसे अवसर पर हिन्दी भाषा का, जो इस समय उन्नति के चिह्न दिखा रही और अपनी ओर लोगों को आकर्षित कर रही है, कुछ तत्त्वानुसन्धान करना कदाचित् अनुपयुक्त न हो।

यह बात सर्वसम्मत है कि ईस्वी सन् 250 वर्ष पहले भारतवर्ष के उत्तर में एक भाषा बोली जाती थी जिसकी उत्पत्ति प्राचीनकाल की वैदिक संस्कृत से हुई और जो समय पाकर नित्य-प्रति के व्यवहार की साधारण भाषा हो गई। इस भाषा का नाम प्राकृत था। इसके साथ-ही-साथ एक दूसरी परिष्कृत और संस्कारयुक्त भाषा का पढ़े-लिखे लोगों में प्रचार था। यह संस्कृत नाम से प्रसिद्ध थी और अब तक उसी नाम से प्रसिद्ध है।

इस प्राकृत भाषा में ही राजा अशोक के आज्ञापत्र जो अब तक चट्टानों पर खुदे हुए पाये जाते हैं, लिखे हुए हैं। उनके देखने और अध्ययन करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि उस समय प्राकृत भाषा दो मुख्य भागों में विभक्त थी—एक पश्चिमी और दूसरी पूर्वी। पश्चिमी प्राकृत का दूसरा नाम शौरसेनी था। इससे गुर्जरी, अवन्ती, शौरसेनी और महाराष्ट्री इन भाषाओं की उत्पत्ति हुई। इस शौरसेनी से ही हमारी हिन्दी भाषा ने जन्म ग्रहण किया पर यह जन्म किस वर्ष में हुआ इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। शिवसिंह सरोज के अनुसार तो हिन्दी का आदि कवि पुष्प है पर न तो उसके किसी ग्रन्थ का और न उसकी भाषा का ही कहीं कुछ पता लगता है। दूसरा ग्रन्थ खुमान रासा है जो सन् 830 में लिखा गया था पर इस ग्रंथ की जो प्रतियाँ अब विद्यमान हैं उनमें महाराणा प्रताप सिंह का भी वृत्तान्त सम्मिलित है जिससे यह मानना पड़ता है कि इसकी भाषा, जैसा कि अब यह वर्तमान है नौवीं शताब्दी की नहीं मानी जा सकती। तीसरा प्रसिद्ध कवि जिसके विषय में हमें कुछ वास्तविक वृत्तांत विदित है, चन्दबरदाई है। इसने एक ऐसी भाषा में ग्रन्थ लिखा है जो प्राकृत के अंतिम रूप और हिन्दी के आदि रूप से बहुत-कुछ मिलती है। इससे यह सिद्धान्त होता है कि उस समय भाषा का रूपान्तर हो रहा था। इसके अतिरिक्त प्राकृत का

अन्तिम वैयाकरण हेमचन्द भी 1150 के लगभग वर्तमान था। इसलिए जहाँ तक अभी पता चला है, चन्द को ही हिन्दी का आदि कवि मानना पड़ता है और हिन्दी भाषा की उत्पत्ति का काल 11वीं शताब्दी नियत करना पड़ता है। यदि अनुसन्धान करने पर और ग्रन्थों का पता लग गया तो इस मत को छोड़ना पड़ेगा परन्तु जब तक यह न हो, इसी सिद्धान्त को स्थिर मानना चाहिए।

अस्तु, चन्दबरदाई का नाम हिन्दी और ऐतिहासिक समाज में प्रसिद्ध है—यह लाहौर का रहने वाला था और अन्तिम हिन्दूपति पृथ्वीराज चौहान का राज्य कवि और प्रधानमन्त्री था। ऐसा कहा जाता है कि जिस दिन पृथ्वीराज का जन्म हुआ उसी दिन चन्द भी जनमा और दोनों एक साथ ही परलोक को भी सिधारे।

पृथ्वीराज का नाम भारतवर्ष के इतिहास में सदा स्मरणीय बना रहेगा। हिन्दू राज्य का अन्त इसी के साथ हुआ। आपस की कलह और परस्पर के वैर-विरोध ने भारतवर्ष का नाश किया। पृथ्वीराज सोमेश्वरराज का पुत्र था—सोमेश्वर-राज का विवाह दिल्ली के राजा अनंगपाल की कन्या से हुआ। अनंगपाल को कोई पुत्र न होने के कारण उसने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लिया। इससे अजमेर और दिल्ली का राज्य एक हो गया। यह बात कन्नौज के राजा जयचन्द को न भायी क्योंकि वह कहता था कि दिल्ली के सिंहासन पर मुझे बैठना चाहिए न कि पृथ्वीराज को। निदान इसी डाह और ईर्ष्या में पड़कर जयचन्द ने राजसूय यज्ञ किया और भिन्न-भिन्न स्थानों के राजाओं को यज्ञ का सब कार्य करने के लिए नेवता भेजा। पृथ्वीराज भी निमंत्रित हुए पर उन्होंने जयचन्द के घर आकर दास कृत्य करना स्वीकार नहीं किया। जयचन्द ने अपनी कन्या का स्वयंवर भी इन दिनों में रच दिया कि जिसमें उसके पाणिग्रहण की आकांक्षा से अनेक राजे आवें। पृथ्वीराज से और जयचन्द की इस कन्या से आंतरिक प्रेम था पर इन सब बातों के होते हुए भी पृथ्वीराज उस यज्ञ में न गया। हाँ, वह छिपा हुआ कन्नौज पहुँच गया कि जिसमें समय पर अपना काम करके चलता बने। जयचंद ने जब यह देखा कि सब राजे तो आये पर पृथ्वीराज नहीं आया तो उसे बड़ा क्रोध आया और उसने पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति बनवाकर द्वार पर रखवा दी। ऐसा करने से इसका आशय यह प्रकट करने का था कि यद्यपि पृथ्वीराज नहीं आया पर उसकी प्रतिष्ठा ऐसी है कि वह आकर इस यज्ञ के समय द्वारपाल का काम करता। निदान जब स्वयंवर का समय आया तो जयचन्द की कन्या जयमाल लेकर निकली। सब राजाओं को देखते-देखते उसने अन्त में आकर

पृथ्वीराज की स्वर्ण-प्रतिमा के गले में माला डाल दी और इस प्रकार अपने गाढ़ तथा गूढ़ प्रेम का पूर्ण परिचय दिया। पृथ्वीराज तो कन्नौज में पहले से ही उपस्थित था। चट अवसर पाकर उसी समय वहाँ आ पहुँचा और घोड़े पर अपनी प्राण प्यारी को बैठा दिल्ली की ओर भाग चला। जयचंद ने बहुत-कुछ उद्योग किया, सेना भी पीछे दौड़ायी पर पृथ्वीराज किसी के हाथ न आया। यह अप्रतिष्ठा जयचंद न सह सका पर अकेला कुछ कर भी नहीं सकता था इसलिए उसने अफगानिस्तान के अधिपति शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी को कहला भेजा कि यह समय है कि तुम दिल्ली पर आक्रमण करो, मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। इन यवनों को अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए बहाना ढूँढ़ निकालना कोई बड़ी बात है ही नहीं। शहाबुद्दीन एक नवयौवना सुन्दरी पर आसक्त था पर वह उसे नहीं चाहती थी। शहाबुद्दीन के उसे और उसके प्रेमी को बहुत दिक्क करने पर वे दोनों भाग कर पृथ्वीराज के पास चले आये और उससे शरण माँगी। उस समय तक हिन्दुओं में इतनी वीरता और इतना आतिथ्य धर्म वर्तमान था कि शरणागत के साथ कभी विश्वासघात न करके सदा उसकी रक्षा करते थे। जब शहाबुद्दीन को यह प्रकट हुआ तो उसने पृथ्वीराज को कहला भेजा कि वह उस स्त्री और उसके प्रेमी को अपने देश से निकाल दे। पृथ्वीराज ने यह उत्तर भेजा कि शरणागत की रक्षा करना मेरा धर्म है, उन्हें निकालना तो दूर रहा मैं सदा उनकी रक्षा करूँगा। बस, अब क्या था, शहाबुद्दीन दिल्ली पर चढ़ दौड़ा। कई युद्ध हुए जिनका वर्णन पढ़कर इस समय भी हिन्दू-हृदय रोमांचित और वीर रस पूर्ण हो जाता है। निदान अन्तिम युद्ध में पृथ्वीराज पकड़े गये और गोर ले जाकर वहाँ मारे गये। साथ ही चंदवरदाई भी इस संसार को छोड़ परलोक में भी अपने स्वामी का साथ देने गया।

इन्हीं कथित ऐतिहासिक घटनाओं का चन्द ने अपने पृथ्वीराजरासो नामक प्रसिद्ध ग्रंथ में वर्णन किया है। हिन्दी भाषा में यह ग्रंथ अपनी समता नहीं रखता पर जब इस अमूल्य रत्न पर भी लोग बिना समझे-बूझे अथवा ईर्ष्या वा द्वेष से आक्षेप करने बैठते हैं तो हृदय को दुःख होता है। अभी नागरी प्रचारिणी सभा के अधिवेशन में जोधपुर के मुन्शी देवीप्रसाद का एक लेख पढ़ा गया था जिसमें उन्होंने पृथ्वीराजरासो का खंडन किया था। मुझे इस बात के लिखते बड़ा दुःख है कि मैं एक बात में भी मुन्शी देवीप्रसाद से सहमत नहीं हो सकता। सबसे पहले इस रासो का खंडन उदयपुर के कविराजा श्यामलदास जी ने किया था, उनके पीछे तो हिन्दू भेड़ियाधसान की उक्ति के अनुसार सब लोग

वही राग अलापने लगे। किसी ने यह न सोचा कि वास्तव में क्या बात है, उसका पता लगावें। अस्तु, कविराजा श्यामलदास जी का कथन था कि रासो में जितने संवत् दिये हैं, सब झूठे हैं। इसी बात को मुन्शी देवीप्रसाद भी कहते हैं। आज इस लेख द्वारा हम यह दिखाना चाहते हैं कि पृथ्वीराजरासो के संवत् झूठे नहीं हैं पर सब ठीक हैं—यह लोगों का भ्रम है कि उनको ऐसा समझते हैं।

पृथ्वीराज का राजत्वकाल तीन मुख्य घटनाओं के लिए प्रसिद्ध है (1) पृथ्वीराज और जयचंद का युद्ध (2) कालिञ्जर के परमर्दिदेव का पराजय (3) और शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज का युद्ध जिसमें पृथ्वीराज बंदी बने और अंत में मारे गये। इस स्थान पर यह उचित होगा कि पृथ्वीराज, जयचंद, परमर्दिदेव और शहाबुद्दीन का समय ठीक-ठीक जान लिया जाय और इस बात का निर्णय दानपत्रों और शिलालेखों से हो तो अति ही उत्तम है क्योंकि उनसे बढ़कर दूसरा कोई विश्वासदायक मार्ग इस बात के जानने का नहीं है।

(1) अब तक ऐसे चार दानपत्रों और शिलालेखों का पता लगता है जिन पर पृथ्वीराज का नाम पाया जाता है। इनका समय विक्रम सं० 1224 और 1244 के बीच में है।

(2) जयचंद के संबंध के 12 दानपत्रों का पता लगा है। इनमें दो पर जो विक्रम संवत् 1224 और 1225 के हैं इसे युवराज करके लिखा है। शेष दस पर महाराजाधिराज जयचन्द यह नाम लिखा है। इनका समय विक्रम संवत् 1226 से 1243 के बीच में है।

(3) कालिंजर के राजा परमर्दिदेव के जिनको पृथ्वीराज ने पराजित किया था, 6 दानपत्र और शिलालेख वर्तमान हैं, जिनका समय वि० सं० 1223 से 1258 तक है। इनमें से एक पर जो वि० संवत् 1239 का खुदा हुआ है पृथ्वीराज और परमर्दिदेव के युद्ध का वर्णन है।

(4) शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी का समय फारसी के इतिहासों से सिद्ध है और उसके विषय में किसी का मतभेद नहीं है। मेजर रेवर्टी "तवकाते नासरी" के अनुवाद के पृ० 456 में लिखते हैं कि "587 हि० (ईस्वी 1190) में उन सब ग्रंथकारों के अनुसार जिनसे मैं उद्धृत कर रहा हूँ तथा अन्य अनेक ग्रंथकारों के अनुसार जिनमें इस ग्रंथ का कर्त्ता भी सम्मिलित है, राय पिथौरा के साथ (शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी का) पहिला युद्ध हुआ और उसका दूसरा युद्ध जिसमें राय पिथौरा पराजित हुआ और (मुसमान लेखकों के अनुसार) मारा गया निस्संदेह हिजरी सन् 588 (ईस्वी 1191, विक्रम 1248) में हुआ।"

ऊपर जिन सन्-संवतों का वर्णन किया जा चुका है वे पृथ्वीराज, जयचंद और परमर्दिदेव के दानपत्रों और शिलालेखों से लिये गये हैं और एक-दूसरे को शुद्ध और प्रामाणिक सिद्ध करते हैं। निदान इन सबसे अब यह सिद्धांत निकलता है कि पृथ्वीराज विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध और ईस्वी बारहवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में जीवित था और उसका अंतिम युद्ध वि० सं० 1248 (ई० 1191) में हुआ।

जिन शिलालेखों का ऊपर उल्लेख हो चुका है उनके अतिरिक्त अर्णोराज और सोमेश्वर के भी शिलालेख और दानपत्रादि मिलते हैं जो ऊपर दिये हुए सन्-संवतों की प्रामाणिकता और ऐतिहासिक सत्यता को सिद्ध करते हैं।

अब हम रासो के सन्-संवतों पर विचार करेंगे। चार भिन्न-भिन्न संवतों पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि वे अन्य इतिहासों में दिये हुए संवतों से कहाँ तक मिलते हैं। चन्द ने पृथ्वीराज का जन्म-काल सं० 1115 में और शहाबुद्दीन के साथ युद्ध 1158 में लिखता है। तबकाते नासरी में अंतिम युद्ध का समय, जिसमें पृथ्वीराज पराजित हुआ और बंदी बनाया गया, हिजरी 588 दिया है। अब यदि 1248 में से 1158 बाकी निकाल दिया जाय तो 90 बाकी बचता है। इसके अतिरिक्त इन चार भिन्न-भिन्न अवसरों पर पृथ्वीराज के वयक्रम का हम ध्यान करें तो यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त घटनाएँ 1205, 1212, 1241, और 1248 में हुई न कि 1115, 1122, 1151 और 1158 में जैसा कि रासो में दिया है—यह भेद नीचे दिये हुए विवरण से स्पष्ट हो जायगा—

घटनाएँ	रासो का संवत्	पृथ्वीराज की उस समय वय	अन्य पुस्तकों का ठीक सं०	अन्तर
जन्म	1115-16	0	1205-6	90-91
गोद जाना	1122-23	7	1212-13	90-91
कन्नौज गमन	1151-52	36	1241-42	90-91
अंतिम युद्ध	1158-59	43	1248 49	90-91

अब यदि प्रत्येक घटना के संवत् में पृथ्वीराज के जीवन के शेष वर्ष जोड़

दिये जायँ तो सबका समय 1248 हो जाता है। जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि चंद ने अपनी पुस्तक में 90-91 की भूल की है परन्तु सब स्थानों में समभेद का रहना भूल की गिनती में नहीं आ सकता। चंद ने 90 वर्ष का अन्तर अपने ग्रन्थ की वर्णित समस्त घटनाओं में क्यों रखा इसका कोई उपयुक्त कारण अवश्य होगा।

हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों के अनुसंधान में मुझे पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या से 9 प्राचीन परवानों और पट्टों की नकल मिली जिनका सम्बन्ध रासो में वर्णित घटनाओं से है। हम पहले इन परवानों और पट्टों की नकल और उनका अनुवाद देकर तब इनके विषय में कुछ कहेंगे।

(1)

(नकल)

स्वस्ती श्री श्री चीत्रकोट महाराजाधीराज तपेराज श्री श्री रावल जी श्री समरसी जी बचनातु दाअमा आचारज ठाकुर रूसीकेष कस्य थाने दलीसु डायजे लाया अणी राज में ओषद थारी लेवेगा ओषद ऊपरे मालकी थाकी है ओ जनता में थारा बँसरा टाल ओ दुजो जावेगा नहीं ओर थारी बैठक दली में ही जी प्रमाणे परधान बरोबर कारण रेवेगा ओर थारा बंस क सपूत कपूत वेगा जी ने गाम गोणो अणी राज में षाय्या पाय्या जायगा और थारा चाकर घोडा को नामो कोठार सू मला जायेगा और थूँ जमाखातरी रीजो मोई में राजथान बाद जो अणी परवाना री कोई उलंगण करेगा जी ने श्री एक लीग जी की आण हे।

दुबे पंचोली जानकीदास सं० ११३६ काती बदि ३।

[नकल]

स्वस्ति श्री चित्तौड़ से महाराजाधिराज तपेराज श्री रावल समरसिंह जी की आज्ञा से आचारज ठाकुर ऋषिकेश को लिखा। हम तुम्हें दिल्ली से दहेज में लाए। इस राज में तुम्हारी औषधि ली जायगी और राज्य के औषधि विभाग पर तुम्हारा अधिकार रहेगा। जनाने में तुम्हारे वंस के लोगों को छोड़ दूसरा न जायगा। दर्बार में तुम्हारा स्थान, जैसा कि दिल्ली में मंत्री के निकट था, रहेगा, तुम्हारे वंशज चाहे कपूत या सपूत हों गांव और घोड़ा पावेंगे और उन्हें भोगेंगे और तुम्हारे नौकरों और घोड़ों के लिए राज्य से प्रबंध होगा। निश्चय रक्खो, मोई ग्राम में घर बनवाओ। इस परवाने को कोई उल्लंघन न करे क्योंकि इसमें श्री एकलिंग जी की आन है। दूबे पंचोली जानकीदास द्वारा सं० 1139 मिति कार्तिक बदि 3 को लिखा गया।

---

(2)

स्वस्ती श्री उदैर्यु सुथाने महाराजाधिराज महाराणा श्री भीमसीघ जी आदेसातु आचारज संबुसीव सदासीव राकस्य अप्रं थां तीरे महारावल जी श्री समरसी जी की सही को पंवानों पंचोली जानकीदास के दुबे वीय्यो संवत ११३९ काती बदि 3 की मती को आचारज ठाकर रूसीकेस का नाम कोदली थी राजा प्रथीराजी कना थी डाय्यचे लाय्या जीरो परवानों कं बगस्यो जीमे लीषी हे के अणी राज में ओषद थारी लेवेगा ओषद ऊपरे मालकी थाकी है और जनाना में थारा बंसरा टाल ओ दूजो जावेगा नहीं ओर थारी बेठक दली में ही जी प्रमाणे परधान बरोबर कारण रेवेगा और थारा बंस का सपुत कपुत वेगा जी ने गाम गोडो अणी राज में षाय्या पाय्या जायेगा ओर थारा चाकर गोड़ा को नामो कोठार सों मल्या जायेगा ओर थु जमा षात्री रीजो मोई मे राजथान वांद जो अणी प्रवाना हे कोई ऊलंगण करेगा जी ने श्री येक लिंग की आण हे········ पखानगी पाडेरी येकलीग दास संमत १८५८ वर्षे जे० सुद ३ गुरे।

(अनुवाद)

स्वस्ति श्री उदयपुर सुथाने महाराजाधिराज श्री भीमसिह जी की आज्ञा से सदासिव के पुत्र आचारज संबुसीव को लिखा। आगे तुम्हारे पास महारावल जी श्री समरसी जी की सही का एक परवाना है जो पंचोली जानकीदास का सं० 1139 कार्तिक बदी 3 का आचारज ऋषीकेश के नाम का लिखा है जिसमें लिखा है कि दिल्ली के राजा पृथ्वीराज के यहाँ से तुम्हें दहेज में लाये। यह परवाना तुम्हारे पास था। बहुत जीर्ण हो जाने से एक नया हमने दिया। उसमें लिखा है कि इस राज में तुम्हारी औषधि ली जायगी। औषधि विभाग पर तुम्हारी मालकी रहेगी। जनाने में तुम्हारे बंसवालों को टाल और कोई नहीं जायगा—तुम्हारी बैठक जैसी कि दिल्ली में मन्त्री के निकट थी, यहाँ रहेगी और तुम्हारे कपूत या सपूत वंश वाले गाँव और घोड़ा पावें और भोगेंगे और तुम्हारे नौकर और घोड़े के लिए राज्य से प्रबन्ध होगा। तुम जमाखातरी रखना। मोई ग्राम में घर बनवाओ। कोई इस परवाने को उल्लंघन न करे क्योंकि इसमें एक-लिंग जी की आन है।

पानणी एकलिंग दास द्वारा सं० 1858 जेठ सुदी 3 बृहस्पतिवार को दिया गया।

(3)

पूर्व देश महीपति प्रथीराज दिल्ली नरेस सं० ११२२ वैसाख सुदी ३

(सही)

श्री श्री दलीनं मंहनं राजानं धीराजनं हदुसथानं राजधानं संभरी नरेस पुरब दली तषत श्री श्री महानं राजं धीगजनं श्री प्रथीराजी सुसथानं आचारज रुषीकेस धनांत्रिनं अप्रन तम को बाइ श्री प्रथु कवरन की साथ हतलेवे चीत्रकोट को दीया तुम्ह रा हक चहुवान के रन में साबित हे तुमारी ओलाद का सुपुत कपुत होगा जो चहान की पोल आवेगा जीन को भाई सी तरे समजेगा तुमारा कारंन नहीं गटेगा तुम जमषत्रि से बाई के आ तुमरी जो हुवे श्री मुख दुवे पंचोली हडमंराअ के संमंत ११४३ वषे आसाड सुद १३ ।

(अनुवाद)

श्री श्री दिल्ली स्थान से जो महाराजाधिराज पूर्वीय भारतवर्ष के साकम्भरी राजाओं की राजधानी है, श्री महाराजाधिराज पृथ्वीराज की आज्ञा से आचारज ऋषिकेश धन्वन्तरि को । आगे दहेज में तुमको श्री पृथु कुँआरि के साथ चित्रकोट (चित्तौर) दिया । चहुवान के राज्य में तुम्हारा हक साबित है और तुम्हारे वंशजों में से कपूत अथवा सपूत जो चहुवानों के द्वार आवेगा वह भाई माना जायगा । तुम्हारी प्रतिष्ठा नहीं घटेगी जमाखात्री से तुम बाई के यहाँ रहना । श्रीमुख दुवे पंचोली हडमंराय द्वारा सम्वत् 1143 मिती आषाढ़ सुदी 13 को दिया गया ।

(4)

श्री राम हरी

।। श्री ।। पूर्वदेश महीपति प्रथीराज दली नरेस सं० ११२२ बैसाख सुदि २

सही

श्री श्री दलीन महाराजनं धीगजं श्री श्री प्रथीराजंनं की आगना पोछे आचारज भ० रुषी केस नें चत्रकोट पोछे आहा श्री काकाजी नं महा······हुई छै सो षास रुको बांचने अहा हाजर बीजे संमत ११४५ चेत वदि ७ ।

(अनुवाद)

श्री श्री दिल्ली महाराजाधिराज महाराज श्री श्री पृथीराज की आज्ञा आचारजभाई ऋषिकेश को चित्रकोट (चित्तौर) पहुँचे । यहाँ काका जी को महा··· हुआ है सो इस खास रुक्के को बाँचते यहाँ चले आओ । सम्वत् 1145 मिती चेत वदी 7 ।

---

(5)

श्री हरी एकलिंगो जयति

|

श्री श्री चीत्रकोट बाई साहब श्री प्रथु कुंवर बाई का वारण गाम मोई आचारज भायी रुसीकेस जी बांच जो अप्रन श्री दली सूं भाइी लंगरी रा जी आ आ हैं जो श्री दलीं सूं बी हजूर को बी खास रुका आयो है जो मारो बी पदारवा की सीखवी है ने दली काका जी रे षेद है जो कागद बाचत चला आव जो थाने मा आगे जांणो पडेगा थांके वास्ते डाक बेठी है श्री हजूर······हुकम बी वेगीयो है जो थे ताकीद सूं आव जो थारे मंदर को व्याव का मारथ अबार करांगा दली सु आ आ पाछे करांगा ओ—रधे सवेरे दन अटे आंयसी सम्वत् ११······चेत सुदी १३ ।

(अनुवाद)

श्री श्री चित्रकोट (चित्तौर) से वाई साहिबा श्री प्रथा कुंवर बाई का बारण (प्रणाम) आचारज भाई ऋषिकेश जी मोई गाम में बांचे । आगे दिल्ली से भाई श्री लंगरी राई आये हैं और दिल्ली से श्री हजूर का भी खास रुका आया है और हमारे भी दिल्ली जाने की आज्ञा हो गई है । दिल्ली में काका जी को खेद है सो कागज बांचते चले आओ क्योकि तुम्हें हमारे आगे जाना पड़ेगा । तुम्हारे लिये डांक बैठी है । श्री हजूर का भी हुकुम हो गया है । इसलिये ताकीद से आओ । जो तुम्हारे मन्दिर की प्रतिष्ठा का मुहूर्त है सो दिल्ली से आने पर करेंगे । ऐसा करो कि सवेरा वहाँ हो और सन्ध्या यहाँ ।

सम्वत् 11······चेत सुदी 13 ।

(6)

श्री राम हरी

|| श्री ||
पूर्व देश महीपति प्रथीराज दली
नरेस संवत ११२२ वैसाख सुदि ३

सही

श्री श्री दली महाराजं धीराजंनं हिंदुसथानं राजधानं संभरी नरेस पुरब दली तषत श्री श्री महानं राजं धीराजंनं श्री प्रथीराजी सुसाथनं आचारज रुषीकेष धनंत्रि अप्रन तमने काका जीनं के दुवा की आरामं चओ जीन के रजिं मे राकड रुपीआ ५०००) तुमरे आहाती गोडे का षरचा सीवाअ आवेंगे षजानं से इनं को कोइी माफ करेंगे जीन को नेर को के अधंकारीं होवेंगे सइी दुवे हुकम के हउमंत राअ संमत ११४५ वर्षे असाड १३ सुदी।

(अनुवाद)

श्री श्री दिल्ली स्थान से जो महाराजाधिराज पूर्वीय भारतवर्ष के साकम्भरी राजाओं की राजधानी है, श्री महाराजाधिराज श्री पृथ्वीराज की आज्ञा से आचारज ऋषीकेश धन्वन्तरि को आगे तुमने काका जी को दवा से आराम किया जिसके पुरस्कार में 5000) नगद और हाथी घोड़ा खरचे सहित खजाने से जायगा। जो कोई इसे न होने देगा वह नरक का अधिकारी होगा। हउमंतराय ने आज्ञा से सं० 1145 मिती आषाढ़ सुदी 13 को लिखा।

(7)

सही

श्री श्री चीत्रकोट महाराजाधीराज महाराज तपेराज श्री रावर जी श्री श्री समरसी जी वचनातु दाअमा आचारज ठाकुर रसीकेस कस्य गाम मोही रो षेडो थाने मआ की दो लोग भोग सुदीया आवा दान कर जो जमा षात्री सो आवां दान करजे थारे हे दुबे घवा मुक्तनाथ···संमत ११४५ जेठ सुद १३।

(अनुवाद)

श्री श्री चित्रकोट महाराजाधिराज महाराज तपेराज श्री रावल जी श्री श्री समरसी जी की आज्ञा से दायमा आचारज ठाकुर ऋषिकेश को गाँव मोई का खेडा तुमको दान में दिया जाता है उसे बसाओ निस्संदेह उसे बसाओ। वह तुम्हारा है। दुवे घवा मुक्तनाथ द्वारा सं० 1145 जेठ सुदी 13 को लिखा गया।

(8)

चीत्रकोट महा सुभ सुथाने श्री···सी पास तीरे भासाव चवाण श्री प्रथु ···की आसीस बाचजो श्री दली का·· सु अप्रन अठे श्री हजुर माआ सुद १२ क···जगडा मे वेकु पदारी—आ ने आचारज···सी केस बी श्री हजूर की लार काम आ आ···श्री हजर की लारे जावगा वेकुट ने पछे···सीकेस रा मनषा की

षात्री राष जी मारा···रा का मनषा की षात्री राष जोड़ी मारा चारी···नष मारा जीवका चाकर हे ईथासु राज···हरामषोर नीवेगा दुवे नड्डरराअ के··· ११५७ माहा सुद १२ दसगत पासवान बेन···रकाभं···मा साब श्री···थुवाई का वेकुटप···

यह पत्र बहुत ही जीर्ण हो गया और इससे स्पष्ट नहीं पढ़ा जा सकता। बड़ी कठिनता से जो कुछ ऊपर दिया गया है वह पढ़ा जा सका है। ऐसा जान पड़ता है कि इस पत्र को महाराणी पृथाबाई ने अपने पुत्र को चित्तौर लिखा था ···इसमें उन्होंने निज पति के परलोकवास और साथ ही आचारज ऋषीकेश की मृत्यु की भी सूचना देकर यह लिखा था कि उन चार घरों के लोगों को जो दिल्ली से दहेज में उसके साथ आये थे, प्रतिष्ठा से रखना क्योंकि वह राज्य के विश्वासी नौकर होंगे। महाराणी ने निज पति के साथ स्वर्ग जाने की इच्छा से सती होने की भी सूचना इसी पत्र में दी थी—इस पट्टे को महाराजा जयसिंह ने सं० 1751 में फिर से नया करके दे दिया था जिसकी नकल आगे दी है।

---

(9)

श्री गणेशप्रसादानु श्री रामी जयति। श्री अकलींग प्रसादातु।

सही

स्वस्ति श्री ऊदैपुर सुथाने महाराजा धीराज महाराणा श्री जैं सीघ जी आदेसातु आचारज अषेराम रगुनाथ रा कस्य ३ अप्रथारे पास मा साहेब चबाण जी श्री प्रथुबाई बेकुट रावल जी श्री समरसी जी दली काम आया जरी सारा पदारता श्री चीत्रकोट लषी के आचारज भायी रुसीकेस तां रावली श्री हजुर की लोर कामा आथ्या ने पाछे मारा च्यारी गरा का मनषा की षात्री राष जोड़ी मारा जीव का चाकर हे जो थासु कही हराम षोर नीवेगा। ओ लष्यो हो जो देषेन नवो करा देवाणो जो थे अणी राज का स्यामषोर हो दुवे पंचोली जगमोहन संमत् १७५१ वर्ष माहा बीद १०।

(अनुवाद)

स्वस्ति श्री उदयपुर शुभ स्थान से महाराजाधिराज महाराणा श्री जयसिंह जी की आज्ञा से रघुनाथ के पुत्र आचारज अषेराम को लिखा। आगे

तुम्हारे पास माँ जी श्री चौहान पृथू बाई जी का (एक परवाना) है जिसमें उन्होंने श्री रावल श्री समरसी जी के दिल्ली काम आने पर चीत्रकोट लिखा था कि आचारज भाई ऋषीकेश भी रावल श्री हजूर जी के साथ काम आया। हमारे पीछे हमारे चारों घर के लोगों की खात्री रखना क्योंकि वे हमारे जीवन के चाकर हैं और तुम्हें कभी धोखा न देंगे। यह उसमें लिखा था सो नया करके दिया। अब तुम इस राज्य के स्याम खोर (हरामखोर का उलटा हलालखोर) होवो। दुवे पंचोली जगमोहनदास के द्वारा संवत् 1751 माघ बदी 10 को दिया गया।

अब इन पट्टों और परवानों[1] से जिनकी नकल और जिनका अनुवाद ऊपर दिया जा चुका है और जिनका समय 1135 से 1157 के बीच में है, निम्नलिखित बातें प्रमाणित होती हैं।

(1) ऋषीकेश कोई बड़ा वैद्य था जिसका बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध मेवाड़ और दिल्ली के राजघरानों से था और जो पृथाबाई के विवाह के समय चित्तौड़ के महाराज श्री रावल समरसी जी को दहेज में दिया गया था। यह घटना इन परवानों के अनुसार संवत् 1145 में हुई—महाराणी पृथाबाई ने जो अन्तिम पत्र अपने पुत्र को लिखा था उसमें उन चार घर के लोगों का उल्लेख था जो उनके साथ चित्तौड़ से आये थे और जिन्हें सम्मानपूर्वक रखने के लिए उसने अपने पुत्र को लिखा था। "पृथ्वीराजरासो" के "पृथा विवाह समौ" के निम्नलिखित उद्धृत खण्ड से यह कथा स्पष्ट हो जायगी।

> "श्री पत साह सुजान देश थम्भह संग दिन्नो
> अस प्रोहित गुरुराम ताहि आज्ञा नृप किन्नो
> रिषीकेष दिय ब्रह्म ताहि धनंतर पद सोहे
> चंद सुतन कवि जल्ह असुर-सुर नर मन मोहे।

---

1. इनके लिए मैं पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ। इन सब परवानों को उन्होंने उदयपुर के ऋषीकेश के वंशजों के अधिकार में पाया और उनकी फोटो ले ली। इससे मैं इनके यहाँ प्रकाशित करने में समर्थ हुआ। मुझे इस बात के लिखने में विशेष सन्तोष होता है कि पण्ड्या जी की सहायता ही से मैं इनके पढ़ने और अनुवाद करने में भी समर्थ हुआ।

कवि चन्द कहे वरदाय बर फिर सुराज अग्या करिय ।
करि जोर कह्यो पीथल नृपति तव रावर सत भांवर फिरिय ।
निगम बोध गोतम रिषि, थिर जेहि दिल्ली थान ।
दास भगवती नाम दे पृथोराज चौहान ।
रिषीकेस अरु राम रिषि बहु विधि देकर मान
पृथा कुंअरि परनाइ के संग चलाये जान" ॥

इससे अब यह स्पष्ट है कि जिन घरों का वर्णन पृथाबाई ने अपने पत्र में किया है उनके विषय में चन्द का कथन है कि वे दहेज मे रावल समरसिंह को दिये गये थे । श्रीपतसाह "दैपुरा महाजन" वंश का, गुरुराम पुरोहित "सनावढ़ ब्राह्मणों" का, "रिषीकेश", आचारज (दायमा) ब्राह्मणों का और चन्द का ज्येष्ठ पुत्र जल्ह "राजौरा रायवंश" का आदि पुरुष था । ये चारों लोग पृथाबाई के साथ चित्तौड़ गये और अब तक इनके वंशजों की मेवाड़ दरबार में विशेष प्रतिष्ठा है ।

(2) पृथ्वीराज का अन्तिम युद्ध जिसमें चित्तौड़ के रावल समरसिंह (या समरसी) मारे गये संवत् 1157 के माघ शुक्ल पक्ष में हुआ था जो समय चन्द के दिये हुए समय से अर्थात् 1158 से मिलता है ।

(3) कविराजा श्यामलदास जी और उनके अनुयायी लोगों के न मानने पर भी यह बात सिद्ध है कि पृथाबाई का विवाह समरसिंह के साथ हुआ । जो वंशवृक्ष मेवाड़ वंश का उस दरबार से प्रकट किया जाता है वह ठीक नहीं माना जा सकता । मुहम्मद अब्दुल्ला लिखित "तारीख़ तुहफ़ै राजस्थान" में जो मेवाड़ दरबार की ओर से छापी गयी थी और जिसे स्वयं महाराणा और कविराजा श्यामलदास जी ने सुना और स्वीकार किया था (उसकी भूमिका देखो) उदयपुर वंश की नामावली है जिसमें से दो नाम जान-बूझकर निकाल दिये गये हैं—एक तो उदितसिंह का और दूसरे बनबीर का । यद्यपि आगे चलकर यह लिखा गया है कि वे दोनों उदयपुर की गद्दी पर बैठे थे । इस स्पष्ट पूर्वापर विरोध का कारण भी खोजने पर उसी ग्रंथ से मिल सकता है क्योंकि उसमें लिखा है कि इन दोनों में से एक तो दासी पुत्र था और दूसरे ने अपनी कन्या को एक मुसलमान को देने को कहा था । अतएव एक ऐसे वंश ने जो बहुत दिनों से राजपूताने के सब वंशों में प्रसिद्ध चला आता है यह उचित न समझा कि ऐसे दो नाम उनके वंश में बने रहें जिनके कारण उनके निर्मल यश में कलंक लगता हो । बस फिर क्या था, झट कलम से दो नाम काट दिये गये । यद्यपि वंश के विचार से यह कार्य

किसी प्रकार से प्रशंसनीय हो सकता है पर इतिहास के लिए इससे बढ़कर दूसरा कोई घोर पाप नहीं है। इस बात से यह स्पष्ट है कि जो वंश इस प्रकार का कार्य कर सकता है वह यदि यह बात कहे कि पृथाबाई का विवाह समरसिंह के साथ हुआ ही नहीं और समरसिंह पृथ्वीराज की पताका के अधीन होकर न लड़े और न मारे गये तो इतिहासवेत्ता विज्ञ पाठकगण उन पत्रों और परवानों पर जो ऊपर दिये जा चुके हैं, ध्यान देकर स्वयं विचार और न्याय कर सकते हैं कि यह बात कहाँ तक सत्य मानी जा सकती है।

इस सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक घटना ऐसी है जिस पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि समरसी पृथ्वीराज के समकालीन थे तो उनके पुत्र रतनसी का युद्ध अलाउद्दीन खिलजी के साथ 1302–1303 ई० में कैसे हुआ। सादड़ी के जैनी शिलालेख में जिस पर 1496 विक्रम संवत् खुदा है और जो राणा कुम्भकरन के राजत्व का काल है, वाप्पारावल से लेकर कुम्भकरन तक के राजाओं की नामावली दी है। उसमें लिखा है कि भुवनसिंह ने जिसका नाम समरसिंह के पीछे दिया है, अलाउद्दीन को हराया। तुहफै राजस्थान ने जो नामावली दी है उसमें समरसिंह और भुवनसिंह के बीच में 9 राजाओं के नाम और दिये हैं—वे ये हैं (1) समरसी (2) रत्नसी (3) करनसी (4) राहुत ? (5) नरपत (6) दिनकर (7) जसकरण (8) नागपाल (9) पूर्णपाल (10) पृथ्वीपाल (११) भुवनसिंह। भुवनसिंह के पीछे भीमसिंह प्रथम, जैसिंह प्रथम और लक्ष्मणसिंह ये तीन नाम दिये हैं। कर्नल टाड लिखते हैं कि राहुत से लक्ष्मणसिंह तक के बीच में नौ राजे चित्तौड़ की गद्दी पर बैठे और थोड़े-थोड़े दिनों तक राज करके सब सुरधाम को सिधारे। इन 9 राजाओं में से 6 लड़ाई में मारे गये। इन सबों ने गया को मुसलमानों से रक्षित रखने के लिए अपने प्राण दिये। पृथ्वीपाल ने इन मुसलमानों को डरा दिया और अलाउद्दीन के पूर्व वे अपने जघन्य कर्म से पराङ्-मुख रहे। अब इससे भुवनसिंह का समय 1280 ई० के लगभग होता है और लक्ष्मण सेन का उससे कुछ पीछे। इससे यह सम्भव जान पड़ता है कि वह रत्नसी नहीं था जिसकी स्त्री प्रसिद्ध सुन्दरी पद्मावती के लिए अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का नाश किया वरन् वह लक्ष्मणसिंह था जिसका नाम अब तक इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध चला आता है। कविराजा श्यामलदास जी जिस शिलालेख को अपने पक्ष में उपस्थित करते हैं वह ठीक नहीं माना जा सकता। पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या उसकी पोल भली-भाँति खोल चुके हैं, और मैं इन शिलालेखों पर पूर्णतया विश्वास कदापि नहीं कर सकता जब तक उनकी फोटो न छापी जाय क्योंकि

ऐसा कहा जाता है कि किसी अंध-पक्षपाती महाशय ने उनमें 2 के स्थान पर 3 बनवा दिया है।

(4) पृथ्वीराज के परवानों पर जो मोहर है उससे उसके सिंहासन पर बैठने का समय 1122 विदित होता है। यह भी चन्द के दिये हुए समय से मिलता है। रासो के "दिल्ली दान समौ" में यह लिखा है—

एकादस संवतः अट्ठ अग्ग हत तीस भने।
प्रथ सुरित तहां हेन सुद्ध मर्गासर सुमास गने।
सेत पक्ख पंचमीय सकल गुर पूरन।
सुदि मृगासिर सम इन्द जोग सदहि सिध चूरन।
पहु अनगपाल अप्पिय पहुनि। पुत्तिय पुत्त पवित्त मन।
छँडयो सुमोह सुख तन वरुनि। पत्ती वदी सजे सरन॥

तो अब चन्द के अनुसार अनंगपाल ने राजसिंहासन अपने दौहित्र को शुद्ध मन से 1130—8=1122 की मार्गशीर्ष सुदी 5 को दिया। इससे यह सम्भव है कि पृथ्वीराज गद्दी पर बैशाख सुदी 3 संवत् 1122 को बैठा हो।

इन परवानों और चिट्ठियों की सत्यता में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता क्योंकि वे एक-दूसरे की सत्यता को प्रमाणित करते हैं। कुछ फारसी शब्दों के प्रयोग से संदेह हो सकता है पर यह जान लेने से संदेह का कारण दूर हो जाता है कि पृथाबाई दिल्ली से आयी थी जहाँ एक सेना मुसलमानी योद्धाओं की सदा रहती थी और जहाँ लाहौर के मुसलमानी दरबार से दूतों का आना-जाना सदा लगा रहता था क्योंकि दोनों राज्यों की सीमा मिली हुई थी और पृथ्वीराज के 100 वर्ष पहले से मुसलमानी राज्य पंजाब में स्थापित हो चुका था। इस अवस्था में क्या यह आश्चर्य की बात है कि दिल्ली के रहने वाले की भाषा में कुछ फारसी के शब्द मिल गये हों ?

जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है उससे स्पष्ट है चन्द ने निज "रासो" में जो सब सन्-संवत् दिये हैं वे अशुद्ध नहीं हैं वरन् वे उस अब्द से ठीक मिलते हैं जो उस समय दरबार के कागजों में प्रचलित था और जो प्रचलित विक्रम संवत् से 90-91 पूर्व था। इसी अब्द से हम यह बात स्पष्ट सिद्ध कर सकते हैं कि शिला-लेख और परवाने तथा पट्टे दोनों सत्य है। पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या का

कथन है कि इस नवीन संवत् का आभास वे आदि पर्व के 356 वें रूपक[1] में ही पाते हैं जिसमें चंद लिखता है कि जैसे युधिष्ठिर के 1100 वर्ष पीछे विक्रम का संवत् चला वैसे विक्रम के 1100 वर्ष पीछे मैं पृथ्वीराज का संवत् चलाता हूँ। आदि पर्व के 355 वें रूपक में पुनः चन्द इस नवीन अब्द को स्पष्ट कर देता है।[2] अब तक मेवाड़ में यह बात प्रसिद्ध है कि पूर्वकाल में दो विक्रम संवत् थे। कर्नल टाड भी हारावती के वर्णन में इस बात का उल्लेख करते हैं। अब तक 'अनन्द' शब्द का अर्थ "आनन्द" "शुभ" लगाया जाता था परन्तु पं० मोहनलाल जी का कथन है कि इसका अर्थ है "नन्द रहित" और नन्द के अर्थ नौ के हैं क्योंकि "नव नन्दा प्रकीर्तिताः" यह भागवत में लिखा है। अ का अर्थ है शून्य—"अंकानां वामतो गति" के अनुसार अब आनन्द का अर्थ हुआ 90 और इसे घटा देने से चंद का दिया हुआ समय सब ठीक मिल जाता है। दूसरा अर्थ आनन्द का यह है। मौर्य वंश का आदि राजा चन्द्रगुप्त हुआ जो महानन्द का पुत्र था और इस वंश के राजा नन्दवंशीय कहलाते थे। मेवाड़ के राजपूतों ने जानबूझ कर इन राजाओं के काल की गणना न करने के उद्देश्य से प्रचलित विक्रम सम्वत् में से उनका राजत्वकाल घटा दिया और इस "अंनद विक्रम सम्वत्" का प्रचार किया हो। इन अर्थों के अतिरिक्त सबसे उपयुक्त एक दूसरी ही बात सूझती है जिसे मैं यहाँ लिख देना उचित समझता हूँ। यह बात इतिहास में प्रसिद्ध है कि कन्नौज का राजा जयचन्द अपने को अनंगपाल का उत्तराधिकारी बताता था और कहता था कि गद्दी पर बैठने का अधिकार मेरा है न कि पृथ्वीराज का। इस कारण पृथ्वीराज और जयचन्द दोनों में परस्पर विवाद रहा और अन्त में दोनों का नाश हुआ। कन्नौज के राजाओं ने जयचन्द तक केवल 90-91 वर्ष राज्य किया था अतएव आश्चर्य नहीं कि उनके राजत्वकाल को न गिनने के प्रयोजन से और उन्हें नन्दवंशियों के तुल्य मानने के अभिप्राय से इस नवीन सम्वत् का प्रचार किया गया हो।[3]

जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि चन्द के सम्वत् मनोकल्पित और असत्य नहीं हैं और रासो में जो बातें लिखी हैं वे निरी गप्प

---

1. एकादस सै पंच दह। विक्रम साक अंनद।
   तिहि रिपु जयपुर हरन कौं। भय प्रिथिराज नरिंद॥
2. एकादस से पंचदह। विक्रम जिमि ध्रम सुत्त।
   त्रतिय साक प्रथिराज को। लिख्यौ विप्र गुन गुप्त॥
3. उस विचित्र तथा साथ ही अत्यन्त उपयुक्त सम्मति के लिए मैं अपने परम प्रिय मित्र बाबू राधाकृष्णदास का अनुगृहीत हूँ।

नहीं हैं। यह भी सिद्ध कर दिया गया है कि 12वीं शताब्दी में मेवाड़ में दो सम्वतों का प्रचार था—एक सनन्द और दूसरा अनन्द और उनमें 90-91 वर्ष का अन्तर था। अब यह स्वतः सिद्ध है कि चन्द का रासो वास्तविक सत्य घटनाओं से पूरित ग्रन्थ है जैसे कि उस काल के ऐतिहासिक ग्रन्थ प्रायः सब देशों में मिलते हैं और अब इसे झूठा सिद्ध करने का उद्योग केवल निरर्थक, निष्प्रयोजनीय और द्वेषपूर्ण माना जायगा। इसमें सन्देह नहीं है कि यह ग्रन्थ सहस्रों मनुष्यों के हाथों में गया है और सैकड़ों ने इसे लिखा है। इससे यदि आज हमको इसके पाठ में दोष वा कहीं-कहीं गड़बड़ मिले तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। इससे उस ग्रन्थ के गुण और आदर में किसी प्रकार की क्षति न होनी चाहिए।

अन्त में अब मुझे केवल इतना ही कहना है कि यदि पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या जी अपने कर्तव्यपालन से पराङ्मुख न होते, यदि पृथ्वीराजरासो अब तक छप कर प्रकाशित हो गया होता तो आज मुझे इतना लिखने तथा अन्य लोगों को व्यर्थ आक्षेप करने का अवसर न प्राप्त होता। आशा है कि अब वे अमूल्य रत्न को चिथड़ों में न लपेट कर उस आसन पर इसे सुशोभित करेंगे जिसके यह योग्य है और जो अब तक इसे मिलना उचित था—यदि पं० मोहनलाल जी अब भी मौन साधे बैठे रहें तो हमें केवल देश का दुर्भाग्य मानने के और कोई चारा नहीं है।

(1901 नागरी प्रचारिणी पत्रिका—भाग 5, सन् 1901 ई०, पृ० 175-196)

चन्दबरदाई

जिस प्रकार संस्कृत के इतिहास में महर्षि वाल्मीकि आदि कवि माने गये हैं उसी प्रकार संस्कृत की वर्तमान ज्येष्ठा सन्तति हिन्दी के इतिहास में चन्दबरदाई का नाम और यश सर्वश्रेष्ठ गिना जाता है तथा उसका पृथ्वीराजरासो नामक महाकाव्य हिन्दी का आदि ग्रन्थ माना जाता है। हिन्दी का ऐसा कौन प्रेमी होगा जिसने चन्दबरदाई का नाम न सुना हो, पर कितने लोग ऐसे हैं जिन्होंने उसके ग्रन्थ को पढ़ने अथवा उसके मर्म को जानने का सौभाग्य प्राप्त किया हो? बहुत दिनों तक तो हिन्दी के प्रेमियों का इस कवि सम्बन्धी ज्ञान शिवसिंह सरोज में दिये हुए वृत्तांत की सीमा से वेष्ठित था, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि शिवसिंह को भी इस कवि के ग्रन्थ को देखने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ। उसने अपने सरोज में जो कुछ लिखा है वह सुना-सुनाया ही जान पड़ता है। कर्नल टाड ने अपने राजस्थान के इतिहास में इस कवि के ग्रन्थ से बहुत कुछ सहायता ली है और अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में इस कवि की प्रसिद्धि टाड साहब की कृपा का ही फल है। इसके अनन्तर बीम्स साहब ने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की अवधानता में इस ग्रन्थ के सम्पादन करने का उद्योग किया पर वे एक समय भी समाप्त न कर सके। डॉक्टर हार्नली ने भी बीच में से इसका सम्पादन और अंग्रेजी अनुवाद प्रारम्भ किया। इसी समय में उदयपुर के कविराजा श्यामलदास जी ने एक लेख एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में छपवाया जिसमें इस बात को सिद्ध करने का उद्योग किया गया कि चन्द का ग्रन्थ ऐतिहासिक नहीं है और न पृथ्वीराज के समय का बना है क्योंकि उसमें बहुत-सी इतिहास सम्बन्धी भूलें हैं और बहुत-कुछ बेसिर-पैर की गप्प मारी गई है। बस फिर क्या था। किसी ने तब तक उस ग्रन्थ को सम्पूर्ण पढ़ा तो था ही नहीं और न उसके विषय में अनुसन्धान ही किया था। कविराजा जी का कहना ठीक माना गया और ग्रन्थ का प्रकाशन बन्द कर दिया गया। एशियाटिक सोसाइटी ने कभी भी हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों की ओर अपनी विशेष श्रद्धा प्रकट नहीं की। आज तक उसने केवल तीन ही ग्रन्थों के प्रकाशित करने का उद्योग किया अर्थात् पृथ्वीराजरासो, तुलसी सतसई और पद्मावती। पहला तो असमाप्त ही छोड़ दिया गया। यद्यपि यह जान कर सन्तोष होता है कि उस सभा के सभापति ने एक वार्षिक अधिवेशन में यह आशा प्रकट

की थी कि प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों की खोज से सम्भव है कि रासो कहीं से आदि रूप में मिल जाय। तुलसी सतसई पूरी छपी और पद्मावती अभी कई वर्षों तक छप कर अधूरी रह गई। इस अवस्था में यह आशा करना व्यर्थ था कि यह सोसाइटी इस अमूल्य ग्रन्थ रत्न को प्रकाशित करने का विशेष उद्योग करती रही। हमारे देशवासी, इनमें तब तक वह प्रगति ही नहीं हुई थी कि वे अपनी मातृभाषा की सेवा करते और उसके प्राचीन इतिहास जानने का उद्योग करते। केवल पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने कविराजा श्यामलदास जी के आक्षेपों का उत्तर एक पुस्तिका द्वारा दिया और रासो के प्रकाशित करने में हाथ लगाया, पर उत्साह न मिलने के कारण वे भी उत्साहहीन हो बैठे। निःसन्देह हमारे लिये यह बड़े आनन्द और सौभाग्य की बात है कि अब पढ़े-लिखे लोगों का बहुत-कुछ ध्यान अपनी मातृभाषा की ओर आकर्षित हुआ है और वे उसकी सेवा में तत्पर हैं। सच बात तो यह है कि वह देश कदापि उन्नति की आशा नहीं कर सकता जिसके वासियों में अपने प्राचीन इतिहास और गौरव की ओर सम्मान-दृष्टि न हो और जहाँ अपने महत्त्व को स्थिर रखते हुए आगे बढ़ने का उद्योग न हो। किसी-किसी इतिहासवेत्ता विद्वान् का तो यह भी मत है कि जो देशसेवक हैं, जिन्होंने किसी प्रकार अपने देश की सेवा कर उसका मुखोज्ज्वल किया है उनका उनकी जीवनावस्था में ही सम्मान होना आवश्यक है। मरे पीछे तो सब के लिये रोया जाता है, पर जीते जी किसी की प्रतिष्ठा करने से जो प्रभाव उसका दूसरों के चित्त पर पड़ता है वह मरे पीछे बहुत-कुछ करने पर भी नहीं हो सकता। परन्तु हमारे देश की ऐसी अवस्था नहीं है कि लोग ईर्ष्या और द्वेष को छोड़कर वास्तविक गुणग्राहकता कर सकें। निस्संदेह वह दिन परम सौभाग्य का होगा जब "गुनगांहक हिरानो" की उक्ति हम पर न लग सकेगी। जब तक गुणगान न प्राप्त हो तब तक प्राचीन महानुभावों के गुणगान से ही इस अभाव की पूर्ति करना और आगे के लिये वांछित अवस्था का मार्ग प्रशस्त करना प्रत्येक देशहितैषी का कर्तव्य होना चाहिए। हिन्दी जगत् में इस कार्य की ओर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने सराहनीय उद्योग किया है। प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों की खोज से जो हिन्दी ग्रन्थ रत्नों का पता लगा है और उनके ग्रंथकारों के नाम विदित हुए हैं उनसे हिन्दी भाषा के इतिहास का बहुत-कुछ गौरव बढ़ा है। पर दुःख इस बात का है कि इस खोज की जो रिपोर्टें प्रकाशित हुई हैं उनसे हिन्दी-प्रेमियों ने कोई विशेष लाभ नहीं उठाया। मुझे आशा है कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों को हिन्दी के इतिहास लिखने में इनसे बहुत-कुछ सहायता मिली

होगी, परन्तु साधारणतः इन रिपोर्टों का कोई उपयुक्त उपयोग नहीं किया गया। दो-एक महाशयों ने जिनसे विशेष न्याय की आशा थी, इन रिपोर्टों को गुदड़ी के भाव तौला है। अस्तु, इस उपेक्षा का यह भी कारण हो सकता है कि इन रिपोर्टों का मूल्य गवर्नमेण्ट ने अधिक रखा है और उनका मुख्यांश अंग्रेजी में लिखा गया है। पर इस त्रुटि की पूर्ति बड़ी सुगमता से हो सकती है। आशा है, हमारे विद्वान् लेखक इस ओर ध्यान देंगे। अस्तु, इस स्थान पर यह कहना कदाचित् अनुचित नहीं होगा कि चन्दबरदाई और उसके रासो के विषय में हमें जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है वह विशेष कर इन्हीं खोज की रिपोर्टों की कृपा से हुआ है।

यह बात सर्वसम्मत है कि ईस्वी सन् के 250 वर्ष पहले भारतवर्ष के उत्तर में एक भाषा बोली जाती थी जिसकी उत्पत्ति प्राचीन काल की वैदिक संस्कृत से हुई और जो समय पाकर नित्य-प्रति के व्यवहार की साधारण भाषा हो गई। इस भाषा का नाम पाली था। इसके साथ-ही-साथ एक दूसरी परिष्कृत और संस्कारयुक्त भाषा का पढ़े-लिखे लोगों में प्रचार था। यह संस्कृत नाम से प्रसिद्ध हुई और अब तक उसी नाम से प्रसिद्ध है।

इस पाली भाषा में ही प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के आज्ञापत्र जो अब तक चट्टानों पर खुदे हुए पाये जाते हैं, लिखे हुए हैं। उनके देखने और अध्ययन करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि उस समय पाली भाषा दो मुख्य भागों में विभक्त थी—एक पश्चिमी और दूसरी पूर्वी। पश्चिमी पाली का दूसरा नाम शौरसेनी था। इससे गुर्जरी, अवन्ती, शौरसेनी और महाराष्ट्री इन भाषाओं की उत्पत्ति हुई। इसके अनन्तर प्राकृतिक भाषाओं का प्रचार रहा। पहले वे बोल-चाल की भाषाएँ थीं, पर क्रमशः उन्होंने साहित्यिक रूप धारण किया। तब बोल-चाल की भाषा अपभ्रंश हुई। उसके भी साहित्यिक होने पर आधुनिक देश-भाषाओं का जन्म हुआ। इसी अपभ्रंश से हमारी हिन्दी भाषा ने जन्म ग्रहण किया, पर यह जन्म किस वर्ष में हुआ इसका निश्चय करना बड़ा कठिन है। शिवसिंह सरोज के अनुसार तो हिन्दी का आदि कवि पुष्य है पर न तो उसके किसी ग्रन्थ का और न उसकी भाषा का ही कहीं कुछ पता लगता है। दूसरा ग्रन्थ खुमान रासो[1] है जो

1. मुझे बड़े दुःख के साथ यह लिखना पड़ता है कि अनेक वर्षों के उद्योग के अनन्तर मैंने इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त की थी और काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पास ग्रन्थमाला में प्रकाशित करने के लिए भेजी थी पर कोई दस महीने रख छोड़ने के अनन्तर बिना उसकी प्रति लिये उसके मालिक के माँगने पर वह लौटा दी गई। हा, कैसा अच्छा अवसर इस ग्रन्थ की जाँच का हाथ से जाता रहा।

कहा जाता है कि सन् 830 में लिखा गया था, पर इस ग्रन्थ की जो प्रतियाँ अब विद्यमान हैं उनमें महाराणा प्रताप सिंह का भी वृत्तान्त सम्मिलित है, जिससे यह मानना पड़ेगा कि इसकी भाषा जैसी कि अब यह वर्तमान है नौवीं शताब्दी की नहीं कही जा सकती। तीसरा प्रसिद्ध कवि जिसके विषय में हमें कुछ वृत्तान्त विदित है वह चन्दबरदाई है। इसने एक ऐसी भाषा में ग्रन्थ लिखा है जो प्राकृत के अन्तिम रूप और हिन्दी के आदि रूप से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। इससे यह सिद्धान्त होता है कि उस समय भाषा का रूपान्तर हो रहा था। इसके अतिरिक्त प्राकृत का अन्तिम वैयाकरण हेमचन्द भी 1150 के लगभग वर्तमान था। इसलिये जहाँ तक अभी पता चला है चन्द को ही हिन्दी का आदि कवि मानना पड़ता है और हिन्दी भाषा की उत्पत्ति का काल 11वीं शताब्दी नियत करना पड़ता है। यदि अनुसंधान करने पर और ग्रन्थों का पता लग गया तो इस मत को छोड़ना पड़ेगा परन्तु जब तक यह न हो, इसी सिद्धान्त को स्थिर मानना चाहिए।

अस्तु, चन्दबरदाई का नाम हिन्दी और ऐतिहासिक समाज में प्रसिद्ध है। वह हिन्दुओं के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज चौहान का लँगोटिया मित्र और उनके दरबार का कविराज था। वह भट्ट जाति के, जो आजकल राव कहलाती है, जगात नामक गोत्र का था और उसके पुरखा पंजाब के रहने वाले थे और उनकी यजमानी अजमेर के चौहानों के यहाँ थी। चन्द का जन्म लाहौर में हुआ था[1]। ऐसा कहा जाता है कि चन्द का जन्म उसी दिन हुआ था जिस दिन पृथ्वीराज ने जन्म ग्रहण किया और दोनों ने इस असार संसार को भी एक ही संग छोड़ा।[2] जैसा कि आगे लिखा जायगा पृथ्वीराज का जन्म संवत् 1205 में और मृत्यु 1248 में हुई। इस हिसाब से चन्द का समय ईस्वी की बारहवीं शताब्दी के अन्तिम अर्द्ध भाग में मानना चाहिए। उसके पिता का नाम वेण और विद्यागुरु का गुरुप्रसाद था। वह षट् भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्दःशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, मंत्रशास्त्र, पुराण, नाटक और गान आदि विद्याओं में अच्छा व्युत्पन्न था। उसे भगवती जालन्धरी देवी का इष्ट था और अपने आराध्यदेव की कृपा से वह अदृष्ट काव्य भी कर सकता था। चन्द के जीवन चरित्र की विशेष घटनाएँ पृथ्वीराज के चरित्र के साथ इस भाँति मिली हुई हैं कि वे अलग नहीं हो सकतीं।

पृथ्वीराज का नाम भारतवर्ष के इतिहास में सदा स्मरणीय बना रहेगा।

---

1. "चन्द उपजि लाहौरह।"
2. "इक्क दीह ऊपन्न, इक्क दोहै समाय क्रम।"

हिन्दू साम्राज्य का अन्त इसी के साथ समझना चाहिए। आपस की कलह और परस्पर के वैर-विरोध ने भारतवर्ष का नाश किया। यही कारण पृथ्वीराज के भी अधःपतन का हुआ। पृथ्वीराज सोमेश्वर का पुत्र तथा अर्णोराज का पौत्र था। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तोंवर राजा अनंगपाल की कन्या से हुआ था। अनंगपाल की दो कन्याएँ थीं।

अनगपाल पुत्री उभय, इक दीनी विजपाल ।
इक दीनी सोमेस कौं, बीज बवन कलिकाल ।।
एक नाम सुर सुन्दरी, अनिवर कमला नाम ।
दरसन सुर नर दुल्लही, मनों सु कलिका काम ।।

अतएव अनंगपाल की सुन्दरी नामक कन्या का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल के संग हुआ और इस संयोग से जयचन्द राठौर की उत्पत्ति हुई। दूसरी कन्या कमला का विवाह अजमेर के चौहान सोमेश्वर से हुआ और इनकी संतति पृथ्वीराज हुआ। अनंगपाल को कोई पुत्र न होने के कारण उसने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लिया। इससे अजमेर और दिल्ली का राज्य एक हो गया। यह बात कन्नौज के राजा जयचन्द को न भायी क्योंकि वह कहता था कि दिल्ली के सिंहासन पर मुझे बैठना चाहिए न कि पृथ्वीराज को। परन्तु विवाह के पूर्व विजयपाल ने अनंगपाल पर चढ़ाई की थी और उस समय सोमेश्वर ने तोंवरराज की सहायता की थी। इसी कारण अनंगपाल का कमला पर अधिक स्नेह था। अस्तु, इसी डाह के कारण जयचन्द ने समय पाकर राजसूय यज्ञ किया और भिन्न-भिन्न स्थानों के राजाओं को यज्ञ का सब कार्य करने के लिए न्योता भेजा। पृथ्वीराज भी निमन्त्रित हुए पर उन्होंने जयचन्द के घर जाकर दासकृत्य करना स्वीकार नहीं किया। जयचन्द ने अपनी कन्या संयोगिता का स्वयंवर भी इसी समय रचा। संयोगिता की माता कटक के सोमवंशी राजा मुकुन्ददेव की कन्या थी। पृथ्वीराज से और संयोगिता से बिना एक-दूसरे को देखे एक-दूसरे का वृत्तान्त जानने ही से आन्तरिक प्रेम हो गया था पर तिस पर भी वह यज्ञ में नहीं गया। जयचन्द ने जब यह देखा कि सब राजे तो आ गये पर पृथ्वीराज नहीं आया तो उसे बड़ा क्रोध आया और उसने पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति बनवा कर द्वार पर रखवा दी। ऐसा करने से उसका आशय यह प्रकट करने का था कि यद्यपि पृथ्वीराज नहीं आया पर उसकी प्रतिष्ठा ऐसी है कि वह आकर इस यज्ञ के समय द्वारपाल का कार्य करता। निदान जब स्वयंवर का समय आया तो जयचन्द की कन्या जयमाल लेकर निकली। सब राजाओं को देखते-देखते उसने

अन्त में आकर पृथ्वीराज की मूर्ति के गले में माला डाल दी और इस प्रकार अपने गाढ़ तथा गूढ़ प्रेम का पूर्ण परिचय दिया । यह बात जयचन्द को बहुत बुरी लगी । उसने अपनी कन्या का मन फेरने के लिए अनेक उद्योग किये पर जब किसी प्रकार सफलता नहीं हुई तब गंगा के किनारे एक महल में उसे एकान्तवास का दण्ड दे दिया । इधर पृथ्वीराज के सामन्तों ने आकर जयचन्द का यज्ञ विध्वंस कर दिया । जब पृथ्वीराज को सब वृत्तान्त विदित हुआ तो उसने छिप कर कन्नौज आने की तैयारी की । प्रकट रूप में तो चन्दबरदाई आया पर वास्तव में पृथ्वीराज अपनी सामन्त मण्डली सहित पहुँच गया । निदान किसी प्रकार जयचन्द को यह वृत्तान्त प्रकट हो गया और उसने चन्द का डेरा घेर लिया। बस, फिर क्या था युद्ध प्रारम्भ हो गया । इधर लड़ाई हो रही थी उधर पृथ्वीराज छिपा हुआ कन्नौज की सैर कर रहा था । घूमते-घूमते वह उसी महल के नीचे जा पहुँचा जहाँ संयोगिता कैद थी । दोनों की आँखें चार होते ही परस्पर मिलने की इच्छा प्रबल हो उठी । सखियों की सहायता से दोनों का मिलाप हुआ और यहीं गन्धर्व विवाह करके दोनों ने सदा के लिए अपना सम्बन्ध स्थापित किया । इसके अनन्तर पृथ्वीराज अपनी सेना में आ मिला । सामन्तों ने मुख-छवि देख कर मामला समझ लिया और उसे बहुत-कुछ धिक्कारा कि वह अकेला ही क्यों चला आया और अपनी नवविवाहिता दुलहिन को क्यों नहीं साथ लाया। इस पर लज्जित हो पृथ्वीराज पुनः संयोगिता के पास गया और उसे अपने घोड़े पर चढ़ा अपनी सेना में ले आया । बस फिर क्या था, संयोगिता को इस प्रकार हरी जान कर पंगुसेना चारों ओर से उमड़ आयी और बड़ा भयानक युद्ध प्रारम्भ हुआ । निदान युद्ध होता जाता था और पृथ्वीराज धीरे-धीरे दिल्ली की ओर बढ़ता जाता था । बहुत-से सामन्त मारे गये, सेना की बड़ी हानि हुई पर अन्त में पृथ्वीराज अपनी राज्य-सीमा में जा पहुँचा और जयचन्द ने हार मानी । इसके अनन्तर उसने बहुत-कुछ दहेज भेज कर दिल्ली में ही पृथ्वीराज और संयोगिता का विधिवत् विवाह करा दिया । अब तो पृथ्वीराज को राजकाज सब भूल गया, केवल संयोगिता के ही ध्यान और रस-विलास में सारा समय बीतने लगा । इस युद्ध में ही बल का ह्रास हो चुका था । जो कुछ बचा-बचाया था उसे इस रास-रंग ने नष्ट कर दिया । यह अवसर उपयुक्त जान शहाबुद्दीन चढ़ आया । बड़ी गहरी लड़ाई हुई पर अन्त में पृथ्वीराज हारा और बन्दी हो गया । कुछ काल के पीछे चन्द भी पृथ्वीराज के पास गजनी पहुँच गया और वहाँ दोनों एक-दूसरे के हाथ से स्वर्ग धाम को पधारे । शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज का वैर पुराना था । इसका

प्रारम्भ इस प्रकार हुआ था। शहाबुद्दीन एक नवयौवना सुन्दरी पर आसक्त था जो उसे नहीं चाहती थी। वह हुसेनशाह पर आसक्त थी। शहाबुद्दीन के उस युवती और हुसेनशाह को बहुत दिक्क करने पर वे दोनों भागकर पृथ्वीराज की शरण में चले आये। उस समय तक हिन्दुओं में इतनी वीरता और इतना आतिथ्य धर्म वर्तमान था कि वे शरणागत के साथ कभी विश्वासघात न करके सदा उसकी रक्षा करते थे। जब शहाबुद्दीन को यह प्रकट हुआ तो उसने पृथ्वीराज को कहला भेजा कि तुम उस स्त्री और उसके प्रेमी को अपने देश से निकाल दो। पृथ्वीराज ने उत्तर भेजा कि शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है, उन्हें निकालना तो दूर रहा मैं सदा उनकी रक्षा करूँगा। बस अब क्या था शहाबुद्दीन दिल्ली पर चढ़ दौड़ा। कई युद्ध हुए जिनका वर्णन पढ़कर इस समय भी हिन्दू हृदय रोमांचित और वीर रस पूर्ण हो जाता है।

इन्हीं घटनाओं को चन्दबरदाई ने अपने ग्रन्थ में अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। हिन्दी भाषा में यह ग्रन्थ अपनी समता नहीं रखता। यह ग्रन्थ 69 अध्यायों में विभक्त है जिनका मैं संक्षेप में नीचे वर्णन करता हूँ।

(1) आदि पर्व-इसमें चौहानों की उत्पत्ति, वीसलदेव, अर्णोराज और सोमेश्वर आदि का वृत्तान्त तथा पृथ्वीराज की जन्म कथा है।

(2) दसम समय-इसमें दसावतारों की कथा है।

(3) दिल्ली किल्ली कथा—इसमें राजा अनंगपाल के किल्ली गड़वाने और पुरोहित के कहने पर विश्वास न करके उसके उखड़वाने की कथा है जो पृथ्वीराज की माता ने अपने पुत्र से कही।

(4) लोहाना आजानबाहु समय—इसमें लोहाना के 32 हाथ ऊँची गौख से कूदने की कथा है। पृथ्वीराज ने अपने सामन्तों से कहा था कि जो इतने ऊँचे से कूदेगा उसे मैं बहुत-कुछ पुरस्कार दूँगा। लोहाना कूदा पर उसे बड़ी चोट आयी। अच्छा होने पर पृथ्वीराज ने उसे बहुत-कुछ इनाम दिया। जो जागीर मिली उसमें ओर्छा भी था। वहाँ के राजा जसवन्त सिंह ने लोहाना से लड़ाई ली पर अन्त में हार कर उसकी अधीनता स्वीकार की।

(5) कन्ह पट्टी समय—गुजरात का चालुक्य राजा भीमदेव था। उसके भाई सारंगदेव के सात पुत्र थे। प्रताप सिंह को जब अपने बाप सारंगदेव की गद्दी मिली तो वह प्रजा को बड़ा कष्ट देने लगा, इस पर भीमदेव बिगड़ उठा।

अन्त में सातों भाई भागकर पृथ्वीराज के पास चले आये। एक दिन जब कि वे दरबार में बैठे थे, प्रतापसिंह ने अपनी मूछों पर हाथ फेरा। यह बात कन्ह को असह्य हुई। उसने चट तलवार निकाल कर प्रताप सिंह का सिर उड़ा दिया। इस पर सब भाई बिगड़ उठे। घोर युद्ध हुआ जिसमें चालुक्यों की हार हुई। पर पृथ्वीराज इस घटना पर बड़ा अप्रसन्न हुआ। उसने कन्ह को बुलाकर उसकी आँखों पर पट्टी बाँध दी जो केवल सोने और युद्ध के समय खोली जाती थी। कन्ह की वीरता द्रोणाचार्य या रावण के समान कही गई है।

(6) आखेटक वीरवरदान–एक समय पृथ्वीराज शिकार खेलने गया। संग में चन्द भी था। शिकार के पीछे दौड़ते-दौड़ते चन्द अलग हो गया और वह एक निर्जन स्थान पर पहुँचा जहाँ एक ऋषि तपस्या करते थे। उन्होंने एक मन्त्र चन्द को बताया जिसके जपने से 52 वीर आ उपस्थित होते थे और वांछित सहायता देते थे। चन्द ने इस मन्त्र की परीक्षा की और वीरों का परिचय पाया।

(7) नाहरराय कथा–मण्डोवर के पड़िहार राजा नाहरराय ने प्रतिज्ञा की थी कि जब पृथ्वीराज 16 वर्ष का होगा तो मैं अपनी कन्या का विवाह उससे कर दूँगा पर जब सोमेश्वर ने दूत भेजकर विवाह कराने को कहा तो उसने इन्कार कर दिया। इस पर पृथ्वीराज चढ़ दौड़ा। नाहरराय की हार हुई और पृथ्वीराज ने उसकी कन्या से विवाह किया।

(8) मेवाती मुगल कथा–मेवात के राजा मुद्गलराज को सोमेश्वर ने कहला भेजा कि हमें यथानियम वार्षिक कर दिया करो। पर उसने इसकी कुछ परवाह नहीं की। इस पर सोमेश्वर ने उस पर चढ़ाई की। घोर युद्ध हुआ जिसमें मेवाती राजा की हार हुई। इस युद्ध में पीछे से पृथ्वीराज भी सम्मिलित हुआ था।

(9) हुसेन कथा–इसमें शहाबुद्दीन के चचेरे भाई मीर हुसेन और चित्र-रेखा नामक वेश्या के पृथ्वीराज के शरणागत आने की कथा है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज पर चढ़ाई की पर हार कर कैद हो गया। पीछे से पृथ्वीराज ने दया कर उसे छोड़ दिया।

(10) आखेटक चूक वर्णन–पृथ्वीराज नागौर के खट्टू वन में शिकार खेल रहा था। यह मौका अच्छा समझ कर शहाबुद्दीन ने उसे जा घेरा; पर अन्त में उसकी हार हुई और वह गजनी भाग गया।

(11) चित्ररेखा समय–सिन्ध के हिन्दू राजा की चित्ररेखा नामक वेश्या थी। शहाबुद्दीन ने उस पर चढ़ाई की पर लड़ाई होने के पहले ही सिन्ध का राजा मुसलमान हो गया और शहाबुद्दीन के माँगने पर उसने अपनी चित्ररेखा नामक वेश्या उसको अर्पण की और उसका दासत्व स्वीकार किया। अन्त में इस वेश्या का प्रेम मीर हुसेन से हो गया जो उसे लेकर पृथ्वीराज के पास भाग आया।

(12) भोलाराय समय–गुजरात के राजा भोलाराय भीमदेव ने आबू के राजा सलष पँवार पर चढ़ाई की। सलष पँवार की दो कन्याएँ मंदोदरी और इंछनी थीं। मंदोदरी का विवाह भोलाराय के संग हुआ था। भोलाराय इंछनी को भी व्याहा चाहता था पर सलष ने उसका सम्बन्ध पृथ्वीराज से स्थिर किया था। जब सलष ने भोलाराय का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया तो वह उस पर सेना ले चढ़ आया। इधर सलष ने पत्र लिखकर पृथ्वीराज को सब सूचना दे दी। इस खबर को पाकर भोलाराय ने चढ़ाई पर शीघ्रता की। घोर युद्ध हुआ जिसमें सलष पँवार मारा गया और आबू पर भोलाराय का अधिकार हो गया। पृथ्वी-राज इस समय नागौर में था। उसने झट सेना की तैयारी की। दोनों का सामना हुआ, भोलाराय मारा गया और पृथ्वीराज की विजय हुई।

(13) सलष युद्ध समय–इसी समय शहाबुद्दीन भी आ पहुँचा। सलष पँवार का लड़का जैतसी भी पृथ्वीराज की सहायता पर आ गया। इस युद्ध में शहाबुद्दीन हारा और बंदी हो गया।

(14) इंछनी व्याह कथा—इस खण्ड में जैतसी की बहिन इंछनी के पृथ्वीराज के संग व्याह होने का वर्णन है।

(15) मुगल युद्ध कथा—जिस समय पृथ्वीराज इंछनी को व्याह कर आबू से दिल्ली लौट रहा था उस समय मेवात के मुगल सरदार ने पुराना वैर स्मरण कर पृथ्वीराज से बदला लेने की ठानी। जो युद्ध हुआ उसमें मुगल सरदार की हार हुई और वह कैद हो गया।

(16) पुंडीर दाहिमी विवाह कथा—इस अध्याय में चन्द पुंडीर की कन्या तथा कैमास की दोनों बहिनों के साथ पृथ्वीराज के विवाह की कथा है।

(17) भूमि स्वप्न प्रस्ताव—इस अध्याय में पृथ्वीराज के शिकार खेलने का वर्णन है। शिकार के अनन्तर पृथ्वी में असंख्य धन गड़े रहने के शुभ चिह्न देख पड़े और राजधानी में लौटने पर पर खट्टू वन में धन गड़े रहने का पृथ्वीराज को स्वप्न भी हुआ।

(18) दिल्ली दान प्रस्ताव—इस प्रस्ताव में पृथ्वीराज के दिल्ली गोद जाने की कथा है।

(19) माधो भाट कथा— इस प्रस्ताव में शहाबुद्दीन के एक अन्तरंग चर माधो भाट के दिल्ली आने और वहाँ के सब समाचार ले जाने का वर्णन है। गजनीपति समय अनुकूल जान दिल्ली पर चढ़ आया पर लड़ाई में हार कर बन्दी हो गया।

(20) पद्मावती विवाह कथा—समुद्रशिखरगढ़ के राजा विजयपाल की कन्या पद्मावती के संग पृथ्वीराज के विवाह की कथा है। जब पृथ्वीराज विवाह कर लौटा आ रहा था तो शहाबुद्दीन ने उसे आ घेरा पर उसकी पराजय हुई और वह कैद हो गया।

(21) पृथा विवाह कथा— इस प्रस्ताव में पृथ्वीराज की बहिन पृथ्वाबाई के चित्तौरगढ़ के रावल समरसी के संग विवाह होने का वृत्तान्त है।

(22) होली कथा—इस प्रस्ताव में चन्द होलिका कथा का वर्णन करता है।

(23) दीपमालिका कथा—इस प्रस्ताव में कवि चन्द दीपमालिका कथा का वर्णन करता है।

(24) धन कथा—इसमें खट्टू वन में जमीन के नीचे गड़ा हुआ धन निकालने तथा शहाबुद्दीन से लड़ाई होने की कथा है।

(25) शशिवृता वर्णन—देवगिरि के सोमवंशी राजा भानराय यादव की कन्या शशिवृता का हाल एक नट द्वारा जानकर पृथ्वीराज उस पर आसक्त हो गया। इस कन्या की सगाई कन्नौज के राजा के भतीजे के संग हुई थी पर शशिवृता पृथ्वीराज पर मोहित थी। निदान इधर पंगु सेना बरात लेकर आयी और उधर पृथ्वीराज भी गुप्त रीति से आ पहुँचा और अवसर पाकर शशिवृता को ले भागा। पंगु सेना ने पीछा किया पर पृथ्वीराज को वह पकड़ न सकी। अन्त में यादव ने सादर पृथ्वीराज को विदा किया।

(26) देवगिरि समय—जयचन्द के भतीजे वीरचन्द को यह हार बड़ी दुःखद प्रतीत हुई। उसने देवगिरि का किला घेर लिया और सहायता के लिए कन्नौज से सेना मँगायी। इधर पृथ्वीराज भी अपने श्वसुर की सहायता पर आ पहुँचा। जब अनेक उद्योग करने पर भी किला न टूट सका तो जयचन्द ने अपनी सेना की बाग मोड़ी और वह अपने राज्य को लौट आया।

(27) रेवा तट समय—रेवा तट के रम्य वन में पृथ्वीराज शिकार खेलने गया। वहाँ गजनी की सेना ने उस पर आक्रमण किया पर जीत पृथ्वीराज की ही हुई।

(28) अनंगपाल समय—इधर मालवा के राजा ने सोमेश्वर पर चढ़ाई की और उधर अनंगपाल यह सुनकर कि पृथ्वीराज उसके कर्मचारियों को छुड़ाकर अजमेर के लोगों को अपनी सेवा मे नियुक्त कर रहा है, बदरिकाश्रम से अपना राज्य लौटाने की चेष्टा में चला। मालवा के राजा की हार हुई और पृथ्वीराज ने राज्य लौटाना अस्वीकार किया। इस समय शहाबुद्दीन अनंगपाल की सहायता के लिए उद्यत हो बैठा। युद्ध में अनंगपाल की हार हुई। पृथ्वीराज ने उसे बड़े आदर से अपने पास रखा और शहाबुद्दीन को कैद कर लिया। अन्त में एक वर्ष दिल्ली में रहकर अनंगपाल बदरिकाश्रम को लौट गया।

(29) घघर नदी का युद्ध—पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का युद्ध जिसमें कन्ह ने शाह को कैद कर लिया।

(30) कर्नाटी पात्र समय—इस युद्ध के अनन्तर पृथ्वीराज ने कर्नाट देश पर चढ़ाई की। सब राजाओं ने मिलकर कर्नाट देशीय एक परम सुन्दरी वेश्या पृथ्वीराज को अर्पण की। इस वेश्या की उपयुक्त शिक्षा का प्रबन्ध किया गया और वह समय पाकर रूप-गुण-लावण्य से सुशोभित हुई।

(31) पीपा युद्ध—पृथ्वीराज ने जयचन्द पर चढ़ाई करने की तैयारी की पर शहबुद्दीन ने आ रास्ता रोका। लड़ाई हुई जिसमें पीपा पड़िहार ने शहाबुद्दीन को बन्दी कर लिया।

(32) कडहरा युद्ध—पृथ्वीराज मालवा देश में शिकार खेलने गया। उज्जैन के राजा ने इसका बड़ा आदर-सत्कार किया और अपनी कन्या इन्द्रावती का पाणिग्रहण भी पृथ्वीराज के साथ कर देने की प्रतिज्ञा की, टीका चढ़ा और विवाह पक्का हुआ। इसी समय समाचार आया कि गुर्जर नरेश भीमदेव चालुक्य ने चित्तौर पर चढ़ाई की है। पृथ्वीराज समरसिंह की सहायता के लिये चल दिया और पज्जूतराय को उसने खड्ग बँधा कर उज्जैन विवाह निमित्त भेजा। इस युद्ध में भीमदेव ने हार मानी और वह भाग गया।

(33) इन्द्रावती विवाह—उज्जैनपति ने खड्ग के साथ इन्द्रावती का विवाह करना स्वीकार नहीं किया। इस पर बहुत-कुछ विवाद और विग्रह हुआ।

अन्त में खङ्ग के संग विवाह किया गया और सामंत मंडली इन्द्रावती को लेकर दिल्ली चली आयी।

(34) जैतराव युद्ध—खट्टू वन में पृथ्वीराज शिकार खेल रहा था। इसी समय शहाबुद्दीन ने कहला भेजा कि हुसेन खाँ को हमें दे दो। पृथ्वीराज ने यह न माना। शहाबुद्दीन दल-बल सहित चढ़ आया। लड़ाई हुई जिसमें जैतराव ने उसे पकड़ लिया।

(35) काँगुरा युद्ध प्रस्ताव—जालंधरी रानी ने पृथ्वीराज से कहा कि आपने मेरे लिये कांगड़े का किला दिला देने का वचन दिया था सो अब खाली करा दीजिए। पृथ्वीराज ने वहाँ के राजा को कहला भेजा कि किला खाली कर दो नहीं तो युद्ध करो। राजा ने लड़ाई स्वीकार की पर इसमें उसकी हार हुई। पृथ्वीराज ने इसकी कन्या से विवाह करना स्वीकार किया।

(36) हंसावती नाम प्रस्ताव—रणथंभ के यादव वंशी राजा भान की हंसावती नामक परम सुन्दरी कन्या थी। चंदेरी का शिशुपालवंशी राजा पंचाइन उससे विवाह किया चाहता था। उसने अपना संदेशा राजा भान के पास कहला भेजा पर उसने स्वीकार नहीं किया। इस पर पंचाइन एक बड़ी सेना ले रणथंभ गढ़ पर चढ़ दौड़ा और शहाबुद्दीन को भी अपनी सहायता पर लाया। शहाबुद्दीन ने एक सेना पंचाइन की सहायता के लिये भेज दी। राजा भान ने यह अवस्था देख पृथ्वीराज से सहायता माँगी। पृथ्वीराज चट सेना ले चल पड़ा और उसने चित्तौरपति को भी सब समाचार कहला भेजा। वे भी रणथंभ की ओर चल पड़े। युद्ध हुआ जिसमें पंचाइन मारा गया और रणथंभ गढ़ की जीत हुई। वहाँ से पृथ्वीराज शिकार खेलने चला गया। मंगल गढ़ में राजा सारंग ने बदला लेने का यह अवसर अच्छा जान पृथ्वीराज को न्योता दिया। जब वे किले में आये तो उन्हें अकेला जान घेर लिया पर बाहर सामंत मंडली ने सहायता की। सारंग ने हार मानी और अपनी बहिन समरसिंह को ब्याह दी। इसके अनन्तर जब विवाह का दिन निकट आया तो पृथ्वीराज ने रणथंभ गढ़ जाकर हंसावती को ब्याहा।

(37) पहाड़ राय समय—शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज पर आक्रमण किया, और युद्ध हुआ जिसमें पहाड़ राय ने शहाबुद्दीन को पकड़ लिया।

(38) वरुण कथा—एक समय चन्द्र ग्रहण के अवसर पर सोमेश्वर यमुना स्नान करने गये। वहाँ कुछ ऐसा दैवी उत्पात हुआ कि सोमेश्वर मूर्च्छित हो गये। पृथ्वीराज ने उनकी उस समय रक्षा की।

(39) सोमवध—गुजरात का राजा सोलंकी भीमदेव था। वह पृथ्वीराज से बुरा मानता था इसलिये उसने अजमेर पर चढ़ाई की। सोमेश्वर युद्ध करने पर सन्नद्ध हुए। लड़ाई में सोमेश्वर मारे गये। पृथ्वीराज अजमेर की गद्दी पर बैठा।

(40) पज्जून छोगानाम प्रस्ताव—गुजरात में राजा भीमदेव के अकारण अजमेर पर चढ़ आने के कारण पृथ्वीराज बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने पज्जून राय कछवाहे को उसके पुत्र मलय सिंह के साथ भीमदेव के पास भेजा। दोनों ने बड़ा उत्पात मचाया। लड़ाई करके वह भीमदेव का सिर मंडन छोंगा आदि लेकर दिल्ली चला आया।

(41) पज्जून चालुक प्रस्ताव—जब जयचन्द ने देखा कि सिन्धी चाल से चौहान नहीं दबता तो उसने अपने भाई बलुका राय को सहायक सेना देकर शहाबुद्दीन से दिल्ली पर चढ़ाई करायी। इस समय पृथ्वीराज पिता की मृत्यु के कारण अशौच में था। इसलिये उसने पज्जून राय को सेनानायक बनाकर संयुक्त शत्रु सेना के मुकाबले पर भेजा। लड़ाई में पज्जून राय की जीत हुई।

(42) चन्द द्वारिका गमन—एक समय चन्द ने पृथ्वीराज की आज्ञा से द्वारिका पुरी की यात्रा की। पहले वह चित्तौर गया। वहाँ से पट्टनपुर होता हुआ वह द्वारिका गया। लौटकर वह पुनः पट्टनपुर आया। वहाँ उससे और पट्टनपुर के भाट जगदेव से कुछ विवाद हो गया। चन्द ने अपनी शक्ति का चमत्कार दिखाया, पर यह समाचार पाकर कि शहाबुद्दीन ने चढ़ाई की है वह शीघ्र दिल्ली लौट गया।

(43) कैमास युद्ध—इसमें पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के युद्ध और कैमास द्वारा शाह के पकड़े जाने का वर्णन है।

(44) भीम वध—अपने पिता का वध पृथ्वीराज को नहीं भूला। बदला लेने की इच्छा उसे सदा सताती रही। अवसर पाते ही वह भीमदेव पर चढ़ दौड़ा। घोर युद्ध हुआ जिसमें भीमदेव मारा गया और पृथ्वीराज की विजय हुई।

(45) विनय मंगल नाम प्रस्ताव——इस खण्ड में संयोगिता के पूर्व जन्म की कथा तथा जयचन्द के सोम-वंशी राजा मुकुन्ददेव की कन्या से विवाह करने का वर्णन है। संयोगिता का जन्म 1134 अनन्द सम्वत् में हुआ।

(46) विनय मंगल——इस प्रस्ताव में संयोगिता के शैशव काल की कथा तथा उसका मदन ब्राह्मणी के यहाँ विनय की शिक्षा पाने का वृत्तांत है।

(47) सुक वर्णन—इस खण्ड में सुक वेशधारी यक्ष के ब्राह्मण रूप धारण कर पृथ्वीराज के पास जाने और संयोगिता के रूप, गुण की कथा सुना कर उसके मन को लुब्ध करने का वर्णन है।

(48) बालुका राय प्रस्ताव—इस प्रस्ताव में जयचन्द के यज्ञ करने का वर्णन है। जयचन्द ने पृथ्वीराज के पास यज्ञ में आने का निमन्त्रण भेजा और दरबान का कार्य करने को कहा। पृथ्वीराज बड़ा ही क्रोधित हुआ और सेना सजाकर कन्नौज राज्य के स्थानों पर उसने आक्रमण कर दिया। जयचन्द का भाई मुकाबले पर आया पर मारा गया।

(49) पंगयज्ञ विध्वंस वर्णन—जिस समय जयचन्द यज्ञ क्रिया में व्यस्त था उसी समय बालुका राय ने आकर पुकार की और दुखड़ा रो सुनाया। जयचन्द ने शीघ्र ही दिल्ली पर आक्रमण करने की तैयारी कर दी।

(50) संयोगिता नाम प्रस्ताव—पंगसेना ने दिल्ली पर चढ़ाई की पर विजय पृथ्वीराज की हुई। इसके अनन्तर जयचन्द ने संयोगिता का स्वयंवर रचा पर संयोगिता ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस पर क्रुद्ध हो जयचन्द ने उसे गंगा के किनारे एक महल में एकांतवास का दंड दिया।

(51) हांसीपुर प्रथम युद्ध—यह युद्ध शहाबुद्दीन को सेना में और पृथ्वीराज की सामंत मंडली में हुआ। अन्त में हांसीपुर का किला सामंत मण्डली के हाथ रहा।

(52) द्वितीय हांसी युद्ध—हार का हाल सुनते ही शाह ने लड़ाई की फिर तैयारी की। इधर पृथ्वीराज भी समरसिंह के साथ अपनी सेना सजाकर शाह से लड़ने पर उद्यत हुआ। दोनों ओर से विशेष उद्योग किया गया पर शहाबुद्दीन हारा और पृथ्वीराज की विजय हुई।

(53) पज्जून महुवा प्रस्ताव—पृथ्वीराज ने हांसी पुर का किला पज्जून राय को दिया। उस समय शहाबुद्दीन ने महुवा पर चड़ाई की। पज्जून ने शाही सेना पर आक्रमण किया और उसे मार हटाया।

(54) पज्जून पातिसाह युद्ध प्रस्ताव—महुवा की हार शहाबुद्दीन को बड़ी खली। उसने एक दिन भरी सभा मे प्रतिज्ञा की कि पज्जून का खून पी लूँगा तब पाग बाँधूँगा। सेना सजाकर वह नागौर में चला आया। वहाँ से उसने पज्जून को कहला भेजा कि या तो किला छोड़ कर चले जाओ या मुझसे लड़ाई लो।

पज्जून लड़ने पर उद्यत हुआ, लड़ाई में पज्जून की जीत हुई और शहाबुद्दीन कैदी हो गया। पीछे से पृथ्वीराज ने उसे छोड़ दिया।

(55) सामंत पंग युद्ध प्रस्ताव—जब जयचन्द किसी प्रकार पृथ्वीराज को अपने बस में न कर सका तब उसने यह नीति सोची कि पहले समरसिंह से मैत्री करके उसे अपनी ओर मिला लेना चाहिए। पर समरसिंह ने यह स्वीकार नहीं किया। इस पर जयचन्द ने क्रुद्ध होकर अपनी सेना के दो भाग किये। एक तो दिल्ली को भेजा, दूसरा चितौर को। दिल्ली को जो सेना गयी वह हार खाकर लौट आयी।

(56) समर पंग युद्ध नाम प्रस्ताव—जो सेना-भाग चितौड़ को गया उसके अनेक उद्योग करने पर भी समरसिंह पराजित न हुए वरन् अन्त में उन्हीं की विजय हुई और पंग सेना उल्टी कन्नौज को लौट आयी।

(57) कैमास वध समय—पृथ्वीराज शिकार खेलने गया हुआ था। कैमास दिल्ली में था। एक दिन संयोगवश कैमासी की और कर्नाटी वेश्या की आँखें चार हो गयीं। दोनों एक-दूसरे पर लोलुप हो पड़े। यह समाचार रानी इंछनी ने पृथ्वीराज के पास भेज दिया। पृथ्वीराज छिपा-छिपा दिल्ली आया और अपनी आँखों से सब हाल देख कर उसे बड़ा कोप हुआ। उस समय एक वीर से उसने कैमास का काम तमाम कि या। दासी महल से निकल भागी और जयचन्द के यहाँ चली गयी।

(58) दुर्गा केदार समय—शहाबुद्दीन का दरबारी कवि केदार पृथ्वीराज के पास आया। उसने अपना कला-कौशल बहुत-कुछ दिखाया जिस पर प्रसन्न हो पृथ्वीराज ने उसे बहुत-कुछ इनाम दिया। केदार ने लौट कर शहाबुद्दीन को सब हाल सुनाया। उसने उसी समय चढ़ाई की तैयारी कर दी। इसका समाचार केदार ने अपने भाई के हाथ पृथ्वीराज के पास भेज दिया। पृथ्वीराज भी सन्नद्ध हो बैठा। जब दोनों सेनाओं का सामना हुआ तो घोर युद्ध मचा। अन्त में शाह पकड़ा गया और पृथ्वीराज की विजय हुई।

(59) दिल्ली वर्णन—इस खंड में दिल्ली की शोभा का तथा राजकुमार रेनसी की बाल-क्रीडा का वर्णन है।

(60) जंगम कथा—इस प्रस्ताव में कन्नौज से एक जंगम के दिल्ली आने की कथा तथा उसके संयोगिता के स्वयंवर का पूरा वृत्तान्त सुनाने का वर्णन है। पृथ्वीराज कन्नौज जाने को उद्यत हुआ। चन्द ने बहुत समझाया पर उसने न माना।

(61) कनवज कथा—इस प्रस्ताव में पृथ्वीराज के छिप कर कन्नौज जाने और वहाँ से संयोगिता को हर लाने की कथा है। इसका वर्णन प्रारम्भ में किया जा चुका है। यह प्रस्ताव बड़ा ही रोचक है।

(62) शुक चरित—इस प्रस्ताव में एक तोते द्वारा रानी इंछनी के पृथ्वीराज और संयोगिता की क्रीड़ा का समस्त वृत्तान्त जानने की कथा है।

(63) आखेटक शाप प्रस्ताव—इस प्रस्ताव में पृथ्वीराज के शिकार खेलने की कथा है। शिकार में खबर लगी कि एक सिंह निकला है, पृथ्वीराज उसके पीछे दौड़ा। उसे यह भ्रम हुआ कि सिंह एक गुहा में घुस गया। उसने उसके द्वार पर आग लगवा कर धुआँ करवाया। उस गुहा में एक तपस्वी तपस्या करता था। उसे बड़ा कष्ट पहुँचा। वह बाहर निकल आया और क्रोध से भर कर उसने शाप दिया कि तैंने मेरे नेत्रों को कष्ट पहुँचाया है अतः तेरा शत्रु तेरे दोनों नेत्र निकालेगा। चन्द के बहुत-कुछ प्रार्थना करने पर ऋषि ने वर दिया कि पृथ्वीराज का शत्रु भी उसके हाथों मरेगा।

(64) धीर पुंडीर प्रस्ताव—इस खण्ड में धीर पुंडीर के विशेष पराक्रम दिखाने तथा शहाबुद्दीन को प्रतिज्ञानुसार पकड़ने की कथा है। अन्त में पुंडीर धोखे में पड़कर मारा गया।

(65) विवाह समय—इसमें पृथ्वीराज के सब विवाहों का वर्णन है।

(66) वड़ी लड़ाई समय—इस खण्ड में पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन के अन्तिम युद्ध का वर्णन है जिसमें पृथ्वीराज बन्दी हुआ और गजनी में कैद किया गया।

(67) बान बेध समय—इसमें पृथ्वीराज के दुःख उठाने तथा गजनी में चन्द के कौशल से शब्दवेधी बाण चलाने और शहाबुद्दीन को मारने तथा चन्द और पृथ्वीराज के परस्पर एक-दूसरे को मारने का वर्णन है।

(68) राजा रैणसी नाम प्रस्ताव—इस खण्ड में रैणसी के गद्दी पर वैठने और शाका करने का वर्णन है।

(69) महोबा खण्ड—इस खण्ड में पृथ्वीराज और परमर्दिदेव का युद्ध का वर्णन है। यह अंश संदिग्ध है तथा इसके चन्द रचित होने में संदेह है। अतएव यह अन्त मे रखा गया है।

यह पृथ्वीराजरासो का सारांश है। इसमें जिन-जिन ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख है उन पर विचार करने से लेख के बहुत बढ़ जाने का भय है। काशी

नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से यह ग्रन्थ छप रहा है। आजकल बड़ी लड़ाई समय छप रहा है। शेष तीन समयों के छप जाने पर इस ग्रन्थ की भूमिका में सब बातों पर सविस्तर विचार किया जायगा। इस लेख का उद्देश्य केवल दिग्दर्शनमात्र कराना है। अस्तु, कवि चन्द अपने रासो के आदि पर्व में अपने पूर्व के कवियों का इस प्रकार वर्णन करता है—

प्रथम भुजंगी सुधारी ग्रहनं।
जिनै नाम एकं अनेकं कहन्नं।
दुती लम्भयं देवतं जीवतेसं।
जिनैं विश्व राख्यौ बलीमंत्र सेसं॥

चवं वेद वंभं हरी कित्ति भाखी।
जिनैं ध्रम्म साध्रम्म संसार साखी॥

तृती भारती व्यास भारत्थ भाख्यौ।
जिनैं उत्त पारथ्थ सारथ्थ साख्यौ॥

चवं सुक्खदेवं परीखत्त पायं।
जिनैं उद्धयौ श्रव्व कुर्वंम रायं॥

नरं रूप पंचम्म श्री हर्ष सारं।
नलै राय कंठं दिने पद्ध हारं॥

छटं कालिदासं सुभाषा सुबद्धं।
जिनैं बागबानी सुबानी सुबद्धं।
कियो कालिका मुक्ख वासं सुसुद्धं।
जिनैं सेत बंध्योति भोज प्रबंधं॥

सतं डंडमाली उलाली कवित्तं।
जिनैं बुद्धि तारंग गंगा सरित्तं।

जयदेव अट्ठं कवि कव्विरायं।
जिनैं केवलं कित्ति गोविंद गायं॥

गुरं सब्ब कव्बी लहू चन्द कव्बी।
जिनैं दर्सियं देवि साअंग हव्बी॥

कवी कित्ति कित्ति उकत्ती सुदिक्खी।
जिनैं की उचिष्ठी कवी चंद भक्खी॥

इस प्रकार कवि चन्द अपनी दीनता दिखाता हुआ कहता है कि मेरे पूर्व जो कविगुरु हो गये हैं उन्हीं की उक्ति को मैं कहता हूँ। पुनः वह कहता है—

कहाँ लगि लघुता बरनवों
कविनदास कवि चंद।
उन कहि ते जो उब्बरी,
सो बकहों करि छंद॥

सरस काव्य रचना रचौं,
खल जन सुनि न हसंत।
जैसे सिंधुर देखि मग,
स्वान सुभाव भुसंत॥

आगे चलकर कवि अपने काव्य के विषय में यह लिखता है—

आसा महीब कब्बी, नव नव कित्तीयं संग्रहं ग्रंथं।
सागर सरिस तरंगी, वोहथ्थयं उक्तियं चलयं॥

काव्य समुद्र कवि चंद कृत,
मुगति समप्पन ग्यान।
राजनीति बोहिथ सुफल,
पार उतारन यान।
छंद प्रवन्ध कवित्त जति,
सारक गाह दुहथ्थ।
लहु गुर मंडित खंडिय हि,
पिंगल अमर भरथ्थ॥

अति ढंक्यौ न उघार सलिल जिमि सिप्पि सिवालह।
बरन बरन सोभंत, हार चतुरंग विसालह।
विमल अमल बानी विसाल, वयन बानी वर ब्रंनन।
उक्ति वयन विनोद, मोद श्रोतन मन हर्नन॥
युत अयुत जुक्ति विचार विधि, बयन छंद छुट्यौ न कह।
घटि बढ्ढि मति कोई पढइ, तौ चंद दोस दिज्जौ न वह॥

उक्ति धर्म विशालस्य, राजनीति नवं रसं।
षड् भाषा पुराणं च, कुरानं कथितं मया॥

कवि चन्द अपने ग्रन्थ की काव्य संख्या यों बताता है—

सत सहस नषसिष सरस,
सकल आदि मुनि दिष्य।
घट बढ मन कोऊ पढौ,
मोहि दूसन न वसिष्य ॥

अपने महाकाव्य का सारांश चन्द एक स्थान पर इस प्रकार देता है—

दानव कुल क्षत्रीय, नाम ढूंठा रष्षस बर।
तिहिं सु जोत प्रथिराज, सूर सामंत अस्ति भर ॥
जीह जोति कविचन्द, रूप संजोगि भोगि भ्रम।
इक्क दीह ऊपन्न, इक्क दीहै समाय क्रम ॥
जथ कथ्थ होइ निर्मये, जोग भोग राजन लहिय।
बज्रंग बाहु अरि दल मलन, तासु कित्ति चन्दह कहिय ॥

प्रथम राज चहुआन पिथ्थवर।
राजधान रंजे जंगल धर ॥
मुष सू भट्ट सूर सामंत दर।
जिहि बंध्यो सुरतान प्रान भर ॥
हं कवि चन्द मित्त सेवह पर।
अरु सुहित सामंत सूर वर ॥
बंधौं कित्ति प्रसार सार सह।
अप्षों वरनि भंति थिति थह ॥

जैसा कि आगे लिखा जा चुका है चन्द ने दो विवाह किये थे। इनमें से पहली स्त्री का नाम कमला उपनाम मेवा और दूसरी का गौरी उपनाम सजोरा था। चन्द रासो की कथा अपनी स्त्री गौरी से कहता है। चन्द की ग्यारह संतति हुई, दस लड़के और एक लड़की। कन्या का नाम राजबाई था। रासो के बान-बेध समय में चन्द के लड़कों के नाम इस प्रकार दिये हैं—

दहति पुत्र कवि चंद, "सूर" "सुन्दर" "सुज्जानं"।
"जल्ह" "बल्ह" "वलिभद्र", कविय "केहरि" वष्षानं ॥
"वीरचन्द" "अवधूत", दसम नन्दन "गुनराजं"।
अप्प अप्प क्रम जोग, वुद्धि भिन भिन करि काजं।

जल्हन जिहाज गुन साज कवि, चन्द छन्द सायर तिरन ।
अंप्यौ जिहत्त रासौ सरस, चल्यौ अप्प राजन सरन ।।

यह विदित नहीं है कि किस स्त्री से कौन सन्तति हुई थी और जल्ह को छोड़ कर अन्य किसी के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं । जल्ह के विषय में तीन सूचनाएँ रासो में मिलती हैं जो इस प्रकार हैं—

(1) पृथ्वीराज के पुत्र का नाम रैनसी था । रासो के "दिल्ली वर्णन प्रस्ताव" में रैनसी की बालक्रीड़ा का वर्णन है । वहीं पर उन सामंत पुत्रों के नाम भी दिये हैं जो राजकुमार के संग खेल-कूद में सम्मिलित रहते थे । उस वर्णन में जल्ह के विषय में यह लिखा है "बरदाइ सुतन जल्हन कुमार । मुख वसैं देवि अम्बिका सार ।"

(2) दूसरा वर्णन जल्ह के विषय में उस स्थान पर है जहाँ पृथ्वीराज की बहिन पृथाबाई के विवाह की कथा है । रासो के अनुसार पृथाबाई का विवाह चित्तौड़ के रावल समरसिंह के संग हुआ था । कवि वर्णन करता है कि अन्य तीन लोगों के साथ जल्ह भी दहेज में दिया गया था । पृथा विवाह समय में यह लिखा है—

"श्रीपतसाह सुजान देश थम्भह सँग दिन्नो ।
अरु प्रोहित गुरुराम ताहि अग्या नृप किन्नो ।
रिषीकेस दिय ब्रह्म ताहि धनन्तर पद सोहै ।
चन्द सुतन कवि जल्ह असुर सुर नर मन मोहै ।
कविचन्द कहै बरदाय बर फिर सुराज अग्या करिय ।
करि जोर कह्यो पीयलनृपति तव रावर सतभांवर फिरिय" ।।

समरसिंह का रासो में अनेक स्थानों पर वर्णन है । जयचन्द ने इन्हें अपनी ओर मिलाने का उद्योग किया था पर वे सदा पृथ्वीराज का साथ देते रहे और अन्त में शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज के अन्तिम युद्ध में मारे गये । उस समय पृथाबाई उनके शरीर के साथ सती हुईं । सती होने के पहले उन्होंने अपने पुत्र को एक पत्र लिखा था जिसमें सूचना दी थी कि श्री हजूर समर में मारे गये और उनके संग रिषीकेश जी भी वैकुंठ को पधारे हैं । रिषीकेश जी उन चार लोगों में से हैं जो दिल्ली से मेरे संग दहेज में आये थे, इसलिये इनके वंशजों की खातिरी रखना । "ने पाछे मारा च्यारी गरां का मनषां की पाती राष जो ।

ई मारा जीव का चाकर हे जो थासु कदी हरामषोर निवेगा।" यह पत्र माघ सुदी 12 अनन्द विक्रम संवत् 1157 (वि० सं० 1248) का लिखा है। यह पत्र परवाने के समान माना जाता था, इसलिये जब यह पुराना हो गया तो संवत् 1751 में उदयपुर के महाराणा जयसिंह ने इसे पुनः लिख कर अपनी सही कर दी। नये परवाने में ऊपर लिखे वाक्यों को उद्धृत करके यह लिखा है—"ओ लष्यो हो जो देषेम नबो करा देवाणो जो थे अणी राज का स्यामषोर हो।" अतएव यह स्पष्ट है कि जल्ह दहेज में चित्तौड़ दिया गया था और वहाँ यह प्रतिष्ठाप्राप्त हुआ था। कहा जाता है कि मेवाड़ राज्य का "राजौरा राय" वंश जल्ह से ही प्रारम्भ होता है।

(3) तीसरा उल्लेख जल्ह का उस समय पर है जब अंतिम लड़ाई हो चुकी है और पृथ्वीराज शहाबुद्दीन के बन्दी हो गये हैं। अपने सखा तथा राजा के पकड़ जाने पर चन्द को बड़ा दुःख हुआ। उसने अपने राजा के पास जाने की ठानी। उसकी स्त्री ने उसे बहुत समझाया पर चन्द ने एक भी किसी की न सुनी। इस स्थान पर रासो में जो पति-पत्नी का सम्भाषण दिया है वह बड़ा ही मनोहर तथा उत्साहवर्द्धक है। अन्त में यह लिखा है—

उत्तर जानि त्रिया पय लागी।
तुम पिय नाद अनाहृद जागी ॥
जोग जुगति उद्धारन सामं।
दो दो गल्ह सरै किम कामं ॥

चन्द वाक्य।

सकल योग सांइ सुधम्भ। तप जप सांई ध्रम्भ।
मोहि मुगति सूझत मरम। सुजस कित्ति गुन क्रम्म।
दिवस रयन राजन सुमति। अरु गज्जनवै रोस।
मन बच क्रम एकंग होय। सामि उधारौं दौस।
उभय सत्त नव रस त्रिगुन। किय पूरन गुन तत्त।
रासौ नाम उदद्धि जुति। गहौ मत्ति मै सत्ति ॥

इस प्रकार कवि कहता है कि जब तक मैं स्वामी का उद्धार न करूँगा मुझे चैन नहीं पड़ेगा। मैंने उसकी कीर्ति लिख ली है, वह सागर के समान है। इस कीर्ति रूपी रासो को चन्द ने जल्ह को सौंप कर सब बातें समझा दीं और आप गजनी की राह ली—

दहति पुत्र कविचन्द कै, सुन्दर रूप सुजान ।
इक्क जल्हन गुन बावरौ, गुन समंद ससि मान ।।
आदि अंत लगि वृत्तमन, व्रन्न गुनी गुनराज ।
पुस्तक जल्हन हथ्थ दे, चलि गज्जन नृप काज ।।

राजा रैनसी समय में लिखा है—

प्रथम वेद उद्धार, वंभ मछहृत्तन किन्नो ।
दुतिय वीर बाराह, धरनि उद्धरि जस लिन्नो ।
कौमारक नभदेस, धरम उद्धरि सुर सष्षिय ।
कूरम सूर नरेस, हिंद हद उद्धरि रष्षिय ।
रघुनाथ चरित हनुमंत कृत,
भूप भोज उद्धरिय जिम ।
प्रथिराज सुजस कविचंद क्रित,
चंद नंद उद्धरिय इम ।।

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि जिस प्रकार कादम्बरी के रचयिता बाणभट्ट के अधूरे काम को उसके पुत्र ने अंशतः पूर्ण किया उसी प्रकार हिन्दी के आदि काव्य को चन्द पूरा नहीं कर सका। अन्तिम लड़ाई के अनन्तर उसको अपने प्यारे राजा के उद्धार की उत्कंठा ने अव्यवस्थित कर रखा था और उसी ओर वह अपने चित को लगाये हुए था, पर साथ ही उसे भय था कि कहीं इस उद्योग में मेरा शरीरपात हो जाय तो मेरे साथ ही मेरे राजा की कीर्ति का भी लोप हो जायगा। इसलिये उसने सब कथा को "उभय सत नव रस त्रिगुण" दिनों में पूरा करके अपने पुत्र जल्ह के हवाले किया। जल्ह भी लिखता है कि जिस प्रकार हनुमंतकृत रघुनाथ चरित का भोजराज ने उद्धार किया था उसी प्रकार कवि चंद-कृत पृथ्वीराज सुजस का चंद के पुत्र [जल्ह] ने उद्धार किया। इन बातों से यह स्पष्ट है कि पृथ्वीराजरासो का संस्कार, उसका क्रम आदि सब जल्ह की कृति है। साथ ही यह भी निश्चय है कि बड़ी लड़ाई के अनन्तर की कथा अर्थात् बानवेध समय और रैनसी समय तो पूर्णतया उसी की रचना है तथा बड़ी लड़ाई का कम-से-कम अंतिम भाग उसका लिखा है।

जल्ह की कविता के विषय में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि चन्द का यह प्रिय पुत्र था और निस्संदेह कवित्व शक्ति में अपने पिता का वात्सल्य भाजन था। चंद ने स्वयं लिखा है कि इसके "मुख वसै देवि अंबिका सार।" जल्ह की

कविता में वह प्रौढ़ता और गम्भीरता नहीं पायी जाती जो चंद की रचना में पद-पद पर मिलती है और न उसका वर्णन अपने पिता के समान उत्साहवर्द्धक ही है। नीचे जल्ह की कविता के कुछ चुने हुए उदाहरण दिये जाते हैं। यदि मेवाड़ के राजौरा राय वंश के इतिहास की विशेष छान-बीन की जाय तो कदाचित् उसके आदि पुरुष जल्ह के विषय में अनेक नवीन बातें ज्ञात हो सकें।

जल्ह पृथ्वीराज की शब्दवेधी बाण विद्या की प्रशंसा करता हुआ यह कहता है—

नयन बिना नरघात, कहौं ऐसी कहु किद्धी।
हिंदू तुरक अनेक, हुए पै सिद्ध न सिद्धी।
धनि साहस धनि हथ्थ, धनि जस वासनि पायौ।
ज्यौं तरु छुट्टै पत्र, उडत अप सत्तियौ आयौ।
द्विष्षैं सुसथ्थ यौ साह कौं, मनु नछित्र नभ तें टर्यौ।
गोरी नरिंद कवि चंद कहि, आय धर पर इम पर्यौ॥

मृत्यु पर पृथ्वीराज का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

पर्यौ संभरी राइ दीसै उतंगा,
मनों मेर बज्री कियं शृंग भूंगा।
जिनें बार बारं सुरत्तान साह्यौ,
जिनें भंजि के भीम चालुक्क गाहयौ।
जिनें भंजि मैवात द्वै बार बंध्यौ,
जिनें नाहरं राइ गिरनार संध्यौ।
जिनें भंजि थट्टा सुकढ़्यो निकंदं,
जिनें भंजि महिपाल रिनथंभ दंदं।
जिनें जीति जद्दों समीव्रत्त आनी,
जिनें भंजि कमधज्ज रष्यौ जुपानी।
जिनें भंजि पंडा नु उज्जैन मांही,
परंमार भीमंग पुत्री विवाही।
जिनें दौरि कनवज्ज साहाय कीयौ,
जिनें कंगुरा लेय हम्मीर दीयौ।
जिनें बीलि कज बालुका षेत ढाह्यौ,
जिनें गाहि रा पंग संजोग लायौ।

भाए राइ राजा अनेकं सुथानं,
किनें सक्ष कै सथ्थ मुक्यौ न बानं।
इनें संभरी राई साहाब संध्यौ,
उभै दीन जासं पराक्रम्म बंध्यौ।
सबं देवहूरं पुहप्पं वधारा,
सुरं जोति जोतिं सजोति समारा।
तिनक्की उपम्मा कवी चंद भाषी,
मिले हंस हंसं रवीचंद साषी।

जल्ह रासो की कथा समाप्त करके, माहात्म्य इस प्रकार वर्णन करता है—

नव रस विलास रासौ विराज,
एकेक भाषा अन्नेक काज।
सो सुनय विविध रासौ विवेक,
गुन अनंत सिद्धि पावहि अनेक।
सूरत दान विग्यान मान,
नाटक्क गेय विद्या विनान।
चातुरी भेद बचनह विलास,
गति गरम नरम रस हास रास।
गति साम दाम भर दंड भेद,
सब काम धाम तृब्वान वेद।
बाचंत कवित्त कारन्न गोप,
बर विनय बिद्धि बुज्झय सदोप।
विधि सस्त्र-सार रिम बहन भार,
गति मान दान निरबान कार।
चौबरन धरम कारन्न विवेक,
रस भाष भेय विग्यान नेक।
पौरान सकल कथ अथ्थ भाय,
भारथ्थ अग्थ वेबंन ताय।
कलि काव्य रस्स प्राहा सरंग,
बंधनिय छंद बुज्झे सुजंग।
नेव्वेक दान विच्चार सार,

गति बाम बाम रति रंग भार।
नव सपत कला बिच्चार वेद,
विज्ञान थान चौरासि भेद।
गति पंच अरथ विग्यान मान,
उप्पमा जेन मति अंग थान।
रितु रस रसानि वेलास गत्ति,
मंतन सुमन्त आभास अत्ति।
भोगवन पहु मिति बिच्चार विद्धि,
अरु इष्ट देव उप्पाय सिद्ध।
गंधव्व कला संगीत सार,
पिंगलह भेद लघु गुरु प्रचार।
पिता मात पति परिचरन भेय,
राजंग राज राजंत जेय।
पर ब्रह्म ध्यान उद्धार सार,
विधि भगति विस्व तारन्न पार।
आधुनह वेद हय गय विनान,
ग्रह गति मति जे तिम्ग थान।
कलि सार सार मुझ्झहि विचार,
संभलहि भूप रासौ प्रचार।
पावहि सु अरथ अरु ध्रम्म काम,
निरमान मोष पावहि सुधाम।

यह वृत्तांत चन्द और उसके पुत्र जल्ह का है। वास्तव में ऐसा अपूर्व गंथ हिन्दी में दूसरा नहीं है। इस ग्रन्थ पर जैसा कि आगे लिखा जा चुका है, बहुत कुछ आक्षेप हुए हैं। पहले विचारने की बात यह है कि यह ग्रन्थ बहुत पुराना है यहाँ तक कि इसके पहले का कोई ग्रन्थ हिन्दी में मिलता ही नहीं। दूसरे इसका राजपूताने में बहुत कुछ प्रचार रहा है यहाँ तक कि अनेक राज्यों का इतिहास इसी के आधार पर बना है। तिस पर यह काव्य ग्रंथ है। अतएव उसमें अत्युक्ति का होना सम्भव ही नहीं वरन् आवश्यक भी है। इस अवस्था में जो लोग यह आशा करते हैं कि चन्द के ग्रन्थ को हम केवल निरे इतिहास ग्रन्थ की दृष्टि से जाँचें, वे भूल करते हैं। निस्संदेह इसमें ऐतिहासिक बातें भरी पड़ी हैं पर यह इतिहास ग्रन्थ नहीं है, यह एक महाकाव्य है। अतएव इस पर विचार करते समय

दोनों इतिहास और काव्य के लक्षणों पर ध्यान देकर तब इस पर अपना मत प्रकाशित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इसकी आदि प्रति हमें प्राप्त नहीं है और न उसके प्राप्त होने की आशा ही है। जो प्रतियाँ इस समय प्राप्त हैं वे न जाने कितनी प्रतिलिपियों के बाद लिखी गई हैं। जिन्होंने गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरित-मानस को देखा और उसकी प्राचीन प्रतियों को आधुनिक छपी प्रतियों से मिलाया होगा उन्होंने पाया होगा कि तुलसीदास की असल रामायण में और आज-कल की छपी रामायणों में आकाश-पाताल का अंतर है। केवल शब्दों का ही परिवर्तन नहीं है वरन् क्षेपकों की यहाँ तक भरमार हुई है कि सात के स्थान पर आठ कांड हो गये हैं।[1] जब तुलसी कृत रामायण जैसे सर्वमान्य, सर्वप्रचलित और सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ की यह अवस्था हो सकती है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है कि चन्द के महाकाव्य में भी क्षेपक भर गये हों और वह हमें आज आदि रूप में प्राप्त न हो। आशा है कि समय पाकर और प्रतियों के मिलने पर इसका बहुत-कुछ निर्णय हो सके परन्तु जब तक यह न हो तब तक जो प्रतियाँ इस समय प्राप्त हैं उनके आधार पर इसको प्रकाशित करना और इसका रसास्वादन करना कदापि अनुचित नहीं है।

एक बड़ा भारी आक्षेप इस ग्रन्थ पर यह लगाया जाता है कि इसमें जितने सम्वत् दिये हैं वे सब झूठे हैं। पृथ्वीराज का राजत्व काल तीन मुख्य घटनाओं के लिये प्रसिद्ध है—(1) पृथ्वीराज और जयचन्द का युद्ध (2) कालिंजर के परमर्दिदेव का पराजय और (3) शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज का युद्ध जिसमें पृथ्वीराज बन्दी बने और अन्त में मारे गये। इस स्थान पर यह उचित होगा कि पृथ्वीराज, जयचन्द, परमर्दिदेव और शहाबुद्दीन का समय ठीक-ठीक जान लिया जाय और इस बात का निर्णय दानपत्रों तथा शिलालेखों से हो तो अति उत्तम है क्योंकि इनसे बढ़कर दूसरा कोई विश्वासदायक मार्ग इस बात के जानने का नहीं है।

अब तक ऐसे चार दानपत्रों और शिलालेखों का पता लगता है जिन पर पृथ्वीराज का नाम पाया जाता है। इनका समय विक्रम सम्वत् 1224 और 1244 के बीच का है।

जयचन्द के सम्बन्ध में 12 दानपत्रों का पता लगा है। इनमें दो पर जो विक्रम सम्वत् 1224 और 1225 के हैं इसे युवराज करके लिखा है। शेष 10

---

1. यह आनन्द की बात है कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा और इंडियन प्रेस के उद्योग से इस पुस्तक का एक शुद्ध संस्करण प्रकाशित हो गया है।

पर महाराजाधिराज जयचन्द यह नाम लिखा है। इनका समय विक्रम सम्वत् 1226 से 1243 के बीच में है।

कालिंजर के राजा परमर्दिदेव के जिनको पृथ्वीराज ने पराजित किया था, छह दानपत्र और शिलालेख वर्तमान हैं जिनका समय विक्रम सम्वत् 1223 से 1258 तक है। इनमें से एक पर जो विक्रम सम्वत् 1239 का है पृथ्वीराज परमर्दिदेव के युद्ध का वर्णन है।

शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी का समय फारसी इतिहासों में सिद्ध है और उसके विषय में किसी का मतभेद नहीं है। मेजर रिवर्टी तबकाते नासरी के अनुवाद के ४५६ पृष्ठ में लिखते हैं कि 587 हिजरी (सन् 1190 ई०) में उन सब ग्रंथकारों के अनुसार जिनसे मैं उद्धृत कर रहा हूँ तथा अन्य अनेक ग्रंथकारों के अनुसार जिनमें इस ग्रंथ का कर्ता भी सम्मिलित है, राय पिथौरा के साथ शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी का पहला युद्ध हुआ और उसका दूसरा युद्ध जिसमें राय पिथौरा पराजित हुआ और मुसलमान लेखकों के अनुसार मारा गया निस्संदेह हिजरी सन् 588 (1191 ई०=वि० सं० 1248) में हुआ।

ऊपर जिन सन्-संवतों का वर्णन किया जा चुका है वे पृथ्वीराज, जयचन्द और परमर्दिदेव के दानपत्रों तथा शिलालेखों से लिये गये हैं और एक-दूसरे को शुद्ध और प्रामाणिक सिद्ध करते हैं। निदान इन सबसे यह सिद्धान्त निकलता है कि पृथ्वीराज विक्रम तेरहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध और ईस्वी बारहवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में वर्तमान था और उसका अन्तिम युद्ध विक्रम संवत् 1248 (ई० 1191) में हुआ।

जिन शिलालेखों का ऊपर उल्लेख हो चुका है उनके अतिरिक्त अर्णोरज और सोमेश्वर के भी शिलालेख और दानपत्र मिलते हैं जो ऊपर दिये हुए सन्-संवतों की प्रामाणिकता और ऐतिहासिक सत्यता को सिद्ध करते हैं।

अब हम रासो के सन्-संवतों पर विचार करेंगे। चार भिन्न-भिन्न संवतों पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि वे अन्य इतिहासों में दिये हुए संवतों से कहाँ तक मिलते हैं। चन्द ने पृथ्वीराज का जन्मकाल संवत् 1115 में, दिल्ली गोद जाना 1122 में, कन्नौज जाना 1151 में और शहाबुद्दीन के साथ युद्ध 1158 में लिखा है। तबकाते नासरी में अन्तिम युद्ध का समय जिसमें पृथ्वीराज पराजित हुआ और बन्दी बनाया गया, 588 हिजरी (1248 वि०) दिया है। अब यदि 1248 में से 1158 घटा दिया जाय तो 90 बाकी बचता

है। इसके अतिरिक्त इन चार भिन्न-भिन्न अवसरों पर पृथ्वीराज के वयक्रम का हम ध्यान करें तो यह सिद्ध होता है कि कथित घटनाएँ 1205, 1212, 1241 और 1248 में हुईं। न कि 1115, 1122, 1151 और 1158 में जैसा कि रासो में दिया है। यह भेद नीचे दिये कोष्टक से स्पष्ट हो जायगा।

घटनाएँ	रासो के संवत्	पृथ्वीराज की उस समय वय	अन्य पुस्तकों का संवत्	अन्तर
जन्म	1115-16	0	1205-6	90-91
गोद जाना	1122-23	7	1212-13	90-91
कन्नौज गमन	1151-52	36	1241-42	90-91
अन्तिम युद्ध	1158-59	43	1248-48	90-91

अब यदि प्रत्येक घटना के संवत् में पृथ्वीराज के जीवन के शेष वर्ष जोड़ दिये जायँ तो सबका समय 1248 हो जाता है। जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि चन्द ने अपने ग्रन्थ में 90-91 वर्ष की भूल की है परन्तु सब स्थानों में समभेद का रहना भूल की गिन्ती में नहीं आ सकता। चन्द ने 90-91 वर्ष का अन्तर अपने ग्रन्थ में वर्णित घटनाओं में क्यों रखा इसका कोई उपयुक्त कारण अवश्य होगा।

"श्रीपत साह सुजान देशथम्भह संग दिन्नो" इत्यादि। इस पद से प्रकट होता है कि जिन घरों का वर्णन पृथावाई ने अपने पत्र में दिया है उनके विषय में चन्द का कथन है कि वे दहेज में रावल समरसिंह को दिये गये थे। श्रीपत साह दैपुरा महाजन वंश का, गुरुराम पुरोहित सनावढ़ ब्राह्मणों का, ऋषीकेश आचारज (दायमा) ब्राह्मणों का और चन्द का पुत्र जल्ह राजौराराय वंश का आदि पुरुष था। ये चारों लोग पृथाबाई के साथ चित्तौड़ गये थे और अब तक इनके वंशजों की मेवाड़ दरबार में विशेष प्रतिष्ठा है।

(2) पृथ्वीराज का अन्तिम युद्ध जिसमें रावल समरसिंह मारे गये संवत् 1157 के माघ शुक्ल पक्ष में हुआ था जो समय चन्द के दिये हुए समय से मिलता है।

(3) कविराजा श्यामलदास जी और उनके अनुयायी लोगों के न मानने

पर भी यह बात सिद्ध है कि पृथाबाई का विवाह समरसिंह के साथ हुआ। जो वंशवृक्ष मेवाड़ वंश का उस दरबार से प्रकट किया जाता है वह ठीक नहीं माना जा सकता। मुहम्मद अब्दुल्ला लिखित "तारीख तुहफै राजस्थान" में जो मेवाड़ दरबार की ओर से छापी गई थी और जिसे स्वयं महाराणा जी तथा कविराजा श्यामलदास जी ने सुना और स्वीकार किया था उदयपुर वंश की नामावली दी हुई है जिसमें से दो नाम जानबूझ कर निकाल दिये गये हैं—एक तो उदयसिंह का और दूसरा बनबीर का, यद्यपि आगे चलकर यह लिखा गया है कि वे दोनों उदयपुर की गद्दी पर बैठे थे। इस स्पष्ट पूर्वापर विरोध का कारण भी खोजने पर उसी ग्रन्थ से मिल जाता है। उसमें लिखा है कि इन दोनों में से एक तो दासीपुत्र था और दूसरे ने अपनी कन्या को मुसलमान को देने को कहा था। अतएव एक ऐसे वंश ने जो बहुत दिनों से राजपूताने के अन्य वंशों में प्रसिद्ध तथा श्रेष्ठ चला आता है यह उचित न समझा कि ऐसे दो नाम उसके वंश में बने रहें जिनके कारण उसके निर्मल यश में कलंक लगता हो। बस फिर क्या था दोनों नाम वंशावली में से अलग कर दिये गये। यद्यपि वंश-गौरव के विचार से यह कार्य किसी प्रकार प्रशंसनीय माना जा सकता है पर इतिहास के लिए इससे बढ़कर दूसरा कोई घोर पाप नहीं हो सकता। इस बात से स्पष्ट है कि जो वंश इस प्रकार का कार्य कर सकता है वह यदि इस बात को कहे कि पृथाबाई का विवाह समरसिंह के साथ हुआ ही नहीं और समरसिंह पृथ्वीराज की पताका के अधीन होकर न लड़े और न मारे गये तो इतिहासवेत्तागण उन पत्रों और परवानों पर जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है ध्यान देकर स्वयं विचार और न्याय कर सकते हैं कि यह बात कहाँ तक सत्य मानी जा सकती है।

इन सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक घटना ऐसी है जिस पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि समरसिंह पृथ्वीराज के समकालीन थे तो उनके पुत्र रतनसी का युद्ध अलाउद्दीन खिलजी के साथ 1302-03 ई० में कैसे हुआ। सादड़ी में जैनी शिलालेख में जिस पर 1496 विक्रम संवत् खुदा है और जो राणा कुम्भाकरण के राजत्व काल का है, बाप्पा रावल से लेकर कुम्भाकरण तक राजाओं की नामावली दी है। उसमें लिखा है कि भुवनसिंह ने जिसका नाम समरसिंह के पीछे दिया है, अलाउद्दीन को हराया। तुहफै राजस्थान में जो नामावली दी है उसमें समरसिंह और भुवनसिंह के बीच में 9 राजाओं के नाम और दिये हैं। वे ये हैं—समरसी, रतनसी, करनसी, राहुत, नरपत, दिनकर, तसकरण, नागपाल, कर्णपाल, पृथ्वीपाल, भुवनसिंह। भुवनसिह के पीछे भीमसिंह प्रथम जैसिंह प्रथम

और लक्ष्मण सिंह ये तीन नाम दिये हैं। कर्नल टाड लिखते हैं कि राहुत से लक्ष्मण-सिंह के बीच में 9 राजे चित्तौड़ की गद्दी पर बैठे और थोड़े-थोड़े दिनों तक राज करके सब सुरधाम को सिधारे। इन 9 राजाओं में से 6 लड़ाई में मारे गये। इस सबों ने गया को मुसलमानों से रक्षित रखने के लिये अपने प्राण दिये। पृथ्वी-पाल ने इन मुसलमानों को डरा दिया और अलाउद्दीन के पूर्व तक वे अपने जघन्य कर्म से पराङ्मुख रहे। अब इससे भुवनसिंह का समय 1280 ई० के लगभग होता है और लक्ष्मणसिंह का उससे कुछ पीछे। इससे यह सम्भव जान पड़ता है कि वह रतनसी नहीं था जिसकी स्त्री प्रसिद्ध सुन्दरी पद्मावती के लिये अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का नाश किया वरन् वह लक्ष्मणसिंह था जिसका नाम अब तक इस सम्बन्ध में प्रचलित चला आता है। कविराजा श्यामलदास जी जिस शिलालेख को अपना पक्ष समर्थन करने के लिये उपस्थित करते हैं वह ठीक नहीं माना जा सकता। पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या उसकी पोल भली-भाँति खोल चुके हैं। इन शिलालेखों पर पूर्णतया विश्वास कदापि नहीं किया जा सकता जब तक उनके फोटो न छापे जायँ क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि किसी अन्ध-पक्षपाती ने उनमें 2 के स्थल पर 3 बनवा दिया है।

(4) पृथ्वीराज के परवानों पर जो मोहर है उससे उसके सिंहासन पर बैठने का समय 1122 विदित होता है। यह भी चन्द के दिये हुए समय से मिलता है। रासो के दिल्ली दान समय में लिखा है—

> एकादस संवतः अट्ठ अग्ग हत तीस भने।
> प्रथ सुरित तहाँ हेम सुद्ध मगसिर सुमास गने।
> सेत पक्ख पंचमीप सफल गुर पूरन।
> सुदि मृगसिर सम इन्द जोग सदहि सिध चूरन।
> पहु अनंगपाल अप्पिय पहुनि पुत्तिय पुत्त पवित्त मन
> छंड्यो सुमोह सुख तन वरुनि पत्ती वद्री सजे सरन

तो अब चन्द के अनुसार अनंगपाल ने राज सिंहासन अपने दौहित्र को शुद्ध मन से 1130 – 8 = 1122 की मार्गशीर्ष सुदी 5 को दिया। इससे यह सम्भव है कि पृथ्वीराज गद्दी पर वैशाख सुदी 3 संवत् 1122 का बैठा हो।

इन परवानों और पट्टों की सत्यता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि वे एक-दूसरे की सत्यता को प्रमाणित करते हैं। कुछ फारसी शब्दों के प्रयोग से सन्देह हो सकता है पर यह जान लेने से सन्देह का

कारण दूर हो जाता है कि पृथाबाई दिल्ली से आयी थी जहाँ एक सेना मुसलमानी योद्धाओं की सदा रहती थी और जहाँ लाहौर के मुसलमानी दरबार से दूतों का आना-जाना सदा लगा रहता था. क्योंकि दोनों राज्यों की सीमा मिली हुई थी और पृथ्वीराज के 100 वर्ष पहले से मुसलमानी राज्य पंजाब में स्थापित हो चुका था । इस अवस्था में क्या यह आश्चर्य की बात है कि दिल्ली के रहने वालों की भाषा में कुछ फारसी शब्द मिल गये हों ।

जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि चन्द ने निज रासो में जो सब सन्-संवत् दिये हैं वे अशुद्ध नहीं हैं वरन् वे उस अब्द से ठीक मिलते हैं जो उस समय दरबार के कागजों में प्रचलित था और जो प्रचलित विक्रम संवत् से 90-91 पूर्व था । इसी अब्द से हम यह बात सिद्ध कर सकते हैं कि शिलालेख और परवाने तथा पट्टे सब सत्य हैं । इस नवीन अब्द का आभास हमें इस दोहे से मिलता है—

एकादस सै पंचदह विक्रम जिमि ध्रमसुत्त ।
त्रितिय साक पृथिराज को लिख्यो विप्रगुनगुप्त ।।

इसका तात्पर्य यह है कि जैसे युधिष्ठिर के 1150 वर्ष पीछे विक्रम का संवत् चला वैसे विक्रम के 1150 वर्ष पीछे मैं [चन्द] पृथ्वीराज का संवत् चलाता हूँ । चन्द पुनः लिखता है ।

एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद ।
तिहि रिपु जयपुर हरन को भय पृथिराज नरिंद ।।

अब तक मेवाड़ में यह बात प्रसिद्ध है कि पूर्वकाल में दो विक्रम संवत् थे । कर्नल टाड भी हारावती के वर्णन में इस बात का उल्लेख करते हैं । अब तक 'अनंद' शब्द का अर्थ 'आनन्द', 'शुभ' लगाया जाता था परन्तु पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या का कथन है कि इसका अर्थ 'नन्द रहित' है । नन्द के अर्थ नौ के हैं क्योंकि 'नव नन्दा प्रकीर्तिताः' ऐसा भागवत में लिखा है । 'अ' का अर्थ हुआ शून्य —''अंकानां वामतो गति' के अनुसार अनन्द का अर्थ हुआ '90' और इस संख्या के प्रचलित विक्रम संवत् में से घटा देने से चन्द का संवत् निकल आता है । दूसरा अर्थ अनन्द का यह है—मौर्यवंश का आदि राजा चन्द्रगुप्त हुआ जो महानन्द का दासीपुत्र था । इस वंश के राजा नन्दवंशीय कहलाते थे । सम्भव है मेवाड़ के अभिमानी राजपूतों ने जान-बूझकर इन राजाओं के काल की गणना न करने के उद्देश्य से प्रचलित विक्रम संवत् में से उनका राजत्व काल घटा

दिया और इस 'अनन्द विक्रम संवत्' का प्रचार किया हो। इन अर्थों के अतिरिक्त सबसे उपयुक्त एक दूसरी बात सूझती है जिसे मैं यहाँ लिख देना उचित समझता हूँ। यह बात इतिहास में प्रसिद्ध है कि कन्नौज का राजा जयचन्द अपने को अनंगपाल का उत्तराधिकारी बताता था और कहता था कि दिल्ली की गद्दी पर बैठने का अधिकार मेरा है न कि पृथ्वीराज का। इस कारण पृथ्वीराज और जयचन्द दोनों में परस्पर विवाद रहा और अन्त में दोनों का नाश हुआ। कन्नौज के राजाओं ने जयचन्द तक केवल 90-91 वर्ष राज्य किया था। अतएव आश्चर्य नहीं कि उनके राजत्व काल को न गिनने के प्रयोजन से और उन्हें नन्दवंशियों के तुल्य मानने के अभिप्राय से इस नवीन संवत् का प्रचार किया गया हो।

जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि चन्द के संवत् मनोकल्पित और असत्य नहीं हैं तथा रासो में जो बातें लिखी हैं वे निरी गप्प नहीं हैं। यह सिद्ध कर दिया गया है कि बारहवीं शताब्दी में मेवाड़ में दो संवतों का प्रचार था—एक सनन्द और दूसरा अनन्द विक्रम संवत् और दोनों में 90-91 वर्ष का अन्तर था। अब यह बात स्वतः सिद्ध है कि चन्द का रासो वास्तविक घटनाओं से पूरित महाकाव्य है जैसे कि उस काल के ऐतिहासिक काव्य प्रायः सब देशों में मिलते हैं और अब इसे झूठा सिद्ध करने का उद्योग केवल निरर्थक, निष्प्रयोजनीय तथा द्वेषपूर्ण माना जायगा। पृथ्वीराज और उसके सामंतों का चरित्र इंगलैंड के राजा आर्थर (King Arthur and his round table) से बहुत कुछ मिलता है। अस्तु, इसमें सन्देह नहीं कि यह ग्रंथ सहस्रों मनुष्यों के हाथों में गया और सैकड़ों ने इसे लिखा है। इससे यदि आज हमको इसके पाठ में दोष या कहीं-कहीं गड़बड़ अथवा क्षेपक मिलें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। इससे इस ग्रन्थ के गुण और आदर में किसी प्रकार की अवहेलना नहीं होनी चाहिए।

[नागरी प्रचारिणी पत्रिका,
भाग 16, संख्या 11, सन् 1912]

"रासो" शब्द

हिन्दी भाषा का सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'पृथ्वीराजरासो' है। कुछ पढ़े-लिखे महानुभाव उसी 'रासो' शब्द पर अनेक प्रकार की युक्तियाँ लगाते हैं और वास्तव में यह बात स्पष्ट न हुई कि यह शब्द 'रासो', 'रासा' अथवा 'रासौ' इन तीनों में से क्या है, इसका शुद्ध रूप क्या है और यह किस भाषा का शब्द है और किस अर्थ में प्रयुक्त होता है इन बातों का जान लेना आवश्यक है। अतएव हम पहले इस विषय पर पाँच महाशयों की सम्मति यहाँ पर उद्धृत करके तब अपना मत लिखेंगे।

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या जी, जिन्होंने पृथ्वीराजरासो के एक खण्ड को छपवाया है और वास्तव में उसके पूर्ण ज्ञाता हैं लिखते हैं—"हिन्दी 'रासौ' शब्द संस्कृत 'रास' अथवा 'रासक' से है और संस्कृत भाषा में 'रास' के शब्द, ध्वनि, क्रीड़ा, शृङ्खला, विलास, गर्ज्जन, नृत्य और कोलाहल आदि" के अर्थ और 'रासक' के 'काव्य अथवा दृश्य काव्यादि' के अर्थ परम प्रसिद्ध हैं। मालूम होता है कि ग्रन्थकार ने संस्कृत 'भारत' शब्द के सदृश 'रासौ' शब्द को भावार्थ से महाकाव्य के अर्थ में ग्रहण कर प्रयोग किया जाता है। यह 'रासौ' शब्द आजकल की ब्रजभाषा में है भी, अप्रचलित नहीं है, किन्तु अन्वेषण करने से वह काव्य के अर्थ के अतिरिक्त अन्य अनेक अर्थों में भी प्रयोग होता हुआ विद्वानों को दृष्ट आवेगा। जैसे हमने चौदै के गदर को एक रासौ जोड्यौ है—कल बहादर सिंघ जी की बैठक में बन्दर की गदर को रासौ गायो हौ— फिर मैंने भरतपुर के राजा सूरजमल को रासौ गायो सो सब देखते ही रह गये—अजी ये कहा रासौ है—मैं तो कल्ल एक रासे में फंस गयौ यासूं तुमारे वहां नांय आय सक्यो—अजी राम गोपाल बड़ौ दिवारिया है, वाके रासे में फंस कर रुपया मत बिगाड़ दीजो—हमनै विनको रासो निपटाय दीनो है देखौ साव। रासे के संग रासौ है बुरी मत मानो।"

डॉक्टर जी० ए० ग्रियर्सन महोदय लिखते हैं—

"The word about which you ask may be spelt either Rasa or Rasua, the former is the ordinary Hindi form, the latter comes from Braj. Probably रासो would be the correct Marwari

form. The word means 'chronicle.' Thus Ras-mala means 'the garland of chronicles'. It is probably derived from the Sanskrit रासक or रास, but there are some doubts as the word means a kind of theatrical performance (See the Sahitya Darpan) and not a historical work. Moreover, in old Marwari, the word is some times spelt रायसो, the origin of which (if it is not a mistake) is obscure. It is just possible that it is derived from राजादेश, just as आयसु is derived from आदेश।"

उदयपुर के पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी जो मेवाड़ के ऐतिहासिक विभाग के अध्यक्ष हैं, लिखते हैं—"मैं 'रासा' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'रास' शब्द से होना मानता हूँ। 'रास' शब्द का अर्थ विलास भी होता है (शब्द कल्पद्रुम, चतुर्थ खण्ड, पृ० 159) और 'विलास' शब्द चरित, इतिहास आदि के अर्थ में प्रचलित है। जप विलास, भीम विलास आदि ऐतिहासिक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं और प्राचीन गुजराती भाषा में कई राजाओं के इतिवृत्त 'रास नाम' से प्रसिद्ध हैं (कुमारपाल रास, श्रीपाल रास आदि)। कर्नल टाड के पीछे फार्वस साहब ने भी रासमाला नामक गुजरात का इतिहास लिखा है, जिसमें भी 'रास' शब्द चरित, इतिहास, वृत्तान्त आदि का सूचक है। कोई-कोई विद्वान् 'रासा' शब्द की उत्पत्ति रहस्य से होना अनुमान करते हैं; परन्तु रहस्य का 'रासा' रूप किसी प्राकृत ग्रन्थ या लेख में मेरे देखने में नहीं आया। 'रहस्य' का प्रकृत रूप 'रहस्स' तो जहाँ-तहाँ मिलता है। वि० सं० 1029 के बने हुए 'पाश्यलच्छी' नामक प्राकृत कोश में 'रहस्य' का प्राकृत रूप 'रहस्स' (गुह्य के अर्थ में) और 'रास' शब्द का 'रासा' नृत्य के अर्थ में दिया है। संमद्धो संबही रासा हल्लिस ओखम उचियं। गुञ्झं रहस्य मासा मणो रहो कोसयं च सपं ॥271॥ गटिङ्कन का छपा हुआ पृष्ठ 50 ॥ ऐसी ही 'गडउवहो' नामक प्राकृत ऐतिहासिक काव्य में तखु सिरीण रहस्सं और शिच्चधाणदार रहस्स रक्खणों। रंभामजरी नाटिका में कई 'सराणं करकव्व रहस्स ण कोवि वूज्झेदिं; और महावंसो, अभिधान दीपिका अनेक पाली ग्रन्थों में भी रहस्य का प्राकृत रूप रहस्स लिखा देखा है। परन्तु रहस्य के स्थान में 'रासो' मेरे देखने में नहीं आया। ऐसे ही 'रासक' शब्द से 'रासा' की उत्पत्ति मानने वालों से भी मैं सहमत नहीं हूँ, क्योंकि रासक एक प्रकार के नाटक-दृश्यकाव्य का नाम है। परन्तु चरित्र या साधारण काव्य के अर्थ में उसका प्रयोग होना पाया नहीं जाता। 'रासौ' शब्द मेरी समझ में अशुद्ध है। हिन्दीमें

उसका शुद्ध रूप 'रासा' लिखना चाहिये। प्राकृत और राजपूताने की भाषा में रासो बोला जाता है, परन्तु रासौ का प्रयोग तो वहाँ भी अज्ञात है। प्राकृत में पुँलिङ्ग शब्दों के लिए प्रथमा के एकवचन का प्रत्यय 'ओ' है। अदन्तात् पुंसि प्रथमैक वचनस्य सोः स्थाने ओ स्यात् (हृषीकेश का प्राकृत व्याकरण, अतः ओ त्सोः ॥ 51 ॥ अकारान्ताद्धकार परस्य सोः स्थाने ओत्वं भवति। वच्छो ॥ वसहो पुरिसो। वृथा वृषभः। पुरुषः (वररुचि का प्राकृत प्रकाश) और इस नियम के अनुसार प्राकृत में अकारान्त पुँलिङ्ग के नाम ओकारान्त होते हैं (अणिलो, गन्धवहो मारुओ, समीरो, पहंजड़ो पवणो। विणय सुओ, खयरांओ, तकवो, पन्न थरिऊ, गरुलो ॥ राया सिमुक सात वाहनो सिर मितो। रायो च सिरि सात कनिनो। कुमारो सात वाहनो (नायाधार की गुफा के लेखों में, आर्कियालाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, इन्दौर केव टेम्पल्स, पृष्ठ 64)। प्राकृत से निकली हुई गुजराती और राजस्थानी भाषाओं में अकारान्त और आकारान्त शब्द बहुधा ओकारान्त बोले और लिखे जाते हैं। (घोड़ो आयो, लड़को आयो, काको अजमेर गयो, रामो घरे गयो आदि राजस्थानी भाषा में, और घोड़ो लान्यौ, छोकरो आन्यो आदि गुजराती भाषा में)। इसलिये राजपूतान की भाषा में और प्राकृत में 'रासो' लिखा जाता है। परन्तु उक्त भाषाओं के ओकारान्त शब्दों को हिन्दी में वैसे-के-वैसे बिना किसी विशेष कारण के नहीं लिख सकते। अतएव हिन्दी में रासा लिखना ही मेरी राय में ठीक जँचता है परन्तु 'रासौ' तो सर्वथा अशुद्ध है। 'रासा' शब्द का कई अर्थ में प्रयोग किया जाता है परन्तु पुस्तकों के नामान्त में जो 'रासा' शब्द आता है (पृथ्वीराज रासा, रायमल रासा, हम्मार रासा आदि) वहाँ तो उसका अर्थ चरित, इतिहास आदि ही मानना पड़ता है।"

इस विषय पर जोधपुर के मुन्शी देवीप्रसाद जी लिखते हैं—'रासे' के मायने कथा के हैं। यह रूढ़ि शब्द है। एकवचन रासो और बहुवचन रासा है। मेवाड़ ढूटाड और मारवाड़ में झगड़े को भी रासा कहते हैं। जैसे यदि कई आदमी झगड़ रहे हों या वाद-विवाद कर रहे हों तो तीसरा आदमी आकर पूछेगा 'काँई रासो है।' लम्बी-चौड़ी वार्ता को भी रासो और रामायण कहते हैं। बकवाद को भी रामायण और रासा ढूठाड़ में बोलते हैं। 'काँई रामायण है' क्या बकवाद है। यह एक मुहावरा है। ऐसे ही रासा भी इस विषय में बोला जाता है जैसे 'काँई रासो है।"

उदयपुर के पण्डित रामनारायण गूदड़ जी लिखते हैं—"रासा या रासो शब्द रहस या रहस्य का प्राकृत रूप मालूम देता है, जिसका अर्थ गुप्त बात या

भेद का है। जैसे कि शिव रहस्य, देवी रहस्य आदि ग्रन्थों के नाम हैं, वैसे ही शुद्ध नाम पृथ्वीराज रहस्य का प्राकृत में पृथ्वी रास, रासा या रासो हो गया। रहस्य के अतिरिक्त रास शब्द से भी रासा या रासो रूप होना सम्भव है। परन्तु ग्रन्थ चरित या कथा के अर्थ में उसका कुछ सम्बन्ध नहीं पाया जाता। अतः रहस्य ही का रासा शब्द बना हो ऐसा मेरा ख्याल है। 'रासो' यह रूप रास शब्द का कैसे हुआ सो कुछ मेरे ख्याल में नहीं आता। क्योंकि प्राकृत में औकारान्त शब्द देखे नहीं गये।"

ऊपर जो-जो सम्मतियाँ उद्धृत की गई हैं उनसे यह स्पष्ट है कि यह शब्द 'रासौ' नहीं है। इसका शुद्ध रूप रासो है, जिसका अब तक राजपूताने में प्रचार है। कुछ लोगों की यह सम्मति है कि हिन्दी में इसका रूप 'रासा' होना चाहिये। पर इसका कोई युक्तिसंगत कारण नहीं देख पड़ता, जिससे 'रासो' शब्द का शुद्ध बदल कर एक नया रूप बना दिया जाय। मेरी सम्मति है कि यह शब्द रासो है और इसको इसी प्रकार से लिखना उचित है। मुंशी देवीप्रसाद जी इसका प्रयोग 'रासो' एकवचन में और 'रासा' बहुवचन में बताते हैं यह समझ में नहीं आता और न कोई उदाहरण दिखा कर इस बात को स्पष्ट करते हैं। रासो का अर्थ कुछ लोग लड़ाई या झगड़ा बताते हैं जैसे पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो, खुमान रासो इत्यादि। परन्तु अब तक ऐसे भी ग्रन्थ वर्तमान हैं जिनमें साधु-सन्त-महात्माओं के जीवन-चरित्र दिये हैं और उनमें भी रासो शब्द प्रयुक्त है। जैसे—शील रासो, अढ़ाई को रासो इत्यादि। अतएव रासो शब्द के अर्थ चरित वा वृत्तान्त के हैं और यह रास शब्द से निकला है।

(१६०२)

———

बीसलदेव रासो

सन् 1900 ईस्वी मे हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का अनुसंधान करते-करते मुझे जयपुर में बीसलदेव रासा नामक एक अति प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त हुआ। यह $8\frac{1}{2}$ इंच लम्बे और 8 इंच चौड़े देशी कागज के पन्नों पर कुछ मारवाड़ी से मिलते हुए नागरी अक्षरों में लिखा हुआ है। सब मिल कर 32 पृष्ठ हैं और श्लोक संख्या लगभग 624 के हैं। देखने में यह जीर्ण और लिखावट प्रायः अशुद्ध है। इस समय यह ग्रन्थ विद्याप्रचारिणी जैन सभा जयपुर के अधिकार में है। मैंने इस ग्रन्थ के प्रथम पृष्ठ का फोटो और समस्त ग्रन्थ की नकल ले ली है। आशा है कि यह टिप्पणी सहित "नागरी प्रचारिणी ग्रन्थमाला" में प्रकाशित हो। इस लेख द्वारा इस ग्रन्थ के विषय में जो मेरे सिद्धान्त हैं, उन्हें मैं कृतविद्य लोगों के सम्मुख उपस्थित करके आशा करता हूँ कि वे लोग इस पर पूर्ण विचार करेंगे। परन्तु इस ग्रन्थ सम्बन्धी ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार करने के पूर्व यह उचित होगा कि इसका सारांश दे दिया जाय। इसलिये पहले उसे लिख कर तब मैं अपना मत दूँगा।

(बीसलदेव रासो की कथा का सारांश)

कवि नरपति नाल्ह पहले सरस्वती की और फिर गणेश की वन्दना करके बीसलदेव रासो को प्रारम्भ करता है। धार नामक एक नगर है और वहाँ का राजा भोज परवार है, जिसके अस्सी सहस्र हाथी और पाँच अक्षौहिणी सेना है। भोज की बेटी अत्यन्त रूपवती थी, उसका नाम राजमती था और उसने बालपन ही में शिव की तपस्या की थी। उसके सयानी होने पर एक दिन रानी ने राजा से उसके विवाह की चर्चा की जिसे सुन राजा ने पांडे और ज्योतिषी को पत्रा (पञ्चाङ्ग) लेकर बुलवाया। निदान शुभ मुहूर्त दिखला कर राजमती के उपयुक्त वर ढूँढने के लिए राजा ने चारों खंडों में पुरोहित को भेजा। पांडे ने जैसलमेर, अयोध्या और दिल्ली (ढिल्ली) देखी, तथा मथुरा के मण्डन राय को भी देखा पर कोई उसके मन न भाया। तब उसने बीसलराय को देखा और उसी को राजमती का वर स्थिर किया, जिस पर राजा (भोज) ने सुपारी लगन लेकर

पांडे को अजमेर भेजा कि चौरी पर बैठा कर बीसलदेव का पैर पखाल आवे। इस आज्ञा को पाकर पांडे और प्रधान अजमेर गये और राजा की जुहार करके और माणिक्य मोती से चौक पूर कर उन्होंने उसका पैर पखाला और राजमती का सम्बन्ध उसके साथ कर लिया। यह समाचार अजमेर नगर में फैल गया और घर-घर मंगलाचार होने लगे क्योंकि परमार जाति की कन्या के आने से चहुवानों की वंश-मर्यादा अत्यन्त बढ़ गयी। फिर बीसलदेव ने सोना आदि धन तथा पान देकर पांडे का सत्कार किया और उसने लौट कर राजा भोज को सब शुभ समाचार कह सुनाये। इसके अनन्तर बीसलदेव ने खण्ड-खण्ड के सब मिला कर चौरासी राजाओं को नेवता भेजा। नेवते में रोली-चन्दन और पका हुआ पान भेजा गया। सब निमंत्रित राजाओं के एकत्रित हो जाने पर गणेश-पूजन करके बीसलदेव ब्याहने चला। उस समय आकाश में देवतागण कौतुक देखने आये, और अप्सरागण राई नोन उतारने लगीं। बीसलदेव के साथ आठ सहस्र नेजाधनी (बरछी बरदार), पचास सहस्र मनुष्य पालकी पर, डेढ़ सौ हाथी और अस्सी सहस्र रथ, जिस पर ध्वजा फहराती थी, चले। प्रयाण के समय पाँच सखियाँ कलशों पर मोती के अक्षत, कुम-कुम, चन्दन और पक्का अमली समली (?) रख कर बीसलदेव की आरती उतार मंगलाचार करने लगीं, ब्राह्मण वेद-पुराण पढ़ने लगे और स्त्रियाँ मंगलगीत गाने लगीं। राजा ने पैर में कंकण और सिर पर मौर बाँधा और पुरपाटन से चल कर बीसलपुर में ठहरते हुए धार के निकट पहुँच कर डेरा डाला और मलागिरि देश में बड़ा उत्सव हुआ। आठ सहस्र ब्राह्मण उस उत्सव में वेदोच्चारण करते थे। दोनों ओर से लड्डू, सेव, राजभोग (मोहन भोग?) मंडोवर (?) मूँगो आदि से ब्राह्मण तृप्त किये गये थे। फिर पण्डित की आज्ञा से बारात आगे चली। खुरासानी घोड़े पर चढ़ कर बीरमदे (बीसलदेव?) राजा भोज से मिला। उसके अनन्तर माघ पण्डित ने कहा हथलेवा आवे। राजकुमारी के बरमाल डालने पर माश्रम (?) जोशी, देश्रम (?) व्यास, माथई (?) अरिजन और कवि कालिदास वेदोच्चार करने लगे। कन्यादान होने पर अत्यन्त मंगल मनाया गया, क्योंकि परमार की बेटी पा चहुवान कृत-कृत्य हुए। पहली फेरी में राजा बीसलदेव को घौर मोती की माला दी, दूसरी में बहुत-सा धन दिये, तीसरी फेरी में सँभर नगर, टोंक और मांडलगढ़ दिये, चौथी फेरी में बीसलदेव ने चित्तौर माँगा। भोज ने कहा 'संभरीराय मुझ पर कृपा करो, उज्जैन माँगो, अयोध्या माँगो, जो माँगो सो दूँ पर चित्तौर तो स्वर्ग के देवताओं को भी दुर्लभ है।' राजमती ने पिता से कहा कि आप लंका के भी स्वामी हैं, चित्तौर पर ऐसा स्नेह

क्यों करते हैं ? भोज ने कहा, उसके लिये मैं बोल दे चुका हूँ उसका आग्रह न कर। निदान सोना, घोड़े, सवा सौ गौ आदि बहुत-कुछ देकर विवाह हो गया और बीसलदेव अपनी सास से विदा हो राजमती को अपने साथ हाथी पर बैठाये अजमेर की ओर चला। मार्ग में उन्होंने आना सागर पर स्त्रियों को पानी भरते देखा। राजप्रासाद में पहुँचने पर व्यास ने राजा को असीस दी कि तूँ धन्य है जो भोज की चौरी चढ़ राजमती को व्याह लाया। नरपति हाथ जोड़कर कहता है कि तैंतीस कोटि देवताओं की कृपा से राजमती बीसलदेव के स्वयंवर की कथा वर्णन करता हूँ (प्रथम खण्ड समाप्त हुआ।)

सँभरीराय बीसलदेव को गर्व हुआ कि मेरे बराबर कोई नहीं है, जिस पर उसकी जैसलमेर वाली रानी ने कहा कि स्वामी गर्व न करो। लंका के राजा रावण का प्रताप देखो। उसने भी गर्व किया था पर फल यह हुआ कि बानरों ने लंका को विध्वंस कर डाला। गर्व न करो तुम्हारे ऐसे बहुतेरे राजा हैं। एक उड़ीसा ही का राजा है जिसके राज्य में हीरे की खान है। यह सुन राजा को क्रोध हो आया। उसने पूछा कि तेरा जन्म तो हुआ है जैसलमेर में और विवाहित हो बारहो बरस की अवस्था में तू अजमेर आई, तैंने उड़ीसा के जगन्नाथ जी का वृत्तान्त कैसे जाना। अपने जन्म का पूरा वृत्तान्त कहो। उसने कहा कि मेरे जन्म का वृत्तान्त सुनो मैं कहती हूँ मैं हरिणी रूप में बनखण्ड में रहती और सिर्फ शुक्ला एकादशी का व्रत किया करती थी। एक दिन एक अहेरी ने मेरे हृदय मे बाण मारा जिससे मैं मर गयी। इसके पीछे मेरा जन्म जगन्नाथ जी में हुआ। वहाँ मृत्यु के समय मेरा ध्यान जगन्नाथ जी के चरणों में लगा। भगवान् ने प्रसन्न होकर कहा वर माँग। मैंने कहा कि पूर्व के देश से मेरा जन्म निवारण कीजिये। इस पर राजा बीसलदेव ने पूछा कि तैंने पूर्व देश को क्यों छोड़ा, वहाँ तो पाप का प्रवेश भी नहीं है। वहाँ गंगा है, गया तीर्थ है, वाराणसी (बनारस) है जिसके दर्शन से पाप कटते हैं। रानी ने उत्तर दिया पूरब के पूरबिया लोग पान फूल की भाँति भोग करते हैं और धन के लोलुप तथा कुवाची होते हैं। गढ़ ग्वालियर के लोग अत्यन्त चतुर होते हैं और दक्षिण देश के लोग भोगी होते हैं। मेरा जन्म जैसलमेर में हुआ। मैंने सुन्दर रूप और तुम-सा पति पाया जिसकी साठ रानियाँ हैं। यह सब सुन कर राजा ने उड़ीसा जाने और वहाँ के राजा पर चढ़ाई करने का विचार किया। रानी ने बहुत-कुछ समझाया पर राजा ने एक न माना और पुरोहित को बुलवा कर प्रस्थान का मुहूर्त पूछा। रानी ने पुरोहित से कह दिया कि एक महीने तक कोई मुहूर्त मत देना। उसने भी

वैसा ही कहा कि एक महीने तक दिन अच्छा नहीं है, सोमवार तेरस के दिन चन्द्रमा अच्छा होगा उसी दिन जाना। फिर रानी ने बहुत पीछा किया कि मुझे भी साथ लेते चलो। राजमती ने बहुत समझाया, भावज (बीसलदेव के भाई की स्त्री) ने बहुत रोका, पर बीसलदेव ने किसी की भी न सुनी, मंत्रियों की सम्मति से राज्य अपने भतीजे कोक (?) को सौंपा और आप धूम-धाम से सेना ले दक्षिण की ओर चल पड़ा। साथ में वीरभान, उदयसिंह, अचला चाहुवान, भैरव भाट, बसन्तराज, देवजी, अक्षयराज, अभयचन्द, मुकतसिंह, रणराज, रायमल्ल, पलाएयो देव, जगदेव परमार आदि चौरासी सरदार चले। चलते समय राजा को बड़े अपशकुन हुए पर रानियों को अनेक शुभ शकुन हुए। बीसलदेव बनास नदी पार होकर उड़ीसा पहुँचा। वहाँ के राजा देव ने जब यह सुना तो वह आगे बढ़ कर उससे मिला और उसका बड़ा सत्कार कर उसे अपना वीर (स्वामी) माना, और अन्य सरदारों से मिल अपना भाग्य सराहा। (दूसरा खंड समाप्त हुआ)

राजा के वियोग में रानी विलाप करती है और सखियाँ समझाती हैं। रानी के बारहों महीनों का दुःख पूर्णतया वर्णन किया है। रानी को वियोग में दस वर्ष बीत गये, ग्यारवें वर्ष उसने पत्र देकर पाण्डे को राजा के पास भेजा। पाण्डे को मार्ग में सात महीने लगे। निदान उड़ीसा में पहुँच कर उसने राजा को पत्र दिया और रानियों का वियोग वर्णन किया। यह सुन कर बीसलदेव ने राजा से विदा माँगी और देवराज ने बहुत-कुछ राजा को अर्पण किया। चलते समय बीसलदेव रानी से मिलने आया, सभी ने मिलकर उसे बहुत समझाया। अन्त में रानी ने कहा कि कुछ दिन और ठहरो देवराज की दो बहिनें हैं एक गोरी और दूसरी साँवली, उनका विवाह तुम्हारे साथ कर देंगे। बीसलदेव ने कहा कि मेरे साठ रानियाँ हैं मैं विवाह नहीं कर सकता। निदान विदा ले बीसलदेव वहाँ से चला और मार्ग से एक आदमी को चिट्ठी दे उसने अजमेर भेज दिया कि जिसमें उसके आने का समाचार पहले ही से राजप्रासाद में विदित हो जाय। समाचार के पहुँचते ही चारों ओर मंगलाचार होने लगे। राजा के भतीजे और अन्य सरदारों ने आगे बढ़ कर उसकी अगवानी की। घर आकर राजा माता से मिले, रानियों से मिले पर राजमती ने मान किया और राजा ने मनाया। निदान बारह वर्ष के पीछे दम्पति मिलकर आनन्दमग्न हुए। (तीसरा खण्ड समाप्त हुआ)

राजा ने दरबार करके अपने भतीजे को युवराज की पाग बँधाई फिर पुरोहित को राजा भोज के बुलाने के लिये धार भेजा। बीसलदेव के लौट आने का समाचार पाते ही वे सानन्द चित्तौर होते हुए धूम-धाम के साथ अजमेर पहुँचे,

जिस पर बड़ा आनन्द मनाया गया। राजा भोज वहाँ कुछ दिन ठहरे और लौटते समय राजमती को अपने साथ लिवाते लाये। तीन महीने पीछे बीसलदेव भी धार गये और राजमती को अजमेर ले आये तथा वहाँ आकर आनन्द के साथ रहने लगे। कवि नरपति नाल्ह यह आशीर्वाद देकर कि जब तक सूर्य उगे, गंगा में जल रहे, पृथ्वी पर जगन्नाथ जी रहें तब तक अजमेर का राज्य रहे, ग्रन्थ समाप्त करता है।

यह इस विचित्र प्राचीन ग्रन्थ का सारांश है—ग्रन्थकर्ता का नाम नरपति नाल्ह है। अपने ग्रन्थ के बनाने का समय वह इस प्रकार लिखता है—

संमत बारह सैं बिहोतरा मझार-जेठ बदी नौमी वुधवार ॥

गणना करने पर शक संवत् की जेठ बदी नौमी को बुद्धवार पड़ता है इससे यह ग्रन्थ ईस्वी सन् 1298 का बना माना जाना चाहिए। समस्त ग्रन्थ में कवि वर्तमान काल का प्रयोग करता है जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि नरपति नाल्ह बीसलदेव के राजत्व काल में वर्तमान था। क्योंकि इस ग्रन्थ की समाप्ति में भी वह लिखता है—

जब लगि महौयल उगइ सूर—जब लगि गंग वहई जलपूर।
जब लगि प्रीथमी नै जगन्नाथ। जांणौ राजा सिर दीधी हाथ।
रास पहूंतो राव को। बाजै पडह पषावज भेर। कर जोड़े।
नरपति कहई अविचल राज कीज्यो अजमेर ॥ भ० ४१ ॥

अब "अविचल राज्य कीज्यो अजमेर" का अर्थ यह लगाया जाता है कि "अजमेर का राज्य तुम अविचल (निरन्तर) करो।" यह अर्थ मान लेने पर नरपति को बीसलदेव का समकालीन मानना पड़ेगा। पर ऐसा मानने से बीसलदेव का समय पृथ्वीराज[1] के 100 वर्ष पीछे पड़ेगा और ऐसा होना कदापि सम्भव नहीं क्योंकि चंद, टाड तथा अन्य सहस्त्रों ग्रन्थों के अनुसार बीसलदेव पृथ्वीराज से 6 पीढ़ी पहले सिद्ध होता है—सारंगदेव, आनाह, जयपाल, अर्ण्यराज और सोमेश्वरराज ये पाँच नाम बीसलदेव और पृथ्वीराज के बीच में मिलते हैं। आनाह के विषय में तो किसी प्रकार का सन्देह करना सर्वथा वृथा है क्योंकि अजमेर में उसका बनवाया हुआ आना सागर अब तक उसकी स्थिति

1. शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के साथ पृथ्वीराज का अन्तिम युद्ध संवत् विक्रम 1248 में हुआ था।

का साक्षी स्वरूप विद्यमान है। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि यह वह आना सागर नहीं है जहाँ "बीसलदेव रासो" के अनुसार वीसलदेव धार से लौटती बेर एक दिन ठहरा था—यह एक प्राकृतिक झील है जो अना अथवा अनापर्ण देवी के नाम पर बनायी गयी और जिसके बारे में ऐसा कहा जाता है कि यहाँ बान ऋषि ने प्राचीन समय में बहुत दिनों तक वास किया था।

दिल्ली में फिरोजशाह की लाट के नाम से एक बड़ा पत्थर का स्तम्भ फिरोजशाह के भग्न किले में अब तक वर्तमान है। इस पर एक लेख खुदा हुआ है जो चार भागों में विभक्त है। पहले भाग में केवल तीन पंक्तियाँ हैं और उनमें वीसलदेव का नाम आता है। दूसरे भाग में अशोक की एक आज्ञा पाली अक्षरों में खुदी हुई है। तीसरे और चौथे भाग में विग्रहराज का उल्लेख है। वीसलदेव के विषय में पहिले भाग में जो लिखा है उसका अनुवाद यह है—"ओं संवत् १२२० वैशाख शुक्ल १५ को शाकंभरी भूपति अविल्लदेव के पुत्र बीसलदेव का (लेख)" उसके आगे बीसलदेव के नाम के साथ विग्रहराज का वर्णन है और यह लिखा है कि "उसने विन्ध्या और हिमालय पर्वतों के मध्य की भूमि को जीत कर और म्लेक्षों को कई बेर इस देश से निर्मूल करके इसे पुनः आर्यावर्त बनाया।" इस लेख से विद्वानों ने स्थिर किया है कि विग्रहराज बीसलदेव का दूसरा नाम था और उसने 12वीं शताब्दी के अन्त में राज्य किया। विग्रहराज के विषय में दो और शिलालेखों का पता लगा है। पहले पर तो सोमेश्वरदेव का बनाया हुआ एक नाटक खुदा है जिसमें वसन्तपाल की कन्या के साथ राजा विग्रहराज की प्रेमकेलि और मुसलमानों के विरुद्ध राजा के युद्धों का वर्णन है। दूसरे पर भी एक नाटक है जिसके रचयिता स्वयं महाराज विग्रहराज हैं। इस दूसरे शिलालेख पर संवत् 1210 (1153) खुदा है। इनसे अब यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि महाराज विग्रहराज का राजत्व काल बारहवीं शतब्दी के मध्य में हुआ।

सोमेश्वरराज के समय का एक शिलालेख नेवाड़ में मिला है जिसमें लिखा है कि विग्रहराज अर्ण्यराज का पुत्र था और 'तस्य ज्येष्ठ भ्रातृ पुत्रः पृथ्वीराजः, था तथा "ज्येष्ठ भ्रातृ" का नाम आगे चलकर सोमेश्वर दिया है। बीसलदेव का नाम भी इस लेख में दिया है पर विग्रहराज से तीन पीढ़ी पहले है। अतएव यह सिद्ध होता है कि विग्रहराज और बीसलदेव एक ही पुरुष नहीं थे।

इसके अतिरिक्त पृथ्वीराजरासो में यह लिखा है कि जिस समय बीसलदेव गुजरात के चालुक्य राजा से लड़ने गये तो राजा भोज का लड़का उदयादित्य

उनके साथ था। बीसलदेव रासो के अनुसार बीसलदेव ने भोज परवार की कन्या से विवाह किया था और इस भोज का समय डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र के अनुसार सन् 1026-1083 के बीच में होता है—पृथ्वीराज रासो से यह पता लगता है कि बीसलदेव को एक परमार वंशीय रानी थी, क्योंकि आदि पर्व में यह दोहा मिलता है—

ऊंच धाम बिसराम किय रंग लाल चतुरंग।
प्रौढ़ा महल पवांर सों कहिय सुकथा प्रसंग॥

चन्द बीसलदेव का समय संवत् 821 देता है और सनन्द विक्रम संवत् के अनुसार यह 912 होगा।[1] यह लिखा है कि बीसलदेव ने चौसठ वर्ष राज्य किया था अतएव इस गणना के अनुसार बीसलदेव की मृत्यु का संवत् 976 (919 ई०) होगा जब कि न राजा भोज और उसके पुत्र उदयादित्य का जन्म भी हुआ था परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि लेख के भ्रम से यह संवत् 821 बदल गया है क्योंकि एक दूसरे स्थान पर चन्द बालुका राव पर बीसलदेव की चढ़ाई और गुजरात विजय का समय 986 बताता है। इसलिये ऐसा जान पड़ता है कि बीसलदेव का समय 821 न होकर 921 होगा। यह समय (921+91+64=1076=या 1020 ई०) भोज और उसके पुत्र उदयादित्य से भी ठीक-ठीक मिल जाता है और इन तीनों का समकालीन होना सम्भवतः सिद्ध हो जाता है। पण्डित मोहनलाल जी विष्णुलाल जी पंड्या का कथन है कि राजपूताने की ख्यातियों में 921 के स्थान पर 931 मिलता है। यदि यह संवत् ठीक है तो बीसलदेव का समय 1030 मानना चाहिये।

इतिहास में बीसलदेव का नाम इसलिये प्रसिद्ध है कि उसने कई बेर मुसलमानों के विरुद्ध लड़ाई ठानी और एक बेर उन्हें पुनः भारतवर्ष से निकालने में वह सफल मनोरथ हुआ। इसने उसी युद्ध का आशय है जो राजपूताने के राजाओं ने मुहम्मद गजनवी (997–1030 ई०) के विरुद्ध ठाना था और जिसमें वे कृतकार्य हुए थे। जो बातें ऊपर कही गयी हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि बीसलदेव ई० बारहवीं शताब्दी में नहीं हुआ वरन् ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम

1. इस सम्बन्ध में चन्दबरदाई पर मेरा लेख पढ़ो जिससे सनन्द संवत् का वृत्तान्त स्पष्ट प्रकट हो जायगा। सभा में यह लेख पढा गया था पर अभी छपा नहीं। आशा है कि लेखों के यथाक्रम छपने पर पत्रिका की आगामी संख्या में यह छपे।

अर्द्ध भाग में। फिरोजशाह की लाट पर जो लेख है उसके विषय में मेरा यह सिद्धान्त है कि वह बीसलदेव ही से कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं रखता। वरन् उसके नाम का उल्लेख उसमें इसीलिये किया गया है कि वह विग्रहराज के प्रसिद्ध और प्रतापी पुरखों में से था। चौहानों के इतिहास में बीसलदेव का नाम निज देश के हितार्थ अनेक साहसपूर्ण कार्यों के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। जो दिल्ली न जीत सका यह समझा हो कि यदि अपने नाम के साथ बीसलदेव के नाम का उल्लेख हो तो जो कालिमा मेरे यश में लग गयी है वह दूर हो जाय। इसी कारण से उन दोनों का नाम उस शिलालेख पर है। इससे बीसलदेव और विग्रहराज को एक ही पुरुष मानना कदापि उचित नहीं जान पड़ता।

(1902, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग 5)

गोस्वामी तुलसीदास जी की विनयावली

गोस्वामी तुलसीदास जी हिन्दी के सबसे प्रसिद्ध और आदरणीय कवि हैं। इनकी कविता का सबसे अधिक प्रचार है और इसका प्रभाव भी हिन्दू जनता के चरित्र पर बहुत पड़ा है। गोस्वामी जी के 6 बड़े और 6 छोटे ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, यद्यपि इनके अतिरिक्त और भी ग्रंथों का पता चलता है जो इनके बनाये हुए कहे जाते हैं। जब से हिन्दी पुस्तकों की खोज का काम प्रारंभ हुआ है तीन हस्तलिखित प्रतियाँ तुलसीदा : के ग्रंथों की मिली हैं जो निर्विवाद उनके जीवन-काल की लिखी हैं। इनमें से एक तो रामचरितमानस का अयोध्या काण्ड है जो राजापुर जिला बाँदा में रक्षित है। इसमें कोई सन्-संवत् नहीं दिया है पर यह प्रति तुलसीदास जी के हाथ की लिखी कही जाती है। यद्यपि स्वयं इस प्रति से कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे हम इसे उनकी हस्तलिखित मान सकें, परन्तु उसके अक्षर तुलसीदास जी के अक्षरों से मिलते हैं और जो कथा इसके सम्बन्ध में कही जाती है वह प्रामाणिक है। दूसरी प्राचीन प्रति रामचरितमानस के बालकाण्ड की है जो संवत् 1661 की लिखी है। यह अयोध्या में रक्षित है। इसके विषय में यह कहा जाता है कि इसे तुलसीदास जी ने अपने हाथों से संशोधित किया था। इसमें बीच-बीच में हरताल लगा कर संशोधन किया है। इन दोनों प्रतियों के दो-दो पृष्ठों का फोटो चित्र मैं "हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज" शीर्षक लेख[1] में दूँगा और उसी में अपने विचार प्रकट करूँगा। तीसरी प्राचीन प्रति जिसका पता चला है वह 'विनयपत्रिका' की है। यह सं० 1666 अर्थात् रामचरितमानस के बालकाण्ड की अयोध्या वाली प्रति के पाँच वर्ष पीछे की लिखी है। दुःख का विषय है कि यह प्रति कई स्थानों पर खण्डित है। तिस पर भी यह बड़े महत्त्व की है। इससे कई नई बातों का पता चलता है। एक तो इस ग्रंथ का नाम "विनयपत्रिका" न देकर "विनयावली" दिया है। जिस प्रकार "रामचरित-मानस" सर्वसाधारण में "रामायण" नाम से प्रसिद्ध है उसी प्रकार "विनया-वली" "विनयपत्रिका" नाम से प्रसिद्ध है। मैंने किसी पुस्तक में तथा किसी लेखक या कवि के मुँह से इस पुस्तक का नाम "विनयावली" अब तक नहीं सुना है। दूसरे अब तक जितनी प्रतियाँ इसकी मिली हैं सब तुलसीदास जी की मृत्यु के

---

1. यह लेख इस पत्रिका की अगली संख्या में प्रकाशित होगा।

पीछे की लिखी हैं। तुलसीदास जी की मृत्यु सं० 1680 में हुई और यह प्रति 1666 अर्थात् उनकी मृत्यु के 14 वर्ष पहले की लिखी है। तीसरी बात महत्त्व की यह है कि इसमें केवल 176 पद हैं जब कि और-और प्रतियों में 280 पद तक मिलते हैं। यह कहना कठिन है कि शेष 104 पदों में से कितने वास्तव में तुलसीदास जी के बनाये हैं और कितने अन्य लोगों ने अपनी ओर से जोड़ दिये हैं। जो कुछ हो इसमें सन्देह नहीं कि इन 104 पदों में से जितने पद तुलसीदास जी के स्वयं बनाये हुए हैं वे सब संवत् 1666 और संवत् 1680 के बीच में बने होंगे। चौथी बात विचारने योग्य यह है कि इस प्रति में जो क्रम पदों का दिया है वह दूसरी किसी प्रति से नहीं मिलता।

जिस समय मुझे इस प्रति का पता लगा था उस समय मैंने इसकी प्रति-लिपि करा ली थी और मेरा विचार था कि इसे यथासमय सम्पादित करके प्रकाशित करूँ। तुलसीदास जी के ग्रंथों को शुद्ध रूप में प्रकाशित और प्रचारित करने वाले पण्डित शिवलाल पाठक और लाला भागवतदास प्रसिद्ध हैं। उन्होंने "विनयपत्रिका" को जिन रूपों में प्रकाशित किया था उनसे मैंने इस प्रति के पाठ आदि का मिलान उसी समय कराया था और सब पाठभेदादि टिप्पणी के रूप में लिखवा लिये थे। पीछे मैंने यह प्रति महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी को देखने को दी थी। उन्होंने भी इस पर विचार कर जहाँ-तहाँ संशोधन कर दिया था। इतना हो जाने पर यह प्रति अब तक ज्यों-की-त्यों पड़ी रही। इसके प्रकाशित न होने का मुख्य कारण यह था कि मैं इस आशा में था कि यदि कोई और प्राचीन प्रति इसी क्रम से लिखी हुई मिल जाती तो उसके सहारे से खण्डित अंश की पूर्ति हो जाती और तब यह प्रकाशित हो जाती। पर यह आशा अब तक पूरी नहीं हुई। अतएव मैं नीचे एक सारिणी इस प्रति में दिये हुए समस्त पदों की यथाक्रम देता हूँ। साथ में यह भी दिखा दिया गया है कि पण्डित शिवलाल पाठक तथा लाला भागवतदास की प्रतियों में वे पद किस संख्या पर हैं। आशा है कि जिस क्रम में यह प्राप्य है उसे देखकर अन्य महाशय इसकी ओर दत्तचित्त हों और खण्डित अंशों की प्रामाणिक पूर्ति कर सकें।

संख्या	पदों का पहला चरण	सं० 1666 की प्रति में पद की संख्या	शिवलाल पाठक की प्रति मे पद की संख्या	भागवतदास की प्रति में पद की संख्या
१	अकारन को हितू और को है	१४६	२३१	२३०
२	अब लौं नसानो अब न नसैहों	८८	१०६	१०५
३	अस किछु समुझि परत रघुराया	७१	१२४	१२३
४	आपनो हितु और सों जोपै सूझै	१६६	२३९	२३८
५	और कहँ ठौर रघुबंस मनि मेरे	१४९	२११	२१०
६	और मेरे को है काहि कहिहौं	१५०	२३२	२३१
७	इहै जानि चरननिहि चितु लायो	१६३	२४४	२४३
८	एकु सनेही साँचि लो केवल कोसल पालु	१२४	१९२	१९१
९	ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन	८२	४८	४६
१०	ऐसी हरि करत दास पर प्रीति	९०[1]	९९	९८
११	ऐसे राम दीन हितकारी	११८[2]	१६७	१६६
१२	ऐसेहि जनम समूह सिराने	१३८	२३६	२३५
१३	ऐसेहुँ साहिब की सेवा तूँ होत चोरु रे	३४	७२	७१
१४	कबहुँक अंब औसर पाइ	१५४	४३	४२
१५	कबहु कहौं एहि रहनि रहोंगो	१०५	१७३	१७२
१६	कबहुँ कृपा करि मोहूँ रघुबीर चितैहो	१३२	२७१	२७०
१७	कबहुँ देखाइहो हरि चरन	१५२	२१९	२१८
१८	कबहुँ समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी	१५३	४३	४२
१९	कबहुँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे	४३	१३९	१३८

1. इसके आगे ९१ से लेकर १०३ पद तक पुस्तक खंडित है। १०३ पद का केवल इतना अन्तिम अंश पुस्तक में आया है—'रहों सब तजि रघुबीर भरोसे तेरे। तुलसिदास यह विपति बागुरा तुम सों बनिहि निवेरे ।।१९३।।

2. यह पद खंडित है। इसके आगे के ११९वें पद का केवल इतना अन्तिम अंश है—'तुलसी न बिनु मोल बिकानो ।।११९।। इसके पूर्व का समस्त अंश नहीं है।

१	२	३	४	५
२०	करिय संभार कोसल राय	१७३	—	२२०
२१	कस न करहु करुना हरे दुखहरन मुरारी	७५	११०	१०६
२२	कस न दीन पर द्रवहु उमा वर	१०	७	७
२३	कहु केहि चहिय कृपानिधे भव जनित विपति अति	७४	१११	११०
२४	काजु कहा नर तनु धारि सरयो	१२६	२०३	२०२
२५	काहे को फिरत मूढ़ मन धायो	१२७	२००	१९९
२६	काहे न रसना रामहिं गावहि	१६५	२३८	२३७
२७	कीजै मोकों जग जातना मई	१०९	१७२	१७१
२८	कृपासिंधु जन दीन दुआरे दादि न पावत काहे	४२	१४६	१४५
२९	केसव कहि न जाइ का कहिये	७९	११२	१११
३०	केसव कारन कवन गुसाईं	६५	११३	११२
३१	खोटो खरो रावरो हौं रावरी सौं रावरे सौं झूठो क्यों कहोंगो जानो सबहि के मन की	४७	७६	७५
३२	गरैगी जीह जौं कहौं और को हौं	१५५	२३०	२२९
३३	गाइये गनपति जगवंदन	१	१	१
३४	जनमु गयो वादिही बर बीती	१४३	२३५	२३४
३५	जय जय जग जननि देव सुर नर मुनि असुर सेवि भगत भूति-दायिनी भय हरनि कालिका	२०	१६	१६
३६	जमुना ज्यौं ज्यौं लागी बाढ़न	२४	२१	२१
३७	जयति अंजना-गर्भ अंभोधि-संभूत-विधु बिबुध कुल कैरवानंद कारी	१४	२५	२५
३८	जयति जय सुरसरी जगदखिल पावनी	२३	१८	१८
३९	जयति निर्भरानंद संदोह कपि केसरी केसरी सुअन भुवनैक भर्त्ता	१८	२९	२९
४०	जयति भूमिजा रमन पद पंकज मकरंद	१७५	३९	३९
४१	जयति मंगलागार संसार भारापहार वानराकार विग्रह पुरारी	१६	२७	२७

१	२	३	४	५
४२	जयति मर्कटाधीश मृगराज विक्रम महादेव मुद मंगलालय कपाली	१५	२६	२६
४३	जयति वात संजात विख्यात विक्रम बृहद्बाहुवल विपुल बालधि विसाला	१७	२८	२८
४४	जयति शत्रु करि केसरी सत्रु हन सत्रु-सघनतम तुहिनहर किरन केतू	१७६[1]	४०	४०
४५	जय भगीरथ नंदिनी मुनि-चय-चकोर चंदिनी नर नाग विवुध बंदिनी जय जन्हु बालिका	२२	१७	१७
४६	जाउँ कहाँ ठौरु है कहाँ देव दुखित दीन को	१४५	२७५	२७४
४७	जाके गति है हनुमान की	१३	३०	३०
४८	जाके प्रिय न राम वैदेही	११७	१७५	१७४
४९	जाको हरि दृढ़ करि अंगु कस्यो	१६२	२४०	२३९
५०	जानकी जीवन की बलि जैहौं	८७	१०५	१०४
५१	जानकी जीवन जग जीवन जगदीस रघुनाथ राजीव लोचन राम	४९	७८	७७
५२	जानकीस की कृपा जगावति सुजान जीव जागि त्यागि मूढ़ता अनुराग श्री हरे	४६	७५	७४
५३	जानत प्रीति रीति रघुराई	११०	१६५	१६३
५४	जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो	५२	१३७	१३६
५५	जैसे हों तैसो राम रावरो जनु जिनि परिहरियै	१२८	२७२	२७१
५६	जौं निज मन परिहरै विकारा	७२	१२५	१२४
५७	जौं पै कृपा रघुपति कृपाल की वैर और के कहा सरै	४४	१३८	१३७
५८	जौंपै जिय जानकी नाथ न जाने	१३९	२३७	२३६
५९	जौंपै दूसरो कोउ होइ	१३५	२१८	२१७
६०	जौंपै मोहि राम लागते मीठे	१०७	१७०	१६९

1. यह संवत् 1666 वाली प्रति का अन्तिम पद है ।

१	२	३	४	५
६१	जौंपै रहनि राम सों नाहीं	११३	—	१७५
६२	ज्यों ज्यों निकट भयो चहौं कृपाल त्यों त्यों दूरि पर्‌यो हों	१५६	२६७	२६६
६३	तन सुचि मन रुचि मुख कहों जनु हों सिय पी को	१६८	२६६	२६५
६४	तब तुम्ह मोहूँ से सठनि हठि गति देते	१५७	२४२	२४१
६५	ताँबे सों पीटि मनहुँ तन पायो	११६	२०१	२००
६६	ताकिहै तमकि तोकी ओर को	१२	३१	३०
६७	तुम्ह अपनायो तब जानिहों जब मनु फिरि परिहै	१३१	२६६	२६८
६८	तुम्ह जनि मन मैलो करो लोचन जनि फेरो	१४७	२७२	२७२
६९	तुम्ह तजि हों कासों कहों और को हितु मेरे	१३३	२७४	२७३
७०	तुम्ह सम दीन बंधु न दीन कोउ मो सम सुनहु नृपति रघुराई	१६४	२४३	२४२
७१	दानि कहूँ संकर से नाहीं	४	४	४
७२	दीन उद्धरन रघुबर्ज करुना भवन समन संताप पापौघहारी	६२	६७	५६
७३	दीन दयाल दिवाकर देवा	१६	२	२
७४	दीन दयाल दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है	५०	१४०	१३६
७५	दीनबंधु दूसरो कहँ पावों	१५१	२३३	२३२
७६	दुसह दोष दुख दलनि करु देवि दाया	२१	१५	१५
७७	देखो देखो बनु बन्यो आजु उमाकंत	५	१४	१४
७८	(देव) दनुज-बन-दहन गुन-गहन-गोविंद नंदादि आनंददाता विनासी	५७	५०	४६
७९	(देव) देहि अवलंब कर कमल कमला-रमन दमन दुख समन संताप भारी	६१	५६	५८

१	२	३	४	५
८०	(देव) मोह तम तरनि हर रुद्र संकर-सरन हरन मम सोक लोकाभिरामं	७	१०	१०
८१	(देव) देहि सत संग निज अंग श्री रंग भवभंग कारन सरन सोकहारी	६०	५८	५७
८२	द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रह परि पाहूँ	१४०	२७६	२७५
८३	द्वार हों भोरही को आजु	१४१	२२०	२१६
८४	नाथ नीके कै जानवी ठीक जन जीय की	१४८	—	२६३
८५	नाथ सों कौन बिनती कहि सुनावों	१३७	२०६	२०८
८६	नामु राम रावरोइ हितु मेरे	१७४	२२८	२२७
८७	नाहिन आवत और भरोसो	१११	१७४	१७३
८८	नौमि नारायनं नरं करुणानयं ध्यान पारायनं ज्ञानमूलं	५६	६१	६०
८९	पनु करिहौं हठि आजु तें राम द्वार परयो हों	१२६	२६८	२६७
९०	प्रातकाल रघुबीर-वदन छबि चितै चतुर चित मेरे	३६[1]	—	—
९१	बंदौं रघुपति करुना निधान	२५	६५	६४
९२	बलि जाउँ और कासों कहौं	१३०	२२३	२२२
९३	बावरो रावरो नाहु भवानी	३	५	५
९४	बिरुद गरीब निवाजु राम को	८६	१००	९९
९५	वीर महा अवराधियै साधें सिधि होइ	५५	१०९	१०८
९६	भएहुँ उदास राम मेरे आस रावरी	१२०	१७९	१७८
९७	भानुकुल कमल रवि कोटि कंदर्प छबि काल कलि व्याल मिव वैनतेयं	५९	५१	५०
९८	भरोसो औरु आइहै उर ताके	१६९	२२६	२२५

1. इस पद का थोड़ा-सा अंश दिया है। इसके आगे ३ पृष्ठ खंडित हैं जिनमें ३६, ३७, ३८, ३९ और ४० वें पद थे। इनके अनंतर ४१ वाँ पद प्रारम्भ होता है।

१	२	३	४	५
९९	भूरि जार मन पदकंज मकरंद रस रसिक मधुकर भरत भूरि भागी	१७४	३९	—
१००	मंगल मूरति मारुत नंदन	११	३६	३६
१०१	मन माधौ कों नेकु निहारहि	८४	८६	८५
१०२	मनोरथ मन को एकै भाँति	१५८	२३४	२३३
१०३	महाराज रामादर्‍यो धन्य सोई	५३	१०७	१०६
१०४	माँगिये गिरिजा-पति कासी	२	६	६
१०५	माधव अब न द्रवहु केहि लेखे	६४	११४	११३
१०६	माधव मोह पास क्यों टूटै	८०	११६	११५
१०७	माधो असि तुम्हारि यह माया	७७	११७	११६
१०८	माधो मोहि समान जग माहीं	७८	११५	११४
१०९	मेरो कह्यो सुनि पुनि भावै तोहि करि सो	१६१	२६५	२६३
११०	मेरो भलो कियो राम अपनी भलाई	३५	७३	७२
१११	मैं केहि कहौं विपति अति भारी	७६	१२६	१२५
११२	मैं तो अब जान्यो संसार	१०४	१८९	१८८
११३	मैं हरि साधन करइ न जानी	७३	१२३	१२२
११४	यों मन कबहूँ तो तुमहिं न लाग्यो	१०८	१७१	१७०
११५	रघुनाथ तुम्हारे चरित मनोहर गावहिं सकल अवधवासी	८१	—	—
११६	रघुपति विपति दवन	१४२	२१३	२१२
११७	रघुपति भगति करत कठिनाई	११५	१६८	१६७
११८	रघुबर रावरी इहै बड़ाई	११२	१६६	१६५
११९	रघुवरहिं कबहुँ मन लागिहै	१५६	२२५	२२४
१२०	राघो केहि कारन भय भागै	११४	—	१७५
१२१	राघो भावति मोहि विपिन की वीथिन्ह धावनि	१६७	—	—
१२२	राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन कों	१४४	२७०	२६९
१२३	राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे	१२२	१९०	१८९

१	२	३	४	५
१२४	राम को गुलाम नामु राम बोला राम राख्यो काम इहै नाम है हों कबहुँ कहतु हों	४८	७७	७६
१२५	रामचंद्र करकंज कामतरु वामदेव हितकारी	२७	—	—
१२६	राम चरन अभिराम कामप्रद तीरथराज बिराजै	२६	—	—
१२७	राम जपु राम जपु राम जपु बावरे	३३	६७	६६
१२८	राम नाम अनुरागहि जिय जो रति आतो	४१	—	—
१२९	राम राम जपि जीय सदा सानुराग रे	२९	६८	६७
१३०	राम राम रमु राम राम रटु राम राम जपु जीहा	३२	६६	६५
१३१	राम राम राम जीय जौलौं तू न जपिहै	३०	६९	६८
१३२	राम रावरो नामु मेरो मातु पितु है	१२१	२५५	२५४
१३३	राम रावरो नामु साधु सुर तरु है	१७०[1]	२५६	२५५
१३४	राम सनेही सों तैं न सनेहु कियो	५१	१३६	१३५
१३५	लाज लागति दास कहावत	१०६	१८६	१८५
१३६	लाभु कहा मानुष तन पाये	१२५	२०२	२०१
१३७	सकल सुखकंद आनंद वन पुन्य कृत विंदु माधव द्वंद्व विपति हारी	६३	६२	६१
१३८	सकुचत हौ अति राम कृपानिधि क्यों करि विनय सुनावों	४५	१४३	१४२
१३९	सदा संकरं संप्रदं सज्जनानंददं सैल कन्या वरं परम रम्यं	८	१२	१२
१४०	सदा राम जपु राम जपु मूढ़ मन वार वारं	५८	४७	४६
१४१	सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेहु	१२३	१९१	१९०
१४२	सिव सिव होइ प्रसन्न करि दाया	९	—	—
१४३	सुनत सीतपति सील सुभाउ	८५	१०१	१००

1. इसके आगे का १७१, १७२ और १७३ वाँ पद नहीं है।

१	२	३	४	५
१४४	सुनि मन मूढ़ सिखावनु मेरो	८६	८८	८७
१४५	सुमिरि सनेह सों तूं नाम राम राय को	३१	७०	६६
१४६	सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी	२८	२२	२२
१४७	सेवहु शिव चरन सरोज रेनु	६	१३	१३
१४८	सोइ सुकृती सुचिसाँचो जाहि तुम्ह रीझे	१६०	२४१	२४०
१४९	हरि तजि और भजियै काहि	१३४	२१७	२१६
१५०	हरति सब आरति आरती राम की	८३	४६	४७
१५१	हैं हरि कवन दोष तोहि दीजै	६६	११८	११७
१५२	हैं हरि कस न हरहु भ्रम भारी	६९	१२१	१२०
१५३	हैं हरि कौने जतन सुख मानहु	६७	११९	११८
१५४	हैं हरि यह भ्रम की अधिकाई	७०	१२२	१२१
१५५	है नीको मेरो देवता कोसलपति राम	५४	१०८	१०७
१५६	है प्रभु मेरोई सब दोसु	१३६	१६०	१५९
१५७	है हरि कवनि जतन भ्रम भागै	६८	१२०	११९

इस सारिणी से यह स्पष्ट है कि इस संग्रह में १७६ पद हैं जिनमें निम्न-लिखित पदों के पृष्ठ खंडित हैं—३, ३७, ३८, ३९, ४०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १७१, १७२ और १७३।

(१९२०, ना० प्र० पत्रिका, भाग 1, सं० १९७७ वि०)

भारतीय नाट्यशास्त्र

दृश्य काव्य—काव्य दो प्रकार के माने गये हैं—एक दृश्य और दूसरा श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जिसमें नाट्य की प्रधानता हो, जो देखने से ही विशेष प्रकार से रस का संचार करने में समर्थ हो और जिसका अभिनय किया जा सके। इस प्रकार के काव्य को रूपक भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नाट्य करने वाले नटों में वास्तविक नायक-नायिका आदि का रूप आरोपित होता है; अर्थात् वे किसी दृश्य काव्य के पात्रों का रूप धारण करके सामाजिकों में यह भावना उत्पन्न करते हैं कि वे उन पात्रों से भिन्न व्यक्ति नहीं हैं। नाट्य से तात्पर्य नायक-नायिका आदि के अनुकरण से है। यह अनुकरण चार प्रकार के अभिनयों द्वारा अनुकार्य और अनुकर्त्ता की एकता प्रदर्शित करने से पूर्ण होता है। वे अभिनय हैं—

(1) **आंगिक**—अर्थात् अंगों द्वारा सम्पादनीय; जैसे—चलना-फिरना, उठना, बैठना, लेटना आदि।

(2) **वाचिक**—अर्थात् वाणी से कहकर।

(3) **आहार्य**—अर्थात् वेशभूषा धारण करके।

(4) **सात्त्विक**—अर्थात सात्त्विक भावों को प्रदर्शित करके; जैसे हँसना, रोना, स्तम्भ, रोमांच आदि।

श्रव्य काव्य में जो स्थान शब्दों से वर्णित भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभावों आदि का है, दृश्य काव्य में वही स्थान इन चारों प्रकार के अभिनयों के द्वारा प्रदर्शित अनुकरण का है। इन चारों प्रकार से किसी पात्र का अनुकरण करने से अभिनय देखने वालों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि जो कुछ हम देख रहे हैं, वह वास्तविक है, कल्पित नहीं। यदि इस प्रकार की प्रतीति उत्पन्न न करायी जा सके, तो यह कहना पड़ेगा कि अभिनय ठीक नहीं हुआ। पर इतने ही से अभिनय की इति-कर्तव्यता नहीं हो जाती। यह अनुकृति ऐसी होनी चाहिए कि उपर्युक्त प्रतीति के साथ-ही-साथ सामाजिकों में किसी-न-किसी प्रकार के रस का उद्रेक हो। बिना रस की निष्पत्ति के दृश्य काव्य का सुचारु रूप स्पष्ट नहीं हो सकता। मनुष्य के अन्तःकरण में कुछ भाव वर्तमान रहते हैं जो प्रायः सुषुप्त अवस्था में

होते हैं । अनुकूल स्थिति पाकर वे उद्दीप्त हो उठते हैं और सामाजिकों में रस का उद्रेक करते हैं । यह अनुकूल स्थिति ऊपर कहे हुए अनुकरण से उपस्थित हो जाती है । श्रव्य काव्य में इस स्थिति को उत्पन्न करने वाले कारण केवल "शब्द" होते हैं; पर दृश्य काव्य में उन चारों अभिनयों के द्वारा नायक आदि की अवस्थाओं का प्रत्यक्ष अनुभव होता है । इसीलिए दृश्य काव्य अधिक और स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होता है । यही बात हम यों भी कह सकते है कि श्रव्य काव्य का आनन्द लेने में केवल श्रवणेन्द्रिय सहायक होती है; परन्तु दृश्य काव्य में श्रवणेन्द्रिय के अतिरिक्त चक्षुरिन्द्रिय भी सहायक होती है । चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप है; और दृश्य काव्य के रसास्वादन में इसी इन्द्रिय के विशेष सहायक होने से ऐसे काव्यों को रूपक कहना सर्वथा उपयुक्त है ।

रूपक के उपकरण—नाट्य शास्त्रकारों ने रूपक के सहायक या उपकरण नृत्य और नृत्त भी माने हैं । किसी भाव को प्रदर्शित करने के लिए व्यक्ति-विशेष के अनुकरण को नृत्य कहते हैं । इसमें आंगिक अभिनय की अधिकता रहती है । लोग इसे नकल या तमाशा कहते हैं । अभिनय रहित केवल नाचने को नृत्त कहते हैं । जब इन दोनों के साथ गीत और कथन मिल जाते हैं, तब रूपक का पूर्ण रूप उपस्थित हो जाता है । शास्त्रकारों का कहना है कि नृत्य भावों के आश्रित और नृत्त, ताल तथा लय के आश्रित रहते हैं; पर रूपक रसों के आश्रित होते हैं । जिस प्रकार रसों का संचार करने में अनुभाव, विभाव आदि सहायक होते हैं, उसी प्रकार नाटकीय रस की परिपुष्टि में नृत्य और नृत्त आदि भी सहायक का काम देते हैं । इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर रूपकों के दो भेद किये गये हैं—एक रूपक और दूसरे उपरूपक । रूपकों में रस की प्रधानता रहती है और उपरूपकों में नृत्य, नृत्त आदि की । नृत्य मार्ग (सम्पूर्ण देश में एक समान) और नृत्त देशी (भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार का) कहलाता है ।

नृत्त के भेद—नृत्त दो प्रकार का होता है—ताण्डव और लास्य । ता डव का प्रधान गुण उद्भटता और लास्य का मधुरता है । लास्य के दस अंग कहे गये हैं—

(1) **गेय पद**—वीणा, तानपूरा आदि यंत्रों को सामने रखकर आसन पर बैठे हुए पुरुष या स्त्री का शुष्क गान ।

(2) **स्थित पाठ्य**—मदन से संतप्त नायिका का बैठकर स्वाभाविक पाठ

करना। कुछ लोगों के मत से क्रुद्ध तथा भ्रांत स्त्री-पुरुषों का प्राकृत पाठ भी यही है।

(3) **आसीन पाठ्य**—शोक और चिन्ता से युक्त अभूषितांगी कामिनी का किसी बाजे के बिना बैठकर गाना।

(4) **पुष्प गंडिका**—बाजे के साथ अनेक छन्दों में स्त्रियों द्वारा पुरुषों का, और पुरुषो द्वारा स्त्रियों का अभिनय करते हुए गाना।

(5) **प्रच्छेदक**—प्रियतम को अन्य नायिका में आसक्त जानकर प्रेम विच्छेद के अनुपात से तप्तहृदया नायिका का वीणा के साथ गाना।

(6) **त्रिगूढ़**—स्त्री का वेश धारण किये हुए पुरुष का श्लक्ष्ण, मृदु मधुर नाट्य।

(7) **सैंधव**—किसी लक्ष्य-विशेष पर स्थिर न होकर वीणा आदि के साथ प्राकृत गीत का सुव्यक्त गान।

(8) **द्विगूढ़**—वह गीत जिसमें सब पद सम और सुन्दर हों, सन्धियाँ वर्तमान हों तथा रस और भाव सुसम्पन्न हों।

(9) **उत्तमोत्तमक**—कोप अथवा प्रसन्नता का जनक, आक्षेपयुक्त, रसपूर्ण हाव और भाव से संयुक्त, विचित्र पद-रचना युक्त गान।

(10) **उक्त-प्रयुक्त**—उक्ति-प्रयुक्ति से युक्त, उपालम्भ के सहित, अलीक, (अप्रिय या मिथ्या) सा प्रतीत होने वाला विलासपूर्ण अर्थ से सुसम्पन्न गान।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि संगीत शास्त्र में जिसे "नृत्य" कहते हैं, वह नाट्यशास्त्र में वर्णित नृत्य से भिन्न है।

रूपकों के तत्त्व—रूपकों के जो भेद और उपभेद किये गये हैं, वे तीन आधारों पर स्थित हैं; अर्थात् वस्तु, नायक और रस। इन्हीं को रूपकों के तत्त्व भी कहते हैं। हम इन तीन तत्त्वों का यथाक्रम विवेचन करेंगे।

वस्तु विवेचन—किसी दृश्य काव्य के कथानक को वस्तु कहते हैं। वस्तु दो प्रकार की होती है। (1) आधिकारिक और (2) प्रासंगिक। मूल कथावस्तु को आधिकारिक और गौड़ कथावस्तु को प्रासंगिक कहते हैं। प्रासंगिक कथावस्तु का उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तु की सौन्दर्य वृद्धि करना और मूल कार्य या व्यापार के विकास में सहायता देना है। रूपक के प्रधान फल का स्वामित्व अर्थात् उसकी प्राप्ति की योग्यता 'अधिकार' कहलाती है। उस फल का स्वामी अर्थात्

उसे प्राप्त करने वाला "अधिकारी" कहलाता है। उस अधिकारी की कथा को आधिकारिक वस्तु कहते हैं। इस प्रधान वस्तु के साधक इतिवृत्त को प्रासंगिक वस्तु कहते हैं; जैसे रामायण में रामचन्द्र का चरित्र आधिकारिक वस्तु और सुग्रीव का चरित्र प्रासंगिक वस्तु है। प्रासंगिक वस्तु में दूसरे की अर्थ सिद्धि होती है और प्रसंग से मूल नायक का स्वार्थ भी सिद्ध होता है। प्रासंगिक कथावस्तु के दो भेद हैं—पताका और प्रकरी। जब कथावस्तु सानुबन्ध होती है अर्थात् बराबर चलती रहती है, तब उसे "पताका" कहते हैं; और जब वह थोड़े काल तक चलकर रुक जाती या समाप्त हो जाती है, तब उसे "प्रकरी" कहते हैं; जैसे शकुन्तला नाटक के छठें अंक में दास और दासी की बातचीत है। उक्त वस्तु में चमत्कारयुक्त धारा-वाहिकता लाने के लिए पताका-स्थानक का प्रयोग किया जाता है।

पताका स्थानक—जहाँ प्रयोग करने वाले पात्र को कुछ और ही कार्य अभिलषित हो परन्तु सदृश संविधान अथवा विशेषण के कारण किसी नये पदार्थ या भाव के वश में होकर कोई दूसरा ही कार्य हो जाय, अर्थात् जहाँ प्रस्तुत भाव एक हो और आगन्तुक भाव कुछ और ही कार्य करा डाले, वहाँ "पताका स्थानक" होता है। संक्षेप में इसका भाव यही है कि जहाँ करना कुछ हो, परन्तु किसी कारण के अकस्मात् आ जाने से और ही कुछ करना पड़े, वहाँ अथवा उस कार्य को पताका स्थानक कहते हैं। साहित्यदर्पणकार के अनुसार यह चार प्रकार का है—

(1) जहाँ किसी प्रेमयुक्त उपचार से सहसा कोई बड़ी इष्ट सिद्धि हो जाय। जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका वासवदत्ता का रूप धारण करके संकेत स्थान को गयी थी। पर जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वासवदत्ता पर यह भेद खुल गया, तब वह फाँसी लगाकर अपने प्राण देने को उद्यत हुई। उसी समय राजा वहाँ पहुँच गया और उस छद्मवेषधारिणी सागरिका को वास्तविक वासवदत्ता समझकर उसकी फाँसी छुड़ाने लगा। उसी समय उसकी बोली पहचानकर वह बोल उठा कि क्या यह मेरी प्रिया सागरिका है। यहाँ राजा का व्यापार वासवदत्ता को बचाने के लिए था; परन्तु उसने वास्तव में बचाया सागरिका को जो उसे बहुत प्यारी थी। यह पहले प्रकार का पताका स्थानक है।

(2) जहाँ अनेक चतुर वचनों से गुम्फित और अतिशय श्लिष्ट वाक्य हों, वहाँ दूसरे प्रकार का पताका स्थानक होता है। जैसे वेणीसंहार नाटक में सूत्रधार कहता है—

रक्त प्रसाधित भुवः क्षत विग्रहश्च।
स्वस्था भवंतु कुरुराज सुताः सभृत्या॥

इस श्लोक का स्पष्ट भाव तो यही है कि जिन्होंने भूमि को अनुरक्त और विजित कर लिया है और जिनका विग्रह (झगड़ा) क्षत (नष्ट) हो गया है, वे अपने भृत्यों के साथ स्वस्थ हों। परन्तु शब्दों के श्लिष्ट होने के कारण इस श्लोक का यह अर्थ भी होता है कि जिन्होंने (अपने) रक्त से पृथ्वी को प्रसाधित (रंजित) कर दिया है, रँग दिया है और जिनके विग्रह (शरीर) क्षत हो गये हैं, ऐसे कौरव स्वस्थ (स्वर्गस्थ) हों। यहाँ श्लेष से बीजभूत अर्थ (कौरवों के नाश) का प्रतिपादन होकर नायक का मंगल सूचित हुआ।

(3) जो किसी दूसरे अर्थ को सूचित करने वाला, अव्यक्तार्थक तथा विशेष निश्चय से युक्त वचन हो और जिसमें उत्तर भी श्लेषयुक्त हो, वह तीसरा पताका स्थानक है। जैसे वेणीसंहार नाटक में कंचुकी और राजा का यह संवाद—

कंचुकी—देव, भग्नम् भग्नम्।

राजा—केन ?

कंचुकी—भीमेन।

राजा—कस्य ?

कंचुकी—भवतः।

राजा—आः किं प्रलपसि !

कंचुकी—(सभयम्) देव, ननु ब्रवीमि भग्नं भीमेन भवतः।

राजा—धिग वृद्धापसद, कोऽयमद्य ते व्यामोहः !

कंचुकी—देव, न व्यामोहः। सत्यमेव।

'भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम्।
पतितं किणी क्वाण बद्धा क्रन्दमिव क्षितौ॥'

इसमें कहा तो गया है वायु द्वारा पताका का उखाड़ा जाना, पर अस्पष्ट अक्षरों से दुर्योधन के उरुभंग का अर्थ सूचित होता है।

(4) जहाँ सुन्दर श्लेषयुक्त या द्व्यर्थक वचनों का विन्यास हो और जिसमें प्रधान फल की सूचना होती है, वहाँ चौथा पताका स्थानक होता है। जैसे रत्नावली नाटिका में राजा का यह कहना कि 'आज मैं इस लता को अन्य कामिनी के समान देखता हुआ देवी के मुख को क्रोध से लाल बनाऊँगा।' यहाँ श्लेषयुक्त वाक्यों द्वारा आगे होने वाली बात की सूचना दी गयी है; अर्थात् यह

सूचित किया गया है कि राजा का सागरिका पर प्रेम होगा और क्रोध से वास-वदत्ता का मुख लाल हो जायगा। ये चारों पताका स्थानक किसी सन्धि में मंगलार्थक और किसी में अमंगलार्थक होते हैं किन्तु होते सब संधियों में हैं।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि पताका-स्थानक अवस्था या वचन के कारण निश्चित होते हैं। केवल पहले स्थानक में अवस्था का विपर्यय हो इसे उप-स्थित करता है; परन्तु शेष तीनों में वचनों का श्लेष इसका मूल कारण है।

वस्तु की अर्थ-प्रकृति—कथावस्तु को प्रधान फल की प्राप्ति की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कारयुक्त अंशों को अर्थ-प्रकृति कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि पाँच प्रकार की अर्थ-प्रवृत्तियाँ वस्तु कथानक के तत्त्व हैं। मानव जीवन का उद्देश्य अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति : । नाटक के अर्थ में प्रदर्शित इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जो उपाय किये जायँ, वे ही अर्थ-प्रकृति हैं। इनके पाँच भेद इस प्रकार हैं—

(1) **बीज**—मुख्य फल का हेतु वह कथा भाग जो क्रमशः विस्तृत होता जाता है, बीज कहलाता है। इसका पहले बहुत ही सूक्ष्म कथन किया जाता है; परन्तु ज्यों-ज्यों व्यापार शृंखला आगे बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों इसका भी विस्तार होता जाता है। जैसे रत्नावली के प्रथम अंक में यौगंधरायण के ये वाक्य—

"यह सच है, इसमें कुछ संदेह नहीं—

द्वीपन जलनिधि-मध्य सों, अरु दिगंत सों लाय।
मनचाही अनुकूल विधि, छन महँ देत मिलाय॥

जो ऐसा न होता तो ये अनहोनी बातें कैसे होतीं। सिद्ध की बातों का विश्वास करके मैंने सिंहल द्वीप के राजा की कन्या अपने महाराज के लिए माँगी; और जब उसने भेजी तो जहाज टूट गया। वह डूबने लगी। फिर एक तख्ते के सहारे बह चली। संयोग से उसी समय कौशाम्बी के एक महाजन ने, जो सिंहलद्वीप से फिरा आ रहा था, उसे बहते देखा। उसके गले की रत्नमाला से महाजन ने जाना कि यह किसी बड़े घर की लड़की है। वह उसे यहाँ लाया। (प्रसन्न होकर) सब प्रकार हमारे स्वामी की बढ़ती होती है। (विचार कर) और मैंने भी उस कन्या को बड़े गौरव से रानी को सौंपा है; यह बात अच्छी हुई। अब सुनने में आया है कि हमारे स्वामी का कंचुकी बाभ्रव्य और सिंहलेश्वर का मंत्री वसुभूति भी, जो राज कन्या के साथ आते थे, किसी प्रकार डूबते-उबराते किनारे लगे हैं। अब वे सेनापति रुमण्वान् से, जो

कौशलपुरी जीतने गया था, मिल के यहाँ आ पहुँचे हैं। इन बातों से हमारे स्वामी के सब कार्य सिद्ध हुए से प्रतीत होते हैं; तथापि मेरे जी को धैर्य नहीं होता है। अहा सेवक का धर्म बड़ा कठिन है, क्योंकि

यद्यपि स्वामिहि के हित-कारण मैंने सबै यह काज कियो है।
देखहु तौ यह भाग की बात सुदैव ने आय सहाय दियो है॥
सिद्धहु होयगो, संसय नाहिं, सदा निहचै मन माँह लियो है।
तौहू कियो अपने चित सों, यह सोचि डरैं सब काल हियो है॥

(2) बिन्दु—जो बात निमित्त बनकर समाप्त होने वाली अवांतर कथा को आगे बढ़ाती है और प्रधान कथा को अविच्छिन्न रखती है, वह बिन्दु कहलाती है। जैसे रत्नावली नाटिका में अनंगपूजा के अनंतर राजा की पूजा हो चुकने पर कथा समाप्त होने को थी, पर सागरिका विदूषक के ये वचन—

"सूरज अस्ताचलहिं सिधारे।
साँझ समय के सभा भवन में, नृपगण आये सारे॥
ससि सम उदय होहिं उदयन सब की आँखिन के तारे।
चाहत है, कमल न द्युतिहर, सेवहिं पद कमल तुम्हारे॥"

सहर्ष सुनकर और राजा की ओर चाव से देखकर कहती है—"क्या यही वह उदयन राजा है जिसके लिए पिता ने मुझे भेजा था ? (लंबी साँस लेकर) पराधीनता से क्षीण होने पर भी मेरा शरीर इसे देखकर फूल-सा खिल गया।" और इस प्रकार उनके ये वचन कथा को आगे बढ़ाते हैं।

(3) पताका—इसका लक्षण पहले लिखा जा चुका है; जैसे रामायण में सुग्रीव की, वेणीसंहार में भीमसेन की और शकुंतला में विदूषक की कथा। पताका नामक कथांश के नायक का अपना कोई भिन्न फल नहीं होता। प्रधान नायक के फल को सिद्ध करने के लिए ही उसकी समस्त चेष्टाएँ होती हैं। गर्भ या विमर्ष सन्धि में उसका निर्वाह कर दिया जाता है; जैसे सुग्रीव की राज्य-प्राप्ति।

(4) प्रकरी—इसका वर्णन पहले हो चुका है। प्रसंगागत तथा एकदेशीय अर्थात् छोटे-छोटे चरित प्रकरी कहलाते हैं; जैसे रामायण में रावण और जटायु का संवाद। प्रकरी-नायक का भी कोई स्वतंत्र उद्देश्य नहीं होता।

(5) कार्य—जिसके लिए सब उपायों का आरंभ किया जाय और जिसकी सिद्धि के लिए सब सामग्री इकट्ठी की गई हो, वह कार्य है, जैसे रामायण में रावण का वध, अथवा रत्नावली नाटिका में उदयन और रत्नावली का विवाह।

कार्य की अवस्थाएँ - प्रत्येक रूपक में कार्य या व्यापार-शृंखला की पाँच अवस्थाएँ होती हैं; अर्थात् (1) आरम्भ—जिसमें किसी फल की प्राप्ति के लिए औत्सुक्य होता है। (2) प्रयत्न—जिसमें उस फल की प्राप्ति के लिए शीघ्रता से उद्योग किया जाता है। (3) प्राप्त्याशा अथवा प्राप्ति संभव—जिसमें सफलता की संभावना जान पड़ती है, यद्यपि साथ ही विफलता की आशंका भी बनी रहती है। (4) नियताप्ति—जिसमें सफलता का निश्चय हो जाता है। और अंत में (5) फलागम—जिसमें सफलता प्राप्त हो जाती है और उद्देश्य की सिद्धि के साथ ही अन्य समस्त वांछित फलों की प्राप्ति भी हो जाती है। उदाहरण के लिए रत्नावली नाटिका में कुमारी रत्नावली को अंत:पुर में रखने की मन्त्री यौगन्धरायण की उत्कंठा अथवा, अभिज्ञान शाकुन्तल में राजा दुष्यंत की शकुन्तला को देखने की उत्कंठा, जो कार्य के आरम्भ की अवस्था है। रत्नावली में दर्शन का कोई दूसरा उपाय न देखकर रत्नावली का वत्सराज उदयन का चित्र लेखन और शाकुन्तल में राजा दुष्यंत की पुनः मिलने का उपाय निकालने के लिए उत्सुकता 'प्रयत्न' अवस्था के अन्तर्गत है। रत्नावली में सागरिका का छद्म वेश धारण और अभिसरण सफलता प्राप्त करने के उपाय हैं; पर साथ ही भेद खुल जाने की आशंका भी वर्तमान है। इसी प्रकार शकुन्तला में दुर्वासा के शाप की कथा तथा उनका प्रसन्न होकर उसकी शांति की अवधि बताना प्राप्त्याशा अवस्था है। रत्नावली में राजा का यह समझ लेना कि बिना वासवदत्ता को प्रसन्न किये मैं सफल मनोरथ नहीं हो सकता तथा शाकुन्तल में धीवर से राजा का मुँदरी पाना नियताप्ति है। अंत में उदयन का रत्नावली को प्राप्त करना और दुष्यंत का शकुन्तला से मिलाप हो जाना फलागम है।

ये तो कार्य की पाँच अवस्थाएँ हुई जिनका रूपकों में होना आवश्यक है। प्रायः इस बात पर भी विचार किया जाता है कि कार्य की किस अवस्था में रूपक का कितना अंश काम में लाया गया है। साधारणतः सुव्यवस्थित वस्तु वाले रूपक वही समझे जाते हैं जिनमें प्राप्त्याशा अवस्था लगभग मध्य में आती है। पहले का आधा अंश आरम्भ और प्रयत्न अवस्थाओं में तथा अन्त का आधा अंश नियताप्ति और फलागम में प्रयुक्त किया जाता है।

नाटक रचना की संधियाँ—ऊपर पाँच अर्थ-प्रकृतियों और पाँच अवस्थाओं का वर्णन हो चुका। कथात्मक पूर्वोक्त पाँच अवस्थाओं के योग से अर्थ-प्रकृतियों के रूप में विस्तारी कथानक के पाँच अंश हो जाते हैं। एक ही प्रधान प्रयोजन के साधक उन कथांशों का मध्यवर्ती किसी एक प्रयोजन के साथ सम्बन्ध होने को सन्धि कहते हैं। अतः ये पाँच प्रकार की होती हैं—

(क) काले अक्षर—'प्रारम्भ' नामक अवस्था के साथ संयोग होने से जहाँ अनेक अर्थों और रसों के व्यंजक 'बीज' (अर्थ-प्रकृति) की उत्पत्ति हो, वह मुख संधि है। पहले कहा जा चुका है कि व्यापार श्रृंखला में 'प्रारम्भ' उस अवस्था का नाम है जिसमें किसी फल की प्राप्ति के लिए औत्सुक्य होता है; और 'बीज' उस अर्थ-प्रकृति को कहते हैं जिसमें संकेत रूप से स्वार्थ निर्दिष्ट कथा भाग मुख्य प्रयोजन की सिद्धि के लिए क्रमशः विस्तृत होता जाता है। इसी प्रकार मुख सन्धि में ये दोनों बातें अर्थात् प्रारम्भ अवस्था और बीज अर्थ-प्रकृति का संयोग होकर अनेक अर्थ और रस व्यंजित होते हैं। अवस्थाएँ तो कार्य अर्थात् व्यापार श्रृंखला की भिन्न-भिन्न स्थितियों की द्योतक हैं; अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तु के तत्त्वों की सूचक हैं; और सन्धियाँ नाटक-रचना के विभागों का निदर्शन करती हैं। तीनों बातें एक ही अर्थ की सिद्धि करती हैं; पर तीनों के नामकरण और विवेचन तीन दृष्टियों से किये गये हैं—एक में कार्य का, दूसरे में वस्तु का और तीसरे में नाटक रचना का ध्यान रखा गया है। रत्नावली नाटिका में 'प्रारम्भ' अवस्था कुमारी रत्नावली को अंत:पुर में रखने की यौगंधरायण की उत्कंठा, 'बीज' अर्थ-प्रकृति यौगंधरायण का व्यापार और 'मुख-सन्धि' नाटक के प्रारम्भ से लेकर दूसरे अंक के उस स्थान तक होती है जहाँ कुमारी रत्नावली राजा का चित्र अंकित करने का निश्चय करती है। इसी प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तल में प्रथम अंक से आरम्भ होकर दूसरे अंक के उस स्थान तक, जहाँ सेनापति चला जाता है, मुख सन्धि है। मुख सन्धि के नीचे लिखे 12 अंग माने गये हैं—

(1) **उपक्षेप**—बीज का न्यास अर्थात् बीज के समान सूक्ष्म प्रस्तुत इतिवृत्त की सूचना का संक्षेप में निर्देश, जैसे, रत्नावली में नेपथ्य से यह कथन—

"द्वीपन जलनिधि-मध्य सों अरु दिगंत सों लाय।
मन चाही अनुकूल विधि, छन महँ देत मिलाय॥"

(2) **परिकर**—बीज की वृद्धि अर्थात् प्रस्तुत सूक्ष्म इतिवृत्त का विषय-विस्तार, जैसे रत्नावली में यौगन्धरायण का कथन जो बीज अर्थ-प्रकृति के वर्णन में दिया गया है।

(3) **परिन्यास**—बीज की निष्पत्ति या सिद्धि अर्थात् उस वर्णनीय विषय का निश्चय के रूप में प्रकट करना; जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण का यह वचन—

यद्यपि स्वामिहिं के हित-कारण मैने सबै यह काज कियो है।
देखहु तौ यह भाग की बात, सुदैव ने आय सहाय दियो है॥
सिद्धहु होयगो, संसय नाहिं, सदा निहचै मन माँठ लियो है।
तौहु कियो अपने चित सों, यह सोचि डरै सब काल हियो है॥

(4) **विलोभन**—गुण कथन; जैसे रत्नावली में वैतालिक का सागरिका के विलोभन के लिये उदयन के गुणों का वर्णन, यथा—

सूरज अस्ताचलहि सिधारे।
"साँझ समय के सभा-भवन में नृप गण आए सारे।
ससि सम उदय होंहि उदयन, सबकी आँखिन के तारे।
चाहत है, कमलन द्युति-हर, सेवहिं पद कमल तुम्हारे॥

(5) **युक्ति**—प्रयोजन का सम्यक् निर्णय, जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण का कहना—"मैंने भी उस कन्या को बड़े गौरव से रानी को सौंपा है। यह बात अच्छी हुई। अब सुनने में आया है कि हमारे स्वामी का कंचुकी बाभ्रव्य और सिंहलेश्वर का मंत्री वसुभूति भी, जो राजकन्या के साथ आते थे, किसी प्रकार डूबते-उतराते किनारे लगे हैं। अब वे सेनापति रुमण्वान् से, जो कोशलापुरी जीतने गया था, मिल के यहाँ आ पहुँचे हैं।"

(6) **प्राप्ति**—सुख का मिलना; जैसे रत्नावली में सागरिका का यह वाक्य—"क्या यही वह उदयन राजा है जिसके लिए पिता ने मुझे भेजा था? पराधीनता से क्षीण होने पर भी मेरा शरीर इसे देखकर फूल-सा खिल गया।"

(7) **समाधान**—बीज को ऐसे रूप में पुनः प्रदर्शित करना जिससे वह नायक अथवा नायिका को अभिमत प्रतीत हो; जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता और सागरिका की बातचीत का प्रसंग—

वासवदत्ता—यही तो है वह लाल अशोक। तब मेरी पूजा की सामग्री लाओ।

सागरिका—लीजिए, रानी जी, यह सामग्री।

15

वासवदत्ता—(स्वगत) दासियों ने बड़ी भूल की है। जिसकी आँखों से बचाये रखने का बहुत उद्योग किया है, सागरिका आज उसी की दृष्टि में पड़ा चाहती है। अच्छा तो अब यही कहूँ। (प्रकाश्य) अरी सागरिका, आज सब सखियाँ तो मदन-महोत्सव में लगी हुई हैं। तू सारिका को छोड़कर यहाँ क्यों आ गयी। जल्दी वहीं जा और पूजा की सामग्री कांचनमाला को दे जा।

सागरिका—बहुत अच्छा रानी जी! (कुछ चल के मन-ही-मन) सारिका तो सुसंगता को सौंप ही दी है। अब देखना चाहिए, कामदेव की पूजा यहाँ भी कैसी होती है। अच्छा छिपकर देखूँ।

(8) **विधान**—सुख-दुःख का कारण; जैसे, मालतीमाधव में माधव का यह कथन—

निज जात समै वह फेरि कछू सुठि ग्रीव को जों ही लखी मम ओर।
मुख सूर्जमुखी के समान लस्यो विलस्यो छवि धारत मंजु अथोर॥
जुग नैन गड़ाइ सनेह सनै जिन चारु छने बरुनीन के छोर।
बस मानों बुझाइ सुधा-विष में हिय घायल कीन्हों कटाच्छ की कोर।

(9) **परिभाव या परिभावना**—किसी आश्चर्यजनक दृश्य को देखकर कुतूहलयुक्त बातों का कथन; जैसे, रत्नावली में सागरिका के ये वचन—"यह क्या! यह तो अपूर्व कामदेव है। बाप के घर तो इनका चिह्न ही देखा था, यहाँ तो साक्षात कामदेव उपस्थित हैं, अच्छा यहीं से इनको पुष्पांजलि दूँ।"

(10) **उद्भेद**—बीज के रूप में छिपी हुई बात को खोलना; जैसे, रत्नावली में वैतालिक के नेपथ्य-कथन से सागरिका को यह ज्ञात होना कि कामदेव के रूप में गुप्त ये ही राजा उदयन हैं।

(11) **करण**—प्रस्तुत अर्थ का आरम्भ। जैसे रत्नावली में सागरिका का कथन—"भगवान् कंदर्प को मेरा प्रणाम। आप का दर्शन शुभदायक हो। जो देखने योग्य था, वह मैंने देखा। यह मेरे लिये अमोघ हो। (प्रणाम करके) बड़ा आश्चर्य है कि कामदेव का दर्शन करने पर भी फिर दर्शन की इच्छा होती है। अच्छा जब तक कोई न देखे, मैं चली जाऊँ।"

(12) **भेद**—प्रोत्साहन, जैसे वेणीसंहार में—

द्रौपदी—नाथ, मेरे अपमान से अति क्रुद्ध होकर बिना अपने शरीर का ध्यान रखे पराक्रम न कीजियेगा, क्योंकि ऐसा कहा है कि शत्रुओं की सेना में बड़ी सावधानी से जाना चाहिये।

भीम—संग्राम रूपी ऐसे समुद्र के जल के अन्दर विचरण करने में पाण्डु-पुत्र बड़े निपुण हैं जिसमें एक-दूसरे से टक्कर खाकर हाथियों के फटे हुए सिरों से निकले हुए रुधिर और मज्जा में मिले हुए उनके मस्तकों के भेजे रूपी कीच में डूबे हुए रथों के ऊपर पैर रखकर सेना चल रही हो, जिसमें रक्तपान किये हुए सियार अमंगल वाणी से बाजे बजा रहे हों, तथा कबंध नाच रहे हों।

ये बारहों अंग हमारे आचार्यों की सूक्ष्म भागोपभाग करने की रुचि के सूचक मात्र हैं। सब अंगों का किसी नाटक में निर्वाह होना कठिन है। इसलिए यह भी कह दिया गया है कि उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति समाधान और उद्भेद इन छः अंगों का होना तो आवश्यक है। शेष छः भी रहें तो अच्छा ही है। नहीं तो इन्हीं से मुख-संधि का उद्देश्य सिद्ध हो जायगा।

(ख) **प्रतिमुख-संधि**—मुख सन्धि में दिखलाये हुए बीज का जिसमें कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रीति से उद्भेद हो, अर्थात् नाटकीय प्रधान फल का साधक इतिवृत्त कभी गुप्त और कभी स्पष्ट हो, प्रतिमुख सन्धि कहलाता है। जैसे रत्नावली में वत्सराज और सागरिका के समागम के हेतु इन दोनों के पारस्परिक प्रेम को, जो प्रथम अंक में सूचित कर दिया गया था, सुसंगता और विदूषक ने जान लिया। यह तो उसका लक्ष्य होना हुआ। फिर वासवदत्ता ने चित्रावली घटना से उसका अनुमान मात्र किया, इससे उसे कुछ अलक्ष्य भी कह सकते हैं। प्रतिमुख-सन्धि 'प्रयत्न' अवस्था और बिन्दु अर्थ-प्रकृति के समान कार्य-शृंखला को अग्रसर करती है। प्रयत्न अवस्था में फल प्राप्ति के लिए शीघ्रता से उद्योग होता है; बिन्दु अर्थ-प्रकृति में कथा अविच्छिन्न रहकर आगे बढ़ती है, तथा प्रतिमुख सन्धि में मुख सन्धि में दिये हुए प्रधान फल का किञ्चिन्मात्र विकास होता है। जैसे रत्नावली नाटिका में सागरिका का चित्र-लेखन और राजा से साक्षात्कार होना प्रयत्न, और अनंगपूजा के अवसर पर सागरिका का उदयन को देखकर कामदेव समझना तथा फिर उसे पहचानना बीज है। इसी प्रकार प्रतिमुख सन्धि सागरिका के चित्र-लेखन से आरम्भ होकर दूसरे अङ्क के अन्त तक, जहाँ वासवदत्ता राजा को सागरिका का चित्र देखते हुए पकड़ती और उस पर अपना कोप प्रकट करती है, समाप्त होती है। इस सन्धि के 13 अंग माने गये हैं—

(1) **विलास**—आनन्द देने वाले पदार्थ की कामना। जैसे रत्नावली में सागरिका का यह कथन—"मन धीरज धर। जिसका पाना सहज नहीं है, उसके पाने के लिए इतना आग्रह क्यों करता है।''''''यद्यपि भय से मेरा हाथ काँपता

है, तो भी उनका जैसे-तैसे चित्र बना कर देखूँ; क्योंकि इसके सिवा देखने का और उपाय नहीं है।

(2) **परिसर्प**—पहले विद्यमान, पीछे खोयी हुई या दृष्ट नष्ट वस्तु की खोज। जैसे रत्नावली में सागरिका के वचन सुनकर बीज नष्ट-सा हो गया था; पर चित्र के मिल जाने पर राजा का यह वचन कि "मित्र, वह कहाँ है; उसे दिखाओ, दिखाओ।" उसका पुनरागमन कर देता है।

(3) **विधूत**—अरति अर्थात् प्रीतिजनक कार्य का तिरस्कार। जैसे रत्नावली में सागरिका का वचन—"हे सखी, हटाओ इन पद्म पत्रों और मृणाल-मालाओं को। इनसे क्या होगा? व्यर्थ क्यों कष्ट उठाती हो? मैं कहती जो हूँ—

मन दुर्लभ जन सो फँस्यो, तन महँ लाज अपार।
ऐसो विषम सनेह करि, मरिबोही इक सार॥"

(4) **शम**—अरति का लोप। जैसे रत्नावली में अपना चित्र देखकर राजा का विदूषक से कहना—"हे मित्र! इस कामिनी ने मेरा चित्र बनाया है। इसी से मेरे जी में अपने स्वरूप का अधिक आदर हुआ है।

अब भला अपने चित्र को क्यों न देखूँगा। देखो,

लिखन समय मम चित्र पै परे भाप-कन आय।
सो प्यारो करतल परस रहे स्वेद से छाय॥"

इस पर छिपी हुई सागरिका स्वगत कहती है—"मन, धीरज धर; चंचल मत हो। तेरा मनोरथ भी यहाँ तक न पहुँचा था।"

साहित्य-दर्पणकार ने इस अङ्ग के स्थान पर "तापन" अङ्ग दिया है, जिसका अर्थ उपाय का अदर्शन या अभाव है। इसका उदाहरण वही पद्य दिया गया है जो ऊपर विधूत अंग में दिया है।

(5) **नर्म**—परिहास वचन। जैसे रत्नावली सुसंगता और सागरिका की यह बातचीत—

सुसंगता—सखी, जिसके लिए तुम आयी हो, वह सामने है।

सागरिका—(असूया से) मैं किसके लिए आयी हूँ?

सुसगता—(हँसकर) वाह क्या समझ गयी! और काहे के लिए? चित्र पट के लिए। लेती क्यों नहीं उसे?"

(6) **द्युति या नर्मद्युति**—परिहास से उत्पन्न आनन्द अथवा दोष छिपाने

वाला परिहास। जैसे रत्नावली में सुसंगता के यह कहने पर कि "प्यारी सखी, तू बड़ी निठुर है। महाराज तेरी इतनी खातिर करते हैं, तो भी तू प्रसन्न नहीं होती।" सागरिका भौं चढ़ाकर कहती है—"अब भी तू चुप नहीं रहती, सुसंगता।"

(7) **प्रगमन**—उत्तर-प्रत्युत्तर के उत्कृष्ट वचन। जैसे रत्नावली में चित्र मिलने पर राजा और विदूषक की यह बातचीत—

विदूषक—हे मित्र, तुम बड़े भाग्यशाली हो।

राजा—मित्र, यह क्या ?

विदूषक—वही है जिसकी अभी बात चल रही थी। चित्रपट में आप ही का चित्र है। नहीं तो कामदेव के बहाने और किसका चित्र खिंच सकता था।

राजा—(हर्ष से हाथ बढ़ाकर) मित्र, दिखाओ।

विदूषक—तुम्हें न दिखाऊँगा, क्योंकि वह कामिनी भी इसमें चित्रित है। बिना इनाम ऐसा कन्यारत्न दिखाया नहीं जा सकता।

राजा—(हार उतार कर देता है और चित्रपट देखता है। फिर विस्मय से)

कमल कँपावत खेल सों हित चित अधिक जनाय।
चित्र लिखी सी हंसिनी, मानस पैठत धाय॥

[सुसंगता और सागरिका का प्रवेश]

सुसंगता—मैना तो हाथ न आयी, अब बस कदली कुंज से चित्रपट उड़ा लाती हूँ।

सागरिका—सखी, ऐसा ही कर।

विदूषक—हे मित्र, इस कन्यारत्न को अवनत मुख करके क्यों चित्रित किया है ?

सुसंगता—(सुनकर) सखी, बसंतक बात करता है, इससे महाराज भी निश्चय यहीं हैं। अच्छा कदली कुंज से छिपकर सुनती हूँ। देखें क्या बातें करते हैं।

राजा—मित्र, देखो।

कमल कँपावत खेल सों, हित चित अधिक जनाय।
चित्र लिखी सी हंसिनी, मानस पैठत धाय॥

सुसंगता—सखी, बड़ी भाग्यवती हो। देखो तुम्हारा प्यारा तुम्हारा ही वर्णन करता है।

सागरिका—(लज्जा से) सखी, क्यों हँसी उड़ाती है। इस तरह मेरी हलकाई न करो।

विदूषक—(राजा के उँगली लगा के) सुनते हो, इस कन्या-रत्न का मुँह चित्र में अवनत क्यों है ?

राजा—मैना ही तो सब सुना गयी है।

सुसंगता—सखी, मैना आपका सब परिचय दे गयी।

विदूषक—इससे आपकी आँखों को सुख होता है या नहीं ?

सागरिका—न जाने इसके मुख से क्या निकले। सत्य-सत्य इस समय मैं मरने और जीने दोनों के बीच में हूँ।

राजा—मित्र, मुख होता है, यह खूब पूछी। देखो—

अति कष्ट सों याके उरून को छाँड़ि पड़ी मम दीठ नितम्ब पै जाई।
हटि तासों निहारि कै छीन कटी त्रिवली की तरंगन मध्य समाई॥
पुनि धीरहि धीरहि चढ़ि सोऊ कुच तुंग पै जाय कै कीन्ही चढ़ाई।
अब प्यासी सी ह्वै जल बिंदु भरी अँखियान सों जाय कै आँख लगाई॥

(8) **निरोध**—हितरोध अर्थात् हितकर वस्तु की प्राप्ति में रुकावट। साहित्यदर्पण में इसके स्थान में विरोध=दुःख प्राप्ति है। जैसे रत्नावली में विदूषक के यह कहने पर कि "यह दूसरी वासवदत्ता है।" राजा भ्रम में पड़कर सागरिका का हाथ छोड़ देता है और कहता है—"दूर पागल, भाग्यवश रत्नावली-सी कान्तिवाली वह मिली थी। अभी उसे कण्ठ में डालना ही चाहता था कि इतने में वह हाथ से छूट गयी।" साहित्यदर्पण में 'विरोध' का उदाहरण चण्ड कौशिक में राजा का यह बचन है—"अन्धे की तरह मैंने बिना विचारे धधकती हुई आग पर पैर रख दिया।"

(9) **पर्युपासन**—क्रुद्ध का अनुनय। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता के कुपित होने पर राजा उदयन कहता है—"देवी, प्रसन्न हो। कोप न करो। मेरा कुछ दोष नहीं है। आपको मिथ्या आशंका हुई है। तुम्हारे कोप से मैं घबरा गया हूँ, उत्तर नहीं सूझता है।"

(10) पुष्प—विशेषतापूर्ण वचन अर्थात् विशेष अनुराग उत्पन्न करने वाला वचन। जैसे रत्नावली में सागरिका के हाथों का स्पर्श सुख पाकर राजा कहता है—"यह साक्षात् लक्ष्मी है और इसकी हथेली पारिजात के नवदल; नहीं तो पसीने के बहाने इनमें से अमृत कहाँ से टपकता।"

(11) उपन्यास—युक्ति पूर्ण वचन; जैसे रत्नावली में सुसंगता का राजा के प्रति यह वचन—"महाराज मुझ पर प्रसन्न हैं, यही बहुत है। महाराज किसी तरह की शंका न करें। मैंने ही यह खेल किया है। आभूषण मुझे नहीं चाहिए। मेरी सखी सागरिका मुझ पर यह कहकर अप्रसन्न हो गयी है कि तूने मेरा चित्र इस चित्रपट पर क्यों बनाया। आप चलकर उसे जरा मना दीजिए। इतना करने से ही मैं समझ लूँगी कि महाराज मुझ पर बहुत प्रसन्न हैं।"

(12) वज्र—सम्मुख निष्ठुर वचन। जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता चित्रपट की ओर निर्देश करके कहती है—"आर्यपुत्र, यह दूसरी मूर्ति क्या वसंतक जी की विद्या का फल है ?" फिर वह कहती है—"आर्यपुत्र, इस चित्र को देखकर मेरे सिर में पीड़ा उत्पन्न हो गयी है। अच्छा, आप प्रसन्न रहें, मैं जाती हूँ।"

(13) वर्णसंहार—चारों वर्णों का सम्मेलन। जैसे महावीर चरित के तीसरे अंक का यह वाक्य—"यह ऋषियों की सभा है, यह वीर युधाजित हैं, यह मंत्रियों सहित राजा रोमपाद हैं और यह सदा यज्ञ करने वाले महाराज जनक हैं।" अभिनव गुप्ताचार्य का मत है कि 'वर्णसंहार' के 'वर्ण' शब्द से नाटक के पात्र लक्षित होत हैं। अत: पात्रों के सम्मेलन को 'वर्णसंहार' कहना चाहिए, न कि भिन्न-भिन्न जाति के लोगों का समागम। रत्नावली के दूसरे अंक में राजा, विदूषक, सागरिका, सुसंगता, वासवदत्ता और कांचनमाला का समागम 'वर्णसंहार' है।

(ग) गर्भ संधि—इसमें प्रतिमुख संधि में किंचित् प्रकाशित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इस संधि में प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थ-प्रकृति रहती है। प्राप्त्याशा अवस्था में सफलता की सभावना के साथ-ही-साथ विफलता की आशंका भी बनी रहती है और पताका अर्थ-प्रकृति में प्रधान फल का सिद्ध करने वाला प्रासंगिक वृत्तांत रहता है। यदि इस संधि में पताका अर्थ-प्रकृति न हो तो प्राप्त्याशा अवस्था भी उत्पन्न नहीं हो सकती। रत्नावली में गर्भ संधि तीसरे अंक में होती है। इस अंक की कथा जान लेने से इस संधि का अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा। कथा इस प्रकार है—

राजा उदयन सागरिका के विरह में अत्यंत दुःखी होता है। विदूषक यह उपाय करता है कि सागरिका वासवदत्ता के वेश में राजा से मिले। वासवदत्ता को इस बात का पता चल जाता है और वह सागरिका पर पहरा बैठा देती है और आप ही उसके स्थान पर आ उपस्थित होती है। विदूषक उसे सागरिका समझ कर राजा के पास ले जाता है और राजा भी उसे सागरिका समझ कर बड़े प्रेम से उसका स्वागत करता और प्रेमपूर्ण बातें कहता है। वासवदत्ता इन वचनों को सुनकर मारे क्रोध के अपने को सँभाल नहीं सकती और प्रकट होकर राजा पर क्रोध प्रदर्शित करती है तथा उसी दशा में वहाँ से चली जाती है। उधर सागरिका किसी प्रकार पहरेदारों की आँख बचाकर निकल भागती है और वासवदत्ता का वेश धारण किये हुए अशोक वृक्ष की ओर जाती है। उसे यह जानकर बड़ी ग्लानि होती है कि वासवदत्ता पर मेरा सब भेद खुल गया। अतएव वह फाँसी लगाकर अपने प्राण दे देना चाहती है। रानी वासवदत्ता के चले जाने पर राजा उदयन को यह आशंका होती है कि कहीं दुःखी और क्रुद्ध होकर रानी अपने प्राण न दे दे। राजा इस आशंका से विचलित होकर रानी को शांत करने के लिए जाता है। मार्ग में वासवदत्ता रूपधारिणी सागरिका को फाँसी लगाने का प्रयत्न करते देखकर उसे बचाने को दौड़ता है, और ज्योंही बचाकर उससे बात करता है, उसे विदित हो जाता है कि यह वासवदत्ता नहीं, सागरिका है। उसके आनंद का ठिकाना नहीं रहता। वह उससे प्रेमालाप करता है। इसी बीच में रानी वासवदत्ता को पश्चात्ताप होता है कि मैंने व्यर्थ राजा को कटु वचन कहे। अतएव वह राजा को शांत करने के लिए आती है; पर सागरिका से बात करते हुए देखकर उसका क्रोध पुनः भड़क उठता है। वह सागरिका को लताओं से बाँध कर ले जाती है। राजा रानी को समझाने और शांत करने का उद्योग करता है; पर उसकी एक नहीं चलती और वह शोक-सागर की तरंगों में डूबता-उतराता अपने शयन-मंदिर की ओर जाता है।

अब यदि प्राप्त्याशा अवस्था, पताका अर्थ-प्रकृति और गर्भसंधि के लक्षणों को लेकर इस कथा पर विचार किया जाय, तो सब बातें स्पष्ट हो जायँगी। यह बात ध्यान में रखकर इस पर विवेचन करना चाहिए कि रत्नावली नाटिका में इस संधि के साथ पताका अर्थ-प्रकृति नहीं आती, केवल पताका स्थानक का आविर्भाव होता है। गर्भ संधि के १३ अंग माने गये हैं--

(1) **अभूताहरण**—कपट वचन। जैसे, रत्नावली नाटिका के तीसरे अंक

में कांचनमाला की वसंतक के प्रति उक्ति—"तुम संधि विग्रह के कार्यों में अमात्य से भी बढ़ गये।"

(2) **मार्ग**—सच्ची बात कहना। जैसे रत्नावली में राजा और विदूषक की यह बातचीत—

विदूषक—प्यारे मित्र, आपकी जय हो। आप बड़े भाग्यवान् हो। आपकी अभिलाषा पूरी हुई।

राजा—(हर्ष से) मित्र, प्यारी सागरिका अच्छी तो है ?

विदूषक—(गर्व से) आप स्वयं देख लेंगे कि अच्छी है या नहीं।

राजा—(आनंद से) क्या प्यारी का दर्शन लाभ भी होगा ?

विदूषक—(अहंकार से) जो अपनी बुद्धि से वृहस्पति को भी हराता है, वही, वसंतक जब आपका मंत्री है तो दर्शन लाभ क्यों न होगा।

राजा—(हँसकर) आश्चर्य क्या है ? आप सब कर सकते हैं। आप विस्तार से कहिए, सुनने की बड़ी इच्छा है।

विदूषक—(राजा के कान में सुसंगता की कही सब बातें सुनाता है)

(3) **रूप**—वितर्कयुक्त वाक्य। जैसे, रत्नावली में राजा का यह कथन—जो अपनी स्त्री के समागम का अनादर करते हैं, नयी नायिकाओं पर उन कामियों का कैसा पक्षपात होता है—

ताकत तिरछी चकित सी नैन छिपाये लेत।
कंठ लगाई, कुचन रस ताहू लैन न देत॥
'जाऊँ जाऊँ' ही कहत कीन्हें जतन अनेक।
ताहू पै प्यारी लगै अहो काम तव टेक॥

बसंतक ने क्यों देर कर दी ? कहीं रानी वासवदत्ता तो इस भेद को नहीं जान गयी !

(4) **उदाहृति या उदाहरण**—उत्कर्षयुक्त वचन। जैसे, रत्नावली में विदूषक का यह कथन—

(हर्ष से) आज मेरी बात सुनकर प्रिय मित्र को जैसा हर्ष होगा, वैसा तो कौशाम्बी का राज्य पाने से भी न हुआ होगा। अच्छा अब चलकर यह शुभ संवाद सुनाऊँ।

(5) जिसकी अभिलाषा हो, उसकी प्राप्ति अथवा किसी के भाव का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना । जैसे, रत्नावली में सागरिका की प्रतीक्षा में बैठा हुआ राजा कहता है--"(उत्कण्ठा से स्वगत) प्यारी के मिलने का समय बहुत निकट आ गया है । न जाने तब भी क्यों चित्त अधिक उत्कण्ठित होता है--

मिलन समय नियरे भयें, मदन ताप अधिकात ।
जैसे बरखा के दिवस, धूप अतिहि बढ़ि जात ।।

विदूषक--(सुनकर) अजी सागरिके ! देखो महाराज उत्कण्ठित होकर तेरे ही लिए धीरे-धीरे कुछ कह रहे हैं । तुम ठहरो, मैं महाराज को आगे जाकर तुम्हारा संवाद सुनाता हूँ ।

(6) **संग्रह**--सामदाम-युक्त उक्ति । जैसे रत्नावली में राजा का सागरिका के ले आने पर विदूषक को साधुवाद कह कर पारितोषिक देना ।

(7) **अनुमान**-- किसी चिह्न विशेष से किसी बात का अनुमान करना । जैसे, रत्नावली में राजा की उक्ति--

राजा--जा मूर्ख, व्यर्थ क्यों हँसी उड़ाता है । तू ही इस अनर्थ का कारण है । प्यारी का मैंने दिन-दिन आदर किया है; परन्तु आज वह दोष बन पड़ा जो पहले कभी नहीं हुआ था । उच्च प्रेम का पतन असह्य होता है । इससे निश्चय है, वह प्राण दे देगी ।

विदूषक--हे मित्र, रानी जी क्रोध में आकर क्या करेंगी सो तो मैं जानता नहीं; पर मैं ऐसा समझता हूँ कि सागरिका का जीना दुष्कर है ।

(8) **अधिबल**--धोखा ! जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता का सागरिका का और कांचनमाला का सुसगता का वेश धारण करने के कारण जब विदूषक धोखे में पड़कर उन्हें राजा के पास ले जाना चाहता है, तब उसके पूर्व कांचनमाला कहती है--"रानी जी, यही चित्रशाला है । आप ठहरिए; मैं वसंतक से संकेत करती हूँ ।"

(9) **तोटक**--क्रोधी का वचन । जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता कहती है--"उठो उठो आर्य पुत्र ! अब भी बनावटी चाटुता का दुःख क्यों भोग रहे हो । कांचनमाले, इस ब्राह्मण को इस लता से बाँधकर ले चल और इस दुर्विनीत छोकरी को भी आगे कर ले ।"

(10) **उद्वेग**--शत्रु का डर ! जैसे, रत्नावली में सागरिका का वचन--

हा, मुझ पापिनी को इच्छा मृत्यु भी न मिली ।

(11) **संभ्रम**—शंका और त्रास। जैसे रत्नावली में वसंतक का वचन—

यह कौन-सी ! रानी वासवदत्ता ! (पुकार कर) मित्र, बचाओ। बचाओ, देवी वासवदत्ता फाँसी लगाकर मरती हैं।

(12) **आक्षेप**—गर्भ स्थित बीज का स्पष्ट होना। जैसे, रत्नावली में राजा का कहना—"मित्र, देवी की कृपा के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं देख पड़ता। उसी से हमारी आशा पूर्ण होगी। अतएव यहाँ ठहरने से क्या प्रयोजन निकलेगा। चलकर देवी को प्रसन्न करूँ।"

साहित्यदर्पण में गर्भ संधि के १३ अंग माने गये हैं। उसमें 'आक्षेप' अंग नहीं है, 'संभ्रम' के लिए 'विद्रव' शब्द का प्रयोग है और 'प्रार्थना' तथा 'क्षिप्ति' ये दो अंग अधिक हैं। प्रार्थना से भावरति, हर्ष और उत्सवों के लिए अभ्यर्थना से, तथा क्षिप्ति से भाव रहस्य का भेद खुलने से है। जो लोग निर्वहण संधि में प्रशस्ति नामक अंग नहीं मानते, वे गर्भ-संधि में १३ अंग मानते हैं।

(घ) **अवमर्श या विमर्श संधि**—गर्भ संधि की अपेक्षा बीज का अधिक विस्तार होने पर उसके फलोन्मुख होने में जब शाप, क्रोध, विपत्ति या विलोभन के कारण विघ्न उपस्थित होते हैं, तब विमर्श या अवमर्श संधि होती है। रत्नावली नाटिका में चौथे अंक में जहाँ अग्नि के कारण गड़बड़ मचता है, वहाँ तक यह संधि है। इसके १३ अंग माने गये हैं—

(1) **अपवाद**—दोष का फैलना। जैसे, सुसंगता का कहना—

सुसंगता—'देवी उसे उज्जयिनी ले गयी' यह बात फैलाकर आधी रात के समय न जाने वह बिचारी कहाँ हटायी गयी।

विदूषक—(उद्वेग सहित) देवी ने यह बड़ा क्रूर काम किया है। मित्र, अन्यथा मत सोचो, निश्चय देवी ने उसे उज्जयिनी भेजा है।

राजा—देवी मुझ पर अप्रसन्न हैं।

(2) **संफेट**—रोषभरे वचन (खिसियानी बातें) जैसे, वेणीसंहार में दुर्योधन का वचन—अरे भीम, वृद्ध राजा (धृतराष्ट्र) के सामने तू क्या अपने निन्दनीय कार्य की प्रशंसा करता है। अरे मूर्ख, सुन ! बीच सभा में राजाओं के सामने मुझ भुवनेश्वर की आज्ञा से तुझ पशु की और तेरे भाई इस पशु (अर्जुन) की और राजा (युधिष्ठिर) और उन दोनों (नकुल, सहदेव) की भार्या (द्रौपदी) के केश खींचे गये। उस वैर में भला बता तो सही, उन बेचारे राजाओं ने क्या बिगाड़ा था जिन्हें तूने मारा है। मुझको बिना जीते ही इतना घमंड करता है ?

(3) **विद्रव**—वध, बन्धन आदि। जैसे, रत्नावली में बाभ्रव्य का वचन।

राज भवन महँ आग लगी है अति ही भारी।
शिखा जात है ताकी हेम कलस के पारी॥
छाय रही धूम सों प्रमद कानन तरु राजी।
सजल जलद श्यामल सों अरि कै करि रह्यो बाजी॥
भय सों कातर होय पुकारत हैं सब नारी।
हाहाकार मचो है महलन महँ अति भारी॥

(४) **द्रव**—गुरुजनों का अपमान। जैसे, उत्तररामचरित में लव का वचन—"सुन्द की स्त्री के दमन करने पर भी जिनका यश अखण्डित है, खर से लड़ने में भी जो तीन पग पीछे न हटे, डटे ही रह गये, इंद्र पुत्र बालि के वध में भी जिन्होंने कौशल दिखाया, जाने दो, वे बड़े हैं, बुजुर्ग हैं, उनके विषय में कुछ न कहना ही ठीक है।"

(5) **शक्ति**—विरोध का शमन। जैसे, रत्नावली में राजा का वचन—

"छल सों सपथ खाई, मधुर बनाई बात,
एतेहू पै प्यारी नहीं नेकु नरमाई है।
पायन पलोटे ताके बहु बार धाय धाय,
अरु सखीगन बहु भाँति समझाई है॥
याहि को अचम्भो मोहि आवत है बार बार,
ताहू पै तनिक नहीं प्यारी पतियाई है।
पाछे निज आँखिन के आँसुन सों आप धोय,
मन की गलानी प्यारी आप ही बहाई है॥"

(6) **द्युति**—तर्जन और उद्वेजन (डाँटना और फटकारना); जैसे वेणी-संहार में दुर्योधन के प्रति भीम की उक्ति—"अरे नर पशु, तू अपना जन्म चंद्र वंश में बताता है और अब भी गदा धारण करता है। दुःशासन की रुधिर-मदिरा के पान से मत्त मुझको अपना शत्रु कहता है, अभिमान से अन्धा होकर भगवान् विष्णु के प्रति भी अनुचित व्यवहार करता है और इस समय मेरे डर के मारे लड़ाई से भाग कर यहाँ कीच में छिपा पड़ा है!"

(7) **प्रसंग**—गुरुजनों का कीर्तन। जैसे, रत्नावली में वसुमति का वचन—"महामान्य सिंहलपति ने महाराज को जो रत्नावली नाम की कन्या दी, एक सिद्ध पुरुष ने उसके विषय में कहा था कि जो इस कन्या का वर होगा, वही

चक्रवर्ती राजा होगा। सिंहल नरेश ने अपनी रत्नावली आपको देने के लिए हमारे साथ कर दी।"

(8) **छलन**—अपमान। जैसे, रत्नावली में राजा का वचन—"हाय, देवी ने मेरी बात को जरा भी न माना।"

(9) **व्यवसाय**—अपनी शक्ति का कथन। जैसे, रत्नावली में ऐन्द्रजालिक की उक्ति—

"चन्द्र खैंचि धरती पर लाऊँ। गिरि उठाय आकास चढ़ाऊँ।
कहिये जल में आग लगाऊँ। दिन में आधी रात दिखाऊँ॥
बात अधिक अब कहा बढ़ाऊँ। गुरु प्रताप सों सबहि दिखाऊँ।"

(10) **विरोधन**—कार्य में विघ्न का ज्ञापन। जैसे, वेणीसंहार में युधिष्ठिर की यह उक्ति—"हम लोगों ने भीष्म रूप महासागर पार कर लिया। द्रोण रूप भयानक अग्नि जैसे-तैसे शांत कर दी, कर्ण रूप विषधर भी मार डाला, शल्य भी स्वर्ग चला गया। अब विजय थोड़ी ही शेष रही थी कि साहसी भीम ने अपनी बात से हम सबों के प्राणों को संशय में डाल दिया।"

(11) **प्ररोचना**—भावी अर्थ सिद्धि की सूचना अर्थात् सफलता के लक्षण देखकर भविष्य का अनुमान। जैसे, वेणीसंहार में—"अब संदेह के लिए स्थान ही कहाँ है। हे युधिष्ठिर आपके राज्याभिषेक के लिए रत्नकलश भरे जायँ, द्रौपदी बहुत दिनों से छोड़े हुए अपने केश-गुंफन का उत्सव करे। क्षत्रियों के उच्छेदक परशुराम और क्रोधान्ध भीम के रण में पहुँचने पर फिर विजय में सन्देह ही क्या है ?

(12) **विचलन**—बहकना या सीटना। जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण की यह उक्ति "(स्वगत) रानी के मरने की झूठी खबर उड़ायी और रत्नावली प्राप्त की। रानी राजा को अन्य स्त्री में आसक्त देख दुःखित हुई। यद्यपि यह सब स्वामी के हित के लिए किया, तथापि लज्जा से सिर नहीं उठ सकता।"

(13) **आदान**—कार्य का संग्रह अर्थात् अपने अर्थ का साधन। जैसे, रत्नावली में सागरिका की यह उक्ति—"मेरे भाग्य से चारों ओर आग भड़क उठी है। इसी से आज सब दुःख दूर हो जायगा।"

(ङ) **निर्वहण संधि**—इसमें पूर्व कथित चारों संधियों में यथास्थान वर्णित अर्थों का प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिए समाहार हो जाता है और उस मुख्य फल की प्राप्ति भी हो जाती है। इसमें फलागम अवस्था और कार्य अर्थ-

प्रकृति आती है। रत्नावली नाटिका में विमर्श संधि के अंत से लेकर चौथे अंक की समाप्ति तक यह संधि होती है। इसके 14 अंग माने गये हैं --

(1) **संधि**—बीज का आगमन (उद्भावन) अर्थात् छेड़ना। जैसे, रत्नावली में वसुभूति का यह कहना—"बाभ्रव्य, यह तो राजपुत्री के जैसी है।" **बाभ्रव्य**—"मुझे भी ऐसी ही जान पड़ती है।"

(2) **विबोध**—कार्य का अनुसंधान या जाँच। जैसे, रत्नावली में—

वसुभूति—यह कन्या कहाँ से आयी ?

राजा—महारानी जानती हैं।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, यौगंधरायण ने यह कहकर कि यह सागर से प्राप्त हुई है, मुझे इसे सौंपा था। इसीलिए इसको सागरिका कहकर बुलाया गया है।

राजा—(स्वगत) यौगंधरायण ने सौंपा था। मुझसे विना कहे हुए उसने ऐसा क्यों किया ?

(3) **ग्रथन**—कार्य का उपक्षेप, चर्चा या जिक्र। जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण की उक्ति—"देव, मैंने जो यह काम आपसे बिना कहे हुए किया, इसे आप क्षमा करें।"

(4) **निर्णय**—अनुभव-कथन। जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण का कथन—"(हाथ जोड़कर) देव, सुनिये। सिंहलेश्वर की कन्या इस रत्नावली के विषय में एक सिद्ध पुरुष ने कहा था कि जो इसे व्याहेगा, वह चक्रवर्ती राजा होगा। उसी विश्वास पर मैंने यह कन्या—आपके लिए माँगी। रानी वासवदत्ता के मन में दुःख होने के विचार से सिंहलेश्वर ने कन्या देने से इन्कार किया। तब मैंने सिंहलेश्वर के पास बाभ्रव्य को भेज कर यह कहलाया कि रानी वासवदत्ता आग में जल गयी है।"

(5) **परिभाषण**—एक-दूसरे को कह सुनाना। जैसे, रत्नावली में—

रत्नावली—(स्वगत) मैंने महारानी का अपराध किया है। अब मुँह दिखाने को जी नहीं चाहता।

वासवदत्ता—(हाथ फैलाकर) आ, अरी निष्ठुर, अब तो बंधु स्नेह दिखा। (राजा से) आर्यपुत्र, मुझे अपनी निष्ठुरता पर बड़ी लज्जा आती है। आप जल्दी इसका बंधन खोल दें।

राजा—(प्रसन्न होकर) जैसी देवी की आज्ञा।

वासवदता--(वसुभूति से) मंत्री यौगंधरायण के कारण ही मैं इतने दिनों तक रत्नावली के लिए दुर्जन बनी रही हूँ। उन्होंने जान-सुनकर भी कोई समाचार मुझसे नहीं कहे।

(6) **प्रसाद**--पर्युपासना अर्थात् कुछ कह या करके प्रसन्न करना।

जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण का वचन--"महाराज, आपसे न कहकर मैंने जो किया है, उसके लिए मुझे क्षमा करें।"

(7) **आनन्द**--वांछितासि या अभिलषित अर्थ की प्राप्ति। जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता के प्रति राजा का वचन--"देवी, आपके अनुग्रह का कौन न आदर करे (रत्नावली को ग्रहण करता है)।"

(8) **समय**—दुःख का निर्गम या दूर होना। जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता का वचन—

"बहिन धीरज धर, चेत कर।"

(9) **कृति**—लब्धार्थ का निश्चय अर्थात् लब्ध अर्थ के द्वारा शोक आदि का शमन अथवा शोकादि से जन्य अस्थिरता का निवारण। जैसे, रत्नावली में राजा का यह कहना—"देवी, आपके अनुग्रह का कौन आदर न करे!"

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, रत्नावली के माता-पिता, बन्धु-बान्धव सब दूर देश में हैं। आप ऐसा करें जिसमें यह उन्हें स्मरण करके उदास न हो।

(10) **भाषण**—प्रतिष्ठा, मान, यश आदि की प्राप्ति अथवा साम दाम आदि। जैसे, रत्नावली में राजा की उक्ति—

विक्रम बाहु सों पायो सगो, भू सार की सागरिका मैं पाई।
भूमि ससागर पाई, मिली महरानी सहोदर सों हरपाई॥
जीत्यो है कोसलदेश, फिरी चहुँ ओर को आज हमारी दुहाई।
आप सों जोग मिली पुनि रही कहीं का को कचाई॥"

(11-12) **पूर्व भाव और उपगूहन**—कार्य का दर्शन और अद्भुत वस्तु की प्राप्ति या अनुभव। जैसे, रत्नावली में—

यौगंधरायण—(हँसकर) रानी जी, आपने अपनी छोटी बहिन को पहचान लिया। अब जैसा उचित समझें, करें।

वासवदत्ता—(मुस्कराकर) मंत्री जी, स्पष्ट ही कह दो न कि रत्नावली महाराज को दे दो।

(13) **काव्यसंहार**—वरदान प्राप्ति; जैसे, शकुन्तला नाटक में कश्यप का वचन—

भरता तेरो इन्द्र सम, सुत जयंत उपमान।
और कहा वर देहुँ तोहि, तू हो सची समान।।

(14) **प्रशस्ति**—आशीर्वाद। जैसे, रत्नावली में—

देवन को पति इन्द्र करै बरषा मन भाई।
भूमि रहै चोखे धानन सों निसि दिन छाई।।
विप्र करैं जप होम तोष यहि विधि देवन को।
प्रलय प्रयंत रहे सुख संगम सज्जन गन को।।
वज्रलेप सम खलन के दुर्जय अरु दुस्सह वचन।
लोप पाप मिट जायँ सब शेष होय तिन को शमन।।"

संध्यंगों का उद्देश्य—इस प्रकार पाँच संधियों के 64 अङ्ग हुए। इनका प्रयोग 6 निमित्तों से होता है। (1) इष्टार्थ—जैसी रचना करनी हो, उसे पूरा करने के लिए, (2) गोप्यगोपन—जिस बात को गुप्त रखना हो उसे छिपाने के लिए; (3) प्रकाशन—जिस बात को प्रकट करना हो, उसे स्पष्ट करने के लिए; (4) राग—भावों का संचार करने के लिए; (5) आश्चर्य प्रयोग—चमत्कार लाने के लिये; और (6) वृत्तान्त का अनुपक्ष—कथा को ऐसा विस्तार देने के लिए जिससे उसमें लोगों की रुचि बनी रहे। उन्हीं छः बातों को लाने के लिए इन 64 संध्यंगों का आवश्यकता के अनुसार प्रयोग होना चाहिये। तात्पर्य यही है कि दृश्य काव्य रचना में संधियाँ और उनके अंग इस प्रकार रखे जायँ जिसमें इन छः उद्देश्यों की सिद्धि हो।

साहित्यदर्पणकार का कहना है कि जैसे अंगहीन मनुष्य किसी काम को करने के अयोग्य होता है, वैसे ही अंगहीन काव्य भी प्रयोग के योग्य नहीं होता। संधि के अंगों का सम्पादन नायक या प्रतिनायक को करना चाहिये। उनके अभाव में पताका नायक इसे करे। वह भी न हो तो कोई दूसरा ही करे। संधि के अंग प्रायः प्रधान पुरुषों के द्वारा प्रयोग करने के योग्य होते हैं। उपक्षेप, परिकर और परिन्यास अंगों (मुख-संधियों) में बीजभूत अर्थ बहुत थोड़ा रहता है। अतएव उसका प्रयोग अप्रधान पुरुषों द्वारा हो सकता है। इन अंगों का

प्रयोग रस-व्यक्ति के निमित्त होना चाहिये। केवल शास्त्र-पद्धति का अनुसरण करने के लिए नहीं। जो वृत्तान्त इतिहास-प्रसिद्ध होने पर भी रस-व्यक्ति में अनावश्यक या प्रतिकूल होते हों, उन्हें बिल्कुल छोड़ देना या बदल देना चाहिये। मुख्य बात इतनी ही है कि प्रतिभावान् कवि इस व्यक्ति के लिए अंशों का प्रयोग करे; केवल शास्त्र के नियमों का पालन करने अथवा इतिहासानुमोदित बातों को कहने के लिए न करे।

ऊपर अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओं और संधियों का वर्णन हो चुका। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यद्यपि इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न विचारों से किया जाता है, तथापि तीनों के पाँच-पाँच भेद होते हैं और वे परस्पर एक-दूसरे के सहायक या अनुकूल होते हैं। अर्थ-प्रकृतियाँ वस्तु के तत्त्वों से, अवस्थाएँ कार्य-व्यापार से और संधियाँ रूपक-रचना के विभागों से सम्बन्ध रखती हैं। इन बातों का स्पष्टीकरण नीचे लिखी सारिणी से हो जायगा --

वस्तु तत्त्व या अर्थ-प्रकृति	कार्य-व्यापार की अवस्था	संधि
(1) बीज	(1) आरम्भ	(1) मुख
(2) बिन्दु	(2) प्रयत्न	(2) प्रतिमुख
(3) पताका	(3) प्राप्त्याशा	(3) गर्भ
(4) प्रकरी	(4) नियताप्ति	(4) विमर्श
(5) कार्य	(5) फलागम	(5) निर्वहण

वस्तु के दो विभाग—वस्तु विन्यास में एक बात और ध्यान देने की है। इसमें कुछ बातें तो ऐसी होती हैं, जिनका अभिनय करके दिखाना आवश्यक है, जिसमें मधुर और उदात्त रस तथा भाव निरंतर उद्दीप्त हो सकें। जो बातें नीरस अथवा अनुचित हों, उनकी सूचना मात्र दे देनी चाहिए; उनका विस्तार नहीं करना चाहिए। जिनका विस्तार किया जाना चाहिए, उन्हें 'दृश्य' और जिनकी केवल सूचना देनी चाहिए, उन्हें 'सूच्य' कहा जाता है। सूच्य विषयों मे लम्बी यात्रा, वध, मृत्यु, युद्ध, राज्य या देश का विप्लव, नगर आदि का घेरा डालना, भोजन, स्नान, संभोग, अनुलेपन, कपड़ा पहिनना आदि है; परंतु इनका कहीं-कहीं पालन नहीं हुआ है; जैसे भास ने मृत्यु दिखायी है और राजेश्वर ने विवाह कृत्य दिखाया है। एक नियम यह भी है कि अधिकारी का वध नहीं दिखाना चाहिए। जहाँ तक हो सके, नायक या नायिका की मृत्यु नहीं दिखानी चाहिए और न उसकी सूचना ही देनी चाहिए। केवल एक अवस्था में यह बात दृश्य या

सूच्य वस्तु के अंतर्गत आ सकती है, जब कि मृत पुरुष या स्त्री पुन: जीवित हो उठे। हमारे यहाँ नाटकों का उद्देश्य अर्थ, धर्म या काम की प्राप्ति है; अर्थात् अभिनय में यह दिखाना चाहिए कि जीवन का क्या आदर्श है और वह कैसा होना चाहिए। साथ ही वह सामाजिकों को आनंद देने वाला भी होना चाहिए। यही मुख्य कारण है कि हमारे यहाँ प्राय: दु:खांत नाटकों का अभाव है। ऊरुभंग नाटक में दुर्योधन की मृत्यु दिखलाने के कारण उसको कुछ लोग दु:खांत कह सकते हैं; पर ऐसा सिद्धांत स्थिर करने में इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि दुष्टों का दंड और सज्जनों का उपकार ही हिन्दुओं के जीवन संबंधी सब व्यापारों का अंतिम फल माना जाता है। यूरोप के नाटकों में यूनानी नाटय कला का प्रभाव प्रत्यक्ष देखने में आता है। यूनानी दु:खांत नाटकों का उद्देश्य मानवी व्यापारों का ऐसा चित्र उपस्थित करना है जिसमें प्रतिकूल स्थिति या भाग्य का विरोध भरसक दिखाया जाय, चाहे इस प्रयत्न का कैसा ही आधिदैविक या मानुषिक विरोध क्यों न उपस्थित हो और चाहे अंत में उसका परिणाम सर्वनाश ही क्यों न हो; परंतु मानवीय उद्योग की महत्ता का चित्र उपस्थित करना ही एकमात्र उद्देश्य माना गया है। हिन्दू विचार में भाग्य मनुष्य से अलग नहीं है। वह उसके पूर्व जन्म के कर्मों का फल मात्र है। यदि किसी ने पूर्व जन्म में बुरे कर्म किये हैं, तो इस जन्म में वह उनका फल भोगेगा, उससे वह किसी अवस्था में बच नहीं सकता। रूपकों के उद्देश्य को ध्यान में रखकर विचार करने से यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि जिन बातों का अभिनय करना या सूचना देना भी मना किया गया है वे ऐसी हैं जिन्हें शिष्ट समाज अनुचित और कला की दृष्टि से निन्दनीय समझता है। इन्हीं सिद्धान्तों में विरोध होने के कारण यूरोपीय और भारतीय नाटकों में बड़ा भेद है। भारतीय तो केवल आनंद के लिए अभिनय देखकर और उससे शिक्षा ग्रहण करके जीवन के आदर्श की महत्ता समझते हैं; पर यूरोपीय यह जानना चाहते हैं कि सामाजिक जीवन कैसा है। साधारणत: जीवन दु:खमय और सुखमय दोनों होता है; अतएव वहाँ दु:खांत और सुखांत दोनों प्रकार के नाटक होते हैं। भारतवर्ष में अब तक लोग दु:खांत नाटकों को देखना नहीं चाहते; और जो नाटक मंडलियाँ ऐसे नाटकों का अभिनय करती हैं, उन्हें लाभ नहीं होता। दु:खांत नाटकों में केवल यही विशेषता होती है कि उनका प्रभाव अरुंतुद या दु:खदायक होने के कारण सुखांत नाटकों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है।

अर्थोपक्षेपक—ऐसी बातें जो दृश्य वस्तु के अंतर्गत आ सकती हैं; अंकों

में दिखलानी चाहिएँ; पर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें एक दिन से अधिक की घटनाओं का समावेश न हो। यदि यह न हो सकता हो, तो उन्हें इस प्रकार से संक्षिप्त करना चाहिए कि वे काव्य के सौष्ठव को नष्ट न कर सकें। साथ ही अंकों को असंबद्ध न होने देना चाहिए। रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि जिसमें एक घटना दूसरी घटना से साधारणतः निकलती हुई जान पड़े। अंकों में वस्तु-विन्यास सम्यक् रीति से होना चाहिए। जहाँ कहीं किसी अंक में किसी कार्य की समाप्ति अथवा किसी फल की प्राप्ति होती जान पड़े, वहाँ कोई बात ऐसी आ जानी चाहिए जो कार्य-व्यापार को अग्रसर करे। परंतु यह आवश्यक नहीं है और न ऐसा प्रायः देखने ही में आता है कि एक अंक के अनंतर दूसरा अंक आ जाय और दोनों में जिन घटनाओं का वर्णन हो, उनके बीच के समय की घटनाओं का उल्लेख ही न हो। प्रायः दो अंकों के बीच में एक वर्ष तक का समय अन्तर्हित रहता है। यदि इससे अधिक का समय इतिहासानुमोदित हो, तो नाटककार को उसे घटाकर एक वर्ष या उससे कम कर देना चाहिए। सामाजिकों को इस अन्तर की सूचना देने के लिए शास्त्रकारों ने पाँच प्रकार के दृश्यों का विधान किया है जिन्हें अर्थोपक्षेपक कहते हैं। इन्हीं के द्वारा वे बातें भी प्रकट की जाती हैं जो सूच्य वस्तु में गिनी जाती हैं और जिनका अभिनय करके दिखाना शास्त्रानुमोदित नहीं है। ये पाँचों अर्थोपक्षेपक इस प्रकार हैं—

(1) **विष्कम्भक**— जो कथा पहले हो चुकी हो अथवा जो अभी होने वाली हो इसमें उसकी मध्यम पात्रों द्वारा सूचना दी जाती है या उसका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। यह दो प्रकार का होता है – शुद्ध और संकीर्ण। जब एक अथवा अनेक मध्यम पात्र इसका प्रयोग करते हैं तब यह शुद्ध कहलाता है, और जब मध्यम तथा नीच पात्रों द्वारा इसका प्रयोग होता है, तब यह संकीर्ण कहा जाता है। शुद्ध विष्कम्भक में मध्यम पात्रों का भाषण या वार्तालाप संस्कृत में और संकीर्ण विष्कम्भक में मध्यम तथा नीच पात्रों का प्राकृत में होता है। शुद्ध का उदाहरण मालती-माधव के पंचम अंक में कपालकुंडला कृत प्रयोग और संकीर्ण का रामाभिनंद में क्षपणक और कापालिक कृत प्रयोग है।

(2) **प्रवेशक**—इसमें भी वीती हुई या आगे होने वाली बातों की सूचना नीच पात्रों द्वारा दी जाती है। यह दो अंकों के बीच में आता है; अतएव पहले अंक में यह नहीं हो सकता। जो बातें छूट जाती हैं या छोड़ दी जाती हैं; उन्हीं

की सूचना उसके द्वारा दी जाती है। इसमें पात्रों की भाषा उत्कृष्ट नहीं होती। जैसे वेणीसंहार के चौथे अंक में दो राक्षसों की बातचीत है। शकुन्तला नाटक में विष्कम्भक और प्रवेशक दोनों के उदाहरण हैं। तीसरे अंक के आरम्भ में विष्कम्भक द्वारा कण्व ऋषि का एक शिष्य अपने आश्रम में राजा दुष्यन्त के ठहरने की सूचना संस्कृत में देता है और चौथे अंक के प्रवेशक में मछुये और सिपाहियों की बातचीत है।

(3) **चूलिका**—नेपथ्य से किसी रहस्य की सूचना देना चूलिका है। जैसे महावीर चरित में यह सूचना दी जाती है कि राम ने परशुराम को जीत लिया। रसार्णव सुधारक में 'खंड चूलिका' का भी उल्लेख है जिसमें एक अंक के रंग-मंच पर स्थित एक पात्र नेपथ्य मे स्थित दूसरे पात्र से आरम्भ में बात करता है; जैसे बाल रामायण के सातवें अंक में।

(4) **अंकास्य**—इसमें एक अंक के अन्त में उसके आगे के अंक में होने वाली बातों के आरम्भ की सूचना पात्रों द्वारा दी जाती है। जैसे महावीर चरित के दूसरे अंक के अन्त में सुमंत्र, वशिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम के आने की सूचना देता है और तीसरे अंक का आरम्भ इन्हीं तीनों पात्रों के प्रवेश से होता है।

(5) **अंकावतार**—इसमें एक अंक की कथा दूसरे अंक में बराबर चलती रहती है, केवल अंक के अन्त में पात्र बाहर जाकर अगले अंक के आरम्भ में पुनः आ जाते हैं। जैसे मालविकाग्निमित्र के पहिले अंक के अन्त और दूसरे अंक के आरम्भ में इसका प्रयोग देख पड़ता है।

अंकास्य और अंकावतार में इतना ही भेद है कि अंकास्य में तो आगे के अंक की बातों की सूचना मात्र दी जाती है और अंकावतार में पूर्व अंक के पात्र अगले अंक में पुनः आकर उसी कार्य व्यापार को अग्रसर करते हैं। साहित्य-दर्पणकार ने अंकावतार का ऐसा लक्षण लिखा है जो अंकास्य के लक्षण से बहुत कुछ मिलता है। अतः उनको इन दोनों में भ्रम हो जाने की आशंका हुई। इसी से उन्होंने अंकास्य के स्थान पर अंकमुख नाम का एक भिन्न अर्थोपक्षेपक मानकर उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—जहाँ एक ही अंक में सब अंकों की अविकल सूचना दी जाय और जो बीजभूत अर्थ का सूचक हो उसे अंक-मुख कहते हैं। जैसे मालती माधव के पहले अंक के आरम्भ में कामंदकी और अवलोकिता ने भविष्य की सब बातों की सूचना दे दी है। इससे स्पष्ट है कि

अंकास्य और अंकमुख में इतना ही भेद है कि पहले में केवल आगे के अंक की कथा सूचित की जाती है और दूसरे में संपूर्ण नाटक की।

इस प्रकार इन पाँचों अर्थोपक्षेपकों द्वारा सूच्य विषयों की सूचना दी जाती है।

नाट्य के अनुरोध से नाटकीय वस्तु के तीन भेद और माने गये हैं—श्राव्य, अश्राव्य और नियत श्राव्य। जो सब पात्रों के सुनने योग्य हो, उस श्राव्य को प्रकाश और जो किसी के सुनने योग्य न हो उसको अश्राव्य या 'स्वगत' कहते हैं। नियत श्राव्य दो प्रकार का होता है—पहला अपवारित और दूसरा जनान्तिक। सामने विद्यमान पात्र की ओर से मुँह फेर कर उसके किसी रहस्य की बात पर उससे छिपाकर कटाक्ष करने को अपवारित कहते हैं। अपवारित शब्द का अर्थ है छिपाना। दो से अधिक पात्रों की बातचीत के प्रसंग में, अनामिका को छोड़ बाकी तीन उँगलियों की ओट में केवल दो पात्रों के गुप्त संभाषण को जनान्तिक कहते हैं। नाट्य शास्त्र के अनुसार यह बात मानी गयी है कि इस प्रकार के संभाषण को तीसरा नहीं सुनता।

आकाश की ओर देखता हुआ एक ही पात्र सुनने का अभिनय कर जब स्वयं ही प्रश्नों को दोहराता और स्वयं ही उत्तर देता है, तो उसे आकाशभाषित कहते हैं। इससे आगे-पीछे की बातों की सूचना दी जाती है।

पूर्व रंग प्रस्तावना आदि—किसी नाटक की मुख्य कथा को आरम्भ करने के पहले कुछ कृत्यों का विधान है। इन्हें पूर्व रंग कहते हैं। इसमें वे सब कृत्य सम्मिलित हैं जिन्हें अभिनय करने वाले नाटक आरम्भ करने के पहले रंगशाला के विघ्नों को दूर करने के लिए करते हैं। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में इन बातों का वर्णन विस्तार से किया है। उनके अनुसार सबसे पहले नगाड़ा बजाकर इस बात की सूचना दी जाती है कि अब अभिनय का आरम्भ होने वाला है। इसके अनंतर गाने वाले और बाजा बजाने वाले रंगमंच पर आकर अपने यंत्रों आदि को ठीक करते तथा उसके सुर आदि मिलाकर उन्हें बजाते हैं। इसके अनंतर सूत्रधार रंगमंच पर फूल छिटकाता हुआ आता है। उसके साथ एक सेवक पानी का पात्र और दूसरा इन्द्र की ध्वजा लिये रहता है। सूत्रधार पहले उस जलपात्र से पानी लेकर अपने को पवित्र करता और तब ध्वजा को हाथ में लेकर रंगमंच पर टहलता तथा स्तुति-पाठ करता है। इस स्तुति पाठ को नान्दी कहते हैं। इसके अनंतर वह उस देवता की स्तुति करता है जिसके उत्सव के उप-

लक्ष में अभिनय होने वाला है अथवा राजा या ब्राह्मण की वंदना करता है। नान्दी के समाप्त हो जाने पर 'रंगद्वार' नामक कृत्य का आरम्भ होता है जिससे अभिनय के आरम्भ की सूचना होती है। सूत्रधार श्लोक पढ़ता और इन्द्र की ध्वजा की वंदना करता है। फिर पार्वती और भूतों की प्रसन्नता के लिए नृत्य होता है और सूत्रधार, विदूषक तथा सूत्रधार के सेवक में बातचीत होती है। अन्त में नाटक के कथानक की सूचना देकर सूत्रधार विदूषक आदि चले जाते हैं। भरत मुनि के अनुसार इसके अनंतर स्थापक का प्रवेश होता है। इसका रूप, गुण आदि सूत्रधार के ही समान होता है और यह अपने वेश से इस बात का आभास देता है कि नाटक का विषय देवताओं से संबंध रखता है अथवा मनुष्यों से। यह सुन्दर छंदों द्वारा देवताओं आदि की वंदना करता, नाटक के विषय की सूचना देता हुआ नाटक के नाम तथा नाट्यकार के गुण आदि का वर्णन करता और किसी उपयुक्त ऋतु का कीर्तन करके नाटक का आरम्भ करा देता है।

भरत मुनि के पीछे के नाट्यकारों ने इन सब व्यापारों को बहुत सूक्ष्म रूप दे दिया है। धार्मिक कृत्यों का उन्होंने कहीं उल्लेख नहीं किया है। उनके अनुसार अभिनय का आरम्भ नान्दी पाठ से होता है, जिसमें देवता, ब्राह्मण तथा राजा की आशीर्वादयुक्त स्तुति की जाती है। इसमें मंगल वस्तु, शंख, चक्र, चन्द्र, चक्रवाक और कुमुद आदि का वर्णन रहता है तथा यह 8 या 12 पदों या पादों (चरणों) का होता है। वास्तव में ऐसी स्तुति को रंगद्वार कहना चाहिए। यह नान्दी नहीं है, क्योंकि इसमें तो अभिनय का अवतरण ही हो जाता है। नान्दी तो नटों के बिना स्वरूप रचना किये मंगल पाठ मात्र करने को मानना चाहिए। इसी विचार से किसी-किसी नाटक की प्राचीन प्रतियों में इस स्तुति-पाठ के पहले ही यह लिखा मिलता है कि नांदी के अन्त में सूत्रधार का प्रवेश होता है जिससे यह स्पष्ट है कि पीछे के नाट्यकार नान्दी को केवल मंगल पाठ ही मानते थे, यद्यपि यह मंगल पाठ ऐसा होता था जिसमें नाटक के विषय का सूक्ष्म आभास मिल जाता था। जैसे मुद्राराक्षस के नान्दी में छल-कपट की तथा मालती माधव के नान्दी में शृंगाररस की सूचना मिल जाती है। नान्दी पाठ के अनंतर रंगद्वार का आरम्भ होता है जिसमें स्थापक आकर काव्य की स्थापना करता है। यदि वर्णनीय वस्तु दिव्य होती है तो देवता का रूप बनाकर, यदि अदिव्य होती है तो मनुष्य का वेश धारण करके और यदि मिश्र होती है तो दोनों में से किसी एक का रूप धारण करके आता है। वह वस्तु, बीज, मुख या पात्र की सूचना देता है। यद्यपि शास्त्रों में इन सब विधानों के स्थापक द्वारा किये जाने का नियम

है, पर वास्तव में यही देखने में आता है कि सूत्रधार ही इनको करता है। वही नान्दी पाठ करता है और जिस उपलक्ष में अभिनय होने वाला है, उसका उल्लेख करके पारिपार्श्वक या अपनी पत्नी अथवा विदूषक का आह्वान करके बातचीत आरम्भ कर देता है; तथा प्राय: किसी ऋतु आदि के वर्णन के साथ कवि तथा उसके नाटक की सूचना देकर प्रधान अभिनय का श्रीगणेश करा देता है। इन कृत्यों का संपादन करने में उसे भारती वृत्ति का अनुसरण करना चाहिए जिससे दर्शकों का चित्त आकर्षित हो जाय। भारती वृत्ति का विवेचन आगे करेंगे। भारती वृत्ति के चार अग माने गये हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन, आमुख। जहाँ प्रस्तुत की प्रशंसा करके लोगों की उत्कंठा बढ़ायी जाती है, उसे 'प्ररोचना' कहते हैं। प्रशंसा चेतन और अचेतन के आश्रय से दो प्रकार की होती है। देश-काल की प्रशंसा अचेतनाश्रय कही जाती है और कथा नायक, कवि, सभ्य तथा नटों की प्रशंसा चेतनाश्रय। प्रशंसनीय कवि चार प्रकार के होते हैं—उदात्त, उद्धत, प्रौढ़ एवं विनीत। सभ्य भी दो तरह के होते हैं—प्रार्थनीय और प्रार्थक। इनके लक्षण और उदाहरण के लिए देखिए रसार्णव सुधाकर (३/१४५—१५०)। उक्त प्ररोचना संक्षिप्त और विस्तृत भेद से दो प्रकार की होती है। संक्षिप्त—जैसे, रत्नावली में सूत्रधार का यह वचन—

"कवि श्री हर्ष निपुन अति भारी। गुणगाहक सब सभा मझारी॥
वत्सराज कर कथा मनोहर। तापर खेल करहिं हम सुन्दर॥
इन चारन में एकहु बाता। होत सकल शुभ फल करि दाता॥
हम चारों पाई एक बारा। धन्य आज है भाग हमारा॥"

बाल रामायण नाटक की प्ररोचना विस्तृत है। वीथी तथा प्रहसन और उसके अंगों का वर्णन आगे होगा। इस प्रकार उत्कंठा बढ़ाकर वह नटी, पारिपार्श्वक या विदूषक से प्रस्तुत विषय पर विचित्र उक्तियों द्वारा वार्तालाप करता और बड़े कौशल से अभिनय का आरम्भ करा देता है। उसे आमुख कहते हैं। आमुख के प्रस्तावना और स्थापना नाम के दो भेद माने गये हैं। जिसमें कतिपय वीथ्यंगों का प्रयोग होता है; उसे प्रस्तावना और जिसमें समस्त वीथ्यंगों का प्रयोग होता है, उसे स्थापना कहते हैं। शृंगार रस के नाटकों में आमुख, वीर और अद्भुत रस के नाटकों में प्रस्तावना तथा हास्य, वीभत्स और रौद्र रस के नाटकों में स्थापना की योजना की जाती है। यह कार्य तीन प्रकार से संपन्न किया जा सकता है; अतः इनके तीन अंग हैं—

(1) **कथोद्‌घात**—जहाँ सूत्रधार के वचन या उसके भाव को लेकर कोई पात्र कुछ कहता हुआ रंगमंच पर आ जाता है और अभिनय का आरम्भ कर देता है। जैसे रत्नावली में सूत्रधार के इस पद को—

> द्वीपन जलनिधि मध्य सों, अरु दिगंत सों लाय।
> मनचाही अनुकूल विधि, छन मँह देत मिलाय।।"

दोहराता हुआ यौगंधरायण रंगमंच पर आकर अपना कथन आरम्भ कर देता है। यह तो सूत्रधार के वचनों ही को लेकर उससे अभिनय का आरम्भ करता है। जिसमें केवल उसका भाव लिया जाता है, उसका उदाहरण वेणीसंहार में है। सूत्रधार कहता है—

> "निर्वाण वैरहना: प्रशमादरीणां
> नन्दन्तु पांडुतनया: सह माधवेन।
> रक्त प्रसाधितऽभुव: क्षत विग्रहाश्च
> स्वस्था भवंतु कुरुराज सुता: सभृत्या:।।"

इस पर भीम यह कहता हुआ आता है—"अरे दुरात्मा, यह मंगल पाठ वृथा है। मेरे जीते जी धार्तराष्ट्रों का स्वस्थ रहना कैसा?"

(2) **प्रवृत्तक या प्रवर्तक**—जहाँ सूत्रधार किसी ऋतु का वर्णन करे और उसी के आश्रय से किसी पात्र का प्रवेश हो। जैसे—

> आसादितऽप्रकट निर्मल चन्द्रहास:
> प्राप्त: शरत्समय एष विशुद्ध कांत:।
> उत्स्वाय गाढ तमसं घनकाल मुग्रं
> रामो दशास्यमिव संभृत बन्धु जीव:।।"

इसमें शरत्समय और राम की तुलना करने के कारण शरत्समय के आगम का वर्णन होते ही उसी समय राम का भी प्रवेश होता है।

(3) **प्रयोगातिशय**—जहाँ सूत्रधार प्रविष्ट होने वाले पात्र का "यह देखो इनके समान" या "यह तो अमुक व्यक्ति है" इत्यादि किसी ढंग से साक्षात निर्देश करे, उसे प्रयोगातिशय कहते हैं। जैसे मालविकाग्निमित्र के—

> शिरसा प्रथम गृहता माज्ञा मिच्छमि परिषद: कर्त्तुम्।
> देव्या इव धारिण्या: सेवादक्ष: परिजनोऽयम्।।

इस श्लोक के द्वारा सूत्रधार "मैं परिषद् की आज्ञा को वैसे ही पूरा

करना चाहता हूँ जैसे धारिणी देवी की आज्ञा को उनका यह परिजन" यह कहता हुआ परिजन के प्रवेश की सूचना देता है।

अथवा जैसे शाकुंतल के--

तवास्मि गीतरागेण हरिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरहसा॥

इस श्लोक में सूत्रधार ने अपनी उपमा साक्षात् दुश्यन्त से देकर उसके आने की सूचना दी है।

साहित्यदर्पण में प्रस्तावना के पाँच भेद गिनाये हैं- उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलगित। उद्धातक का यह लक्षण दिया है—अभिप्रेत अर्थ के बोधन में असमर्थ पदों के साथ अपने अभिलषित अर्थ की प्रतीति कराने के लिए जहाँ और पद जोड़ दिये जायँ, वहाँ उद्घातक प्रस्तावना होती है। जैसे मुद्राराक्षस में सूत्रधार कहता है—

क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रम संपूर्ण मंडल मिदानीम्।
अभिभवतु मिच्छति बलात्......................."

इस पर नेपथ्य से यह कहता हुआ कि "मेरे जीते जी कौन चंद्रगुप्त का अभिनय करना चाहता है" चाणक्य प्रवेश करता है। कथोद्घात वही है जो ऊपर दिया गया है। प्रयोगातिशय के ऊपर दिये हुए लक्षण से साहित्यदर्पण का लक्षण भिन्न है। साहित्यदर्पण में प्रयोगातिशय का यह लक्षण दिया है -- "यदि एक प्रयोग में दूसरा प्रयोग आरम्भ हो जाय और उसी के द्वारा पात्र का प्रवेश हो, तो वह प्रयोगातिशय है।" जैसे कुन्दमाला में सूत्रधार नटी को बुलाने जा ही रहा था कि उसने नेपथ्य में 'आर्या, इधर-इधर' की आवाज सुनी। इस पर यह कहते हुए कि 'कौन आर्या को पुकार कर मेरी सहायता करता है' उसने नेपथ्य की ओर देखा और यह पद पढ़कर लक्ष्मण और सीता के प्रवेश की सूचना दी—

लंकेश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति
रामेण लोकपरिवाद भयाकुलेन।
निर्वासितां जनपदादपि गर्भ-गुर्वी
सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्॥

जहाँ एक प्रयोग में किसी प्रकार के सादृश्य आदि की उद्भावना के द्वारा किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाय, उसे अवलगित कहते हैं। जैसे शकुंतला में सूत्रधार ने यह कहकर—

तवास्मि गीतरागेण हरिणा प्रसभं हृतः।''
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा।।''

दुष्यन्त के प्रवेश की सूचना दी है।

इससे स्पष्ट है कि दशरूपक का 'प्रयोगातिशय' वही है जो साहित्य-दर्पण का 'अवलगित' है। कथोद्घात और उद्घातक में इतना ही भेद है कि एक में सूत्रधार के वचन या भाव को लेकर पात्र का प्रवेश होता है और दूसरे में सूत्रधार के अन्यार्थक कथन को अपने मन के अर्थ में लेता हुआ पात्र आता है। दोनों में जो कुछ अन्तर है, वह यही है।

नखकुट्ट का कहना है कि नेपथ्य का वचन या आकाशभाषित सुनकर उसके आशय पर भी नाटकों में पात्रों का प्रवेश कराया जाता है।

वृत्तियाँ और उनके अंग—वृत्ति शब्द का साधारण अर्थ है बरताव, काम अथवा ढंग। नाट्यशास्त्र में नायक-नायिका आदि के विशेष प्रकार के बरताव अथवा ढंग को वृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति, वृत्ति तथा रीति ये तीन साहित्य विद्या के अंग माने गये हैं। काव्यमीमांसा में इनका वर्णन राजशेखर ने इस प्रकार किया है—''तत्र वेषविन्यास क्रमः प्रवृत्तिः, विलासऽविन्यासऽक्रमो वृत्तिः, वचन विन्यासऽक्रमो रीतिः।'' अर्थात् विशेष प्रकार की वेश-रचना को प्रवृत्ति, विलास-प्रदर्शन को वृत्ति और वचन चातुरी को रीति कहते हैं। 'साहित्यदर्पण' के टीकाकार तर्क वागीश ने ''वर्त्तते रसोऽनयेति वृत्तिः''—जिसके कारण रस वर्तमान हो—जो रसास्वाद का प्रधान कारण हो वह वृत्ति है।—इस प्रकार का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ दिखलाया है।

अब यह देखना चाहिए कि ''विलासऽविन्यासऽक्रमो वृत्तिः'' इस वाक्य के विलास शब्द का क्या अर्थ है। विलास नायक के गुण को कहते हैं। 'साहित्य-दर्पण में उसका यह लक्षण लिखा है—

''धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वच''

अर्थात् विलास के चिह्न हैं—गंभीर दृष्टि से देखना, निराली चाल से चलना और मुस्कराकर बातें करना। एवं विलास नायिका के स्वाभाविक अलंकारों में से भी एक है। वह है—

यान स्थानासनादीनां मुखनेऽत्रादिऽकर्मणाम् ।
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्ट संदर्शनादिना ।।

भाव यह है कि प्रियतम के दर्शन मिलने पर जो आने-जाने में, उठने-बैठने में, हँसने-बोलने में, देखने-सुनने में एक प्रकार का निरालापन आ जाता है, एक तरह की अदा पैदा हो जाती है, उसे विलास कहते हैं । इन लक्षणों के अनुसार बोल-चाल, उठक-बैठक के अनोखे ढंग को ही विलास कहना उचित जान पड़ता है ।

अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि नाट्य में यथार्थता और उसके द्वारा सजीवता लाने का प्रयत्न करते हुए नट और नटी सभी पात्रों के वाचिक, आंगिक, आहार्य और सात्त्विक चारों प्रकार के अभिनय की और प्रसंगानुकूल दृश्यों के प्रदर्शन की उस विशेषता को वृत्ति कहते हैं जो नाटकीय रस की अनुभूति में मुख्य सहायक हो । यह वृत्ति चार प्रकार की होती है— भारती, कैशिकी, सात्वती, और आरभटी । इनके विषय में भरत मुनि ने लिखा है—

एवमेता बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातरः ।

अर्थात् इन वृत्तियों को नाट्य की माताएँ समझना चाहिए । इनमें से पहली शब्द-वृत्ति और शेष तीन अर्थ-वृत्तियाँ कही जाती हैं । पहली को शब्द वृत्ति इसलिए कहते हैं कि उसमें वाचिक अभिनय की ही अधिकता रहती है, उसकी योजना के लिए किसी विशेष दृश्य की अवतारणा करने की आवश्यकता नहीं होती । अन्य वृत्तियों में नृत्य, गीत, वाद्य तथा भिन्न-भिन्न रसों के अनुरूप भाव और दृश्य भी दिखलाये जाते हैं । भारती ऋग्वेद, सात्वती यजुर्वेद, कौशिकी सामवेद और आरभटी अथर्ववेद से उत्पन्न मानी गयी है । इसका कारण यह है कि ऋग्वेद के कई सूक्तों में संलाप के ऐसे प्रसंग हैं जिनमें सूक्ष्म रूप से नाटक का बीज निहित है । जैसे सरमा और पणियों का संवाद (ऋ० 10।108), विश्वामित्र और नदियों का संवाद (ऋ० 3।33) इत्यादि । अतएव भारती वृत्ति का यह लक्षण किया गया है—

भारती संऽस्कृतऽप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः । दशरूपक ३—५ ।

अर्थात् जिसके प्रयोगकर्त्ता नट हों (नटियाँ नहीं), जिसमें संस्कृत की प्रचुरता हो, उस वाग्व्यापार—बातचीत—को भारती कहते हैं । लक्षण का वाग्व्यापार शब्द ध्यान देने योग्य है । यों ही सत्त्व, शौर्य, दया आदि सात्त्विक भावों से सम्बन्ध रखने वाली सात्वती की देव मंत्रों से पूर्ण यजु से, नृत्य गीत-

बहुल कैशिकी की संगीतमय साम से और वध, बन्ध, संग्राम, क्रोध, इन्द्रजाल, माया आदि उद्धत तथा भीषण भावों से भरी आरभटी की मारण, मोहन, उच्चाटन आदि आभिचरिक क्रियाओं के वर्णन से व्याप्त अथर्व से उत्पत्ति मानना उचित ही है।

भारती वृत्ति और वीथ्यंग—इस विवरण से सम्बन्ध रखता हुआ भारती वृत्ति और वीथ्यंगों का विषय है जिसमें बहुत गड़बड़ दिखायी पड़ता है। जहाँ तक पता लग सका है, नाट्यशास्त्र के किसी आचार्य ने इसको स्पष्ट करने का उद्योग नहीं किया है। भारती वृत्ति का लक्षण दशरूपक में यह दिया है—

भारती संस्कृत प्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।
भेदैः प्ररोचना युक्तैर्वीथी प्रहसनामुखैः॥

अर्थात् भारती वृत्ति वह है जिसमें संस्कृत में वाग्व्यापार हो, जो नट के आश्रित हो तथा जिसके प्ररोचना के अतिरिक्त वीथी, प्रहसन आदि आमुख भेद होते हैं।

साहित्यदर्पण में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः।
तस्या प्ररोचना वीथी प्रहसनामुखे॥
अंगान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना।"

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में भारती वृत्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—

या वाक् प्रधानं पुरुषोपयोज्या
स्त्रीवर्जिता संस्कृत वाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता
सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥

अब यदि तीनों लक्षणों को मिलाया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारती वृत्ति उस नाट्य शैली या भाषा प्रयोग की विशेषता को कहते हैं, जिसका प्रयोग भरत अर्थात् नट लोग करते हैं (नटियाँ नहीं) और जिसमें संस्कृत भाषा के वाक्यों की अधिकता रहती है। यदि यह लक्षण ठीक माना जाय, तो साहित्य-दर्पण का "नराश्रयः" पाठ ठीक न होकर "नटाश्रयः" पाठ ही ठीक जान पड़ता है; क्योंकि अनुमानतः प्रतीत होता है कि आरंभ में नट लोग सभासदों को प्रसन्न करने तथा उनके मन को मुग्ध करके अभिनय की ओर आकृष्ट करने के

लिए इसका प्रयोग करते थे। पीछे से नाटक के और-और अंशों में भी इसके प्रयोग का विधान होने लगा, जिससे इसके मूल को बदल कर 'नटाश्रय:" का 'नराश्रय:" पाठ माना गया। प्ररोचना और आमुख को इसका अंग मानने के कारण भी यही सिद्धांत निकलता है कि आरंभ में नट लोगों के द्वारा नाटक की प्रस्तावना के समय ही इसका प्रयोग होता था। यह कहा जा चुका है कि 'प्ररोचना' प्रस्तुत विषय की प्रशंसा करके लोगों की उत्कंठा बढ़ाने के कृत्य को कहते हैं; और आपस की बातचीत के द्वारा कौशलपूर्वक मुख्य अभिनय के आरम्भ कराने के कृत्य को आमुख कहते हैं। अतएव इन दोनों का आरंभ के समय प्रयोग होना ठीक ही है। पर अब प्रश्न यह है कि प्रहसन और वीथी दोनों किस प्रकार प्रस्तावना के लिए उपयुक्त भारती वृत्ति के अंग माने गये हैं। प्रहसन तो एक प्रकार का रूपक माना गया है जिसमें एक ही अंक होता है तथा जिसमें हास्यरस की प्रधानता रहती है। वीथी भी एक प्रकार का रूपक है। उसमें भी एक ही अंक होता है तथा शृंगार रस की प्रधानता होती है। प्रहसन और वीथी दोनों में वृत्तांत कवि कल्पित होता है। ऐसा जान पड़ता है कि आरंभ में प्रहसन और वीथी भी प्रस्तावना के अंग मात्र थे; अर्थात् हँसी या मसखरेपन की बातें कहकर अथवा उनके विशेष प्रयोग से युक्त किसी छोटे-से कथानक को लेकर तथा शृंगार रसयुक्त और विचित्र उक्ति प्रत्युक्ति से पूर्ण किसी कल्पित बात को लेकर अभिनय देखने वालों का मन प्रसन्न किया जाता था। ऐसा जान पड़ता है कि प्रस्तावना के समय अनेक उपायों से सामाजिकों के चित्त को प्रसन्न करके अभिनय देखने की ओर उनकी रुचि को उत्कंठित और उन्मुख करना नटों का बड़ा कर्तव्य समझा जाता था। पीछे से प्रहसन और वीथी रूपक के स्वतंत्र भेद-विशेष माने जाने लगे। अथवा यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार आजकल कभी-कभी किसी अन्य रस के नाटक के आरंभ, मध्य अथवा अंत में दर्शकों के मनोविनोद के लिए प्रहसन का खेल किया जाता है, उसी प्रकार प्राचीन समय में भी, विशेषत: नाटकों के आरंभ में और कभी-कभी बीच-बीच में भी, केवल प्रहसन ही के नहीं किन्तु तत्सदृश वीथी के भी अंगों का प्रयोग होता था। अत: वीथी और प्रहसन को अन्य नाटकों के अंग एवं स्वतंत्र रूपक मानने में कोई आपत्ति नहीं देख पड़ती। वीथी में वीथ्यंगों का प्रयोग आवश्यक और अन्य रूपकों मे उनका प्रयोग ऐच्छिक माना गया है। अत: यह नियम नहीं है कि सभी रूपकों में प्रहसन अथवा वीथी के अंगों का प्रयोग होना ही चाहिए। वीथ्यंग 13 माने गये हैं जिनका विवरण इस प्रकार है--

(1) गूढ़ार्थक शब्द तथा उनके पर्यायवाची अन्य शब्दों का अर्थ समझने के लिए जो प्रश्नोत्तरमाला हो अथवा वस्तु-विशेष के ज्ञान के लिए जो प्रश्नोत्तर-माला हो, उसे उद्घात्मक कहते हैं ।

(2) **अवलगित** --जहाँ एक के साथ सादृश्यादि के कारण दूसरे कार्य का साधन हो या प्रस्तुत व्यापार में कोई दूसरा ही व्यापार हो जाय ।

साहित्यदर्पणकार ने इन दोनों को प्रस्तावना के भेदों के अन्तर्गत माना है और वीथ्यंगों में भी इनका उल्लेख किया है ।

(3) **प्रपंच** -- असत्कर्मों के कारण एक-दूसरे की उपहासपूर्ण प्रशंसा ।

(4) **त्रिगत**---जिसमें शब्दों की श्रुति समता (एक-से उदाहरण) के कारण अनेक अर्थों की कल्पना हो । इसकी सत्ता पूर्व रंग में नटादि तथा तीन पात्रों के संलाप से होती है ।

(5) **छलन**---देखने में प्रिय पर वास्तव में अप्रिय वाक्यों द्वारा धोखा देना । अन्य शास्त्रकार के मत से किसी के कार्य को लक्ष्य करके धोखा देने वाले हास्य अथवा रोषकारी वचन बोलना छलन है ।

(6) **वाक्केली**---किसी वक्तव्य बात को कहते-कहते रुक जाना अथवा दो-तीन व्यक्तियों की हास्य-जनक उक्ति-प्रत्युक्ति । कुछ लोगों का कहना है कि जहाँ अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर हो, उसे भी वाक्केली कहते हैं ।

(7) **अधिबल**---दो व्यक्तियों का बढ़-बढ़ बातें करना ।

(8) **गंड**---प्रस्तुत विषय से संबंध रखने पर भिन्न अर्थ का सूचक त्वरा-युक्त वाक्य ।

(9) **अवस्यंदित**---सीधे-सीधे कहे हुए किसी वाक्य का दूसरे ही प्रकार से अर्थ लगा लेना ।

(10) **नासिका**---ऐसी पहेली जो हास्यपूर्ण हो और जिसका भाव गूढ़ हो ।

(11) **असत्प्रलाप**---बेसिर-पैर की बात कहना अथवा ऐसा उत्तर देना जो असम्बद्ध हो; या मूर्ख के आगे ऐसे हित वचन कहना जिन्हें वह न समझता हो ।

(12) **व्याहार**---दूसरे का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए हास्यपूर्ण और क्षोभकारी वचन कहना ।

(13) **मृदव**---जहाँ दोष गुण और गुण दोष समझ पड़े ।

एक विचित्र बात है । इन वीथ्यंगों के जितने उदाहरण नाट्य-ग्रंथों में मिलते हैं, उनमें से कोई ऐसा नहीं है जो वीथी नामक किसी रूपक-विशेष से लिया गया हो और जिसमें इन सब अंगों का प्रयोग दिखाया गया हो, यद्यपि मालविका और माधवी नाम की दो वीथियों का उल्लेख मिलता है । इसका कारण उन वीथियों की अप्रसिद्धि ही जान पड़ती है । वीथ्यंगों का जो विवरण ऊपर दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि ये सब ऐसे प्रयोग हैं जिनसे प्रायः हास्य रस का उद्रेक होता है और जो सुनने वालों के हृदयों को चमत्कृत करके आनन्द में निमग्न कर देते हैं । अतएव हमारे विचार में आरम्भ में वीथी और प्रहसन प्रस्तावना के ऐसे अंशों को कहते थे जिनमें हँसी या मसखरेपन की बातें अधिक रहती थीं और जो सामाजिकों के चित्त को प्रसन्न करके अभिनय देखने की ओर उनकी रुचि को उत्कंठित करने में समर्थ होते थे । धनञ्जय ने अपने दशरूपक में इन 13 वीथ्यंगों का उल्लेख करके स्पष्ट लिख भी दिया है—

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं चाक्षिप्य सूत्रभृत् ।
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपंचयेत् ।।

अर्थात् इन सब (वीथ्यंगों) के द्वारा सूत्रधार अर्थ और पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अन्त में चला जाय और तब वस्तु का प्रपंचन आरम्भ हो । साहित्य-दर्पणकार के अनुसार वीथी के अंग ही प्रहसन के भी अंग हो सकते हैं । हाँ, यह भेद अवश्य है कि वीथी में उनकी योजना अवश्य होनी चाहिए; पर प्रहसन में उनकी सत्ता ऐच्छिक होती है । किन्तु रसार्णव-सुधाकर में प्रहसन के इनसे भिन्न दस और ही अंग माने गये हैं । यथा—अवलगित, अवस्कन्द, व्यव-हार, विप्रलंभ, उपपत्ति, भय, अनृत, विभ्रान्ति, गद्गदवाणी और प्रलाप । इनके लक्षण और उदाहरण के लिए देखिये रसा० (३।२७०) ।

इस प्रकार प्रस्तावना द्वारा मुख्य अभिनय का आरम्भ होना चाहिए । मुख्य अभिनय में सबसे आवश्यक बात अन्तिम फल की प्राप्ति है । इसके स्थिर करने में नाटककार को बड़े सोच-विचार से काम लेना चाहिए । जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, नाटक केवल आमोद-प्रमोद और मन-बहलाव के उपादान हैं । इनसे ये सब बातें तो प्राप्त होती ही हैं और होनी भी चाहिए, पर साथ ही ये उच्च, उपकारी तथा उपदेशमय आदर्श का चित्र भी उपस्थित करते हैं । जीवन की व्याख्या इनके द्वारा अवश्य होती है, पर जीवन कैसा होता है, यही उद्देश्य नहीं होना चाहिए; वरन् यह दिखाना चाहिए कि जीवन कैसा होना चाहिए और

उत्तम-से-उत्तम कैसा हो सकता है। इसीलिए कहा गया है कि अभिनय द्वारा अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति होती है। फल का निश्चय हो जाने पर नाटककार को अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों तथा सन्धियों के अनुसार विचारपूर्वक उनकी रचना करनी चाहिए।

संध्यंतर—कुछ शास्त्रकारों का मत है कि सन्धियों के अन्तर्गत उपसन्धियाँ, अन्तर सन्धियाँ या सध्यंतर भी होते हैं। इनका उद्देश्य भी व्यापार-शृंखला की शिथिलता को दूर कर उसे अग्रसर करना और चमत्कार लाना होता है। ये अन्तर सन्धियाँ 21 बतलायी गयी हैं यथा—

(1) साम—अपनी अनुवृत्ति को प्रकाशित करने वाला प्रिय वाक्य। (2) दान—अपने प्रतिनिधिस्वरूप भूषणादि का समर्पण। (3) भेद—कपट वचनों द्वारा सुहृदों में भेद डालना। (4) दंड—अविनय को सुन या देखकर डाँटना। (5) प्रत्युत्पन्नमति। (6) वध—दुष्ट का दमन। (7) गोत्र स्खलित—नाम का व्यतिक्रम (8) ओज—निज शक्ति के सूचक वचन। (9) धी—इष्ट के सिद्ध न हो जाने तक चिन्ता। (10) क्रोध, (11) साहस (12) भय (13) माया (14) संवृत्ति—अपने कथन को छिपाना (15) भ्रांति (16) दूत्य (17) हेत्वधारणा—किसी हेतु से कोई निश्चय। (18) स्वप्न (19) लेख (20) मद, (21) चित्र। इनमें से स्वप्न, लेख और चित्रादि का प्रयोग प्रायः देखने मे आता है।

आरम्भ में कार्य-व्यापार पर ध्यान देकर विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिए; अर्थात् वस्तु का जो विशेष भाग अपेक्षित तो हो पर साथ ही नीरस भी हो, उसे छोड़कर शेष अंश का अभिनय दिखाना चाहिए और उस अपेक्षित अंश को विष्कम्भक में ले जाना चाहिए। परन्तु जहाँ सरस वस्तु का आरम्भ से ही प्रयोग हो सकता हो, वहाँ आमुख में की गयी सूचना का ही आश्रय लेकर कार्य आरम्भ करना चाहिए।

अंक में नायक के कृत्यों का प्रत्यक्ष वर्णन मिलता है, अतएव उसे रस और भावपूर्ण होना चाहिए। अंकों में अवान्तर कार्य तो पूरा हो जाना चाहिए किन्तु बिन्दु लगा रहना चाहिए; अर्थात् मुख्य कथा की समाप्ति नहीं होनी चाहिए। एक अंक में एक ही दिन की कथा आनी चाहिए। एक के अनन्तर दूसरे

अंक की रचना अवस्था, अर्थ-प्रकृति, संधि, उसके अंग तथा अर्थोपक्षेपकों को ध्यान में रखकर करनी चाहिए। जिस काव्य में पाँच अंक तक होते हैं, उसे नाटक और जिसमें इससे अधिक दस अंक तक होते हैं, उसे महानाटक कहते हैं।

कुछ शास्त्रकारों ने अंक के मध्य में आने वाले अंक को गर्भांक कहा है और लिखा है कि इसका प्रयोग रस, वस्तु और नायक का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए होना चाहिए। इसमें रंगद्वार और आमुख आदि अंग होते हैं तथा बीज और फल का स्पष्ट आभास होता है। यह देखने में आता है कि किसी नाटक के अन्तर्गत जो दूसरा नाटक होता है, वह गर्भांक में दिखाया जाता है; जैसे प्रियदर्शिका के तीसरे अंक में वासवदत्ता का अपनी सखियों द्वारा वत्सराज से अपने पूर्व प्रेम-कृत्यों का अभिनय कराना; अथवा उत्तररामचरित में वाल्मीकि ऋषि का राम-लक्ष्मण के सम्मुख सीता के दूसरे वनवास की कथा अप्सराओं द्वारा दिखाना; अथवा बाल-रामायण में सीता-स्वयंवर का प्रदर्शन।

भाषा-प्रयोग—नाट्य शास्त्रों में इस बात पर भी विचार किया गया है कि पात्रों को किस भाषा में बोलना चाहिए। साधारणतः दो विभाग किये गये हैं—संस्कृत और प्राकृत। अनीच पुरुषों, संन्यासियों, योगियों और कहीं-कहीं महादेवी और मंत्रियों की कन्याओं तथा वेश्याओं के लिए संस्कृत में बोलने का विधान है। रसार्णव सुधाकर में लिखा है कि संस्कृत का प्रयोग देवताओं, मुनियों, नायकों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वणिकों, शूद्रों, मन्त्रियों, कंचुकियों, संन्यासियों विट आदि धूर्तों तथा योगियों को करना चाहिए। उसमें यह भी लिखा है कि कहीं-कहीं रानियों, वेश्याओं, मन्त्रि-कन्याओं, पढ़ी-लिखी स्त्रियों, योगिनियों, अप्सराओं तथा शिल्पकारिणियों को संस्कृत भाषा के प्रयोग की आज्ञा दी गयी है। प्राकृत के अनेक भेद और उपभेद मानकर उनके प्रयोगों के नियम दिये गये हैं। साधारणतः स्त्रियों को प्राकृत में ही बोलना चाहिए। इन नियमों में बहुत-कुछ मतभेद है। साहित्यदर्पणकार ने एक-एक जाति के लोगों के लिए एक-एक भाषा तक का निर्देश कर दिया है। पर गिनती गिनाते-गिनाते हारकर यह कह दिया है कि "यद्देश्यं नीच पात्रं तु तद्देश्यं तस्य भाषितं।" अर्थात् नीच पात्र जिस देश का हो, उसकी भाषा भी उसी देश की होनी चाहिए। "कार्यं तश्चोत्तमादिना कार्यो भाषा विपर्ययः।" उत्तम पात्रों की भी भाषा प्रयोजनानुसार बदल देनी चाहिए। इससे यही सिद्धान्त निकलता है कि आचार्यों का यही उद्देश्य था कि अभिनय में बातचीत ऐसी हो जिसमें वास्तविकता का अनुभव होने लगे।

भाषा-विभाग के मूल में यही सिद्धान्त निहित है। पर आगे चलकर नाटक लिखने वाले लकीर-के-फकीर हो गये; और बोलचाल की भाषा में कैसा परिवर्तन हो गया, इसका ध्यान न रखकर उसी पुरानी पद्धति का अनुसरण करते रहे।

निर्देश परिभाषा—साधारणतः सब लोग सबका नाम लेकर नहीं बुला सकते। इसमें सदा से बड़ों, छोटों और बराबर वालों का विचार रखा गया है और शिष्टता तथा विनय के अनुरोध से सब देशों में अपने-अपने ढंग की प्रथा प्रचलित है। हमारे नाट्यकारों ने भी इस प्रथा का आदर किया है और इसके नियम बना दिये हैं। ये नियम तीन विभागों में विभक्त हो सकते हैं; अर्थात् पूज्य, कनिष्ठ और सदृश लोगों में व्यवहारोपयोगी निर्देश शब्द।

पूज्य के प्रति निर्देश वचन

निर्देशक	निर्दिष्ट	निर्देश वचन
	देवता, मुनि, संन्यासी, बहुश्रुत	भगवन्
	इनकी स्त्रियाँ	भगवती
	ब्राह्मण	आर्य
	वृद्ध	तात
	उपाध्याय	आचार्य
	गणिका	अज्जुका
	भूपाल	महाराज
ब्राह्मण	विद्वान्	भाव
	नराधिप	नाम लेकर
परिजन	नृपति	भट्ट, भट्टारक
भृत्य, प्रजा	नृपति	देव
मुनि	नृपति	राजा अथवा अपत्य प्रत्यय लगाकर; जैसे पृथा के पुत्र को पार्थ, गंगा के पुत्र को गांगेय।
विदूषक	राजा	सखे, राजन्।
ह्मण	सचिव	अमात्य, सचिव

निर्देशक	निर्दिष्ट	निर्देश वचन
सारथि	रथी	आयुष्मान्, आर्य
	साधु महात्मा	तपस्विन्, साधो
	युवराज	स्वामिन्
	कुमार	भर्तृदारक
	भगिनीपति	आवुत्त
	सेनापति	श्याल
परिचारक	रानी	भट्टिनी, स्वामिनी, देवी, भट्टारिका
राजा	महिषी	देवी
,,	अन्य रानियाँ	प्रिया
पुत्र	पिता	तातपाद
,,	माता	अम्ब
	ज्येष्ठ भ्राता	आर्य
	मातुल	,,
	सदृश के प्रति निर्देश वचन।	
पुरुषों द्वारा	पुरुष	वयस्य
स्त्रियों द्वारा	स्त्री	हला, सखी
	कनिष्ठ के प्रति निर्देश वचन।	
गुरुजन	सुत, शिष्य आदि	दीर्घायु, वत्स, पुत्र, तात
गुरुजन	अन्यजन	शिल्प अथवा अधिकार का नाम लेकर या भद्र भद्रमुख
	नीच	हंडे
	अति नीच	हंजे
स्वामी	भृत्य	नाम लेकर

नाम परिभाषा—नाट्य शास्त्रों में इस बात का भी विवेचन किया गया है कि कैसे पात्र का कैसा नाम रखना चाहिए। जैसे वेश्याओं के नाम ऐसे रखने चाहिए जिनके अन्त में दत्ता, सिद्धा या सेना शब्द हों; जैसे वसन्तसेना। रसार्णव प्रभाकर में इसका विस्तृत वर्णन है।

रंगशाला—इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है कि प्राचीन समय में रंगशालाएँ बनती थीं या नहीं। शास्त्रकारों ने जो कुछ विवेचन किया है, उससे यह पता चलता है कि नाटक अभिनय के लिए रचे जाते थे। पर साथ ही ऐसे नाटक भी होते थे जो कहने के लिए तो दृश्य काव्य के अंतर्गत गिने जा सकते थे, पर वास्तव में जिनका आनंद पढ़ने में ही आता था। पद-पद पर श्लोकों की भरमार सजीवता और स्वाभाविकता का मूलोच्छेद करने वाली होती है। इस अवस्था में इस सिद्धांत पर पहुँचे बिना संतोष नहीं होता कि कुछ नाटक तो अवश्य अभिनय के लिए रचे जाते थे; पर साथ ही ऐसे नाटकों की भी रचना होती थी जो केवल पढ़े जाते थे और जिनका अभिनय या तो हो ही नहीं सकता था, या यदि होता भी होगा तो वह अस्वाभाविक जान पड़ता होगा। पर इसमें संदेह नहीं है कि प्राचीन समय में रंगशालाएँ बनायी जाती थीं। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में यह बतलाया है कि रंगशालाएँ, जिनको उन दिनों में प्रेक्षागृह कहते थे, कितने प्रकार की होती थीं और किस प्रकार बनायी जाती थीं। भरत मुनि के अनुसार प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे—विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। विकृष्ट प्रेक्षागृह सबसे अच्छा होता है और यह देवताओं के लिए हैं। उसकी लम्बाई 108 हाथ होती है। चतुरस्र प्रेक्षागृह मध्यम श्रेणी का होता है और उसकी लम्बाई 64 हाथ तथा चौड़ाई 32 हाथ होती है। त्र्यस्र त्रिकोण या त्रिभुजाकार होता है और वह निकृष्ट माना जाता है। चतुरस्र राजाओं, धनवानों तथा सर्वसाधारण के लिए होता है और त्र्यस्र में केवल आपस के थोड़े-से मित्र या परिचित बैठकर अभिनय देखते है। सभी प्रकार के प्रेक्षागृह का आधा स्थान दर्शकों के लिए आधा अभिनय तथा पात्रों के लिए नियत रहता है। रंगमंच का सबसे पिछला भाग रंगशीर्ष कहलाता है जो छह खंभों पर बना होता है और जिसमें नाट्यवेद के अधिष्ठाता देवता का पूजन होता है। इसमें से नेपथ्यगृह[1] में जाने के लिए दो द्वार होते हैं।

---

1. कुछ विद्वानों ने नेपथ्य शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करके यह सिद्धांत निकाला है कि यह रंगमंच से नीचा होता था। यदि यह ठीक माना जाय तो पात्रों के रंगमंच पर प्रवेश के लिए 'रंगावतरण' शब्द इसके लिए ठीक विपरीत भाव को प्रकट करेगा। ऐसा जान पड़ता है कि रंगमंच के बनाने में आवश्यकतानुसार नेपथ्य बना लिया जाता था। नीचाई-ऊँचाई के किसी सर्वमान्य और व्यापक नियम का पालन नहीं होता था।

रंगमंच के खंभों और दीवारों पर बहुत अच्छी नक्काशी और चित्रकारी होनी चाहिए और स्थान-स्थान पर वायु तथा प्रकाश आने के लिए झरोखे होने चाहिए। रंगमंच ऐसा होना चाहिए जिसमें आवाज अच्छी तरह गूँज सके। वह दो खंड का भी होता है। ऊपर वाले खंड में स्वर्ग आदि के दृश्य दिखाये जाते हैं। रंगमंच के खंभों पर नक्काशी के साथ पशुओं, पक्षियों के चित्र खुदे होने चाहिए और भीतों पर पहाड़ों, जंगलों, नदियों, मंदिरों, अट्टालिकाओं आदि के सुन्दर चित्र बने होने चाहिएँ। भिन्न-भिन्न वर्णों के दर्शकों के लिए भिन्न-भिन्न स्थान होने चाहिएँ। ब्राह्मणों के बैठने का स्थान सबसे आगे होना चाहिए और संकेत के लिए वहाँ सफेद रंग के खम्भे होने चाहिएँ। उनके पीछे क्षत्रियों के बैठने का स्थान हो जिसके खम्भे लाल हों। उनके पीछे उत्तर-पश्चिम में वैश्यों के लिए और उत्तर-पूर्व में शूद्रों के लिए स्थान हो, और इन दोनों स्थानों के खंभे क्रमशः पीले और नीले हों। थोड़ा-सा स्थान अन्य जातियों के लिए भी रक्षित रहना चाहिए। यदि अधिक स्थान की आवश्यकता हो तो ऊपर दूसरा खंड भी बना लेना चाहिए। इस विवरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि भारतवर्ष में रंगशाला आदि के बनाने के विधान थे। प्रायः जब राजमहलों में नाटकों का अभिनय होता होगा, तब साधारणतः रंगमंच की रचना कर ली जाती होगी।

यह तो भारतीय रंगशाला की अवस्था थी। ऐसा विदित होता है कि पीछे से इन रंगशालाओं के निर्माण के ढंग पर विदेशीय प्रभाव भी पड़ा। बहुत दिन हुए, सरगुजा रियासत के रामगढ़ स्थान में दो पहाड़ी गुफाओं का पता लगा था। उनमें से एक गुफा में प्रेक्षागृह बना है जो कई बातों में यूनानी नाटक-शालाओं से मिलता है। उस प्रेक्षागृह में कुछ चित्रकारी भी है जो बहुत दिनों की होने के कारण बहुत-कुछ मिट गयी है; और जो अंश बचा है, उससे विदित होता है कि वह अंश कई बातों में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में बतलायी हुई चित्रकारी से मिलता है। प्रेक्षागृह के सम्बन्ध में पास की दूसरी गुफा के भीतर अशोक लिपि में एक लेख भी खुदा हुआ है। पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत है कि वह शिलालेख और गुफा ईसा से कम-से-कम तीन सौ वर्ष पहले की है। शिलालेख से पता चलता है कि वह गुफा सुतनुका नामक किसी देवदासी ने नर्तकियों के लिए बनवायी थी। ऐसा अनुमान होता है कि उन दिनों जहाँ भारतवर्ष में देशी ढंग के अनेक प्रेक्षागृह बनते थे, वहाँ किसी नर्तकी ने यूनानी ढंग की नाट्यशाला भी, एक नई चीज समझकर बनवा ली होगी। पहली गुफा में तो नाटक होते होंगे और दूसरी गुफा में नट और नर्तकियाँ आदि रहती होंगी। इसमें संदेह नहीं कि

भारतीय ढंग के प्रेक्षागृहों के रहते हुए भी यूनानी ढंग की नाट्यशाला तभी बनी होगी जब भारतीय ढंग के प्रेक्षागृहों की बहुत अधिकता हो गयी होगी और लोगों की रुचि किसी नये ढंग के प्रेक्षागृह की ओर हुई होगी।

रंगमंच के पीछे एक परदे के रहने का भी उल्लेख मिलता है। इसे यवनिका या जवनिका कहा गया है। इस शब्द के आधार पर कुछ लोगों ने यह अनुमान किया है कि भारतीय नाटकों का आधार यूनानी नाटक हैं; पर इस बातका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस शब्द के आधार पर अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि जिस कपड़े का यह परदा बनाया जाता था, वह यवन देश (यूनान) से आता होगा। इस परदे को हटाकर नेपथ्य से आ-जा सकते थे। इसके गिराने या चढ़ाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कहीं-कहीं यह भी लिखा मिलता है कि जिस अभिनय का जो रस प्रधान हो, उसी के अनुसार परदे का रंग भी होना चाहिए। भिन्न-भिन्न रसों के सूचक भिन्न-भिन्न रंग माने गये हैं; जैसे रौद्र-लाल भयानक-काला, हास्य-श्वेत, श्रृंगार–श्याम, करुण–कपोत (खाकी), अद्भुत–पीत, वीभत्स–नील और वीर—हेमवर्ण (सुनहला)। किसी-किसी आचार्य का यह भी कहना है कि सब अवस्थाओं में परदा लाल ही रंग का होना चाहिए।

नाट्य वेश-भूषा आदि—अभिनय का मूल उद्देश्य यही है कि जो कुछ दिखाना हो, उसे स्पष्ट करके दिखाया जाय। इसी को नाट्य कहा भी गया है। पर ऐसा जान पड़ता है कि अभिनय में बहुत-सी बातें केवल उनका नाट्य करके बतला दी जाती थीं। जैसे यदि कहीं यह दृश्य दिखाना हो कि नदी पार करना है, तो इसके लिए यह आवश्यक नहीं माना गया है कि रंगमंच पर जल का प्रवाह हो और पात्र उसमें से होकर जाय। वरन् कपड़ों को उठाकर कमर में बाँध लेने तथा हाथों से ऐसा नाट्य करने से कि मानों पानी में से हिल कर या तैरकर जा रहे हैं, इस कृत्य की पूर्ति मान ली जाती थी। इसी प्रकार यदि रथ पर चढ़ने, उतरने का अभिनय करना हो तो उसका नाट्य करना ही अलम् था। वास्तव में रंगमंच पर रथ के लाने या उस पर चढ़ने आदि की आवश्यकता नहीं थी। सारांश यह है कि शरीर के प्रत्येक अंग का प्रयोग करके वास्तविक कृत्य की सूचना दे देने का विधान किया गया था, और ऐसा जान पड़ता है कि प्रेक्षकगण इन संकेतों को समझकर अभिनय का आनन्द उठा सकते थे। वेश भूषा आदि के सम्बन्ध में भी विवेचन किया गया है। कपड़ों का रंग तक गिनाया गया है; जैसे अभीर कन्यायें नीले रंग का कपड़ा पहने रहें; धर्म कृत्यों के समय सफेद रंग का कपड़ा हो; राजा आदि भड़कीले रंग के कपड़े पहनें इत्यादि। चेहरे को रँगने का भी

विधान है; जैसे—अंध्र, द्रविड़, कोशल, पुलिंद असित रंग के, शक; यवन, पह्लव, वाह्लिक गौरवर्ण के तथा पांचाल, शौरसेन, मागध, अंग, वंग आदि श्याम रंग के दिखाये जायँ। शूद्रों और वैश्यों का भी श्याम रंग हो; पर ब्राह्मण और क्षत्रिय-गौरवर्ण के हों। सारांश यह है कि उस समय की स्थिति तथा अभिनय के प्रतिबन्धों को ध्यान में रखकर जहाँ तक संभव था, वहाँ तक वास्तविकता तथा सजीवता लाने के उपाय पर विचार किया गया है, और नियम बनाये गये हैं।

[1926, "ना० प्र० पत्रिका" भाग ६, सं० १९८२ पृ० ४४—१०२]

भाग दो

साहित्यिक लेख

1. समाज और साहित्य (प्रकाशित पाण्डुलिपि, गद्य कुसुमावली)
2. भारतवर्ष की शिल्पविद्या (हस्तलिखित पाण्डुलिपि)
3. शिक्षा (हस्तलिखित पाण्डुलिपि)
4. नीतिशिक्षा (हस्तलिखित, भाषा सार संग्रह में प्रकाशित)
5. कर्तव्य और सत्यता (हस्तलिखित, स्माइल्स करेक्टर, लेख पर आधारित)
6. व्यायाम (हस्तलिखित)
7. जन्तुओं की सृष्टि (हस्तलिखित)
8. संतोष (उल्लेख के बावजूद, पाण्डुलिपि नहीं)

समाज और साहित्य

विकासवाद और समाज

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है । जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छान-बीन करते जाइए, उतनी ही नयी-नयी श्रृंखलाएँ विचित्रता की मिलती जायँगी । कहाँ एक छोटा-सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष, कहाँ एक बिन्दुमात्र पदार्थ और कहाँ उससे उत्पन्न मनुष्य । दोनों में कितना अंतर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ संबंध । तनिक सोचिए तो सही, एक छोटे-से बीज के गर्भ में क्या-क्या भरा हुआ है । उस नाम मात्र से पदार्थ में एक बड़े-से-बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से संपन्न हो वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है जैसे बीज से उसकी स्वयं उत्पत्ति हुई थी । कैसे बिन्दुमात्र पदार्थ से मनुष्य का शरीर बनता है, कैसे क्रम-क्रम से नवजात बालक के अंग पुष्ट होते जाते हैं, उसमें नयी शक्ति आती-जाती है, उसके मस्तिष्क का विकास होता जाता है, उसमें भावनाएँ उत्पन्न होती जाती हैं और समय पाकर वह उस शक्ति से संपन्न हो जाता है, जिससे वह अपनी ही-सी सृष्टि की वृद्धि करता जाय । फिर एक ही प्रणाली से उत्पन्न अनेक प्राणियों की भिन्नता कैसी आश्चर्यजनक है, कोई बलवान् है तो कोई विचारवान्, कोई न्यायशील है तो कोई अत्याचारी, कोई दयामय है तो कोई क्रूरातिक्रूर, कोई सदाचारी है तो कोई दुराचारी, कोई संसार की माया में लिप्त है तो कोई परलोकचिन्ता में रत । पर क्या इन विशेषताओं के बीच कोई सामान्य धर्म भी है या नहीं ? विचार करके देखिए । सब बातें विचित्र, आश्चर्यजनक और कौतूहलवर्द्धक होने पर भी किसी शासक के द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं । सब अपने-अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अंत में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते हैं, पर यहीं उनकी समाप्ति नहीं है । यहीं उनका अंत नहीं है । वे सृष्टि के कार्य-साधन में निरंतर तत्पर हैं । मरकर भी वे सृष्टि-निर्माण में योग देते है । यों ही वे जीते-मरते चले जाते हैं । इन्हीं सब बातों की जाँच विकासवाद का विषय है । यह शास्त्र हमको इस बात की छान-बीन में प्रवृत्त

करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम-क्रम से उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गयी। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के संबंध में विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति-क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य वा जंगली अवस्था में थे। वे झुंडों में घूमा करते थे और उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य उदर की पूर्ति था, जिसका साधन वे जानवरों के शिकार से करते थे। क्रमशः शिकार में पकड़े हुए जानवरों की संख्या आवश्यकता से अधिक होने के कारण उनको बाँध रखना पड़ा। इसका लाभ उन्हें भूख लगने पर स्पष्ट विदित हो गया और यहीं से मानों उनके पशु-पालन विधान का बीजारोपण हुआ। धीरे-धीरे वे पशु-पालन के लाभों को समझने लगे और चारे आदि के आयोजन में प्रवृत्त हुए। साथ ही पशुओं को साथ लिये-लिये घूमने में उन्हें कष्ट दिखलायी पड़ने लगे और वे एक नियत स्थान पर रहकर जीवन-निर्वाह का उपाय करने लगे। अब वृत्ति की ओर उनका ध्यान गया। कृषि-कर्म होने लगे, गाँव बसने लगे, पशुओं और भूभागों पर अधिकार की चर्चा चल पड़ी। लोहारों और बढ़इयों की संस्थाएँ बन गईं। आपस में लेन-देन होने लगा। एक वस्तु देकर दूसरी आवश्यक वस्तु प्राप्त करने का उद्योग हुआ और यहीं मानों व्यापार की नींव पड़ी। धीरे-धीरे इन गाँवों के अधिपति हुए जिन्हें अपने अधिकार को बढ़ाने, अपनी संपत्ति को वृद्धि देने तथा अपने बल को पुष्ट करने की लालसा उत्पन्न हुई। सारांश यह है कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सबमें परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नये विधान आ उपस्थित हुए। नयी आवश्यकताओं ने नयी चीजों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिए कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ-ही-साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है, अर्थात् ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी संकुलता बढ़ती गयी त्यों-त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। जहाँ पहले असभ्यता वा जंगलीपन ही में मनुष्य संतुष्ट रहते थे वहाँ उन्हें सभ्यतापूर्वक रहना प्रसन्द आने लगा। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन

में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ-साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। आदर्श सभ्यता वह है जिसमें मनुष्य का यह स्थिर सिद्धांत हो जाय कि "जितना किसी काम के करने का अधिकार मुझे है उतना ही दूसरे को भी है" और उसे इस सिद्धांत पर दृढ़ रखने के लिए किसी बाहरी अंकुश की आवश्यकता न रह जाय। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है उतना ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति, बिना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती अथवा यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति और मस्तिष्क की उन्नति साथ-ही-साथ होती है। एक-दूसरे का अन्योन्याश्रय संबंध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असंभव है। दोनों साथ-साथ चलते हैं। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है कि आदि जीवन-तत्त्व वा प्राणरस (प्रोटोप्लाज्म) का एक टुकड़ा, जिसे हम आदि-जीव वा जीवाणु (प्रोटोजोआ) कह सकते हैं, पहले अपने सब अंगों से सब कार्य करता है। वह शरीर के प्रत्येक भाग से देख, सुन, सूंघ और चल सकता है। पर धीरे-धीरे वह ज्यों-ज्यों विशेष भागों से विशेष कार्य लेने लगता है त्यों-त्यों उनके विषय रूप बाह्य पंचभूतों का प्रभाव उन भागों का रूप परिवर्तित करने लगता है। जिस भाग से देखने का कार्य विशेष रूप से लिया जाने लगा उस पर प्रकाश की लहरें निरन्तर पड़कर उसे उनकी उत्तेजना के लिए संवित् बनाने लगीं। इस प्रकार धीरे-धीरे चक्षुरिन्द्रिय का आविर्भाव हुआ। इसी ढंग से अन्य इन्द्रियों और अवयवों का प्रादुर्भाव हुआ और प्राकृत अवस्था के अनुकूल मानव शरीर की सृष्टि हुई, जो क्रम-क्रम से उन्नति करता हुआ उस अवस्था को प्राप्त हुआ जिसमें आजकल हम उसे पाते हैं। जीव-सृष्टि के आदि में सब आरम्भिक जीव समान ही थे पर सब ने एक-सी उन्नति न की। प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिस विषय की ओर विशेष प्रवृत्ति रही उस पर उसी की उत्तेजना का अधिक प्रभाव पड़ा। अन्त में प्रकृति देवी ने जैसा कार्य देखा वैसा ही फल भी दिया। जिसने जिस अवयव से कार्य लिया उसके उसी अवयव की पुष्टि और वृद्धि हुई। जिसने कुछ काम न लिया वह अवनत दशा में ही रह गया। यही कारण सृष्टि की विभिन्नता और विचित्रता का वैज्ञानिकों ने निर्धारित किया है। ठीक यही अवस्था साहित्य-रूपी उत्तेजना से सामाजिक मस्तिष्क की होती है। जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति बाह्य पंचभूतों के कार्यरूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है

वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना-बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अव-लंबित है अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है ।

सामाजिक स्थिति और साहित्य

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री निकाल कर समाज को सौंपता है उसी के संचित भांडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता का निर्देशक कह सकते हैं । वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिम्ब कहला सकता है । जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी वैसा ही उसका साहित्य होगा । किसी जाति के साहित्य को देख कर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है, वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकी है । साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को संरक्षित रखना है । पहले-पहल अद्भुत बातों को देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं उन्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है । धीरे-धीरे युद्धों का वर्णन, अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकाण्ड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में प्रयोग होने लगता है । इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग हो जाती है । एक विचार को सुन या पढ़कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार विचारों की एक शृंखला बँध जाती है जिससे साहित्य के विशेष-विशेष अंगों की सृष्टि होती है । मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने के लिए साहित्य रूपी भोजन की आवश्य-कता होती है । जिस प्रकार यह भोजन होगा वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी । जैसे शरीर की स्थिति और वृद्धि के लिए अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिए साहित्य का प्रयोजन होता है । मनुष्य के विचारों में प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है । शीतप्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिए निरन्तर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है । ऐसे देशों में रहने वाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों के सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है । अतएव क्रम-क्रम से उन्हें सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं । जहाँ इसके प्रतिकूल अवस्था है वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है । जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया तब फिर उसकी चिन्ता ही कहाँ रह जाती है । भारत-भूमि को प्रकृति देवी का प्रिय और प्रकाण्ड क्रीड़ा-क्षेत्र समझना चाहिये ।

यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इनकी चिन्ता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से मन हटकर जीव, जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है अथवा विलास-प्रियता में फँसकर इन्द्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों या शृंगार रस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु, जो कुछ मैंने अब तक निवेदन किया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

साहित्य और समाज

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली-भाँति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-संबंधी शक्ति पोप के हाथ में आ गयी थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्त्तमान काल का सूत्रपात किया और यूरोपीय मस्तिष्क स्वतंत्रता देवी की आराधना में रत हुआ तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय कार्यक्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्यक्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेजनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिन्ता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उसका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। जब उसमें अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नये विचारों, नयी संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्धधर्म और आर्य-समाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इस्लाम और हिन्दू धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए तब दोनों में से कूपमंडूकता का भाव निकालने के लिए कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव जीवन की सामाजिक गति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

साहित्य की उपयोगिता

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने

उलट-फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य-समाज का हित-विधायक मित्र है वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता ? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता ? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ-साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें । यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर को है, तब तो हमारा उसका प्रकृति-संयोग ही नहीं हो सकता ।

अब तक जो वह हमारा सहायक नहीं हो सका है, इसके दो मुख्य कारण हैं । एक तो इस विस्तृत देश की स्थिति एकांत रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक विभव का वारापार नहीं है । इन्हीं कारणों से इसमें संघशक्ति का संचार जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सका है और यह अब तक आलसी और सुखलोलुप्त बना हुआ है । परन्तु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है । इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मूल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत-कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है । यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है । इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित और प्रतिक्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा ।

साहित्य की कसौटी

अब विचारणीय यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके ? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेषकर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करने वाला, संजीवनी शक्ति का संचार करने वाला, चरित्र को सुन्दर साँचे में ढालने वाला, तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करने वाला हो । साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय । इसको सब लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हिन्दी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं, और यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखायी पड़ेगा जिससे जन-समुदाय की आँखें खुलेंगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा ।

हिन्दी और राष्ट्रीय साहित्य

पर क्या यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि इस बात की क्या आवश्यकता है कि ऐसे साहित्य के उत्पादन का उद्योग हिन्दी ही में किया जाय ? क्या अन्य भारतीय देशभाषाओं में इसका सूत्रपात नहीं हो चुका है और क्या उनसे हमारा काम न चलेगा ? मेरा दृढ़ विश्वास है कि समस्त भारतीय भाषाओं में हिन्दी ही ऐसी है जो मातृभूमि की सेवा के लिए सर्वथा उपयुक्त है और जिससे सबसे अधिक लाभ की आशा की जा सकती है । गुजराती, मराठी, बँगला आदि भाषाओं का आधुनिक साहित्य हमारी हिन्दी के वर्त्तमान साहित्य से कई अंशों में भरापूरा है, पर उनके प्राचीन साहित्य की तुलना हिन्दी के पुराने साहित्य-भांडार से नहीं हो सकती, इस कारण उन्हें परम्परा की प्राचीनता का गौरव प्राप्त नहीं है । जैसे किसी जाति के अभ्युत्थान में उसके प्राचीन गौरवान्वित इतिहास का प्रभाव अतुलनीय है वैसे ही भाषाओं को क्षमता प्रदान करने में उसकी प्राचीन परम्परा का बल भी अत्यन्त प्रयोजनीय है । किसी लेखक ने बहुत ठीक कहा है कि इतिहास का मूल्य स्वतंत्रता से भी बढ़कर है । स्वतन्त्रता खोकर भी हमें इतिहास की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि इतिहास के द्वारा हम फिर स्वतन्त्रता पा सकते हैं पर स्वतन्त्रता के द्वारा खोये हुए इतिहास को हम फिर नहीं प्राप्त कर सकते । जिन जातियों का प्राचीन इतिहास नहीं है, जिन्हें अपनी प्राचीनता और पूर्व गौरव का अभिमान नहीं है वे या तो शीघ्र ही निर्मूल हो जायँगी अथवा अपनी जातीयता के सारे लक्षण खो बैठेंगी । पर जिनका इतिहास वर्त्तमान है, जिनको अपने पूर्वजों का गौरव है, जो अपनी जननी जन्मभूमि के नाम पर आँसू बहाती हैं वे पददलित होकर भी जीवित रह सकती हैं और फिर कभी अनुकूल अवसर पाकर अपना सिर ऊँचा कर सकती हैं । ठीक यही अवस्था भाषाओं के प्राचीन भांडार की है ।

दूसरा गुण जो हिन्दी में और भाषाओं की अपेक्षा अधिक पाया जाता है वह यह है कि इसका विस्तार किसी प्रांत या स्थान की सीमा के भीतर बद्ध नहीं है । समस्त भारत भूमि में एक कोने से दूसरे कोने तक इसका थोड़ा-बहुत आधिपत्य जमा हुआ है और इसके द्वारा एक प्रांत के निवासी दूसरे प्रांत के रहने वालों से अपने मनोगत भावों को येन केन प्रकारेण प्रकाशित कर सकते हैं । यदि विचार कर देखा जाय तो राष्ट्रीयता के लिए यह एक आवश्यक गुण है । तीसरा गुण जिसके कारण हिन्दी का स्थान और भाषाओं की अपेक्षा उच्च है वह उसका अपनी मातामही से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इन सब बातों को देखकर यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने के योग्य है और उसी

के द्वारा हमें राष्ट्र-निर्माण में अमूल्य तथा वांछनीय सहायता मिल सकती है। पर वे क्या उपाय हैं जिनसे हिन्दी के इस प्रकार गौरव प्राप्त करने का मार्ग सुगम और सुलभ हो जाय ? मेरी समझ में इन उपायों में सबसे पहला स्थान हमें देवनागरी अक्षरों के वर्द्धमान प्रचार को देना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि पहले की अपेक्षा इस समय नागरी का प्रचार बहुत बढ़ चुका है और दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है; फिर भी उन स्थानों में विशेष सफलता नहीं देख पड़ती जिनमें वह बहुत अधिक वांछनीय है। जब एक ओर हम इस लिपि के नैसर्गिक गुणों की ओर ध्यान देते हैं जिनकी बड़े-बड़े विद्वानों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है और जिनके कारण सारा संसार इसके ग्रहण का पक्षपाती हो सकता है और दूसरी ओर अपने ही देश में उसके समुचित प्रचार में बाधाएँ देखते हैं तो न आश्चर्य करते बनता है और न दुःख। इन बाधाओं के कई कारण हैं, जैसे हमारी राजनैतिक स्थिति, अनभिज्ञता और दुराग्रह। इनका निवारण एक दिन में नहीं हो सकता। पर इसमें संदेह नहीं है कि ज्यों-ज्यों इसके गुणों का ज्ञान लोगों को होता जायगा, वे अपने हानि-लाभ को समझने लगेंगे, त्यों-त्यों ये विघ्न-बाधाएँ कम होती जायँगी। फिर भी यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि ये विघ्न-बाधाएँ साधारण नहीं हैं और इनके दूर करने में अनवरत परिश्रम की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में मैं एक बात कहे बिना नहीं रह सकता। जो लोग इसके गुणों को जानते और इसके प्रचार की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं वे भी जब "अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः" के सिद्धान्त पर चलने लगते हैं तब यही कहना पड़ता है कि हम लोगों में अभी चरित्र का बड़ा अभाव है। इन लोगों में कपट व्यवहार का आधिक्य देखकर कभी-कभी निराशा का अन्धकार हृदय पर छा जाता है। पर निश्चय जानिए कि अब सार्वजनिक जीवन सुगम नहीं रह गया है। जो लोग सार्वजनिक कामों में अग्रसर होने का विचार रखते हैं उन्हें अपने व्यवहार और बर्ताव में बहुत-कुछ परिवर्तन करना होगा और जन-साधारण को अपने साथ लेकर चलना पड़ेगा। अब वह समय नहीं रहा कि लोग भेड़-बकरियों की तरह हाँके जा सकें।

साहित्य और शिक्षा

एक और उपाय वांछनीय साहित्य उत्पन्न करने का उपयुक्त प्रणाली पर शिक्षा का विधान है। इस विधान में सबसे आवश्यक प्रश्न शिक्षा का माध्यम है। कुछ महाशयों की सम्मति में शिक्षा का माध्यम देश-भाषाओं को बनाने का अर्थ अंग्रेजी के पढ़ने-लिखने में बाधा उपस्थित कर क्रमशः उसे कम करते जाना और इस प्रकार जातीयता के उद्धार पर कुठाराघात करना है। समझदार लोगों में कोई

ही ऐसा होगा जो इस बात को न स्वीकार करता हो कि हमारे जातीय जीवन या राजनैतिक जीवन के लिए अंग्रेजी भाषा का जानना परम आवश्यक है। हमें अपने उद्धार के लिए पूर्व और पश्चिम को मिलाना और विचारों के परस्पर परिवर्तन और विनिमय से सहायता लेना नितांत प्रयोजनीय है। इसलिए अंग्रेजी शिक्षा का कोई विरोधी नहीं हो सकता। पर अंग्रेजी शिक्षा से यह तात्पर्य नहीं है कि हम अपने को भूल जायँ और अपनी भाषा का समूल नाश कर अंग्रेजी का वाना पहिन लें। अंग्रेजी की शिक्षा प्रारम्भ हुए कोई सवा सौ वर्ष हुए होंगे। इतने काल में 15 लाख लोग अंग्रेजी पढ़-लिख सके हैं। गवर्नमेण्ट का कथन है कि गत दस वर्षों में अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या ड्योढ़ी हो गयी है। इस हिसाब से भी यदि अंग्रेजी शिक्षा की उन्नति होती जाय तो भी समस्त भारतवर्ष में सब लोगों के अंग्रेजी जान लेने में सहस्रों वर्षों की आवश्यकता होगी। इसके साथ ही गवर्मेमेण्ट की रिपोर्टों से यह भी विदित होता है कि इस समय 3 करोड़ के लगभग ऐसे पढ़े-लिखे लोग भारतवर्ष में हैं जो अंग्रेजी बिलकुल नहीं जानते। गत दस वर्षों में इनकी संख्या में 26 लाख की वृद्धि हुई है। दोनों संख्याओं को मिलाने से यह सिद्धांत निकलता है कि जहाँ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग प्रति वर्ष 50 हजार बढ़ते हैं वहाँ देश-भाषाओं के जानने वालों की संख्या 2 लाख 60 हजार बढ़ती है। इससे जहाँ आधुनिक उन्नति के हिसाब से भी अंग्रेजी के पूर्ण प्रचार में हजारों वर्षों की आवश्यकता है वहाँ देश-भाषाओं के प्रचार में कम-से-कम 5वाँ हिस्सा कम समय लगेगा। देश-हितैषी लोग अब स्वयं सोच लें कि दोनों बातों में से कल्याणकर कौन-सी बात निज मातृभूमि के लिए होगी। दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में विचार करने की है वह यह कि किसी भाषा के ज्ञान मात्र को शिक्षा नहीं कह सकते। शिक्षा से तात्पर्य मस्तिष्क के विकास का है जो भिन्न-भिन्न विषयों के मनन से होता है। अंग्रेजी भाषा के ज्ञान की आवश्यकता को तो हम मानने के लिए पूर्णतया उद्यत हैं पर हमारी समझ में यह नहीं आता कि इस बात की क्या आवश्यकता है कि हम भारत के मस्तिष्क-विकास के लिए भी एक विदेशीय भाषा का आश्रय ग्रहण करें। इस पद्धति के अनुसार चलने का परिणाम तो यही होगा कि अधिकांश बालकों की सारी आयु एक विदेशीय भाषा की जटिलता के हल करने में लग जायगी; न उनके मस्तिष्क का विकास होने पावेगा और न उन्हें किसी विषय का वास्तविक ज्ञान हो सकेगा। क्या संसार में कहीं का भी आप एक दृष्टान्त उद्धृत कर सकते हैं जहाँ बालकों की शिक्षा विदेशीय भाषाओं द्वारा होती है? क्या जापान ने अपनी उन्नति विदेशीय भाषा के प्रचार से की?

क्या निज मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने के कारण उसके गौरव में, उसके महत्त्व में, किसी प्रकार की कमी हुई ? यदि ऐसा नहीं हुआ तो भारतवर्ष में इस अनोखे सिद्धांत का अनुकरण करने के लिए क्यों उद्योग किया जाता है ? इस प्रांत के काँगड़ी ग्राम में इस बात का जाज्वल्यमान प्रमाण उपस्थित है कि देश-भाषा द्वारा शिक्षा देने में उसके वास्तविक गुणों के अर्जन में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं होती। अतएव मेरा तो सिद्धांत है कि भारत का इसी में कल्याण है कि जैसे हो वैसे शिक्षा का भरपूर प्रचार किया जाय और यह शिक्षा देश-भाषाओं के द्वारा हो। जो लोग उच्च शिक्षा के अभिलाषी हों उनके लिए अंग्रेजी का अभ्यास आवश्यक और सर्वथा उचित है परन्तु वह भी अन्य या द्वितीय भाषा के रूप में हो।

भारतवर्ष में आधुनिक शिक्षा की उत्पत्ति का मुख्य हेतु यही हुआ कि यहाँ की गवर्नमेण्ट को अपने काम के लिए अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की आवश्यकता पड़ी। उसी अभाव की पूर्ति के लिए यहाँ गवर्नमेण्ट ने शिक्षा का कार्य आरम्भ किया। सरकारी नौकरी और शिक्षा का यह अप्राकृतिक सम्बन्ध अब तक चला जा रहा है और यही हमारी शिक्षा-सम्बन्धिनी आपत्तियों का मूल कारण है। संसार के और किसी देश में यह अनुचित सम्बन्ध देखने में नहीं आता है। कहीं भी युनिवर्सिटी की परीक्षाएँ सरकारी नौकरी का द्वार खोलने की कुंजी नहीं मानी जातीं। जिस समय शिक्षा का उद्देश्य उसके वास्तविक लाभों को फैलाना हो जायगा उसी समय से हमारी शिक्षा-सम्बन्धिनी आपत्तियाँ दूर हो जायँगी। न लोगों के लिए नौकरी ही शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य रह जायगा, न राजनैतिक अवस्था के अनुसार शिक्षा में हेर-फेर होगा और न विश्वविद्यालयों को परीक्षार्थियों के अधिक संख्या में अनुत्तीर्ण करने का अभिमान प्राप्त हो सकेगा।

साहित्य का आदर्श

मैं थोड़ी देर के लिए आपका ध्यान हिन्दी के गद्य और पद्य की ओर दिलाना चाहता हूँ। यद्यपि भाषा के इन दोनों अंगों की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है पर दोनों की गति समान रूप से व्यवस्थित नहीं दिखायी देती। गद्य का रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है, उसमें जो कुछ व्यतिक्रम या व्याघात दिखायी पड़ जाता है वह अधिकांश अवस्थाओं में मतभेद के कारण नहीं बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात या व्यतिक्रम प्रांतिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लंघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखायी पड़ते हैं। इनके लिए कोई मत-सम्बन्धी विवाद नहीं उठ सकता। इनके निवारण के लिए केवल

समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य में केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं बाँटना चाहिए।

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोड़ा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। इसमें तो कोई मत-भेद नहीं कि जो बोली हिन्दी गद्य के लिए ग्रहण की गयी है वह दिल्ली और मेरठ प्रान्त की है। अतः शब्दों के रूप, लिंग आदि का बहुत-कुछ निश्चय तो वहाँ के शिष्ट प्रयोग द्वारा ही हो सकता है। जैसे पूरब में दही और हाथी को स्त्रीलिंग बोलते हैं पर पश्चिम में विशेषकर उक्त प्रांत में ये दोनों शब्द पुंल्लिंग स्वीकार करते हैं; यह इसलिए नहीं कि वे संस्कृत के अनुसार पुंल्लिंग वा क्लीव होंगे बल्कि इसलिए कि पुंल्लिंग रूप में उक्त प्रांत में व्यवहृत हैं। एक पंडितजी ने अपनी एक पुस्तक में पूरबी और पश्चिमी हिन्दी का विलक्षण संयोग किया है। उनका एक शब्द है—सूतते हैं। सूतब क्रिया पूरब की है। उसमें उक्त पंडितजी ने प्रत्यय लगाकर उसे "सूतते हैं" बनाया। उन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि जिस स्थान में आते हैं जाते हैं आदि बोले जाते हैं वहाँ "सोते हैं" बोला जाता है "सूतते हैं" नहीं। उन्होंने "ने" विभक्ति पर भी अपनी बड़ी अरुचि दिखायी है; यह नहीं समझा कि वह किस प्रकार क्रिया के कृदन्त-मूलक रूप के कारण संस्कृत की तृतीया से खड़ी बोली में आयी है। कुछ लोग, विशेषतः बिहार के लोग, क्रियाओं के रूपों से लिंग-भेद उठाने की चर्चा भी कभी-कभी कर बैठते हैं। पर वे यदि थोड़ी देर के लिए हिन्दी भाषा की विकास-प्रणाली पर ध्यान देंगे तो उन्हें विदित होगा कि हिन्दी क्रियाओं के रूप संस्कृत के संज्ञा कृदन्त रूपों के साँचे पर ढले हैं। जैसे 'करता है' रूप संज्ञा शब्द 'कर्त्ता' से बना है। इसी से स्त्रीलिंग में वह "कर्त्री" के अनुसार 'करती है' हो जाता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली प्रांत की है पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रांतों में भी हो गया है। अतः वह उन प्रांतों के शब्दों का भी, अभाव-पूर्ति के निमित्त, अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्म-स्थान में किसी वस्तु का भाव व्यंजित करने के लिए कोई शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रांत से, जहाँ उसका शिष्ट समाज या साहित्य में प्रवेश है, शब्द ले सकती है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि वह केवल अन्य स्थानों के शब्द मात्र अपने में मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिए। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करे और साहित्य का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अन्तःकरण में भावों की अनेक-रूपता का विकास करे। ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भी। अतः जो लेख साधारण भावों को प्रकट करता हो वह साधारण ही कहलावेगा, चाहे उसमें सारे संस्कृत कोशों को ढूँढ़-ढूँढ़कर शब्द रखे गये हों और चार-चार अंगुल के समास बिछाये गये हों। पर जो लेख ऐसे जटिल भावों को प्रकट करेंगे जो अपरिचित होने के कारण अन्तःकरण में जल्दी न धँसेंगे वे उच्च कहलावेंगे, चाहे उनमें बोलचाल के साधारण शब्द ही क्यों न भरे हों। ऐसे ही लेखों से उच्च साहित्य की सृष्टि होगी। जो जनता के बीच नये-नये भावों का विकास करने में समर्थ हो, जो उसके जीवन-क्रम को उलटने-पलटने की क्षमता रखता हो वही सच्चा साहित्य है। अतः लेखकों को अब इस युग में बाण और दण्डी होने की आकांक्षा उतनी न करनी चाहिए जितनी वाल्मीकि और व्यास होने की, बर्क, कारलाइल और रस्किन होने की।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गया है। खड़ी बोली की कविता का आरम्भ थोड़े ही दिनों से हुआ है। अतः अभी उसमें उतनी शक्ति और सरसता नहीं आयी है, पर आशा है कि उचित पथ के अवलम्बन द्वारा वह धीरे-धीरे आ जायगी। खड़ी बोली में जो अधिकांश कविताएँ और पुस्तकें लिखी जाती हैं वे इस बात का ध्यान रखकर नहीं लिखी जातीं कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भेद होता है। कविता की शब्दावली कुछ विशेष ढंग की होती है, उसके वाक्यों का रूप-रंग कुछ निराला होता है। किसी साधारण गद्य को नाना छन्दों मे ढाल देने से ही उसे काव्य का रूप नहीं प्राप्त हो जायगा। अतः कविता की जो सरस और मधुर शब्दावली ब्रजभाषा में चली आ रही है उसका बहुत-कुछ अंश खड़ी बोली में भी रखना पड़ेगा। भाव-वैलक्षण्य के सम्बन्ध में जो बातें गद्य के प्रसंग में कही जा चुकी हैं वे कविता के विषय में ठीक घटती हैं। बिना भाव की कविता ही क्या! खड़ी बोली की कविता के प्रचार के साथ काव्य-क्षेत्र में जो अनधिकार प्रवेश की प्रवृत्ति अधिक हो रही है वह ठीक नहीं। मैंने कई नवयुवकों को कविता के मैदान में एक विचित्र ढंग से उतरते देखा है। छात्रावस्था में उन्होंने किसी अँग्रेजी रीडर का कोई पद्य उठाया है और कुछ तुकबंदी के साथ उसका अनुवाद करके वे उसे किसी कवि या लेखक के पास संशोधन के लिए ले गये है। कविता के अभ्यास

का यह ढंग नहीं है। कविता का अभ्यास आरम्भ करने के पहले अपनी भाषा के बहुत-से नये-पुराने काव्यों की शैली का मनन करना, रीति-ग्रंथों का देखना, रस, अलंकार आदि से परिचित होना आवश्यक है। आजकल बहुत-सी कविताएँ ऐसी देखने में आती हैं जिन्हें आप न खड़ी बोली की कह सकते हैं न ब्रजभाषा की। उनके लेखक खड़ी बोली और ब्रजभाषा का भेद नहीं समझते। वे एक ही चरण में एक स्थान पर खड़ी बोली की क्रिया रखते हैं, दूसरे स्थान पर ब्रजभाषा की। आशा है कि ये सब दोष शीघ्र ही दूर हो जायेंगे और हमारे काव्य का प्रवाह एक सुव्यवस्थित मार्ग का अनुसरण करेगा।

उपसंहार

मैं आप लोगों से निवेदन कर चुका हूँ कि सामाजिक मस्तिष्क के विकास और वृद्धि के लिए साहित्य की कितनी आवश्यकता है। वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए, उसके साधन क्या हैं और उन साधनों के मार्ग में कौन-कौन-सी विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हैं जिनका निराकरण कर हम उपयुक्त साहित्य का भावी मार्ग इस प्रकार विस्तृत और परिष्कृत कर सकते हैं कि वह अपने लक्ष्य पर पहुँचने में समर्थ हो। इन विषयों के सम्बन्ध में भी मैं अपने विचार आप लोगों के सम्मुख उपस्थित कर चुका हूँ। मुझे अब आपसे केवल इतना ही कहना है कि जो कुछ हम करना चाहते हैं वह एक या दो-चार व्यक्तियों के करने से पूरा न होगा। उसके लिए हमें अपनी सारी बिखरी हुई शक्तियों को संयुक्त करके उन्हें ऐसी बलवती बनाना पड़ेगा जिसमें फिर उनके मार्ग में कोई वस्तु किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित करने में समर्थ न हो। बिखरी हुई शक्ति से कोई बड़ा कार्य सुसम्पन्न नहीं हो सकता और संघ-शक्ति का बल ऐसा प्रबल हो जाता है कि उसका सामना करने का साहस किसी को नहीं होता, उसके आगे सारी विघ्न-बाधाएँ आप-से-आप लुप्त हो जाती हैं। इसलिए भाइयो, मित्रो, मातृभाषा के सेवको! संघशक्ति का मूल मन्त्र जपो, उसे अपने हृदय-पटल पर भली-भाँति खचित करो, उसी को अपनी आराध्य देवी समझकर सदा उसकी सहायता के इच्छुक बने रहो, फिर आपको अपने उद्देश्यों के सिद्ध करने में जरा भी विलम्ब न लगेगा। जिस प्रकार छोटी-छोटी नदियाँ, नाले और अन्य जल-प्रवाह सिमट-सिमटकर एक बड़ी नदी में जा मिलते और उसके वेग को ऐसा प्रबल कर देते हैं कि उसके आगे सभी रुकावटें तृणवत् छिन्न-भिन्न हो उसकी सहगामिनी होती हैं, उसी प्रकार आप अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियों को साहित्य रूपी सरिता के सबल और संजीवनी-शक्ति सम्पन्न प्रवाह में सम्मिलित कर उस प्रवाह को घोर निनाद करते हुए राष्ट्रीय

समुद्र में ला मिलाइये। फिर देखिये कि किस प्रकार आपकी प्यारी मातृभूमि संसार के समस्त राष्ट्रों में आदरणीय सिंहासन पर विराजने की अधिकारिणी हो जाती है।

क्या आप लोगों ने कभी शुद्ध हृदय से इस बात पर विचार किया है कि माता, मातृभूमि और मातृभाषा का आप पर कुछ ऋण है भी या नहीं? एक जननी आपको जन्म देती है, एक की गोद में खेल-कूदकर और खा-पीकर आप पुष्ट होते हैं और एक आपको अपने भावों को प्रकट करने की शक्ति दे आपके सांसारिक जीवन को सुखमय बनाती है। जिनका आप पर इतना उपकार हो उनके लिए कुछ करना क्या आपका परम कर्त्तव्य नहीं है? प्यारे भाइयो! उठो, आलस्य को छोड़ो, कमर कसो और अपनी मातृभाषा की सेवा में तत्पर हो जाओ। अपने को मातृ-ऋण से मुक्त करो, संसार में सपूत कहलाओ और मातृ-सेवकों में अपनी छाप छोड़ जाओ। पर ध्यान रहे, यह व्रत साधारण नहीं, इसके व्रती बनकर पार पाना तलवार की धार पर चलने के समान होगा। क्षुद्राशय, दुर्बुद्धि, दुराग्रही, छिद्रान्वेषी, ईर्ष्यालु लोग आपकी निन्दा करेंगे, आपका उपहास करेंगे, आपको बनावेंगे, सब प्रकार से आपको हेय सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे, पर आप अपना अटल सिद्धान्त यही बनाये रहें कि चाहे हमारी निन्दा हो चाहे स्तुति, चाहे हमारी आज ही मृत्यु हो जाय चाहे हम अभी बरसों जीएँ, चाहे हमें लक्ष्मी अंगीकार करे, चाहे हमारा सारा जीवन दारिद्र्यमय हो जाय; पर हमने जो व्रत धारण किया है उससे न हम कभी विचलित होंगे, न कभी पराङ्मुख होंगे और न कभी सर्वस्व खोकर भी अपने किये पर पश्चात्ताप करेंगे। चुपचाप अपने व्रत को पूरा करने का उद्योग करते जाइए। अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ बने रहिए, अपने धर्म का पालन करने में अग्रसर होते जाइए। निश्चय जानिए, आपकी विजय होगी, आपके उद्योग सफल होंगे और अन्तकाल में आपको यह सन्तोष होगा कि जगन्नियन्ता जगदीश्वर ने जो आपको मनुष्य-शरीर दिया था उसका उचित उपयोग करने में आप समर्थ हुए हैं और मातृभाषा की सेवा कर आप उससे उऋण हो सके हैं।

———

भारतवर्ष की शिल्प विद्या

गत अगस्त मास के अन्त में "टेलरी ऐण्ड कम्पनी" के साझी मिस्टर एस० जे० टेलरी ने एक व्याख्यान "भारतवर्षीय शिल्प विद्या, उसकी अवनति और उसके जीर्णोद्धार की सम्भावना" पर कलकत्ते में दिया था। वह व्याख्यान बड़ा ही लाभदायक और शिक्षाप्रद है और उसके ध्यानपूर्वक पढ़ने से आशा है कि इस देश के लोग कुछ अपनी भलाई कर सकें। इसलिए उसका अनुवाद हिन्दी पठित समाज के लिए यहाँ प्रकाशित किया जाता है—

वक्ता महाशय ने पहले इस बात पर विचार किया कि अब तक सरकार ने देशी कारीगरी के उद्धार के लिए क्या-क्या किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने सरकारी शिल्पविद्यालयों का वर्णन किया। इनके विषय में उनका मत विरुद्ध था। उन्होंने कहा "मेरी अपनी सम्मति, जो मैं आप लोगों को विश्वास दिला सकता हूँ कि बरसों के अनुभव और अध्ययन पर निर्भर है, यह है कि भारतवर्ष में इन शिल्पविद्यालयों का स्थापित करना बड़ी भूल हुई, और इनके लिए प्रति वर्ष जो रुपया व्यय किया जाता है वह वृथा नष्ट होता है। भारतवर्ष में जहाँ जाति-भेद है, जहाँ प्रत्येक पिता अपने बालक को शिक्षा देता है, जहाँ जाति के नियम एक प्रकार से ऐसे धर्मान्तर्गत हो गये हैं कि कोई पुरुष उनके अनुसार अपने बाप-दादों के व्यापार को छोड़कर दूसरे किसी व्यवसाय में लग नहीं सकता, इन शिल्पविद्यालयों का रहना व्यर्थ है।" शिल्प विद्या यहाँ पैतिक सम्पत्ति के समान है, जो इस जाति-भेद के नियमों से प्रचलित होती और रक्षित बनी रहती है और ये नियम ऐसे दृढ़ हैं कि सरकार के कृत्रिम नियम इनसे अधिक प्रभाव कभी भी यहाँ की प्रजा पर नहीं डाल सकते।

यहाँ इस जाति-भेद की कृपा से कारीगर बिना विद्यालयों के और बिना सरकार पर बोझ डाले शिक्षित होते हैं। इसलिए इन सरकारी शिल्पविद्यालयों की यहाँ आवश्यकता नहीं है। भारतवर्ष को ऐसे विद्यालयों की आवश्यकता नहीं है जो अधिक कारीगर तैयार करें, वरन् एक ऐसे उद्योग और प्रबन्ध की आवश्यकता है जो यहाँ के भूखे कारीगरों के बनाये हुए माल को देश-देशान्तरों में फैलावे।"

प्रदर्शनियों से लाभ

इसके पीछे मिस्टर टेलरी ने प्रदर्शनियों के लाभ और उनके द्वारा भारतवर्षीय कारीगरी को उन्नति देने के विषय पर विचार किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने शिकागो की प्रसिद्ध प्रदर्शनी का उदाहरण उपस्थित किया। उन्होंने कहा—"सर एडवर्ड बक की, जो सन् 1892 में भारत सरकार के कृषि विभाग के मंत्री थे, यह सम्मति थी कि प्रदर्शनियों से देश की कारीगरी को लाभ नहीं पहुँच सकता। उस समय जिस प्रकार से सरकार ने पहले प्रदर्शनियों में काम किया था वैसा न करके उन्होंने मुझे यह भार दिया कि मैं सन् 1893 की शिकागो प्रदर्शनी में भारतवर्षीय शिल्पकारी दिखाऊँ। मुझे दुःख है कि इस व्यवसाय में मुझे निरर्थक बड़ी हानि उठानी पड़ी। मैंने इस उद्योग में तीन लाख रुपये की हानि उठायी। इस घटी का एक कारण तो यह था कि उन दिनों अमेरिका में बट्टे का बड़ा बखेड़ा मचा हुआ था और दूसरा कारण यह था कि सरकार ने बहुत ही थोड़े द्रव्य से मेरी सहायता की। परन्तु भारतवर्ष के लिए मेरा यह उद्योग बड़ा लाभकारी हुआ और इससे मेरे इस कथन की सत्यता सिद्ध होती है कि बिना प्रजा के उद्योग के सरकार ऐसे कामों में सफलता नहीं पा सकती। मेरे उद्योगों की सार्थकता निम्नलिखित बातों से स्पष्ट हो जायगी।

सन् 1892 से पहले भारतवर्ष का माल वर्ष में कभी 50000 से अधिक का बाहर नहीं गया जैसा कि सरकारी रिपोर्टों से स्पष्ट प्रकट होता है, परन्तु शिकागो प्रदर्शनी के एक ही वर्ष पीछे, अर्थात् सन् 1893-94 में जैसा कि सरकारी रिपोर्टों से प्रकट होता है, भारतवर्ष से निम्नलिखित रुपयों का माल अमेरिका गया।

सन् 1893-94 में	124513 रु० का
,, 1894-95 ,,	165206 " "
,, 1895-96 ,,	340155 " "
,, 1896-97 ,,	410462 " "

यह संख्या दिन-दिन बढ़ती जा रही है।"

हाथ का बना माल और कलें

इसके पीछे मिस्टर टेलरी ने इस बात पर विचार किया कि भारतवर्षीय कारीगरी की अवनति क्या जगत् की आधुनिक अवस्था पर निर्भर है और इसका रोकना सम्भव है या नहीं।

"यद्यपि कल के बने माल से पृथ्वी भर के सब देशों में हाथ के बने माल (दस्तकारी) को बहुत-कुछ हानि पहुँची है, पर साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि हाथ का बना माल सब देशों से उठ गया; हाथ की बनी हुई वस्तुओं के लिए सदा माँग बनी रही, यद्यपि कलों के बनने पर कुछ समय तक लोगो का यह भूत चढ़ा रहा कि कल का बना हुआ माल खरीदें क्योंकि वह सस्ता पड़ता था, पर कारीगरी से खाली रहता था। यही कारण था कि साधारण लोगों को यह धुन समा गयी। पर गत 20-30 वर्षों से लोगों का मन उस ओर से फिर रहा है; संसार भर के शिक्षित लोगों में यह बात फैल गयी है कि कल की बनी वस्तुओं में अपूर्व और नवीन भावों का पूर्ण अभाव रहता है, वे भद्दी होती हैं और मनुष्य के रसमय भाव को नहीं भातीं। कोई सामर्थ्यवान् पुरुष जिसे शृंगार का आनन्द मिल चुका है, सदा कल की बनी वस्तुओं से दूर भागेगा यदि उसे हाथ की बनी हुई मिल सकेगी। धनाढ्य लोग जिनमे रस और शृङ्गार का नाम भी नहीं रहता, विवश दूसरों की नकल करते हैं, और इससे भी कल की बनी वस्तुओं की ओर से लोगों के मन में कुछ विपरीत भाव उत्पन्न हो रहे हैं और हाथ की बनी हुई वस्तुओं की माँग बढ़ रही है। भारतवर्ष को छोड़कर प्रत्येक जाति ने इससे लाभ उठाया है। इङ्गलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, इटली, आस्ट्रिया, हङ्गरी, रशिया, हालैण्ड, स्पेन और जापान ने इस (दस्तकारी) विद्या को बढ़ाया, सुधारा और उससे लाभ उठाया है। राजा और प्रजा दोनों ने इसमें मिलकर काम किया है, पर यहाँ भारतवर्ष में, जहाँ और सब योरोपीय देशों की अपेक्षा इस उद्योग की बड़ी आवश्यकता है और जहाँ लाखों अच्छे-अच्छे कारीगर पड़े हैं अब तक कुछ नहीं किया गया।

योरोप में इस समय लाखों आदमी ऐसे शिल्प कार्यों में लगे हुए हैं जिनको भारतवर्ष के गाँव और नगर के कारीगरों ने उस समय सुधारा और ठीक किया था जब इन वस्तुओं के बनाने का योरोप ने स्वप्न भी नहीं देखा था। इन यूरोपीय बहुत-सी कारीगरियों का प्रारम्भ उस समय वहाँ हुआ जब कि भारतवर्ष में उनका पूर्णतया अधोपतन हो चुका था। इसके लिए उत्तरदाता कौन है? सभी लोग यह कहते हैं कि गवर्नमेण्ट है, परन्तु मैं इसमें पूर्णतया सहमत नहीं हूँ। मैं तो यह कहूँगा कि इस देश के वासी ही प्रधान दोषी हैं। गवर्नमेण्ट ऐसे उद्यमों और शिल्प कार्यों की केवल सहायता कर सकती है, वह अपने आप किसी कारोबार में नहीं लग सकती। भारतवर्ष के लोगों का व्यवसाय में उत्साह न होने के कारण ही आज भारतवर्ष की ऐसी हीन अवस्था हो रही है। अस्तु, इस बात के कारण

कुछ भी हों, पर यदि मनुष्य-गणना के हिसाब पर विश्वास किया जाय तो आज इस देश में उतने ही वरन् उससे भी अधिक कारीगर हैं जितने कि उस समय यहाँ थे जब कि इस देश की कारीगरी का इस देश तथा अन्य देशों में पूर्ण प्रचार था। प्रत्येक गाँव और नगर में कारीगर भरे हुए हैं जो दुःख और महाकष्ट से रो-रो कर अपना जीवन बिता रहे हैं।

मेरे ध्यान और अनुभव से जिन-जिन कारीगरियों की उन्नति हो सकती है वे ये हैं—रेशमी बाना, सूती बाना, रेशमी और सूती कपड़ों का छापना, गाड़ी आदि बनाना, दरी बिनना, ऊन और रेशम के गलीचे, लकड़ी का काम, धातु, चाँदी और सोने की चीजें, उन पर खोदा हुआ वा उभाड़दार काम, मिट्टी के बर्तन-खिलौने, चटाइयाँ, सुन्दर-सुन्दर टोकरियाँ और पंखे, हीरा काटना, हाथी-दाँत और लकड़ी के काम, पत्थर की नक्काशी और सुई का काम।"

रेशमी बाना

बङ्गाल में गवर्नमेण्ट ने बहुत वर्षों से इस उद्योग की ओर ध्यान दिया है और सैकड़ों आदमी इससे अपनी जीविका निबाहते हैं और सादे रेशमी कपड़े जैसे कोरा टसर आदि अधिकता से तैयार होकर देश में बिकते और बाहर भेजे जाते हैं, परन्तु यह दुःख की बात है कि बेल-बूटे का रेशमी काम जो अधिक आवश्यक और लाभदायक है नहीं बनता। जब मैं योरोप में घूमा तो मैंने इस व्यापार की ओर ध्यान दिया। फ्रांस, जर्मनी और स्विटजरलैण्ड के साधारण-साधारण स्थानों में मैंने सैकड़ों चलते देखे। कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जैसे नेकटाई, फीते, छाते के कपड़े, दुपट्टे, कमरबन्द, पहनने, बिछाने आदि के कपड़े जो हाथ से अधिकता से बिने जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इन वस्तुओं के विषय में लोगों की भिन्न-भिन्न रुचि होती है, इसलिए यदि ये सब वस्तुएँ कल से बनायी जाँय तो उनकी लागत भी न निकल सके। इन रेशमी कपड़ों पर ऐसे-ऐसे काम बनाये जाते हैं कि कल इनका सामना करने में समर्थ नहीं होती।

भारतवर्ष के बम्बई, मद्रास, पंजाब, बङ्गाल और पश्चिमोत्तर आदि प्रदेशों में अब भी सैकड़ों ही ऐसे लोग हैं जो रेशम बिनने में योरोप के बहुत बढ़े-चढ़े कारीगरों का सामना कर सकें। सूरत, अहमदाबाद, पूना, बनारस, मद्रास और ढाके आदि के किम्खाब बिनने वाले ऐसे-ऐसे पहनने और ओढ़ने-बिछाने के कपड़े बिन सकते हैं कि संसार के अन्य स्थानों के अच्छे-से-अच्छे कारीगर भी उनसे नहीं बढ़ सकते। एक प्रकार का रेशमी कपड़ा पंजाब के लाहौर, अमृतसर और

स्यालकोट स्थानों में बनता है, वह ऐसा है कि छातों के लिए सब प्रकार के कपड़ों को मात कर दे। पर आवश्यकता ऐसे व्यवसायी धनसम्पन्न लोगों की है जो इन कारीगरों को नित्य नयी-नयी चालें सिखलावें, उनसे सदा माल लें, उनकी द्रव्य से सहायता करें और उनके माल का देश-देशान्तरों में प्रचार करें। ऐसे कुछ लोगों को ढूंढ़ लीजिये और आप थोड़े ही दिनों में देखियेगा कि सूरत, बनारस और अमृतसर दस्तकारी व्यापार के केन्द्र स्थान हो जाते हैं। इस उपाय से न केवल उन लाखों रुपयों को बचा सकेंगे जो इस समय अन्य देशों को रेशमी बाने के लिए चले जाते हैं वरन् और देशों से अपने यहाँ का माल भेजकर बहुत कुछ धन ला सकेंगे।

सूती बाना

सूती बाने के कारीगर हिन्दुस्तान के गाँव-गाँव में फैले हुए हैं। इन लोगों की संख्या और सब प्रकार के कारीगरों से कहीं बढ़ी हुई है, पर इन बिचारों की कोई सुध नहीं लेता। काल पड़ा, अन्न महँगा हुआ कि ये मरने लगते हैं, क्योंकि कल के बने सस्ते कपड़ों के आगे इन्हें पूछता कौन है। पर इससे यह न समझना चाहिये कि यह व्यापार हो ही नहीं सकता। इसकी उन्नति के उपाय और उनमें सफलता प्राप्त करने की सम्भावना है। ये लोग अब तक ऐसे कपड़े बनाते हैं कि कलों में उनकी नकल नहीं हो सकती। मैंने यहाँ के बने हुए मोटे कपड़ों का कुछ प्रचार किया है। वे परदों अथवा किसी-किसी योरोपीय देशों के किसानों के पहनने-ओढ़ने के काम में आते हैं, क्योंकि ये अधिक दिनों तक चलते हैं और इसी से वे लोग इन्हें कल के बने कपड़ों की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं। पंजाब के कई स्थानों और बङ्गाल के ढाका जिले म एक प्रकार का कपड़ा बिना जाता है जिसमें कुछ थोड़ा-सा ही अदल-बदल कर देने से उसकी अधिक बिक्री हो सकती है और गर्मी के कपड़ों के लिए वह काम में आ सकता है। इस प्रकार से यदि इन कारीगरों को उचित शिक्षा दी जाय और फैशन के परिवर्तन की सूचना उन्हें मिलती रहे, तो थोड़े ही दिनों में सूती बाना भी भली-भाँति चल निकले और सैकड़ों कारीगरों का पेट पल सके।

दरी

आप लोगों में से बहुत-से लोग इस बात का अनुभव कर चुके होंगे कि दरियाँ बहुत ही चलती हैं और यह एक ऐसा काम है कि जिसमें बहुत-कुछ लाभ हो सकता है। बिछाने के लिए तो कोई और दूसरा कपड़ा नहीं है जो मजबूती

में दरी का सामना कर सके और न अब तक कोई ऐसी कल ही बनी है जो इसकी नकल उतार सके। जमीन, चौकी, स्टीमर, रेल आदि पर बिछाने, सिपाहियों के झोलों और यात्रियों के बेगों के लिए तो इससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। भारतवर्ष के प्रायः सभी स्थानों में यह किसी-न-किसी रूप में बिनी जाती है, परन्तु बिचारे कारीगर को केवल अपना ही और अपनी बुद्धि का सहारा है। दूसरा तो कोई है ही नहीं जो इस बात का पता लगावे कि ये दरियाँ किन-किन कामों में आ सकती हैं और उनके प्रचार का उद्योग कर उसे सहायता पहुँचावे। इसलिए वह बिचारा उस प्रकार से बिनता आता है जैसा उसके बाप-दादा सैकड़ों वर्ष पूर्व करते थे। गत वर्ष मैंने इस कारीगरी की कुछ उन्नति करने का विचार किया और कारीगरों को गलीचों के नमूने दे उसी बेल-बूटे और रंग की दरियों को उनसे बनवाया और अन्त में मुझे इस व्यवसाय से बड़ा लाभ हुआ। मैंने बम्बई, आसाम और अमृतसर में, जहाँ कम-से-कम मेरे लिए 2000 कारीगर काम करते हैं, सहायता देकर दरियों के बड़े-बड़े कारखाने खुलवा दिये हैं और मुझे इस बात के प्रकाश करने में बड़ा आनन्द होता है कि प्रारम्भ में ही जितनी दरियाँ इन सब स्थानों के कारीगर बना सके हैं उनकी सौ गुनी मैं बाहर भेज सकता हूँ। यह एक ऐसा उद्यम है कि जिसकी उन्नति हो सकती है और यदि सब देशों में यहाँ की बनी दरियों का प्रचार किया जाय तो आफिसों में, कमरों में और ऐसे स्थानों में जहाँ कपड़े की मजबूती ही पर विचार किया जाता है। जो सस्ते बिछौने बरते जाते हैं उनमें से एक भी यहाँ की दरियों के सामने न ठहर सकेंगे। इसके अतिरिक्त यात्रियों के बेगों, सिपाहियों के थैलों, रेल और जहाजों आदि के लिए इनका पूरा-पूरा व्यवहार हो सकता है। इस उद्यम में लोगों को लगना चाहिये और थोड़े ही काल में इससे लाखों कारीगरों का काम चल सकेगा।

गलीचे

इस शिल्पकारी का जन्म भारतवर्ष में नहीं हुआ, वरन् मुसलमानी राज्यकाल में यह फारस से यहाँ आयी। भारतवर्ष की प्रधान शिल्पकारियों में यह कदापि न रही होगी क्योंकि अत्यन्त प्राचीन गलीचों के मिलने की बात सुनने में न आयी और न उसका कोई प्रमाण ही मिला, और जहाँ कहीं कभी कोई मिले भी तो फारस के बने हुए ही पाये गये। सरकार ने कुछ वर्ष पहले यहाँ के जेलखानों में इस शिल्पकारी को पुनः प्रारम्भ किया था परन्तु कुछ सन्तोषजनक उन्नति न हुई। इसका प्रधान कारण यह है कि जेलखानों के सुपरिण्टेण्डेण्ट प्रायः

बदल दिये जाते हैं और बहुधा जो नये आते हैं उन्हें या तो रङ्ग आदि का इतना अधिक ज्ञान नहीं रहता है, और यदि रहता भी है तो वे उस उद्योग की ओर रुचि ही नहीं दिखाते। इसका परिणाम यह हुआ कि जेल के बने हुए गलीचों की उतनी उन्नति नहीं हुई जितनी की होनी उचित थी। जो कैदी गलीचे बनाने में लगे रहते हैं, जब वे छूट जाते हैं तो उनके विरुद्ध बहुत-सी ऐसी बातें रहती हैं कि जिनसे वे इस काम को सफलतापूर्वक नहीं चला सकते परन्तु फिर भी यह यश गवर्नमेण्ट का ही है कि जेलों में गलीचों का काम प्रारम्भ कराके पृथ्वी के भिन्न-भिन्न देशों को यह दिखा दिया कि भारतवर्ष ऐसी-ऐसी चीजें बना सकता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि अमेरिका और इङ्गलैण्ड के कारखानों ने इस बात का उद्योग प्रारम्भ किया है कि वहाँ के रहने वाले गलीचे बनाना सीखें। सन् 1870 में अमृतसर के एक कोठीदार ने कश्मीरी दुशालों की चलन कम देख कर, शाल बिनने वालों को गलीचों के बिनने में लगा दिया और इस काम में उसे ऐसी सफलता प्राप्त हुई कि थोड़े ही दिनों में भारतवर्ष के गलीचे प्रसिद्ध हो गये। शाल बिनने वालों की कारीगरी से बड़ा भारी लाभ यह हुआ कि शाल की भाँति नये-नये नमूनों के गलीचे बनाने लगे और इस भाँति फारस के कारीगरों को यहाँ वालों ने दबा लिया, क्योंकि वहाँ नये-नये नमूने बनाना सीखने में वर्षों की शिक्षा आवश्यक है, पर भारतवर्ष में शाल बिनने की विद्या के रहने से यह कठिनता दूर हो गयी। मुझे इस बात को प्रकाश करते बड़ा आनन्द होता है कि आज 20000 कारीगर गलीचों के बिनने में लगे हुए हैं और जितना माल बनता है उससे अधिक ही की माँग बनी रहती है। बढ़िया गलीचे अमृतसर, लाहौर, बंगाल में बनते हैं। अहमदाबाद में भी बनते हैं, पर अमृतसर के समान अच्छे नहीं होते। मिर्जापुर जिले में घटिया गलीचे बहुत-से बनते हैं, पर अब मैंने कई कारखाने खोले हैं जिनमें सफलता के साथ बढ़िया गलीचे भी बनने लगे हैं। मद्रास, बङ्गलौर और हैदराबाद राज्य में भी गलीचे बनते हैं पर वे अच्छे नहीं होते। मैंने सन् 1893 में 10 करघों से अमृतसर में गलीचे बनवाना प्रारम्भ किया और अब अहमदाबाद, नदिया, मिर्जापुर, लाहौर और पटियाले में मेरे कारखाने हैं जिनमें 465 करघे चलते हैं और मेरा एक भी गलीचा भारतवर्ष में बिकने के लिए नहीं बचता। जितने बनते हैं सब अमेरिका, इङ्गलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, हालैण्ड, आस्ट्रो-हंगेरी, रूस आदि देशों को भेज दिये जाते हैं; अब मैं 100 करघे और खोला चाहता हूँ और मेरा दृढ़ विश्वास है कि यहाँ के लोग यदि इस उद्यम में लग जायें तो यह बहुत-कुछ बढ़ सकता है। मेरा अनुभव है कि भारतवर्ष के

गलीचे फारस और तुर्किस्तान से बढ़ कर होते हैं, क्योंकि फैशन के बदलने के साथ ही यहाँ कारीगर बिनावट की भी चाल बदल देते हैं और यह दूसरे देशों में होना कठिन है। जो गलीचे मैं बनवाता हूँ उनके विषय में इस कारीगरी के समझने वालों की सम्मति है कि वे सबसे बढ़कर होते हैं, और फारस के पुराने गलीचों से किसी बात में कम नहीं होते। यदि यही बात इनके विषय में बनी रही और भारतवासी इस ओर लग कर कुछ उन्नति कर सके, तो इसका व्यापार बहुत-कुछ चल सकता है।

धातु और चाँदी के काम

संसार के और किसी देश में धातु का काम बनाने वाले कारीगर इतने अच्छे नहीं हैं जितने कि इस देश में हैं और गत वर्षों में इसकी बहुत थोड़ी उन्नति हो सकी है, परन्तु इसकी उन्नति करने की अभी जगह है। मैं यह कह कर कि किस-किस प्रकार से इसकी उन्नति होनी चाहिए आप लोगों का समय नष्ट नहीं किया चाहता, पर इस बात का मैं आप लोगों को विश्वास दिला सकता हूँ कि इस अथवा अन्य उद्यमों में देशवासियों को उत्साहित करने, द्रव्य लगाने, इनका प्रचार फैलाने और यहाँ उन्हें काम में लाने की आवश्यकता है। इस देश की कारीगरियों में कदाचित् और किसी से लाभ की इतनी आशा नहीं है जितनी इससे है।

हीरा तराशी

पन्द्रह वर्ष पूर्व जब मैं जयपुर राज्य की सेवा में था, तो मैंने स्थित महाराज और दीवान साहब को यह बात समझा दिया था कि यदि राज्य की थोड़ी भी सहायता मिले तो याकूत (रक्तमणि) खान से जिससे राज्य को भी कुछ आय नहीं है बहुत-कुछ लाभ हो सकता है और सैकड़ों लोगों को जीविका मिल सकती है। बुद्धिमान महाराज ने यह काम मुझे सौंपा और मैंने उसे 1000 की उदार और बड़ी सहायता से प्रारम्भ किया। मैंने एक अंग्रेज हीरा तराश बुलाया कि जिसमें वह लड़कों को इन पत्थरों का काटना सिखावे। कुछ काल में ये लड़के उनको उसी भाँति काटने लगे जैसा कि योरोप में अच्छे-से-अच्छा कारीगर काटता है।

अढ़ाई वर्ष में इन लड़कों को मैंने 35000 रु० की मजूरी दी, 20000 के औजार मँगाये और 42000 रु० के मूल्य के मेरे पास याकूत रहे। यह सब केवल उस 1000 रु० को युक्ति-पूर्वक व्यय करने से हुआ। पर इन सब बातों के रहने पर भी उस समय के पोलिटिकल एजेण्ट ने महाराज को यह

सम्मति दी कि यह काम बन्द कर दिया जाय और महाराज साहब ने मेरी सम्मति की अपेक्षा उसी को मानना उचित समझा।

कसीदे का काम

कौन ऐसा है जिसने पंजाब, सिन्ध, राजपूताना, कश्मीर, मद्रास और बङ्गाल के प्रायः सभी ग्राम्य स्त्रियों के काढ़े हुए रेशमी और सूती कसीदे के काम को न देखा हो और उसे न भाता हो। आप लोगों में से बहुतों ने इन कामों को देखा होगा पर कितनों ने यह विचारा होगा कि यदि स्त्रियों के इस काम को फैलाया जाय तो क्या परिणाम हो सकता है। सीखे-सिखाये कितने कारीगर वर्तमान हैं पर उनसे काम नहीं लिया जाता, और कितने ही घरों के लोग जो इस समय सरकार के सिर अथवा अन्य लोगों के सिर का बोझ हो रहे हैं, अपने बुरे दिनों के लिए कुछ-न-कुछ बचा लिया होता कि काल के दिनों में उससे अपनी रक्षा करते। इस बात को सोच कर, कि ये स्त्रियाँ आपही सूत बिनतीं और बहुत-सी तो रेशम को भी जिन पर वे बेल-बूटे काढ़ती हैं, बुनती और कातती हैं और यह उस समय जब उन्हें और कोई काम नहीं रहता केवल खाली बैठी रहती हैं। यह समझ में आ सकता है कि इन स्त्रियों को कितनी सुगमता से ऐसे काम सिखाये जा सकते हैं कि जिससे दूसरे देश के लोग इनके सामने न ठहर सकें। ये स्त्रियाँ इन बेल-बूटे के कामों को अपने ही प्रयोजन के लिए बनाती हैं और समय पड़ने और शरीर रक्षा के लिए आवश्यकता होने पर जैसा कि आजकल है, बेचती हैं, इन कामों की अनुपम सुन्दरता और मनोहर रंग और नवीन नमूने एवं साफ काम निस्सन्देह सराहनीय और विशेष कर इसलिए कि अशिक्षित स्त्रियाँ इन सब कामों को करती हैं। यदि इन स्त्रियों की कारीगरी रस्ते लगायी जाती और वे टेबुल-क्लाथ आदि आवश्यक और प्रयोजनीय कपड़े काढ़तीं, तो इसका बड़ा व्यापार चल निकलता। इस कार्य का क्षेत्र बड़ा भारी है और मुझे विश्वास है कि थोड़े ही दिनों में यह बहुत बढ़ जायगा।

मिट्टी के बर्तन

भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों में पुराने मकानों से हम लोग यह जान सकते हैं कि किसी काल में यहाँ के लोग रंग-बिरंगे मिट्टी के बहुत-से काम बनाते थे। परन्तु अब तो इसके बहुत थोड़े चिह्न देख पड़ने लगे हैं। शिल्प-विद्यालयों ने इस विद्या को उन्नति देने का उद्योग किया, पर सफलता न प्राप्त कर सके। परन्तु अभी तक इस विद्या का लोप नहीं हुआ है और भारतवर्ष में

सामान भी विद्यमान है, केवल यदि यहाँ की प्रजा उद्योग कर इस उद्यम को हाथ में ले और उसे बढ़ावे तो मैं नहीं समझता हूँ कि कोई ऐसा कारण है कि जिससे हम भारतवर्ष के लिए सब वस्तुएँ न बना सकें, और बाहर से जो प्रति वर्ष अधिक चीन के बर्तन और प्यालियाँ आती हैं उन्हें न रोक सकें।

यही वे सब उपाय हैं कि जिनके विषय में मैंने वास्तव में अनुभव किया है और जो मैं समझता हूँ कि बड़ी सुगमता से बढ़ाये और फैलाये जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त और भी हैं कि जिनकी ओर मैंने ध्यान नहीं दिया। इसलिए उनके विषय में मैं अपना कोई मत नहीं प्रकाशित करता। जो कुछ मैंने इन शिल्पकारियों के विषय में कहा है उससे आप लोगों के मन में यह संदेह उत्पन्न हो सकता है कि यदि वास्तव में इनसे इतना लाभ हो सकता है तो इनकी अवनति क्यों हो रही है, और क्यों लाखों मनुष्य, जिनकी भलाई उन्हीं पर निर्भर है, असहाय पड़े हुए हैं। इस प्रश्न पर मैं वर्षों से विचार रहा हूँ और मुझे आश्चर्य है कि ऐसी न्यायशील और बुद्धिमान सरकार ने अब तक इन बातों की ओर क्यों नहीं ध्यान दिया।

अवनति के कारण

भारतवर्ष के लिए सबसे दुर्भाग्य की बात विदेशी व्यापारी हैं जो अपने देश की बनी हुई चीजों को बेचने के लिए और भारतवर्ष की उन पैदावारों को लेने के लिए कि जिनकी उन्हें आवश्यकता रहती है यहाँ आते हैं। यह बात तो स्वाभाविक है, पर यदि हमारी सरकार ने व्यापारियों के लिए स्कूल खोले होते और हमारे व्यापारियों को शिक्षा दी होती, तो वे लोग भी दूसरे देशों में गये होते और वही काम करते जो आज विदेशी यहाँ कर रहे हैं। इन विदेशी व्यापारियों को तो अपने ही देश की भलाई का विचार रहता है, यहाँ वालों का तो वे ध्यान भी नहीं करते। प्रायः वे सब यहाँ जितना शीघ्र हो सके धन उपार्जन करने के लिए आते हैं और तब चले जाते हैं कि दूसरे आवें और उसी काम को करें। इस रीति से यह क्रम चला जाता है। सब व्यापारी अपने बालकों को योरोप में शिक्षा दिलाते हैं और वे अन्त में अपने पिता का काम सम्हाल लेते हैं। थोड़े-से ऐसे हैं जो इसी देश में रहते हैं, क्योंकि उनके पास आवश्यक धन नहीं रहता। ये अथवा इनके लड़के भी ऐसे काम नहीं करते कि जिनसे इस देश पर उनका प्रेम प्रकट हो।

परन्तु इन विदेशी व्यापारियों ने जो किया है वह बहुत ही स्वाभाविक है। वे भारतवर्ष में एक नियत उद्देश्य से आते हैं और जब वह पूरा हो जाता है तो चले जाते हैं। अब हमें यह देखना चाहिए कि भारतवासियों ने अपने लिए

क्या किया है, अथवा यों कहिये कि पढ़े-लिखे और धनाढ्य लोगों ने अपने देश के व्यापार को बढ़ाने के लिए क्या किया है। मैं थोड़े में कह सकता हूँ कि क्या किया गया है और वह 'कुछ नहीं' है। यदि विदेशी यात्रियों की जो भारत में आते हैं, और सरकारी अफसरों और सौदागरों की कृपा न होती तो सैकड़ों वर्ष पूर्व ही आपके यहाँ की शिल्पकारी नष्ट हो गयी होती और आज उसका कोई नाम भी न जानता।

यदि भारतवासी अपने देश की शिल्पकारी को अन्य देशों में फैलाने का उपाय करते, जो उन्हें करना उचित था, तो क्या-क्या परिणाम होते, इस विषय पर कहकर मैं आप लोगों का समय नष्ट नहीं करना चाहता; परन्तु मैं यह कहूँगा कि इन देशवासियों ने स्वदेशी कारीगरों के हितार्थ क्या-क्या करना छोड़ दिया है, अथवा मुझे यह कहना चाहिये कि उन लोगों ने उन्हें नष्ट करने और कारीगरों को भूखों मार डालने के लिए क्या-क्या किया है।

यदि हम लोग भारतवर्ष भर की यात्रा कर आवें, तो क्या हम कहीं राजों-महाराजों और धनाढ्य लोगों के स्थानों में इस देश की बनी हुई एक भी चीज पाते हैं ? नहीं, पर हमें मिलता है क्या ? केवल बुरे-बुरे रंगों के अत्यन्त ही घृणा करने योग्य गलीचे, और खूब पालिश किया हुआ और गँवारूपन से सजा हुआ लकड़ी का असवाव, शीशे, रंगीन तस्वीरें, बिलायती बने हुए सस्ते और भद्दे रँगे हुए परदे, चीन शीशे और मिट्टी की चीजें। बस ये ही सब सजी हुई दिखायी देंगी, इनके यहाँ की दीवाल पर या तो रंगीन कागज लगा होगा या बड़े भद्देपन से वे रंगी होंगी और घर में रहने वाले लोगों को भी अँग्रेजी कपड़ों में कसे हुए पावेंगे जो बड़ा ही भद्दा दीख पड़ता है। क्या आप लोगों को यह ज्ञात है कि देशी असबाब से ही आप अपना कमरा बड़ी सुन्दरता से सजा सकते हैं और उसमें उससे कहीं कम रुपया लगेगा जो विलायती चीजों में लगता है ? आप अपने कमरे की गज को बढ़िया रंग-बिरंगे गलीचों और दरियों से ढक सकते हैं। आप बढ़िया-से-बढ़िया लकड़ी के असबाब को रख सकते हैं। आप अपनी दीवालों को भद्दी तस्वीरों की अपेक्षा लकड़ी और धातु की चीजों से सजा सकते हैं। आपके खिलौने और शृंगार की चीजें देशी लकड़ी, धातु अथवा चाँदी की हो सकती हैं। गाँव की स्त्रियाँ भी थोड़े-ही-थोड़े दाम पर आपको अच्छे-अच्छे परदे दे सकती हैं, जो सुन्दरता में विलायती बहुमूल्य परदों से कहीं बढ़-चढ़के होंगे। आप अपने कमरों को इस देश की बनी चीजों से इस प्रकार सजा सकते हैं कि लोग उसे

देखकर चकित हो जायँ और जैसा कि मैंने कहा है कि विलायती चीजों की अपेक्षा इसमें आपका आधा रुपया भी न लगेगा।

जो कुछ मैंने आज आप लोगों से कहा है उससे आप जान सकते हैं कि मेरी सम्मति यही है कि इस देश की शिल्पकारी की उन्नति के दो ही उपाय हैं। एक तो यह कि यहाँ के लोग धन लगाकर अन्य देशों में यहाँ की चीजों को फैलावें, और भारतवर्ष में चलाबें और दूसरा यह कि यहाँ के लोग अपने पहिरने-ओढ़ने और घरों को सजाने के लिए विदेशी चीजों को अपने काम में लाना रोक दें। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इन दोनों उपायों में दूसरा उपाय विशेष बलवान है।

उन्नति का उपाय जो हो रहा है।

इन विषयों पर मैंने भारत गवर्नमेण्ट को एक पत्र लिखा है और मुझे इस बात के प्रकाश करने में बड़ा आनन्द होता है कि गवर्नमेण्ट ने इस विषय में अपना उत्साह दिखाया है, और सरकारी अफसरों से बातचीत करने पर मेरा यह विश्वास हो गया है कि जो कुछ सम्भव है वह सब गवर्नमेण्ट करेगी। मैंने निम्न-लिखित प्रस्ताव गवर्नमेण्ट से किये हैं :—

एक कम्पनी खोली जाय जिसमें सरकार कुछ रुपया दे, अथवा जिस कम्पनी के लिए सरकार जिम्मेदार हो। उस कम्पनी का यह काम हो--

(1) नगरों और गाँवों की कारीगरी का जीर्णोद्धार करना।

(2) समस्त देशों के प्रधान-प्रधान नगरों में एजेन्सी और दूकानों का खोलना कि जिसमें विदेश को माल जाय।

(3) यहाँ के कारीगरों को ऐसी चीजों का बनाना सिखाना जो विदेश में खपती हों और जो दूसरे देश से यहाँ आकर बिकती हों।

(4) भारतवासियों को देशी चीजों को काम में लाने के लिए जोर देना।

(5) द्रव्य से कारीगरों की सहायता करना, उन व्यापारियों या सौदागरों को आर्थिक सहायता करना जो यहाँ की बनी चीजों का रोजगार करते हों।

मेरे सब प्रस्तावों के स्वीकार करने के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं, परन्तु गवर्नमेण्ट इस बात पर विचार कर रही है कि कौन-से ऐसे उपाय हैं जिनसे यहाँ की कारीगरी का उद्धार हो सके। मेरा विश्वास है कि एक उपाय इस समय

गवर्नमेण्ट के विचाराधीन है जिसके अनुसार कार्य किया जायगा और जिससे यहाँ की कारीगरी की बहुत-कुछ उन्नति होने की सम्भावना है। इन बातों के हो जाने पर भी मैं आप लोगों से यही कहूँगा कि गवर्नमेण्ट चाहे कुछ भी करे, परन्तु कोई उद्योग भारतवासियों के उत्साह और उनकी सहायता बिना सफल नहीं हो सकता। यदि यहाँ के लोग स्वयं उन सब कामों को, जो गवर्नमेण्ट नहीं कर सकती और जो साधारण लोगों से ही हो सकते हैं, करेंगे तो मुझे दृढ़ विश्वास है कि गवर्नमेण्ट ऐसे लोगों की उचित सहायता करेगी और मैं आप लोगों को विश्वास दिलाता हूँ कि राजा और प्रजा के मिलकर काम करने से ही भारतवर्ष की शिल्पकारी जो किसी काल में संसार में अति प्रसिद्ध थी, उन्नति कर सकती और काल पाकर भारत की भूखी प्रजा के अधिकांश को सन्तुष्ट और समृद्ध बना सकती है। मुझे इससे बढ़कर दूसरा आनन्द नहीं हो सकता कि मैं यह देख लूँ कि यहाँ के लोगों ने अब अपनी अवस्था को सुधारने के लिए उद्योग करने की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया है और इस विषय में मेरे उद्योग व्यर्थ नहीं गये हैं।

(1900)

शिक्षा

किसी ने ठीक कहा है कि "वाणिज्ये वसति लक्ष्मी" परन्तु अब तो अवस्था ही दूसरी है, अतएव अब "वाणिज्ये वसतिसर्वम्" यही कहना पड़ेगा। संसार का चक्र कदापि स्थिर न रहा है न रहेगा। वह सदा चलायमान है। इससे जो एक समय वियावान जंगल था वह अब जनस्थल हो सुन्दर उच्च प्रासादों से सुशोभित है। और जहाँ किसी काल में एक सुरम्या जनसंकुला नगरी बसी थी, वहाँ अब उसके चिह्न भी पृथ्वी के ऊपर नहीं देख पड़ते। इसी प्रकार से जो जातियाँ एक समय सर्वोत्तम शिखर पर विराजती थीं आज उनको लोग सभ्य कहने में भी सकुचाते हैं। कुछ तत्त्वज्ञों का यह कथन क्या सिद्धान्त ही है कि जातियाँ गिरकर उठती नहीं तो अब तक कोई भी उनमें नहीं उठी हैं। अंशतः यह सत्य हो सकता है पर गिरकर जातियाँ यदि उठीं नहीं तो पड़ी भी नहीं हैं। वे बैठने में समर्थ हुई हैं और संभव है कि समय पाकर वे खड़ी भी हो जायँ और तब पुनः अपने आसन को ग्रहण कर सकें। इस उद्‌देश्य का सफलीभूत होना संभव हो या असंभव, पर आँखों के सामने तो उसी उद्‌देश्य का रहना उचित और श्रेयस्कर है। अस्तु इस उद्‌देश्य को सामने रखकर अधोपतित जातियों को क्या करना उचित है इसी का विचार इस प्रबन्ध का मुख्य उद्‌देश्य है। कुछ लोग सामाजिक सुधार, कुछ लोग राजनैतिक स्वत्व प्राप्ति और कुछ लोग अन्य बातों को ही देश की उन्नति का तारक मन्त्र मानते हैं। पर संसार की अवस्था दिनों-दिन बदलती जाती है। अपने को वर्तमान अवस्थानुकूल बनाना ही उन्नति के सोपान पर पैर रखना है। किसी-किसी का यह मत है कि शारीरिक वा सैनिक बल ही से एक जाति दूसरी जाति पर बल जमा सकती है। यह किसी अंश में ठीक हो सकता है परन्तु आजकल वाणिज्य की उन्नति से ही प्रभुत्व जमते देख पड़ता है। जिस जाति में इसका अभाव है जहाँ इसमें कुशल लोग नहीं, वहाँ की अवस्था अति ही शोचनीय है। अतएव यह निर्धारित होता है कि शिल्प नैपुण्य का होना ही परम आवश्यक है। इसलिए इसे प्राप्त करने का उपाय केवल तद्विषयक उपयुक्त और उत्तम शिक्षा ही है। आजकल प्रतिदिन नाना प्रकार के द्रव्यों का आविष्कार हो रहा है और नयी-नयी वस्तुओं को बनाने के लिए नये-नये सुन्दर यन्त्र बनते चले जाते हैं जिनसे दिनो-दिन चीजें सस्ती हो रही हैं। इसलिए जब तक शिल्प

विद्या के साथ-ही-साथ उच्च वैज्ञानिक शिक्षा को न देंगे तब तक दूसरों के सम्मुख अपनी रक्षा कदापि न कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त साधारणतः स्मृति शक्ति और मस्तिष्क शक्तियों को परिमार्जित करना भी आवश्यक है इसलिए साधारण शिक्षा का देना प्रयोजनीय होगा। यदि यह कहा जाय कि अमुक विषय की शिक्षा से कोई लाभ नहीं है तो यह ठीक नहीं। क्योंकि प्रथमतः तो प्रत्येक विषय मस्तिष्क शक्तियों को परिमार्जित करता है, दूसरे, संभव है कि जिन शास्त्रों से अभी कुछ काम नहीं निकलता उनसे आगे चलकर निकल सके। अतएव यह सिद्धान्त निकलता है कि जातीय उन्नति के लिए साधारण शिक्षा, वैज्ञानिक शिक्षा और शिल्प शिक्षा की आवश्यकता है।

यह बात सर्वसम्मत है कि प्रत्येक प्रकार की शिक्षा के लिए शिष्य, शिक्षक और शिक्षादान इन तीन वस्तुओं का बड़ा प्रयोजन है। इन तीनों में से यदि एक भी न हो तो शिक्षा का काम नहीं चल चलेगा। इस बात को सब लोग मानते हैं कि भारतवासी सब प्रकार की शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। कोई यह नहीं कह सकता कि अमुक विषय में यह शिक्षा नहीं पा सकते। अतएव शिक्षा शक्ति के रहने पर उसे परिमार्जित करना और बढ़ाना कोई दुःसाध्य काम नहीं है। यह साधारण रीति से काम करने ही से हो सकता है। परन्तु शिक्षा तब तक कदापि अच्छी नहीं हो सकती जब तक अच्छे शिक्षक न मिलें। शिक्षकों में निम्नलिखित गुणों का होना नितान्त आवश्यक है, बिना इनके शिक्षक कहना और उनसे उत्तम शिक्षा की आशा करना भूल है। चरित्रबल, श्रमशीलता, धैर्य, निजकर्म में उत्साह तथा महत्त्व और गौरव में दृढ़ विश्वास। किन्तु इन सब बड़ी-बड़ी बातों को छोड़ कर शिक्षक में उस विषय का पूरा ज्ञान होना चाहिए जिसकी वह शिक्षा देता हो और उसे शिक्षा प्रणाली का पूर्ण वेत्ता होना चाहिए। कुछ लोगों का विचार है कि ज्ञान का रहना ही अलम् है, प्रणाली आती हो या नहीं। पर आजकल के शिक्षा तत्त्वज्ञों ने इस बात को पूर्णतया स्पष्ट करके दिखा दिया है कि बिना उपयुक्त प्रणाली के जाने शिक्षा का कार्य सफलतापूर्वक नहीं आ सकता। जैसे वैद्य बिना रोगी का रोग समझे उसे दवा नहीं दे सकता उसी तरह शिक्षक बिना अपने शिष्य के स्वभाव, उसकी प्रकृति और मस्तिष्क शक्ति को जाने उसे पूरी-पूरी शिक्षा नहीं दे सकता। इसलिए हमारे देश में पहले इस बात का प्रबन्ध होना चाहिए कि हमारे भावी शिक्षकों की उपयुक्त शिक्षा हो। अभी थोड़े दिन हुए हैं कि भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में ऐसे विद्यालय स्थापित हुए हैं पर उनकी अवस्था ऐसी हो रही है कि होने से उनका न होना ही अच्छा है। जिन्हें शुद्ध बोलने नहीं आता,

जो स्वयं उन नियमों का पालन नहीं कर सकते, जिन्हें वे अपने शिष्यों को सिखाना चाहते हैं, जो स्वयं साधारण शिक्षा पाकर उच्च शिक्षा प्राप्त किये हुए लोगों को पढाने का साहस करते हैं। ऐसे जिन पाठशालाओं के अध्यापक हैं उनसे कहाँ तक हमारे भावी शिक्षक पढ़कर अच्छे साँचे में ढाले जा सकेंगे, यह विज्ञ पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि या तो अच्छे विद्यालय स्थापित किये जायँ या भावी शिक्षकगण विदेश भेजे जायँ। ये दोनों कार्य बहुव्ययसाध्य हैं।

अच्छे शिक्षकों के होने पर भी वे सामान्य वेतन पर नहीं मिल सकते और यदि मिलेंगे भी तो ठहरेंगे नहीं। कुछ लोगों का यह विचार है कि शिक्षकों में स्वार्थ त्याग का ध्यान रहना अच्छा है। यह ठीक है पर वास्तव में ऐसे लोग कितने मिल सकते हैं। शिक्षक के लिए यह बात बड़ी आवश्यक है कि वह समाज में प्रतिष्ठा पात्र रहे। यदि उसकी रहन-सहन ऐसी नहीं हो सकती तो उसका प्रभाव शिष्यों पर कदापि अच्छा न पड़ सकेगा। उसकी आय इतनी होनी चाहिये कि जीविका-निर्वाह के लिए उसे दूसरे उपायों का आलम्बन न करना पड़े। यदि उसे कम वेतन मिलेगा तो वह अवश्य ही कोई उपाय उपयुक्त आय के निकालेगा और उसके ऐसा करने से उस विद्यालय को उससे पूरा-पूरा लाभ न पहुँच सकेगा। इसके अतिरिक्त उसे इतना समय अवश्य मिलना चाहिये कि जिस विषय की वह शिक्षा देता हो उसकी नवीनपुस्तकोंका निरन्तरअध्ययनकरतारहे, ऐसे-ऐसे पत्र देखा करे जिनमें इन विषयों की चर्चा रहती हो। यदि उसे दो-तीन विषयों को पढ़ाना या प्रति सप्ताह चौबीस या तीस घण्टे काम करना होगा तो वह इन बातों में कदापि समर्थ न होगा। सारांश यह कि शिक्षक के लिए चारों ओर धन-ही-धन की आवश्यकता देख पड़ती है। बिना इसके उसका काम नहीं चल सकेगा और बिना अच्छा वेतन दिये, बिना उससे कम काम लिये कभी अच्छे अध्यापक नहीं मिलेंगे। कुछ लोग अवैतनिक कार्य की प्रसंशा करते हैं पर वास्तव में इससे बढ़कर कार्य को हानि पहुँचाने वाला दूसरा उपाय नहीं हो सकता। लोग सदा उसके अनु-गृहीत रहेंगे। इससे उसके दोषों पर ध्यान न देंगे और न ध्यान देना चाहेंगे और उन्हें जानकर भी मौन का अवलम्बन करना नीतिसंगत मानेंगे। मेरे कथन का यह आशय नहीं है कि अच्छे अवैतनिक कार्यकर्ता मिलेंगे ही नहीं। मिलेंगे अवश्य पर बहुत कम। अतएव उपयुक्त वेतन देकर ही कार्य कराना उचित है।

अब यदि अच्छे शिक्षकों का प्राप्त करना बहुत धनसाध्य है तो इस बात को जान लेना भी उचित है कि कोई अध्यापक एक साथ बीस-पचीस लड़कों से अधिक को भली-भाँति शिक्षा न दे सकेगा। एक श्रेणी के असंख्य लड़कों को बिठाकर

शिक्षा देना कभी भी लाभदायक नहीं होता । अध्यापक नियत समय तक अपने विषय के सम्बन्ध में एक वक्तृता दे देना ही अपने कर्तव्य का शेष समझता है। बालक समझते हैं या नहीं इस पर उसका ध्यान नहीं जा सकता, अथवा इसके विचार का उसे समय भी नहीं मिलता कि बालक को किस प्रकार बतलाने से ठीक होगा । इन बातों पर विचार कर यही मानना पड़ेगा कि एक श्रेणी में 20-25 से अधिक बालक कभी नहीं रहने चाहिए । यह कार्य भी व्यय साध्य है ।

अच्छी शिक्षा देने के लिए और किन-किन बातों का होना आवश्यक है इस पर भी विचार कर लेना चाहिए । सबसे पहले तो शिक्षागृह एकान्त, पर साफ-सुन्दर और एकान्त होना चाहिए । सुन्दरता मन को मुग्ध कर आत्मा को उन्नत करती है । एक झोपड़े में पढ़ाने से वह प्रभाव नहीं पड़ सकता जितना एक दिव्य गृह में बैठाने से हो सकता है । यह पूछा जा सकता है कि प्राचीन काल में तो सुन्दर-सुन्दर गृह नहीं बने थे उस काल में तो ऋषि लोग पर्ण कुटीर ही में बैठ कर शिक्षा देते थे और जैसे-जैसे विद्वान् उस समय हुए वैसे अब देखने में नहीं आते। यह ठीक है पर प्राकृतिक शोभा और सुन्दरता से बढ़ कर और कोई सुन्दरता नहीं है । एकान्त निर्जन स्थानों में लता-पत्रादि से आच्छादित कुटीरों में बैठ कर निर्झरों का आनन्द उठाना और पठन-पाठन करना वास्तव में नैसर्गिक सुख का अनुभव करना है । पर उस समय की अवस्था में अब बहुत-कुछ परिवर्तन हो गया है । अब वह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कहाँ, वह गुरु सेवा, वह गुरु आज्ञापालन कहाँ और वह शान्ति और सुखमय जीवन कहाँ ? अस्तु, स्कूल या कालेज का भवन लता-पत्रादि से आच्छादित रहना चाहिए । गर्मी के दिनों में पंखों का सुप्रबन्ध होना चाहिए । टेबुल, कुर्सी, बेञ्च आदि ऐसे होने चाहिए कि किसी को कष्ट न हो । ऐसा न हो कि लम्बे लड़के को नीची बेंच और टेबुल और नाटे लड़के को ऊँचे बेञ्च और टेबुल मिलें । यूरोपीय देशों में ऐसे टेबल बनने लगे हैं जो आवश्यकतानुसार नीचे वा ऊँचे किये जाते हैं । विद्या भवन के चारों ओर इतना स्थान छूटा रहना चाहिए कि व्यायाम स्थान का उत्तम प्रबन्ध रह सके । दुःख की बात है कि इन सब बातों पर हमारे देश में साधारण ध्यान भी नहीं दिया जाता । पंखे कहीं-कहीं तो इस बुद्धिमानी से लगाये जाते हैं कि दिवालों को हवा लगे तो लगे पर लड़कों को भूल कर भी न लगने पावे । फिर जिस गृह में पठन-पाठन का काम होता है उसी में पंखा कुली भी बैठा दिया जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि जब वह ऊँघने लगता है तो लड़कों का ध्यान पढ़ने पर से हट कर उसके ऊँघने पर चला जाता है और वे अति उत्कण्ठा से इस बात की

प्रतीक्षा करने लगते हैं कि कब वह ऊँघ कर गिरता है। ऐसी बुद्धिमानी से लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक संभावना रहती है। जिन महानुभावों के हाथ में स्कूलों और कालेजों का प्रबन्ध हो, उन्हें इस बात पर ध्यान रखना चाहिए और विद्याभवन को जहाँ तक हो सके रम्य और चित्ताकर्षक बनाना चाहिए। साथ ही व्यायाम आदि के लिए भी विस्तृत स्थान का होना प्रयोजनीय है।

यह बात तो सब लोग जानते और मानते हैं कि प्रत्येक विद्याभवन में एक स्थान पुस्तक आदि के पढ़ने का तथा पुस्तकालय का होना चाहिए। प्रायः यह भी देखने में आता है कि पुस्तकालयों में पुस्तकों के अतिरिक्त अच्छे-अच्छे तथा प्रत्येक विषय के मासिक तथा अन्य सामयिक पत्रों का रहना आवश्यक है। हमारे देश में इसका पूर्ण अभाव रहता है। यूरोप और अमेरिका के एक-एक स्कूलों में 200, 250 पत्र तक आते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वैज्ञानिक यन्त्रादि तथा उस विषय की शिक्षा के लिए एक परीक्षा-गृह का रहना अत्यन्त आवश्यक है। विज्ञान शिक्षा का फल यही है जिसमें पढ़ने वालों की मस्तिष्क शक्तियों की उन्नति और शिक्षा इस प्रकार से की जाय जिसमें समय पाकर वह पढ़ने वाला स्वयं नये आविष्कार करने में समर्थ हो सके। इसलिए लड़कपन ही से उसे सब बातों को अपने आँखों से देखना, अपने कानों से सुनना और अपने हाथों से करना चाहिए। बिना इसके किये उसमें उस आविष्कारिणी शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। ऐसी शिक्षा के लिए एक अध्यापक एक ही साथ २०, २५ लड़कों के नहीं पढ़ा सकता। कुछ लोगों का यह विचार है कि कालेजों में इन सब गृहों और यन्त्रों का होना आवश्यक है, स्कूलों में नहीं। पर वे इस बात को नहीं जानते कि एक गृह को दृढ़ और बहुकाल-स्थायी बनाने के लिए पहले उसकी नींव की ओर ध्यान देना पड़ता है। यदि नींव अच्छी न बनी तो गृह के शीघ्र ही गिर जाने की संभावना रहती है। इस सिद्धान्त के अनुसार स्कूलों में भी सब बातों का होना अति आवश्यक है। सारांश यह कि जिस विषय की शिक्षा देनी हो उसकी पूरी सामग्री चाहिए। उद्भिज विद्या के लिए उद्यान, कृषि विद्या के लिए कृषि क्षेत्र, ज्योतिष विद्या के लिए मान मन्दिर, प्राचीन तत्त्व के लिए शिलालेख, ताम्र-पत्रादि का होना अत्यन्त ही प्रयोजनीय है, परन्तु ये सब कार्य बिना बहुत-सा धन व्यय किये नहीं हो सकते।

प्रत्येक स्कूल में इतिहास और भूगोल की शिक्षा दी जाती है और इसमें प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानों और व्यक्तियों का वर्णन आता है। पर क्या एक भी स्कूल या कालेज ऐसा है जहाँ बालकों को उन स्थानों और व्यक्तियों के चित्र दिखाये जा सकें। स्वदेशी बड़े लोगों के चित्रों अथवा प्रस्तर मूर्तियों के रखने से लड़कों में

देशानुराग उत्पन्न होता है और उनके चरित्र पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। विलायत के डबल्यू ग्रिड एण्ड सन्स ने सेक्रेटरी आफ स्टेट की आज्ञा से पाँच सौ ऐसे चित्र बनाये हैं जो भारतवर्ष के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध दुर्ग, प्रासाद, स्तूप, देव मन्दिर, शिलालेख, स्तम्भ आदि के फोटो से बने हैं और जिन्हें मैजिक लालटेन द्वारा दिखा सकते हैं। ये सब 300 रु० में मिल सकते हैं । इनको एकत्रित करके स्कूलों या कालेजों में रखना कोई बड़ी बात नहीं है किन्तु लाभ अनेक हैं।

स्कूलों में छोटे-से-छोटे दर्जे में भी ऐसी पुस्तकें पढ़ायी जाती हैं जिनमें रबर, शीशा, लकड़ी और जन्तु आदि का वर्णन रहता है। बङ्गाल में जो वर्नाक्यूलर शिक्षा की नयी प्रणाली अभी स्वीकृत हुई है उसके अनुसार तो अब इस प्रकार की पढ़ाई का बहुत प्रचार हो जायेगा। ऐसी अवस्था में इन सब वस्तुओं के नमूनों का रहना अत्यन्त आवश्यक है। यह तो कभी आशा नहीं की जा सकती कि प्रत्येक स्कूल और कालेज के साथ लण्डन का ब्रिटिश म्यूजियम या कलकत्ते का इण्डियन म्यूजियम बना दिया जायेगा, पर सब में इन सब अद्भुत वस्तुओं और जीवों का अथवा उनके प्रतिरूप का रहना अत्यन्त आवश्यक है।

उत्कृष्ट शिक्षालय के लिए दो बातें और भी आवश्यक हैं--एक क्रीड़ा व्यायाम स्थल और दूसरा छात्रावास। मस्तिष्क-रक्षा के साथ-ही-साथ शारीरिक रक्षा उपयुक्त प्रकार से हो सकती है, एक के बिना दूसरे का होना असम्भव-सा है। यदि कोई मनुष्य अत्यन्त तीव्र तथा चमत्कारिणी बुद्धि का हो परन्तु उसका स्वास्थ्य अच्छा न हो तो उसकी वह बुद्धि किसी काम की नहीं हो सकती। इसलिए व्यायाम आदि का करना अत्यन्त प्रयोजनीय है । इसके अतिरिक्त इसमें और भी कई प्रकार की शिक्षा होती है। जो नायक (captain) बनाया जाता है उसे सदा इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि मेरे अधीनस्थ सब लोग मेरा कहा मानें और मुझसे प्रसन्न रहें। साथ ही उसे इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए बहुत-कुछ स्वार्थ-त्याग करना पड़ेगा। अंग्रेजी में एक कहावत प्रसिद्ध है कि वाटर लू का युद्ध ईटन के क्रीड़ा-क्षेत्र में जीता गया था। इसका अर्थ यह है कि वेलिङ्गटन ने बाल्यावस्था ही में ईटन के क्रीड़ा-क्षेत्र में इस बात की पूर्ण शिक्षा पायी थी कि नायक का काम किस तरह करना चाहिए। यहाँ के लोगों को सुनकर आश्चर्य होगा कि विलायत और अमेरिका के एक-एक स्कूल और कालेजों में शारीरिक शिक्षा के लिए लाख-लाख तक प्रतिवर्ष व्यय किया जाता है। छात्रावास से भी बहुत लाभ है। प्रथम तो परस्पर में स्नेह और भ्रातृभाव की वृद्धि होती है । दूसरे अनेक लोग एक प्रकार के

साँचे में ढाले जा सकते हैं। उनके एक-से भाव, एक-से विचार, एक-से चरित्र, और एक ही-सी रहन-सहन हो सकती है और साथ ही बड़ी सुगमता से उन्हें गार्हस्थ्य धर्मपालन की शिक्षा दी जा सकती है, परन्तु इन सब बातों के लिए उपयुक्त पुरुषों और प्रबन्ध की आवश्यकता है। ऐसा कभी भूल के भी नहीं करना चाहिए कि फीस इतनी अधिक रख दी जाय कि जिसमें अधिक लोग छात्रावास से लाभ उठाने में ही असमर्थ हों। लाहौर के एंग्लो वैदिक कालेज के छात्रावास का प्रबन्ध अच्छा जान पड़ता है। वहाँ 7 या 8 लड़कों का एक समुदाय बना दिया जाता है और उसमें प्रत्येक लड़के को एक सप्ताह तक अपने समुदाय के सब लड़कों का सब प्रकार के प्रबन्ध करना पड़ता है, उन्हें केवल एक नौकर और एक रसोइया दे दिया जाता है। इस प्रकार के प्रबन्ध से असीम लाभ हैं जिनका वर्णन करना वृथा है। बुद्धिमान लोग उन्हें स्वयं विचार और समझ लेते हैं। परन्तु उसके लिए एक उपयुक्त कर्मचारी का होना आवश्यक है जो इस बात को देखता रहे कि लड़के अपव्यय अधिक तो नहीं करते और उनके प्रबन्ध में किसी प्रकार की त्रुटि तो नहीं रहती। यदि ऐसा हो तो उन्हें उचित है कि उपयुक्त सम्मति और शिक्षा द्वारा इसका संशोधन कर त्रुटि को दूर करें।

निदान सब बातों में हम लोगों ने देखा कि बिना प्रचुर धन की सहायता के उपयुक्त शिक्षा का काम नहीं चल सकता और बिना उपयुक्त शिक्षा हुए देश का उद्धार नहीं हो सकता। तो अब यह धन कहाँ से आवे? छात्रों के वेतन से यह कार्य कभी भी सुसम्पन्न न हो सकेगा। इसलिए दानवीर लोगों की सहायता ही काम कर सकेगी। हमारे देश में धनाढ्य लोग जो धन का अपव्यय करते हैं उसे ही यदि वे अच्छे-अच्छे कार्यों में लगावें तो बहुत कुछ उपकार हो सकता है। अमेरिका के शिक्षा विषयक दान की बात सुन कर तो भारतवासियों को आश्चर्य होगा। गत जनवरी सन् 1900 से उसी वर्ष के नवम्बर मास तक 11 महीनों में 5 करोड़ 20 लाख रुपये का दान हुआ था। सायंस नाम का पत्र लिखता है कि एक सप्ताह में अमेरिका में प्रायः 28 लाख 30 हजार रुपये का दान हुआ था। दूर की बात जाने दीजिए अभी उसी दिन मिस्टर कार्नेजी ने 3 करोड़ रुपये का दान इसलिए दिया है कि स्काटलैण्ड के चारों विश्वविद्यालयों में किसी स्काच छात्र को कुछ भी व्यय न देना पड़े। बिना व्यय के वह पढ़ सके। वास्तव में यदि ऐसी जाति के लोग उन्नति न कर सकेंगे तो क्या हम लोग कर सकेंगे? आज तक भारत के जिन-जिन दानवीरों ने शिक्षा के लिए दान दिया है उनका संक्षेपतः वर्णन कर हम अपने देशवासी धनाढ्य लोगों से सविनय यही प्रार्थना करेंगे कि वे इस ओर ध्यान दें और अपने को सुफल करें।

मद्रास में आजकल पंचयप्पा नाम का एक प्रसिद्ध कालेज वर्तमान है। जिन महाशय के नाम वह कालेज चल रहा है उनका नाम पंचयप्पा मुदालियर है। इनका जन्म 1754 ई० में हुआ। जन्म होने के कुछ मास पहले ही इनके पिता का परलोकवास हो गया था। उन दिनों में विलायती सौदागर तथा कम्पनी के नौकर व्यवसाय करके धनोपार्जन करते थे। पर देश-भाषाओं के न जानने से बड़ा कष्ट होता था और सदा द्विभाषियों की आवश्यकता रहती थी। मुदालियर महाशय ने कुछ शिक्षा पाकर यह काम प्रारम्भ किया और ईश्वरेच्छा से इसमें प्रचुर धन संगृहीत किया। मरते समय ये अपनी समस्त सम्पत्ति देव सेवा, दीन-दुखियों की सहायता और संस्कृत शिक्षा के लिए दे गये। कई वर्ष तक इनकी इच्छा के अनुसार कार्य न होने से सब मिला कर साढ़े सात लाख रुपया जमा हो गया। अन्त में सन् 1841 में सुप्रीम कोर्ट की सम्मति से एक कालेज स्थापित हो गया जो अब तक मुदालियर महाशय की अक्षय कीर्ति की ध्वजा फहरा रहा है। जमसेट जी जीजी भाई पारसियों में प्रसिद्ध दानी हो गये हैं। इनका जन्म सन् 1783 से हुआ था। छोटी ही अवस्था में इनके माता-पिता परलोक सिधारे। अतएव उन्हें पढ़ाने-लिखाने का भार उनके श्वसुर ने अपने ऊपर लिया। सन् 1799 में एक जहाज पर नौकर होकर चीन गये। उस समय इनकी पूँजी केवल 120 रु० की थी। जब ये बम्बई लौट कर आये तो 35000 रु० लगा कर इन्होंने व्यापार करना प्रारम्भ किया। इनके दान की प्रशंसा है। इन्होंने 25 लाख रुपये के लगभग दान दिया। इसी उपलक्ष में गवर्नमेण्ट ने उन्हें नाइट की उपाधि दी। इन्होंने कई स्कूल तथा अनाथालय आदि स्थापित किये जो अब तक वर्त्तमान हैं।

पण्डित गंगाधर शास्त्री पटवर्द्धन बरौदा के रहने वाले हैं। जिस समय मरहठों ने उत्तरी भारत को विजय किया तो उन्होंने मथुरा को अपनी राजधानी माना। उसी समय पटवर्द्धन महाशय भी मथुरा में आकर बसे। यहाँ उन्होंने एक पाठशाला और आगन्तुकों के लिए एक धर्मशाला खोली। इन दोनों कार्यों की सहायता के लिए महाराज सिन्धिया ने उन्हें पाँच गाँव दिये। जब ब्रिटिश सिंह ने उत्तरी भारत मरहठों से जीता और मथुरा भी उनके हाथ आया, उस समय ये गाँव उनसे नहीं लिये गये वरन् उन पर बहुत थोड़ा-सा कर लगाया गया। पटवर्द्धन महाशय ने विवाह नहीं किया था इसलिये अपनी निज की सम्पत्ति न थी। पर कई भतीजे थे जिन्हें अनुपयुक्त पा मरने के पहले अपनी समस्त सम्पत्ति ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सौंप दी कि जिसमें उसकी आय से धर्मशाला और संस्कृत पढ़ाने का काम निरन्तर चला जाय। उनकी मृत्यु सन् 1818 में हुई। उस समय डाइरेक्टर्स ने

यह निश्चय किया कि दो गाँव की आमदनी तो धर्मशाला में लगायी जाय और शेष आय से एक कालेज चलाया जाय। जिस समय सन् 1823 में आगरा कालेज स्थापित हुआ तो आय में का 178000 रु० एकत्रित हो गया था। इसके प्रामेसरी नोट ले लिये गये और उनकी आय भी कालेज को दी जाने लगी। अब प्रतिवर्ष 2200 रु० आगरा कालेज को मिलता है।

प्रसन्नकुमार ठाकुर का नाम बंगाल में बहुत प्रसिद्ध है। इन्होंने टागोर ला लेक्चर्स स्थापित कराये और उसके लिए 3 लाख रुपया दान दिया। हाजी मुहम्मद मोहसिन का दान भी प्रसिद्ध है। इन्हीं की सहायता से हुगली कालेज प्रतिष्ठित हुआ और इन्हीं के दान से आज दिन बंगाल में सहस्त्रों मुसलमान उनके स्कूलों और कालेजों में कम फीस देकर पढ़ सकते हैं। इनके दान का परिमाण 9 लाख के लगभग है।

सर मङ्गलदास नाथ भाई का नाम बम्बई के सब पठित लोग जानते हैं। शिक्षा के लिए जो कुछ इन्होंने दान किया, उससे इनकी बड़ी कीर्ति हुई। सन् 1863 में इन्होंने 200000 रु० बम्बई विश्वविद्यालय को दिया जिससे एक फिलोशिप स्थापित की गयी। इनकी मृत्यु के पीछे इनके पुत्रों ने साढ़े तीन लाख और विश्वविद्यालय को दिया जिसकी आय से बालक शिल्प शिक्षा के लिए इङ्गलैण्ड भेजे जाते हैं और उन्हें वहाँ तीन वर्षपर्यन्त रहना पड़ता है।

प्रयाग की कायस्थ पाठशाला के स्थापित करने वाले मुंशी कालीप्रसाद के नाम से प्रायः सब लोग परिचित हैं, इन्होंने अपनी समस्त सम्पत्ति जो लगभग 5 लाख रुपये की है इस विद्यालय के लिए दे दी है।

सरदार दयाल सिंह और श्रीयुत् जमसेठ जी नौशेरवाँ जी ताता के विषय में गत वर्ष लिखा जा चुका है। इन महादानियों के दान से भारतवासियों ने अभी लाभ नहीं उठाया है पर आशा है कि इसके प्रबन्ध सम्बन्धी सब बातें शीघ्र ही निश्चित हो जायँ।

पढ़े-लिखे लोगों में से कदाचित् ही कोई ऐसा निर्बोध निकलेगा जिसने सेठ प्रेमचन्द का नाम न सुना हो। ये महाशय अब तक जीवित हैं। इन्होंने 2 लाख रुपया कलकत्ता विश्वविद्यालय को दान दिया था जिसकी वार्षिक आय 1400 रु० होती है। इससे परीक्षोत्तीर्ण बालकों में से सर्वश्रेष्ठ को 5 वर्षपर्यन्त एक वृत्ति दी जाती है जिसकी सहायता से इतने दिनों तक पठन-पाठन में ही अपना समय बिताता है।

इन दानियों के अतिरिक्त बंगाल के बाबू भूदेव मुखोपाध्याय का दान, जो संस्कृति की उन्नति के लिए हुआ है, उल्लेख करने योग्य है।

कलकत्ते के बाबू गुरु प्रसन्न घोष ने 4 लाख रुपये का दान विश्वविद्यालय को दिया था जिससे शिल्प शिक्षा के लिए वृत्तियाँ स्थापित की गयीं।

यहाँ पर हमने विद्या के लिए केवल मुख्य-मुख्य दान करने वालों का संक्षेप्त: वर्णन किया है। इन्हीं वीरों के धर्म से अब भी देश का मस्तक कभी-कभी ऊँचा हो जाता है। पर जितने धन की हमें उच्च और उत्कृष्ट शिक्षा के लिए आवश्यकता है उसकी पूर्ति हमारे धनीमानी उदार प्रकृति के लोगों पर निर्भर है। यदि उन्हें अपने देश से किञ्चित् भी हित है तो उन्हें उचित है कि उपयुक्त दान के दानी कहा इहलोक और परलोक दोनों में अमर सुख के भागी हों।

(1901)

———

नीति शिक्षा[1]

युवा पुरुषों का सबसे पहला धर्म और कर्म यह है कि वे बड़े लोगों की आज्ञा मानें अर्थात् जिस काम के करने को वे रोकें उसे न करें और जिसके करने की वे आज्ञा दें उसे मन लगा कर पूरा करें। आजकल स्वतंत्रता की चर्चा बहुत-कुछ सुनायी देती है और निस्संदेह यह बहुत अच्छी वस्तु है और इसी कारण इसे सब लोग चाहते और इसका आदर करते हैं। परन्तु यह आवश्यक है कि हम लोग यह भली-भाँति से समझ जावें कि स्वतंत्रता किसे कहते हैं। स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं है कि बिना बड़ों की बातों पर ध्यान दिये जो मन में आया कर बैठे। इसका अर्थ केवल यही है कि प्रत्येक मनुष्य स्वाभाविक कामों के करने में समाज के बनावटी वा दुःखदायी बंधनों से बचा रहे। ऐसी स्वतंत्रता निस्संदेह बहुत अच्छी वस्तु है परन्तु इससे मनुष्य का कुछ अधिक लाभ नहीं है। यह मनुष्य को काम करने का स्थान दे देती है पर यह नहीं कहती कि क्या काम करना होगा वा कैसे करना होगा। बस इसे छोड़कर संसार में जितने काम हैं वे सब स्वतंत्रता के बदले बंधनों से बँधे रहते हैं। नियम के अनुसार काम करने से स्वतंत्रता दूर भागती है और बंधन आ जकड़ते हैं और नियमों के अनुसार कामों का करना ही उनको उचित रीति से करना कहा जाता है। ये नियम जिन्हें मानना सब का धर्म है ऐसे नहीं होते जिन्हें प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार मान ले परन्तु ये नियम ऐसे होते हैं जिन्हें दूसरे लोगों ने समाज के हित अर्थात् सब लोगों के सुख, भलाई और उपकार के लिए मान लिया है। इसलिए यह आवश्यक है कि जो मनुष्य किसी समाज की भलाई चाहता है और जिसकी इच्छा यह है कि समाज बना रहे उसका सबसे पहला धर्म यह है कि वह आज्ञा का मानना सीखे। जगत् में जितने प्रकार के कार्य हैं सब में इस धर्म के अनेक उदाहरण मिलेंगे। यहाँ तक कि कोई मनुष्य चाहे किसी प्रकार से अपना निर्वाह करता और समय काटता हो उसे भी इस धर्म का पालन करना पड़ता है। मनुष्य को केवल अपने बारे में स्वतंत्रता है और इस स्वतंत्रता को छीन लेना मानो उसे मनुष्य ही नहीं मानना है। कोई मनुष्य जैसा भोजन चाहे करे, जिस प्रकार से चाहे नहाये और जैसे चाहे सोये परंतु वह अपनी इच्छा के अनुसार सब लोगों से

1. ब्लयाकी कृत सेल्फकल्चर के आश्रय पर बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० लिखित।

बर्ताव नहीं कर सकता अर्थात् जिसको चाहे वह छीन कर नहीं ले सकता है। ऐसी अवस्था में उसे समाज के नियमों को मानना ही पड़ेगा क्योंकि बिना ऐसा किये समाज बना ही नहीं रह सकता। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि उन नियमों और बंधनों को मानें जिनका मानना समाज के सब लोगों के लिए आवश्यक है। जो मनुष्य समाज में सबसे बड़ा माना जाता है और जिसका आदर सब लोग सबसे अधिक करते हैं उसे समाज के नियमों को सबसे अधिक मानना भी पड़ता है। मनुष्य के शरीर में सिर सबसे श्रेष्ठ वस्तु है। उसको भी शरीर के उन साधारण नियमों को मानना पड़ता है जिन्हें शरीर के दूसरे अंग मानते हैं। जैसे अधिक परिश्रम करने पर नींद का आना मनुष्य के शरीर का साधारण नियम है और इसे सिर को भी उतना ही मानना पड़ता है जितना पैर मानता है। नियम के विरुद्ध मनमाना काम कर बैठना एक दरवाजे की दरार के समान है जिसको यदि ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया जाय तो काल पाकर वह एक बड़ी-सी बिल हो जायगी। ऐसे ही समाज के नियमों के विरुद्ध किसी कार्य को करने देना मानो समाज को नष्ट करना है। बड़े-बड़े वीर पुरुषों और सेना के नायकों में इस बात ही की बड़ी प्रशंसा की जाती है कि वे आज्ञा का देना और मानना दोनों जानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि आज्ञा मानने और आज्ञा देने में बड़ा भेद है—एक-दूसरे से विरुद्ध है पर सच बात तो यह है कि एक के साधने से दूसरा आता है, क्योंकि वह मनुष्य जिसे जन्म भर केवल आज्ञा देने की बान पड़ गयी है और जिसने आज्ञा-पालन करना सीखा ही नहीं. वह यह नहीं जान सकता कि आज्ञा की सीमा कहाँ तक है। युवा पुरुषों को इस आज्ञापालन के गुण को बड़े ध्यान से सीखना चाहिए क्योंकि छोटी-ही अवस्था में इसकी अधिक शोभा रहती है। बालकों को सब कामों को केवल इसीलिए करना चाहिए क्योंकि अपने से बड़े लोग उसके करने की आज्ञा देते हैं। स्वामी अपने सेवकों से और किसी बात से इतना प्रसन्न नहीं होता जितना इस बात से कि वे उनकी आज्ञा के अनुसार सब काम को ठीक-ठीक समय पर कर देते हैं और इसमें कुछ आश्चर्य नही है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के अपना काम ठीक समय पर सचाई से करने से ही सारा समाज आनन्द और सुख चैन से बना रहता है। आज्ञापालन न करने से जितनी हानि होती है उसकी पूर्ति पंडिताई वा बुद्धिमानी से नहीं हो सकती। घड़ी के ठीक चलने से समय का पता लगता है, यदि घड़ी ठीक न चले तो कोई भी ठीक समय नही जान सकता। इसलिए घड़ी के ठीक चलने पर समय का पता लग सकता है। ऐसे ही जिस मनुष्य के लिए तुम काम करते हो उसे यदि तुम ठीक समय पर

पूरा न कर दोगे तो तुम उसे ठीक न चलने वाली घड़ी के समान धोखा देते हो। किसी मनुष्य के लिए इससे बढ़ कर प्रशंसा नहीं हो सकती कि लोग उसे कहें कि यह मनुष्य सदा उस काम को नियम से करता है, जिसके करने का भार वह अपने ऊपर लेता है और जो सदा उसी समय पर पहुँचता है जब उसके आने की आशा की जाती है।

आलस्य

युवा पुरुषों के लिए इससे अच्छा कोई दूसरा उपदेश नहीं है कि "कभी आलस्य न करो।" यह एक ऐसा उपदेश है जिसके लिए इच्छा को दृढ़ करने की अधिक आवश्यकता नहीं होती। लोगों को इस बात का ध्यान बालकपन ही से रखना चाहिए कि समय नष्ट न जाय और यह तभी हो सकता है जब सब काम नियम से और उचित समय पर होंगे। जो युवा पुरुष नित्य किसी काम में कुछ समय लगाता है वह कभी चूक नहीं सकता। इस बात का निर्णय करना कि किस कार्य में कितना समय देना चाहिए उस कार्य पर और उसके करने वाले पर निर्भर है। आवश्यक केवल इतना ही है कि चाहे कितना ही थोड़ा समय किसी कार्य में दिया जाय पर वह बराबर वैसा ही हुआ करे, उसमें किसी प्रकार की बाधा न पड़नी चाहिए। मान लिया जाय कि एक काम के लिए एक घण्टे का समय ही प्रतिदिन लगाया जा सकता है। पहले पहल तो यह बहुत थोड़ा मालूम पड़ेगा परंतु वर्ष के अंत में इसका फल अधिक देख पड़ेगा। जैसे एक छोटा-सा बीज देखने में कितनी छोटी वस्तु है पर उसे बो देने से और समय पर पानी देने से वह एक बड़ा-सा पेड़ हो जाता है और उसमें फल-फूल लग जाते हैं। एक उपाय को मन में स्थिर करके उसी के अनुसार प्रतिदिन नियम के साथ काम करने ही से केवल वह काम पूरा हो सकता है। किसी काम के करने में एक साथ ही जल्दी करने लगना और फिर उसे छोड़कर दूसरे काम में लग जाना ऐसा ही व्यर्थ और निष्फल है जैसा आलस्य का करना है। एक आलसी मनुष्य उस घर वाले के समान है जो अपना घर चोरों के लिए खुला छोड़ देता है। वह पुरुष बड़ा ही भाग्यवान् है जो कहता है कि मुझे व्यर्थ कामों के लिए छुट्टी नहीं है, मैं बिना किसी आवश्यक काम के समय नष्ट नहीं कर सकता, प्रयोजन बिना मुझे बक-बक अच्छी नहीं लगती, काम में लगे रहने से मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है, और जब मैं अपना काम पूरा कर लेता हूँ तो मैं जानता हूँ किस रीति से आराम करके फिर काम में लग जाना होता है। ऐसे ही मनुष्य उन्नति कर सकते हैं। आलस्य के दूर करने का उपाय बड़ा भारी यह है कि यह बात भली भाँति से

समझ ली जाय कि बिना हाथ-पैर हिलाये संसार में कोई काम नहीं हो सकता। संसार के विषय में मनुष्य जो चाहें सो कहें परंतु यह स्थान समय को व्यर्थ नष्ट करने का नहीं है। ऐसी जगह में जहाँ सब लोग काम-काज में लगे हुए हैं वहाँ आलस्य से नाश ही होगा, लाभ कभी नहीं हो सकता। किसी विद्वान् का कथन है कि जीवन थोड़ा है, गुण अनगिनत हैं, अवसर हाथ से निकल जाते हैं, परख पूरी तरह हो नहीं सकती और वस्तुओं के बारे में समझ ठीक नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को इन उपदेशों पर ध्यान रखना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह सदा सचेत बना रहेगा और अपने अमूल्य समय को आलस्य से वृथा नष्ट न करेगा।

दृढ़ता

किसी काम में दृढ़ता के साथ लगे रहने ही से मनुष्य संसार में सच्चा गौरव पा सकता और सब कामों को सफलता के साथ कर सकता है। वह मनुष्य किसी योग्य नहीं है जो अपने काम को मन लगा के दृढ़ता के साथ न करता हो। प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि वर्डसवर्थ अपनी यात्रा के वर्णन में लिखता है कि जब आकाश में मेघ दीखते और मुझे पहाड़ के ऊपर जाना होता तो मैं अपने विचार से इस कारण न पलटता कि पहाड़ के ऊपर जाने पर यदि पानी बरसने लगेगा तो मुझे कष्ट होगा पर यह सोच कर कि अपने विचार के अनुसार दृढ़ता के साथ कार्य न करने से मेरे चरित्र में धब्बा लगेगा, मैं आँधी-पानी की कुछ भी परवाह न करता और पहाड़ पर चला जाता। यह कैसी बुद्धिमानी का विचार है। हम ऐसे संसार में नहीं रहते जहाँ मनुष्य जरा-जरा-सी तुच्छ बातों से डर जाय। संसार में अनगिनत कठिनाइयाँ हैं जिनको दूर करके अपने काम को करने ही में बुद्धिमानी है। एक समय एक मनुष्य एक ऊँचे पहाड़ पर चढ़ने लगा और जब वह उस जगह के निकट पहुँचा जिसे वह उस पहाड़ की चोटी समझे हुए था और जहाँ तक जाने का उसका विचार था तो उसे मालूम हुआ कि असल चोटी अभी दो मील ऊपर है और आगे का मार्ग बड़ा ऊँचा-नीचा और बिगड़ा हुआ है, जिस पर थक जाने के कारण वह कठिनता से चल सकता था, पर यह कोई ऐसी बात न थी जिससे वह पहाड़ की चोटी तक न जा सके। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि पहाड़ की चोटी पर कोहरा गिर रहा था और सूर्य अस्त होने में केवल एक घण्टा बाकी था। यह देखकर वह जल्दी से नीचे उतर आया पर देखो, दूसरे दिन वह क्या करता है। सबेरा होते ही वह पहाड़ पर चढ़ने लगा और अन्त में उसकी असल चोटी पर जा बैठा। ऐसे ही मनुष्य जिस काम को अपने हाथ में लेते हैं उसे पूरा करके छोड़ते हैं। कभी किसी कठिनाई को देखकर हिम्मत न छोड़ो और

विशेषकर जब तुमने अभी उस काम को आरम्भ ही नहीं किया है। एक कहावत है कि आरम्भ में सभी काम कठिन होते हैं और फिर जो काम जितना अच्छा होगा उसका करना भी उतना ही कठिन होगा और अच्छे काम ही करने योग्य होते हैं। इस ससार में जहाँ परिश्रम प्रधान चीज है, दृढ़ और पक्का मन ही कामों को कर सकता है। वह मनुष्य ससार में कभी नहीं सुखी हो सकता है जो पासे को इसलिए पटक मारता है कि पहली बेर फेंकते ही वह क्यों नहीं जीत गया।

साहस

सबसे पहली बात जो युवा पुरुषों को अपने मन में लिख लेनी चाहिये वह यह है कि साहस ही एक ऐसी वस्तु है जिससे मनुष्य शोभित होता है और यह गुण हिम्मत बाँधने और साहस करने ही से प्राप्त हो सकता है। यदि तुम यह समझते हो कि इस विषय में तुम्हें अधिक सहायता पुस्तक, प्रमाण, विचार और विवाद से मिलेगी तो तुम्हारी भूल है। पुस्तकें और व्याख्यान तुम्हें उत्साहित और चैतन्य कर सकते हैं और प्रारम्भ में तुम्हें साइनबोर्डों के समान उचित मार्ग बता सकते हैं, परन्तु वे तुम्हें उस मार्ग पर चला नहीं सकते। इसमें तुम्हारे पैर ही तुम्हारे सहायक हो सकते हैं। किसी स्थान पर पहुँचने के लिए साइनबोर्ड कुछ हानि नही कर सकते, वे तुम्हें मार्ग बता देंगे परन्तु जितना शीघ्र तुम उनकी सहायता के बिना चलना सीख लो उतना ही अच्छा है। क्योंकि बहुत दूर न चलते-चलते ही तुम्हें रास्ते में दलदल, जंगल और कोहरा मिलेगा। ऐसी अवस्था में सोचो तो सही उस मनुष्य की क्या दशा होगी जो साइनबोर्ड के सहारे से चलता है। ऐसे ही यात्री के समान वे युवा पुरुष है जो दूसरों के सहारे पर अपना सब काम किया चाहते हैं। तुम्हें उचित है कि तुम अपने मन की दृढ़ता के सहारे से सब काम करो, नहीं तो भटके हुए पथिक के समान तुम्हें भी दूसरों का आसरा देखना पड़ेगा और यदि तुम्हारा सहायक तुम्हारे ही समान भूला-भटका है तो सोचो तो सही तुम्हारी क्या दशा होगी। इसलिए अपनी कमर कसो और इस बात को सिद्ध करके दिखा दो कि जिस तरह चलना चलने से, कूदना कूदने से और पटा खेलना पटा खेलने से आता है वैसे ही सज्जन की भाँति रहना, जब-जब अवसर पड़े सज्जनता के साथ काम करने ही से आता है। यदि पहली बार अवसर पड़ने पर तुम चूक गये और हिम्मत बाँध कर तैयार न रहे तो दूसरी बार के लिए तुम अधिक निर्बल हो जाओगे और जो कहीं दूसरी बार तुम चूके तो समझो कि अब तुम्हारे किये

कुछ हो नहीं सकेगा और तुम दूसरे नीच लोगों के समान हो जाओगे। जो मनुष्य पौड़ना सीखता है वह यदि सदा छिछले पानी में पौड़ेगा तो अवसर पड़ने पर और गहरे पानी में ऊँची-ऊँची लहरों के उठने पर उसकी हिम्मत छूट जायगी और वह अपने प्राण न बचा सकेगा। ऐसे ही तुम अपनी हिम्मत को कभी कम न करो। केवल पाप और पुण्य के उपदेश तुम्हारे जीवन को पवित्र नहीं बना सकते, उन उपदेशों के अनुसार बर्ताव करने से तुम अच्छे हो सकते हो। जैसे यात्रा में एक के पीछे दूसरा मील का पत्थर पीछे छूटता जाता है उसी तरह अपने जीवन में यदि एक के पीछे दूसरी बुरी बातों को न छोड़ते जाओगे तो अन्त में अवसर निकल जाने पर पछताने और सिर पटकने के सिवाय और कुछ हाथ न आवेगा।

(1902)

———

कर्तव्य और सत्यता[1]

कर्तव्य वह वस्तु है जिसे करना हम लोगों का धर्म है और जिसके न करने से हम और लोगों की नजर से गिर जाते और अपने चरित्र में नीच बन जाते हैं। कर्तव्य का करना जबरदस्ती से नहीं हो सकता जब तक मन आप ही उसे न करना चाहे। कर्तव्य का आरम्भ घर से ही होता है क्योंकि यहाँ पहले लड़के का कर्तव्य माता-पिता की ओर और माता-पिता का कर्तव्य लड़कों की ओर देख पड़ता है। इसके सिवाय पति-पत्नी, स्वामी-सेवक और स्त्री-पुरुष के परस्पर कर्तव्य हैं। घर के बाहर हम मित्रों, पड़ोसियों और राजा-प्रजा के परस्पर कर्तव्य देखते हैं। इसलिए मनुष्य का जीवन कर्तव्यों से भरा पड़ा है, जिधर देखो कर्तव्य ही देख पड़ते हैं। बस इसी कर्तव्य का पूरा-पूरा पालन करना हम लोगों का परम धर्म है और इसी से हमारे चरित्र की शोभा बढ़ती है। कर्तव्य का करना न्याय पर निर्भर है और वह न्याय ऐसा है जिसे हम प्रेम के साथ करते हैं।

हम सब लोगों के मन में एक शक्ति है जो हमको बुरे कामों के करने से रोकती और अच्छे कामों की ओर हमारी प्रवृत्ति को झुकाती है। यह बहुधा देखा गया है कि जब कोई मनुष्य बुरा काम करता है तो वह बिना किसी के कहे आप ही लजाता और अपने मन में दुःखी होता है। लड़कों, तुमने देखा होगा कि जब कभी कोई किसी मिठाई को चुराकर खा लेता है तो वह मन में डरा करता और पीछे से आप-ही-आप पछताता है कि मैंने ऐसा काम क्यों किया, मुझे अपनी माँ से कहकर खाना था। इसी तरह एक दूसरा लड़का जो कभी चुरा कर नहीं खाता सदा प्रसन्न रहता है और उसके मन में कभी किसी तरह का डर और पछतावा नहीं होता। इसका क्या कारण है? हम सब लोगों का कर्तव्य है कि हम चोरी न करें। पर जब हम चोरी कर बैठते हैं तो हमारी आत्मा हमें कोसने लगती है। इसलिए हमारा यह धर्म है कि हमारी आत्मा जो हमें कहे, उसी के अनुसार हम करें। दृढ़ विश्वास रखो कि जब तुम्हारा मन किसी काम के करने से हिचकिचाये और दूर भागे तो कभी उस काम को न करो। तुम्हें अपना धर्म पालन करने में बहुधा कष्ट उठाना पड़ेगा पर इससे तुम अपनी हिम्मत न छोड़ो। क्या हुआ जो तुम्हारे पड़ोसी ठग-विद्या और बेईमानी से अमीर हो गये

---

1 स्माइल्स क्यारक्टर के आशय पर बाबू श्याम सुन्दर दास बी० ए० लिखित।

और तुम गरीब ही रह गये, क्या हुआ जो दूसरे लोगों ने झूठी खुशामद करके बड़ी-बड़ी नौकरी पा ली और तुम्हें कुछ न मिला और क्या हुआ जो दूसरे नीच कर्म करके सुख भोगते हैं और तुम सदा कष्ट में रहते हो। तुम अपने धर्म को कभी न छोड़ो। इससे बढ़कर संतोष और आदर तुम्हारा क्या हो सकता है कि तुम अपने धर्म का पालन कर सकते हो।

हम लोगों का जीवन सदा कार्यों में व्यग्र रहता है। हमें सदा काम करते ही बीतता है। इसलिए हम लोगों को इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि हम सदा धर्म के अनुसार काम करें, कभी उसके पथ पर से न हटें चाहे उसके करने में हमारे प्राण भी चले जायँ।

धर्म पालन करने के मार्ग में सबसे अधिक बाधा चित्त की चंचलता, उद्देश्य की अस्थिरता और मन की निर्बलता से पड़ती है। एक ओर तो आत्मा का भले और बुरे का ज्ञान और दूसरी ओर आलस्य और स्वार्थपरता रहती है। बस, मनुष्य इन्हीं दोनों के बीच में पड़ा रहता है और अन्त में यदि उसका मन पक्का है तो वह आत्मा की आज्ञा मानकर अपने धर्म का पालन करता है और यदि उसका मन कुछ काल तक दुविधा में पड़ा रहा तो स्वार्थपरता निश्चय आ घेरेगी और उसका चरित्र घृणा के योग्य हो जायगा। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि आत्मा जिस बात के करने की प्रवृत्ति दे उसे बिना अपना स्वार्थ सोचे झटपट कर डालना चाहिये। ऐसा करते-करते जब धर्म करने की बान पड़ जायगी तो फिर किसी बात का भय ही न रहेगा। इस संसार में जितने बड़े-बड़े लोग हो गये हैं, जिन्होंने संसार का उपकार किया है और उसके लिए आदर और सत्कार पाया है उन सभों ने अपने कर्तव्य को सबसे श्रेष्ठ माना है। जितने कर्म उन्होंने किये उन सभों में अपने कर्तव्य पर ध्यान दे न्याय का बर्ताव किया। जिन जातियों में यह गुण पाया जाता है वे ही उन्नति करती हैं और संसार में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। एक समय एक अंग्रेजी जहाज में, जबकि वह बीच समुद्र में था, एक छेद हो गया। उस पर बहुत-सी औरतें और मर्द थे। उसके बचाने का पूरा उद्योग किया गया पर जब कोई उपाय सफल न हुआ तो जितनी औरतें थीं सब नावों पर चढ़ा कर विदा कर दी गयीं और जितने मनुष्य बच गये उन्होंने जहाज की छत पर इकट्ठे होकर ईश्वर को धन्यवाद दिया कि वे अब तक अपना कर्तव्य-पालन कर सके और स्त्रियों की प्राण-रक्षा में सहायक हो सके। निदान इसी प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करते-करते उस जहाज में पानी

भर आया और वह डूब गया, पर वे लोग अपने स्थान पर ज्यों-के-त्यों खड़े रहे और अपने प्राण बचाने का कोई उद्योग न किया। इसका कारण यह था कि यदि वे उद्योग करते तो औरतें और बच्चे न बच सकते। इसीलिए उस जहाज पर लोगों ने अपना धर्म यही समझा कि अपने प्राण देकर स्त्री और बच्चों के प्राण बचावें। इसी के विरुद्ध फ्रांस देश के रहने वालों ने एक डूबते हुए जहाज पर से अपने प्राण बचाये और उस जहाज पर जितनी स्त्रियाँ और बच्चे थे सभों को उसी पर छोड़ दिया। इस नीच कर्म की सारे संसार में निन्दा हुई। इसी प्रकार जो लोग स्वार्थी होकर अपने कर्तव्य पर ध्यान नहीं देते वे संसार में लज्जित होते हैं और सब लोग उनसे घृणा करते हैं।

कर्तव्य-पालन से और सत्यता से बड़ा घना सम्बन्ध है और जो मनुष्य अपना कर्तव्य-पालन करता है वह अपने कामों और वचनों में सत्यता का बर्ताव रखता है। वह ठीक समय पर उचित रीति से अच्छे कामों को करता है। सत्यता ही एक ऐसी वस्तु है जिससे इस संसार में मनुष्य अपने कार्यों में सफलता पा सकता है। कोई काम झूठ बोलने से नहीं चल सकता। यदि किसी घर के सब लोग झूठ बोलने लगें तो उस घर में कोई काम न हो सकेगा और सब लोग बड़ा दुःख भोगेंगे। तो हम लोगों को अपने कार्यों में झूठ का कभी भी बर्ताव नहीं करना चाहिये। सचाई को सबसे ऊँचा स्थान देना उचित है। संसार में जितने पाप हैं झूठ उन सबसे बुरा है। झूठ की उत्पत्ति पाप, कुटिलता और हिम्मत के न रहने से होती है। बहुत-से लोग सचाई का इतना थोड़ा ध्यान रखते हैं कि अपने सेवकों को स्वयं झूठ बोलना सिखाते हैं, पर उनको इस बात पर आश्चर्य करना और क्रोधित होना न चाहिये जब नौकर उनसे अपने लिये झूठ बोलें।

बहुत-से लोग झूठ की रक्षा नीति और आवश्यकता के बहाने करते हैं। वे कहते हैं कि इस समय इस बात को प्रकाशित न करना और दूसरी बात को बनाकर कहना नीति के अनुसार और बहुत आवश्यक है। फिर बहुत-से लोग किसी बात को सच-सच तो कहते हैं पर उसे इस प्रकार से कहते हैं कि जिससे सुनने वाला यही समझे कि यह बात सच नहीं है, इसका उलटा सच होगा। इस प्रकार बातों का कहना झूठ बोलने के पाप से किसी प्रकार कम नहीं है।

संसार में बहुत-से ऐसे नीच और कुत्सित लोग होते हैं जो झूठ बोलने में भी अपनी चालाकी समझते हैं और सत्य को छिपा कर धोखा देने या झूठ बोल

कर अपने को बचा लेने में ही अपना गौरव मानते हैं। ऐसे लोग ही समाज को नष्ट करके दुःख और सन्ताप फैलाने के मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार का झूठ बोलना साफ-साफ झूठ बोलने से बड़ा ही निन्दित और कुत्सित कर्म है।

झूठ और भी कई रूपों में देख पड़ता है। चुप रहना, किसी बात को बढ़ा कर कहना, किसी बात को छिपाना, भेष बदलना, झूठ-मूठ दूसरों के साथ हाँ-में-हाँ मिलाना, प्रतिज्ञा करके पूरा न करना और सत्य को न बोलना, जब कि ऐसा न करना धर्म के विरुद्ध है, तो ये सब बातें झूठ बोलने से किसी तरह कम नहीं हैं। फिर ऐसे भी लोग होते हैं जो मुँह देखी बातें बनाते हैं और करते वही हैं जो उन्हें रुचता है। ऐसे लोग मन में समझते हैं कि कैसा सबको मूर्ख बनाकर हमने अपना काम कर लिया, पर वास्तव में वे अपने को ही मूर्ख बनाते हैं और अन्त में उनकी पोल खुल जाने पर समाज में सब लोग घृणा करते और उनसे बात करना अपना अपमान समझते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने में किसी गुण के न रहने पर गुणवान् बना चाहते हैं। जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो पर वह अपना ढंग ऐसा बनाये रहे जिससे लोग समझें कि वह कविता करना जानता है, तो यह मनुष्य झूठा है और फिर यह भेष का निर्वाह पूरी तरह न कर सकने पर दुःख सहता है और अन्त में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आँखों में झूठा और नीच गिना जाता है। जो मनुष्य सच बोलता है वह आडम्बर से दूर भागता और उसे दिखावा पसन्द नहीं है। उसे तो इसी में बड़ा सन्तोष और आनन्द होता है कि सचाई के साथ वह अपना कर्तव्य-पालन कर सकता है।

इसलिए हम सब लोगों का यह परम धर्म है कि सच बोलने को सब से ऊपर मानें और अपनी जान में कभी झूठ न बोलें, चाहे उससे कितनी अधिक हानि क्यों न होती हो। सच बोलने ही से हमारा समाज में सम्मान हो सकेगा और हम आनन्दपूर्वक अपना समय बिता सकेंगे। सच्चे को सब कोई चाहता है, झूठे से सब घृणा करते हैं। यदि हम सदा सच बोलना अपना धर्म मानेंगे तो हमें अपने कर्तव्य को पालन करने में कुछ भी कष्ट न होगा और बिना किसी परिश्रम और कष्ट के हम अपने मन में सन्तुष्ट और सुखी बने रहेंगे।

(1902)

व्यायाम

ईश्वर ने सृष्टि में स्त्री और पुरुष दोनों को एक सा बनाया है। उनके कार्यों को इस तरह से अलग-अलग निश्चय कर दिया है कि बिना दोनों के संसार में रहे यह सृष्टि ही नहीं चल सकती। जितने अङ्ग, जितनी इन्द्रियाँ ईश्वर ने मनुष्य को दी हैं उतनी स्त्रियों को भी हैं और जितने पदार्थ इस संसार में हैं उनसे स्त्री और पुरुष दोनों एक-सा लाभ उठा सकते हैं। गृहस्थी-रूपी गाड़ी के स्त्री और पुरुष दो पहिये हैं। दोनों के ठीक-ठीक बने रहने से यह गाड़ी अच्छी तरह चली जायगी। एक के भी बिगड़ जाने से दूसरा कुछ काम न कर सकेगा, गृहस्थी नष्ट हो जायगी। इसलिए यह आवश्यक है कि स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर गृहस्थी को चलावें और यह तभी हो सकता है जब दोनों आपस में किसी प्रकार का भेद न समझें। एक दूसरे के लाभ और उपकार की ओर सदा ध्यान रखें और सदा उसकी भलाई में लगे रहें। यह समझना बड़ी भूल है कि स्त्री, मनुष्य से सब प्रकार न्यून है। दोनों बराबर हैं और दोनों का इस बात को समझ कर उसी के अनुसार बर्ताव करना एक-दूसरे के आनन्द का कारण होगा।

इस जीवन को सुख से बिताने के लिए स्वास्थ्य बड़ी आवश्यक चीज है। जिसका स्वास्थ्य ठीक नहीं है, जो सदा रोगी बना रहता है अथवा जो इतना कमजोर है कि किसी काम को देखते ही उसे ज्वर आ जाता है, वह जीता हुआ भी मरे के समान है।

जीवन की यदि हम पूरी-पूरी जाँच करें तो यह प्रकट होता है कि प्रत्येक जीव की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—जन्म, वृद्धि, विकास, क्षय और मृत्यु। ये ही मनुष्य के जीवन-रूपी नाटक के पांच अंक हैं।

संसार में प्रत्येक जीव का जन्म होता है और समय पाकर उसका शरीर धीरे-धीरे बढ़ता जाता है, उसके शरीर की वृद्धि होती है। यह प्रकृति का नियम है कि जो जीव उत्पन्न होता है उसके शरीर की वृद्धि भी अवश्य होती है। परन्तु उसका विकास निरन्तर होते रहना उस शरीर और उस जीव पर बहुत-कुछ निर्भर रहता है, यद्यपि इस कार्य में प्रकृति उसकी सहायता अवश्य करती है। छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं में यह प्राय: देखने में आता है कि वे अधिक चंचल

होते हैं, वे एक स्थान या एक अवस्था में बहुत काल तक स्थिर बैठे नहीं रहते। उधम मचाना, नीचे-ऊपर करना, सदा दौड़ते रहना मानो उनका स्वभाव ही होता है। यह सब प्रकृति की प्रेरणा है कि वे वैसा करते हैं। इससे उनके शरीर की वृद्धि और साथ-ही-साथ उसका विकास होता है, मानो प्रकृति उन्हें बहुत सहज में व्यायाम कराती है। जब बालक या बालिकाएँ बड़े होते हैं तब उनकी यह चंचलता जाती रहती है, उनमें वह दौड़-धूप की शक्ति नहीं रह जाती। इस प्रकार से विकास में रुकावट पड़ जाती है। इस अवस्था में यदि व्यायाम न किया जाय, यदि शरीर को शिथिल और आलसी रहने दिया जाय तो धीरे-धीरे उसका क्षय होता है और अन्त में वह नष्ट हो जाता है अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है। इसलिए यह स्पष्ट है कि जिन नियमों से क्षय में रुकावट पड़ जाय और मृत्यु टल जाय उसका पालन करना बड़ा लाभकारी है। इस कार्य को सिद्ध करने वाला केवल व्यायाम है।

मनुष्य का शरीर ऐसा बना है कि उसके लिए साँस का लेना, उसके शरीर में रक्त का उचित प्रवाह बना रहना और शरीर का गरम रहना परम आवश्यक है। इनसे शरीर पुष्ट होता है, उसकी शक्ति बढ़ती है और वह अधिक काल तक जीवित रह सकता है, अर्थात् इन उपायों को ठीक-ठीक करने से मनुष्य के शरीर की वृद्धि और उसका विकास पूरी तरह पर होता है, क्षय में रुकावट पड़ जाती है और मृत्यु बहुत दिनों तक टल जाती है। अब इसका क्या उपाय है कि वे तीनों क्रियाएँ भली-भाँति हों।

मनुष्य का शरीर तभी तक जीवित है जब तक उसमें लहू वर्तमान है। यदि शरीर में से लहू निकल जाय, यदि वह कम हो जाय या वह शुद्ध न रहे तो शरीर किसी योग्य नहीं रह जाता, वह शीघ्र ही मर जाता है।

मनुष्य जो कुछ खाता है वह पेट में जाकर पचता है और उससे रक्त-मज्जा आदि बनते हैं जिनसे शरीर की पुष्टि होती है। इसलिये भोजन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये जिसमें वह शीघ्र पच जाय और शुद्ध रक्त आदि बने। वह रक्त शरीर में बराबर संचालित रहता है और उससे शरीर में गरमी बनी रहती है। रक्त जितना भली-भाँति नसों में बहेगा उतना वह शरीर बलवान होगा। हम साँस लेते हैं तो अच्छी हवा फेफड़ों के द्वारा भीतर जाकर रक्त को शुद्ध करती है और श्वास द्वारा खराब हवा को बाहर निकाल देती है।

इन सब क्रियाओं का साधन व्यायाम करने से बहुत सहज में हो सकता

है ! यदि हम अपनी बाँह को इस प्रकार से हिलावें कि जिससे हमारा हाथ बेर-बेर कन्धे के निकट आवे तो हम देखेंगे कि हमारी बाँह के पुट्ठों में सिकुड़न उत्पन्न होती है । इससे उस स्थान की नसों में रगड़ पैदा होती है तथा बड़ी-बडी नसों और रक्त पात्रों पर दबाव पड़ता है, जिससे शरीर में रक्त का प्रवाह पूरी तरह पर होने लगता है और सारे शरीर में एक प्रकार की गति उत्पन्न हो जाती है । साथ ही शरीर में गरमी उत्पन्न होती है और श्वास के अधिक लेने से रक्त शुद्ध हो जाता है । इस प्रकार व्यायाम के करने से उन सब क्रियाओं को सहायता पहुँचती है जिनसे शरीर पुष्ट होकर बहुत दिनों तक जीवित रह सकता है ।

शरीर में रक्त के अधिक प्रवाह से पुट्ठों की शक्ति बढ़ती है, कार्य करने से जो शरीर को हानि पहुँचती है उसकी पूर्ति होती है और ऐसे पदार्थों की अधिकता होती है जो शरीर की वृद्धि और विकास में सहायक होते हैं ।

मन शरीर का राजा कहा गया है । बिना मन की आज्ञा के शरीर की एक नस भी नहीं हिल सकती । तुम्हारा मन चाहता है कि तुम उठो, उसी समय शरीर उठने का उद्योग करता है और सारे शरीर की नसें और पुट्ठे उसकी सहायता के लिये तैयार हो जाते हैं । तुम्हारे मुँह पर एक मक्खी बैठी है, वह तुम्हें कष्ट देती है, तुम्हारा मन चाहता है कि वह हट जाय, बस हाथ उस इच्छा को पूरा करने के लिए तैयार हो जाता है । परन्तु यदि शरीर में शक्ति ही उस आज्ञा के मानने की, उस इच्छा के पूरा करने की न हो तो मन का राज्य कितने दिनों तक चल सकता है । अवश्य राज्य नष्ट हो जायगा । साथ ही राजा और प्रजा दोनों का नाश हो जायगा । इसलिए सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि राजा की आज्ञा मानी जाय और वह भी ऐसे राजा की जो अपने लिए कुछ भी नहीं करता, जब कभी किसी आज्ञा को देता या किसी इच्छा को प्रकट करता है तो वह उस राज्य की भलाई के लिए ही होती है ।

अहा ! वह राज्य कैसा अच्छा होगा जहाँ के प्रत्येक कर्मचारी अपने-अपने कार्य पर सदा नियुक्त रहते हैं, सदा एक-दूसरे की सहायता करते हैं और अपने स्वार्थ को किंचित् भी ध्यान नहीं देते, केवल अपने राज्य की भलाई में रात-दिन लगे रहते हैं । देखो, आँखों ने एक भयानक शत्रु को देखा, कानों ने उसके चलने की आवाज सुनी, झट दोनों ने मन को सूचना दी, मन ने उसी समय हाथों को आज्ञा दी कि शरीर की रक्षा करो और पैरों को कहा कि शरीर को इस भय के स्थान से ले जाओ । बस देखते-ही-देखते उस शत्रु से वह शरीर दूर चला जाता

हैं और बच जाता है। यदि आँख कहे कि मैं तो तभी देखूंगी जब मुझ पर कोई आपत्ति आवेगी, पैर कहे मैं तभी चलूंगा जब मैं समझूंगा कि न चलने से मुझे हानि होगी, तो इस विद्रोह का परिणाम यही होगा कि शरीर का नाश हो जाय। ईश्वर ने हमारे इस शरीर से ही हमें यह शिक्षा दी है कि जिस प्रकार हमारे शरीर के सब अवयव निस्वार्थ होकर शरीर की भलाई की ओर ध्यान देते हैं उसी प्रकार हमें भी अपने स्वार्थ को छोड़कर अपने देश की भलाई की ओर ध्यान देना चाहिए।

हम कह चुके हैं कि मन शरीर का राजा है और उसकी आज्ञा का पालन करना शरीर की रक्षा और भलाई के लिए बड़ा आवश्यक है। पर यदि शरीर के अवयवों, शरीर के अंगों, उसकी इन्द्रियों में उस आज्ञा के मानने की शक्ति ही न हो तो क्या किया जाय। मन कहता है कि हाथ मुँह की रक्षा करे पर हाथ तो हिल ही नहीं सकता, मुँह की रक्षा कैसे की जाय। जब मनुष्य बीमार पड़ जाता है तो उसकी शक्ति कम हो जाती है, वह कमजोर हो जाता है, उस अवस्था में शरीर के अंग न मन की आज्ञाओं को मान सकते है और न उसकी इच्छाओं को पूरा कर सकते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि वे सदा उसकी आज्ञा को मानने के लिए उद्यत रहें और यह व्यायाम करने से सहज में हो सकता है।

व्यायाम से शारीरिक लाभ के अतिरिक्त मानसिक लाभ भी होते हैं। व्यायाम करते समय चित्त को एकाग्र, विचार को दृढ़ और स्मरण शक्ति को सचेत रखना पड़ता है और सब लोग जानते हैं कि इन बातों के ठीक होने से मस्तिष्क शक्ति कैसी बढ़ती है। पढ़ने-लिखने के लिए, विद्याभ्यास के लिए भी ये शक्तियाँ परम आवश्यक हैं। जो बालक या बालिका अपने मन को एकाग्र नहीं रख सकते, जो अपने विचारों को काम में नहीं ला सकते, जिनकी स्मरण शक्ति अच्छी नहीं है, वे कदापि विद्याभ्यास में अच्छी उन्नति नहीं कर सकते। इसलिए व्यायाम विद्याभ्यास के लिए भी लाभकारी है।

जब प्राणीमात्र के लिए व्यायाम का करना आवश्यक और लाभकारी है तो इस बात को कहना कि स्त्रियों को भी व्यायाम करना चाहिए व्यर्थ-सा जान पड़ता है। हम पहले कह चुके हैं कि स्त्रियों को भी वे ही अंग और वे ही इन्द्रियाँ हैं जो मनुष्य को हैं, फिर इस बात पर कुछ विशेष कहने की आवश्यकता ही क्या है कि स्त्रियों के लिए भी कसरत आवश्यक है। इस देश में स्त्रियों को घर-गृहस्थी का बहुत-कुछ काम करना पड़ता है। सच तो यह है कि गृहस्थी का सारा बोझा

उन्हीं के सिर पर रहता हैं। यदि वे गृहस्थी की इतनी देखभाल न करतीं तो पहले तो मनुष्यों के लिए गृहस्थी का सँभालना कठिन हो जाता और यदि किसी भाँति वे उसका प्रबन्ध कर भी सकते तो उसमें व्यय अधिक पड़ता। इस अवस्था में यह बहुत ही आवश्यक है कि स्त्रियों का शरीर पुष्ट हो, ऐसा न हो कि वे अपने ही बच्चे को गोदी में न ले सकें।

हमारे यह सब लिखने का यह मतलब नहीं है कि स्त्रियाँ अपना सारा समय कसरत में ही बितावें, अपना सारा कर्त्तव्य केवल कसरत ही करना समझें। नहीं, कदापि नहीं, हमारे कहने का मतलब यही है कि वे साधारण कसरत करें जिससे उनका शरीर पुष्ट और कार्यक्षम बना रहे।

कुछ लोग कह सकते हैं कि स्त्रियों को घर का काम इतना करना पड़ता है कि वे पूरी-पूरी थक जाती हैं, फिर उनके लिए कसरत आवश्यक नहीं है। यह ठीक नहीं है। इसे कसरत नहीं कह सकते। इसका नाम परिश्रम है। परिश्रम से शरीर थक जाता है और इससे वह लाभ नहीं हो सकता जो नियमपूर्वक कसरत करने से होता है। कसरत से सब अंगों की पुष्टि होती है।

यूरोप आदि देशों में स्त्रियाँ टेनिस आदि खेलकर कसरत के अभाव की पूर्ति कर लेती हैं पर हमारे देश की रहन, सहन, चाल, व्यवहार ऐसी है कि हम ऐसी कसरतों के प्रचार की सम्भावना नहीं देखते और न उनका होना ही उचित जान पड़ता है।

हमारे भारतवर्ष में अब बालिकाओं की शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान हुआ है और धीरे-धीरे लड़कियों के स्कूल खुलने लगे हैं। इन स्कूलों में ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि खेल के साथ-ही-साथ कसरत भी हो जाय। डम्बल की कसरतों में कुछ-कुछ परिवर्तन करने से वे बालिकाओं के लिए परम उपयोगी हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त गेंद, लकड़ी के गोलचक्कर, झाँझ आदि के साथ उत्तम-से-उत्तम कसरत और मन बहलाने वाले खेलों का प्रचार हो सकता है, यह लेख का उद्देश्य इन कसरतों के नियम आदि देने का नहीं है, यह तो एक स्वतंत्र पुस्तक में भली भाँति दिया जा सकता है।

कसरत करने में निम्नलिखित बातों का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए—

(1) जिस स्थान में कसरत की जाय वह साफ और खुला हुआ हो जिसमें अच्छी शुद्ध हवा वहाँ अच्छी तरह आ-जा सके। पहले लिखा जा चुका है कि कसरत करते समय अधिक श्वास लेने की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए

साँस लेने के लिए शुद्ध हवा ही लाभकारी हो सकती है, नहीं तो भलाई के बदले बुराई पैदा होगी।

(2) कसरत करते समय कपड़ा बहुत कसा न रहा चाहिए। आजकल ऐसी चाल भी चल पड़ी है कि कपड़ा ऐसा पहिना जाय जो शरीर से चिपका रहे। इससे चाहे और कोई लाभ हो पर कसरत के समय तो इससे बड़ी हानि होती है। कपड़ा कसा रहने से शरीर के अवयवों के फैलाव में रुकावट पड़ती है। कसरत का मुख्य उद्देश्य शरीर का विकास है।

इन दो बातों का ध्यान रखने से कसरत से पूरा-पूरा लाभ हो सकता है।

(1906)

———

जन्तुओं की सृष्टि

(1)

इस संसार की भी क्या ही विचित्र सृष्टि है। जिस ओर देखिये कुछ-न-कुछ विचित्रता ही देख पड़ती है। मानवी सृष्टि की ओर ध्यान देने से भिन्न आकृति, भिन्न रूप, भिन्न स्वभाव, भिन्न विचार, यहाँ तककि सब बातों में भिन्नता ही दृष्टि-गोचर होती है। यह बात नहीं की समानता न हो पर भिन्नता अधिक देख पड़ती है। जन्तुओं की ओर ध्यान देने से भी यही अवस्था विदित होती है। इन विचित्र बातों को देख हम लोगों का ध्यान अनायास उसके कर्ता की ओर जाता है और इस बात को विचार करते हुए कि इस समस्त सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई, अथवा उसका कर्ता कौन है, बुद्धि चक्कर खाने लगती है और ईश्वर की स्थिति माने बिना चित्त को संतोष नहीं होता। पुन: यदि हम लोगों का ध्यान संसार में मनुष्यों के कष्टों पर जाता है; तो हम लोगों के भाव और विचार दूसरे प्राणी ग्रहण करते हैं। अस्तु, हम लोग तो केवल मुग्ध रहकर इस विचित्र सृष्टि की ओर अचम्भे से देखते रह जाते हैं। विद्वानों ने सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में बहुत-कुछ विचार कर अपने-अपने सिद्धान्तों को प्रकट किया है। इन्हीं विद्वानों में से प्रोफेसर डार्विन महोदय का नाम भी जगत् प्रसिद्ध है। इनका सिद्धान्त मानवी सृष्टि के विषय में यह है कि मनुष्य की सृष्टि जन्तुओं से हुई है। उस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने अनेक प्रमाण दिये हैं। पर उनका कथन किसी दूसरे अवसर के लिये छोड़ हम कुछ जन्तुओं का वर्णन किया चाहते हैं। आशा है कि प्रिय पाठकगण इसे पढ़ आमोदित होंगे।

वैज्ञानिकों ने जन्तुओं के अनेक भाग और उपभाग किये हैं। पर हम उन सब विज्ञान विषयक बातों को छोड़ पहले कुछ ऐसे जन्तुओं का वर्णन करेंगे जिनकी बनावट मनुष्य से बहुत मिलती हो। यदि गोरिला जन्तु और मनुष्य के अस्थि-पञ्जर पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट देख पड़ेगा कि यदि दोनों की बनावट में कुछ विशेष भेद है तो इतना ही है कि मनुष्य के हाथ जाँघ के ऊपर ही रहते हैं परन्तु गोरिला, शिम्पैञ्जी, बेबून, वनमानुस आदि बन्दर जाति के जन्तुओं के हाथ बहुत लम्बे होते हैं। यद्यपि मनुष्यों के आजानु–बाहु होने का वृत्तान्त सुनने में आता है परन्तु ऐसे मनुष्यों के हाथ भी घुटने के नीचे नहीं पहुँचते।

गोरिला का अस्थि-पञ्जर

कथित जन्तुओं के हाथ और पैर की अँगुलियाँ भी बड़ी होती हैं। इसके व्यतिरिक्त यदि और कुछ साधारण भेद देख पड़ता है तो वह यह है कि मनुष्य का शरीर सीधा होता है, पर इन जन्तुओं का कुछ आगे की ओर झुका रहता है। यदि यहाँ पर दिये हुए दो अस्थि-पंजरों पर ध्यान दिया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

इन साधारण भेदों के व्यतिरिक्त यदि विशेष रूप से ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि इन जन्तुओं के भी उतने ही दाँत होते हैं जितने कि मनुष्यों के होते हैं, अर्थात् 32—16 नीचे और 16 ऊपर। एक विचित्रता यह भी है कि इन जन्तुओं की दुम नहीं होती। इन बातों पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाय, तो विद्वान् डार्विन के मत के साथ बहुत-कुछ पक्ष लेने की इच्छा होती है। अस्तु, इस वर्णन को यहीं समाप्त कर पाठकों को ईश्वरीय महिमा की विचित्रता अनुभव करने देते हैं, और हम इन जन्तुओं का विशेष रूप से वर्णन करते हैं।

शिम्पैञ्जी

यह जन्तु दक्षिणी अफ्रीका में पाया जाता है। पहले यह भारतवर्ष के उत्तरी खण्ड में भी रहता था, क्योंकि उस भाग में उसकी हड्डियाँ पृथ्वी के नीचे दबी हुई मिली हैं परन्तु अब अफ्रीका को छोड़कर और कहीं इसका पता नहीं लगता। इसकी आँख के ऊपर की हड्डी ऊँची, नाक चिपटी और कान चौड़े होते हैं। शरीर का रङ्ग हलका मटमैला होता है, पर कभी-कभी भूरा भी देखने में आता है। इसके शरीर पर काले धब्बे भी पड़े रहते हैं। विशेषकर ये धब्बे चेहरे, गर्दन, छाती, पेट और हाथ पर देखने में आते हैं। पीठ पर स्यात् ही कभी देखे गये हों। शरीर का बाल चिकना और सीधा होता है और सिर के बाल तो ऐसे सुन्दर दो भागों में विभक्त रहते हैं कि देखने से ऐसा भ्रम हो जाता है मानो किसी ने उन्हें वैसा बनाया हो। चेहरे के चारों ओर बाल अधिकता से जमते हैं और क्रमशः बढ़ कर दाढ़ी के समान लटकने लगते हैं। गर्दन के बाल बहुत ही लम्बे होते हैं। शरीर के और भागों के बाल लम्बे नहीं होते, पर यह एक विचित्रता देखने में आती है कि हाथों के ऊपरी भाग में तो बाल नीचे की ओर झुके रहते हैं। यही अवस्था जाँघ आदि कई स्थानों के बालों की है। ये सब बातें जिनका ऊपर कथन हुआ है साधारण शिम्पैञ्जी में पायी जाती हैं, पर कोई-कोई ऐसे भी देखने में आते हैं जिनके सिर पर बाल होते ही नहीं, और जो कई एक और बातों में साधा रण

शिम्पैञ्जिओं से भिन्न होते हैं। इन गञ्जे शिम्पैञ्जियों के कान दूसरों की अपेक्षा बड़े, नथुने फैले हुए और ओंठ मोटे होते हैं। साधारण शिम्पैञ्जी मांस नहीं खाते, पर गञ्जे उसे बड़ी रुचि से खाते हैं, यहाँ तक कि स्वयं चूहों और चिड़ियों का शिकार तक कर लेते हैं।

इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र होती है। ये प्रायः जङ्गलों में रहा करते हैं, यद्यपि कभी-कभी पहाड़ों पर भी देखने में आये हैं। ये जङ्गली फल-फूलादि से अपना पेट भरते हैं। घने जङ्गलो में रहना इन्हें विशेष प्रिय है। पेड़ पर ये बहुत कम चढ़ते हैं, केवल फलादि लेने के लिए चढ़ते हुए देखे गये हैं। जब शिम्पैञ्जी अपने चारों हाथ और पैर से चलता है तो हथेली का सहारा लेने के बदले अँगुलियों को बन्द करके उन पर हाथ टेकता है। यह दोनों पैरों पर खड़ा भी हो सकता है। खाद्य के अभाव पर ये एक स्थान को छोड़ दूसरे स्थान को चले जाते हैं और बहुधा खेती को भी हानि पहुँचाते हैं। इनका चिल्लाना बड़ा भयानक होता है। जब एक बोलता है तो उसकी देखा-देखी और भी बोलने लगते हैं और इस प्रकार से यह शब्द इतना अधिक हो जाता है कि कोसों दूर तक सुनायी पड़ता है। कुछ लोगों का यह कथन है कि ये रहने के लिए घर भी बनाते हैं और उसमें अपने बच्चों को रखते हैं। मनुष्य को देखते ही ये भाग जाते हैं, पर जब घिर जाते हैं और भागने का कोई मार्ग नहीं मिलता, तो बड़ी वीरता से आक्रमण करते हैं। डाक्टर लिविङ्गस्टीन का कथन है कि शिम्पैञ्जी तेंदुये को बड़ी सुगमता से मार डालता है। पहले वह उसके हाथों को पकड़ लेता है और तब उसके पञ्जों को दाँतों से काट कर चट पेड़ पर चढ़ जाता है। शेर शिम्पैञ्जी को बड़ी सुगमता से मार डालता है। वह उसके प्रत्येक अवयव को अलग-अलग कर डालता है पर उसके मांस को नहीं खाता। जब शिम्पैञ्जी पकड़ जाता है और पिंजड़े में बन्द रहता है, तो वह शान्त हो जाता है और मनुष्य पर स्नेह प्रकट करता है। इस अवस्था में वह बहुधा चमचे से खाने अथवा ग्लास से पानी पीने लग जाता है।

सन् 1881 ई० में लराडन के चिड़िया घर में एक शिम्पैञ्जी लाया गया था। इसका नाम लोगों ने स्याली रखा था और यह वहाँ आठ वर्ष तक जीता रहा।

डॉक्टर रोमनीज ने इस जन्तु को बहुत दिनों तक देखा था और अनेक प्रकार की परीक्षाएँ उसके सम्बन्ध में की थीं, अतएव जो कुछ उन्होंने स्याली के विषय में लिखा है उसका सारांश पाठकों के सूचनार्थ यहाँ लिखा जाता है।

डॉक्टर रोमनीज का कथन है कि स्याली की बुद्धि बड़ी ही तीव्र थी, वह समझाने से बहुत शीघ्र समझने लग जाता था। उसे कोई वस्तु दी जाती और यदि वह उसे स्वीकार करना चाहता तो एक प्रकार का शब्द करता और यदि स्वीकार करना न चाहता तो एक दूसरे प्रकार का शब्द करता। वैसे ही यदि उसे अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करनी होती तो वह एक भिन्न ही प्रकार का शब्द करता। इन सब शब्दों को उसके रखवाले भली-भाँति समझते थे। इस जन्तु का स्वभाव बड़ा क्षणभंगुर था, परन्तु वह अपने रखवालों से सदा प्रीति रखता और उनके साथ खेलने से कभी न भागता। वह कभी-कभी विभिन्न रागों में गाना प्रारम्भ करता और बहुत देर तक ऐसा ही करता रहता। सन् 1889 ई० में डॉक्टर रोमनीज ने विचार किया कि इसकी बुद्धि की और अधिक परीक्षा होनी चाहिये, इसलिए उन्होंने उसे गिनना सिखाना प्रारम्भ किया। वे उससे कभी एक, कभी दो और कभी तीन तिनके माँगते जिन्हें वह अपने पिंजरे के जँगले में से देता। इस संख्या का क्रम प्रति बेर बदल दिया जाता और जब-जब वह तिनकों की ठीक संख्या देता, तब-तब पारितोषिक में कोई फल खाने को पाता और यदि वह संख्या ठीक न होती तो वे तिनके उससे न लिये जाते। निदान इस प्रकार से थोड़े ही काल में स्याली तीन तक गिनती भली-भाँति सीख गया। इसके पीछे उसे पाँच तक गिनती सिखायी गयी और इस बात की शिक्षा दी गयी कि वह तिनकों को उठा कर अपने दाँतों के नीचे दबावे और जब कही हुई संख्या हो जावे तब उनको दे दे। इसको भी वह भली-भाँति सीख गया। जब पाँच के ऊपर सिखाना आरम्भ हुआ, तो वह प्रायः गड़बड़ा जाता, पर पाँच तक कभी न भूलता। डॉक्टर रोमनीज अनुमान करते हैं कि इसका कारण यह न था कि वह आगे सीख नहीं सकता था, वरंच इसका मुख्य कारण यही था कि वह बहुत शीघ्र घबड़ा जाता। कभी-कभी यह विचित्र बात देखी गयी कि वह एक तिनके को दुहरा लेता और उसे दो करके मानता और यदि वह न लिया जाता तो उसी के देने पर हठ दिखलाता; इस बात से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि इस जीव को गुणा करने की शक्ति है।

गिनती सिखाने के अतिरिक्त डॉक्टर रोमनीज ने इस बात की भी परीक्षा की कि वह रङ्ग पहिचान सकता है या नहीं। सफेद, काले, लाल, हरे और नीले रङ्ग के तिनके रँगे गये और दो-दो रंग के उसे एक साथ देकर कहा गया कि अमुक रङ्ग का तिनका चुने। जब कभी वह ठीक चुनता तो खाने को फल पाता। इससे कुछ काल में वह सफेद रङ्ग और अन्य रंगों का भेद तो समझ गया, पर

दूसरे रंगों का भेद न समझ सका। संसार में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो रङ्गों के केवल दो ही भेद देख सकते हैं। ये Colour-blind कहलाते हैं। स्याली की भी यही अवस्था देखने से यह अनुमान होता है कि शिम्पैञ्जी भी colour-blind होता है।

सन् 1875 ई० में एक विचित्र प्रकार का शिम्पैञ्जी लुआंगो कोस्ट से इङ्गलैण्ड में लाया गया था। यह मादा थी और इसका नाम माफुका रखा गया था।

इसके चेहरे की बनावट और शिम्पैञ्जियों से भिन्न थी। ठुढ्ढी निकली हुई, कान छोटे और नाक चौड़ी थी। माफुका के विषय में विद्वानों में बहुत-कुछ विवाद रहा कि यह किस जाति का शिम्पैञ्जी है। अन्त में अधिकांश लोगों की यही सम्मति ठहरी कि यह शिम्पैञ्जी और गोरिला जाति के जानवरों के जोड़े से उत्पन्न हुआ था।

(2)

गोरिला

शिम्पैञ्जी के समान तीन प्रकार के बन्दर और हैं जो शरीर की बनावट में मनुष्य से अधिक मिलते हैं— एक गोरिला, दूसरा वनमानुस और तीसरा गिवन कहलाता है। 'वन-मानुस' इस शब्द पर ध्यान देने से प्रकट हो जाता है कि इस जन्तु का परिचय हमारे यहाँ के लोग 'वन का मानुस या मनुष्य' कह कर देते हैं, इसी से इसकी मनुष्य से समानता प्रत्यक्ष है। अस्तु, इन तीनों प्रकार के बन्दरों में से हम पहले गोरिला का वर्णन करेंगे।

गोरिला भी अफ्रीका के उसी अंश में पाया जाता है जहाँ शिम्पैञ्जी मिलता है, अर्थात् इसका निवास-स्थान उगवई, गवन और मुनी नदियों के मुहाने के निकट है। कभी-कभी यह समुद्र के किनारे पर भी देखा गया है, पर यह विशेषकर ऐसे अवसरों पर ही हुआ है जब कि उसे घने जंगलों में खाने को नहीं मिलता और भूख के मारे जगह-जगह घूमना पड़ता है। इसमें नर की ऊँचाई 6 फीट की होती है और मादा साढ़े तीन और कभी-कभी चार फीट भी ऊँची होती है। इसका शरीर मोटा-ताजा होता है, भौं उभड़ी हुई और नीचे के ओठ कुछ आगे को निकले हुए होते हैं। इसकी गर्दन बहुत छोटी और मोटी होती है और

देखने से ऐसी जान पड़ती है कि मानो दोनों कन्धों के बीच में बैठाई हुई हो। इसके हाथ के पुट्ठे और छाती बड़ी मजबूत होती है, हाथ चौड़ा और मजबूत होता है, उँगलियाँ भद्दी और उन पर तथा कलाई पर का मांस सिकुड़ा हुआ होता है। इसका रंग प्रायः गहरा काला और बाल चमकदार होते हैं, परन्तु अवस्था के कारण बालों का रंग भी बदलता हुआ देखा गया है। किसी-किसी बहुत वृद्ध गोरिला के बाल सफेद भी हो जाते हैं। सिर पर के बाल लाल रंग के और बड़े कड़े होते हैं। जब गोरिला को क्रोध आता है तो बाल खड़े हो जाते हैं। चेहरे पर के बालों में यह विचित्रता होती है कि जड़ में तो वे भूरे रंग के होते हैं, पर सिर पर काले रंग के। गोरिला के शरीर भर में दो प्रकार के बाल होते हैं; एक तो लम्बे और कड़े और दूसरे छोटे और ऊन के समान मुलायम। यह छोटे-छोटे बच्चों के साथ घर बनाकर ऐसे घने जंगलों में रहते हैं कि जहाँ चाँदनी इतनी कम होता है कि यदि कहीं संयोग से आकाश में मेघ आ घिरें तो ऐसा जान पड़ता है मानो ग्रहण लगा हुआ है। कुछ यात्रियों का, जो गोरिला के निवास-स्थान की ओर घूमे हैं, यह कथन है कि भूमि से कई गज ऊँचे वे पेड़ों की डालियों को झुकाकर और लतापत्रादि से उसे ढँक कर एक प्रकार का गृह बना लेते हैं। इसमें बच्चे और मादा रात भर रहते हैं और नर नीचे भूमि पर बैठा हुआ पहरा देता है। पर एक स्थान पर ये तीन-चार दिन से अधिक नहीं रह सकते, क्योंकि चारे के अभाव से इन्हें प्रायः स्थान-परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ती है।

बन्दरों को छोड़ कर और सब जंगली जानवरों का यह नियम है कि वे दिन भर छिपे पड़े रहते हैं और रात को अपने-अपने शिकार की खोज में निकलते हैं। पर गोरिला दिन को अपने भोजन की चिन्ता और खोज में डोलता-फिरता है और रात को आराम करता है। यह पेड़ों पर बड़ी सुगमता से चढ़ जाता है और एक पर से दूसरे पर कूदता हुआ दूर तक निकल जाता है। 30,40 फीट की ऊँचाई से यह जमीन पर कूद पड़ता है। मनुष्य को देखकर जंगल में भाग जाता है और कभी उसका सामना नहीं करता, पर जब बेतरह घिर जाता है तो बडी वीरता दिखाता है।

सन् 1875 ई० में जर्मनी के कुछ लोगों को एक गोरिला वहाँ के रहने वालों ने पकड़ कर दिया था। जब वह इन लोगों को मिला उस समय दूर से लाने के कारण बहुत दुबला पड़ गया था पर जंगली फलों और बकरी के दूध के देने से यह पुनः मोटा-ताजा हो गया और तब बर्लिन को भेज दिया गया। मार्ग

में जहाज पर यह बाँध कर नहीं रखा गया, वरंच जहाँ चाहता घूमता रहता। जब कभी इसे भोजन दिया जाता तो बड़ी नम्रता से उसे लेता और पानी तो अपने हाथों से उठाकर पी लेता, और यदि बर्तन भारी होता और इसके हाथ से गिरने का डर होता तो वह उसे उठाता नहीं, पर मुँह झुका कर पी लेता। अपने शरीर को यह बहुत साफ रखता और जब कभी कोई चीज लग जाती तो झट उसे झाड़ डालता। जब कभी यह कोई चीज चाहता और वह न मिलती तो बड़ी चालाकी करता अर्थात् जब कभी उसे चीनी या कोई फल खाने की इच्छा होती तो घूमना और खेलना छोड़ कर उस कोठरी से दूसरी ओर जाता जिसमें वे चीजें रखी जातीं, और जब देखता कि उसे कोई नहीं देख रहा है तो चट पीछे फिरता और उस कोठरी में घुसकर उन चीजों को लेकर खाता, और यदि पकड़ जाता तो भागता, जिससे स्पष्ट है कि वह इस बात को जानता था कि वह कोई नियम-विरुद्ध काम कर रहा है।

वन मानुस

यह बोर्नियो और सुमात्रा के द्वीपों में पाया जाता है और इसकी हड्डियाँ पृथ्वी के नीचे दबी हुई उत्तरी भारतवर्ष में भी मिली हैं, जिससे यह अनुमान होता है कि किसी काल में इस जीव की कोई जाति भारतवर्ष में बसती हो तो आश्चर्य नहीं। अस्तु, कुछ लोगों का यह कथन है कि वनमानुस की जाति नहीं है। सुमात्रा और बोर्नियो के लोगों में इनकी तीन जातियाँ मानी जाती हैं और उनके लिए तीन भिन्न-भिन्न नाम हैं—अर्थात् (१) मियास पप्पन, (२) मियास रम्बीं, (३) मियास कसिर। इन तीनों में भेद इतना ही बताया जाता है कि प्रथम जाति के वन मानुस की गालों पर एक बड़ी गिल्टी-सी होती है, दूसरी जाति वालों की उससे छोटी होती है और तीसरी के कुछ नहीं होता।

यह जानवर ऊँचाई में चार फीट के लगभग होता है और जब सीधा खड़ा होता है तो इसके हाथ जमीन तक पहुँचते हैं। टाँगें छोटी और मोटी होती हैं, और इस प्रकार से मुडी हुई रहती हैं कि घुटना बाहर को निकल पड़ता है, और पैर टेढ़े हो जाते हैं। इस प्रकार की टांगों और पैरों के कारण जब यह चलता है तो पैरों के अगले भाग से अधिक सहायता लेता है। पिछला भाग तो जमीन छूता ही नहीं ऊपर को उठा रहता है। इस प्रकार से यह पृथ्वी पर जल्दी तो नहीं चल सकता, पर पेड़ों पर चढ़ने और एक पर से दूसरे पर कूद जाने में इसे बड़ी सुगमता होती है। इसका माथा लम्बा और उभड़ा हुआ और चेहरा चिपटा

होता है। नाक चपटी और धँसी हुई होती है पर लम्बाई में शिम्पैन्जी या गोरिला की नाक से बड़ी होती है। उसके ओठ लम्बे और चौड़े होते हैं और नाक और ओठ के बीच का भाग तथा ठोढ़ी की बनावट विचित्र होती है, जिससे इसके चेहरे में एक प्रकार का भद्दापन आ जाता है। यह कहा जा चुका है कि इसके हाथ लम्बे और पतले होते हैं, और अँगूठा तो इतना छोटा होता है कि और अँगुलियों की पहली पोर के समान भी लम्बा नहीं होता। इसकी अंगुलियाँ पतली और सुण्डाकार होती हैं।

वनमानुस का रंग भूरा होता है पर नाक, आँख और ओठों के चारों ओर के बालों का रंग पीला होता है। बाल लम्बे और कड़े होते हैं, पर गोरिला के समान जो बाल छोटे-छोटे शरीर पर रहते हैं वे बड़े मुलायम होते हैं। गर्दन पर के बाल बहुत लम्बे होते हैं और चेहरे पर एक प्रकार की दाढ़ी भी रहती है।

वनमानुस का निवास-स्थान इन्हीं के समान और जन्तुओं की नाईं जंगलों में होता है। वे पेड़ों में घर बनाकर रहते हैं और एक पेड़ पर से दूसरे पेड़ पर बड़ी सुगमता से चले जाते हैं। जब इन्हें एक पेड़ पर से दूसरे पेड़ पर जाना होता है तो पहले उसकी डाल को पकड़ कर अपनी ओर खींचते हैं, और जब यह देख लेते हैं कि वह डाल इनका बोझ सँभाल सकेगी तो झट उसे पकड़ कर लटक जाते हैं और इस प्रकार से बड़ी-बड़ी दूर तक चले जाते हैं। परन्तु इस जाँच-पड़ताल और सोच-विचार में इन्हें समय बहुत कम लगता है, यहाँ तक कि यदि कोई मनुष्य इन्हीं पेड़ों के नीचे से होकर एक नियत दूरी तक जाय तो वह इनसे आगे न पहुँच सकेगा। भोजन इनका वही जंगली फल-फूल और बेल-पत्ती है।

रात भर ये अपने घरों में रहते हैं और दोपहर को अपने भोजन की खोज में निकलते हैं। सन् 1830 ई० में डॉक्टर क्लार्क आवेल एक वनमानुस के बच्चे को जावा में लाये थे। जहाज पर यह खुला छोड़ दिया गया और थोड़े ही दिनों में इसने जहाजियों से घनी मित्रता कर ली और उनके साथ मस्तूलों पर चढ़ता और घण्टों खेला करता, पर कभी हारता नहीं, जब यह जावा लाया गया तो एक बड़े से इमली के पेड़ पर रखा गया। इस पर इसने डालियों और पत्तियों का एक घर अपने लिये बना लिया था। यहाँ पर यह दिन भर लेटा रहता और देखा करता कि कौन-कौन लोग उस मार्ग से होकर जा रहे हैं। यदि यह किसी के हाथ में फल देखता और उसके लेने की इसे इच्छा होती तो चट पेड़ पर से उतर पड़ता और बिना फल लिये उस मनुष्य को जाने नहीं देता। दिन भर यह इसी प्रकार

की खेलवाड़ करता और सन्ध्या होते ही अपने स्थान पर जाकर लेट रहता। जब यह जहाज पर रहा तो पाल को बिछा कर सो रहता और यदि उस पर कोई दूसरा लेट रहता तो उसे हटाये बिना न मानता। पर यदि वह बिछौना इतना बड़ा होता कि उस पर दोनों लेट सकें तो चुपचाप आप भी उसी पर लेट रहता। खाना इसका साधारण था। जहाज पर तो यह बराबर पानी पीता रहा, पर फिर चाय-काफी और शराब तक सुगमता से पी लेता। मिस्टर वालेस भी एक वनमानुस का वर्णन करते हैं जिसको उन्होंने उस समय से पाला था जब कि यह केवल एक फीट ऊँचा था। यह बड़ा सावधान और चालाक था, पर थोड़े ही दिनों पीछे बीमार पड़ा और मर गया। एक समय का वृत्तान्त है कि कुछ लोगों ने एक वनमानुस का जंगल में पीछा किया और उसका शिकार करना चाहा। उन शिकारियों में से जो सबके आगे था उसने इस पर एक बर्छा चलाया। वनमानुस ने पहले तो बर्छे को पकड़ा और तब लपक कर उस शिकारी के हाथ को अपने मुँह में दबा लिया, और यदि दूसरे शिकारी झटपट उसे मार न डालें तो वह उस आदमी के हाथ को काट डालता। निदान यह जानवर पालने से पल भी जाता है और छेड़ने और दुःखी करने से क्रोधित होकर भयानक रूप धारण करता है।

(3)

गिबन

यह जन्तु प्रायः मालया उपद्वीप में पाया जाता है। इसकी अधिक-से-अधिक ऊँचाई 3 फीट की होती है और कम-से-कम 30 इञ्च। इसकी बाँह इतनी लम्बी होती है कि गुल्फ तक पहुँचती है। इससे वह सीधा खड़ा होकर चल सकता है और हाथ की अँगुलियाँ इस अवस्था में भी जमीन को छू सकती हैं। दूसरे तीन प्रकार के बन्दरों में, जिनका वर्णन आगे हो चुका है, चूतड़ों पर गड्ढे नहीं होते, पर गिबन में यह विशेषता है कि इसका सिर तो उन कथित जीवों की अपेक्षा मनुष्य के अधिक समान होता है, पर चूतड़ों पर गड्ढे होने के कारण शिम्पैञ्जी, गोरिला या वनमानुस से भिन्न हो जाता है। इसकी नाक दूसरों की अपेक्षा बहुत सुडौल होती है।

गिबन का स्वभाव सीधा, शान्त, प्रत्ययी और कोमल होता है। जब वह

पकड़ जाता है तो शीघ्र ही हिल-मिल जाता है । दूसरों की माईं यह भी पेड़ों और घने जंगलों में रहना चाहता है । पेड़ों पर यह बड़ी सुगमता से और बेखटके घूमता-फिरता है, और वनमानुस के समान सोच-विचार और जाँच-पड़ताल करके तब एक पेड़ पर से दूसरे पेड़ पर नहीं जाता । गिवन झुण्ड बाँध कर रहते हैं, जिनमें कभी-कभी 100, 150 तक भी हो जाते हैं, और नर तो शायद ही कभी अकेला देख पड़ता हो । इनका भी भोजन जंगली फल-फूल और बेल-पत्ते आदि हैं; पर किसी-किसी जाति के गिवन तो कीड़े मकोड़े, अंडे तथा चिड़ियों को भी बड़ी रुचि से खाते हैं । इन जन्तुओं में एक बड़ी विचित्रता यह है कि ये नित्य प्रातःकाल और सन्ध्या समय एक प्रकार का भयानक शब्द करते हैं जिससे ये बड़ी सुगमता और शीघ्रता से पहचाने जा सकते हैं । इस भयानक शब्द के कारण लोग इनका बस्ती के निकट रहना पसन्द नहीं करते । गिवन की चार भिन्न जातियाँ होती हैं जिनमें कोई-न-कोई विशेषता रहती है ।

एक जाति का गिवन सिमांग कहलाता है । यह सुमात्रा में पाया जाता है । इसकी ऊँचाई तीन फीट होती है । इसके शरीर का रंग चमकदार काला होता है, केवल दाढ़ी भूरी या सफेद होती है । गर्दन के निकट एक प्रकार की थैली रहती है जो झुलझुले चमड़े के समान देख पड़ती है । ये गोल बाँधकर रहते हैं और प्रत्येक गोल का एक सरदार रहता है । यह सरदार बन्दर उस गोल के और बन्दरों की अपेक्षा अधिक बलवान, फुर्तीला और चालाक रहता है । जैसा ऊपर कहा जा चुका है सबेरा होते ही ये चिल्लाने लगते हैं और यह शब्द कोसों दूर तक सुनायी देता है । दिन में ये चुपचाप पड़े रहते हैं और किसी प्रकार का शब्द नहीं करते । ये बहुत धीरे-धीरे चलते हैं और जब कूदते या पेड़ों पर चढ़ते हैं तो इनकी चाल से फुर्तीलापन या यह प्रकट नहीं होता कि उन्हें अपनी शक्ति में पूर्ण और दृढ़ विश्वास है । इसलिए यदि चुपचाप जाकर कोई इन्हें घबड़ा दे तो वे तुरन्त पकड़े जा सकते हैं । परन्तु ईश्वर ने इनमें एक प्रकार की ऐसी तीव्र बुद्धि दी है कि जिससे ये सदा चौकन्ने रहते हैं । इससे इन्हें पकड़ना कठिन होता है । यदि ये किसी प्रकार विचित्र शब्द सुनते हैं तो चाहे वह कोस भर की दूरी पर भी होता हो तो भी चट डर के मारे भाग जाते हैं । जब समतल भूमि पर रहते हैं और घिर जाते हैं तो बिना किसी प्रकार के कष्ट के पकड़ जाते हैं, पर जब पेड़ पर रहते हैं तो इनका पकड़ना बड़ा ही कठिन रहता है, क्योंकि अपनी लम्बी बाँहों के सहारे बड़ी शीघ्रता से ये एक पेड़ पर से दूसरे पेड़ पर कूदते हुए दूर निकल जाते हैं । मालया उपद्वीप के निवासियों का यह विश्वास है कि ये

बड़े मूर्ख और कुण्ठित बुद्धि के होते हैं। सिमांग जाति के बन्दरों में एक प्रकार के ऐसे भी होते हैं जिनका रंग सफेद होता है। ये अधिक-से-अधिक 30 इञ्च ऊँचे होते हैं और दूसरों की अपेक्षा दुबले-पतले और हलके होते हैं। इनके हाथ और पैरों का रंग सफेद या कुछ हलका पीलापन लिये हुए होता है और चेहरे के चारों ओर एक सफेद बालों का वृत्त बना रहता है। परन्तु यह बात इस जाति के सब बन्दरों में नहीं पायी जाती। किसी में यह वृत्त कम स्पष्ट और किसी में अधिक रहता है और किसी-किसी में तो नाम मात्र का भी नहीं होता।

यह सफेद सिमांग मालया उपद्वीप के सब भागों में, यहाँ तक कि उत्तर में तनासिरम प्रदेश और दक्षिण में निम्नस्थ पेगू तक पाया जाता है। यह पहाड़ों के निकटस्थ जंगलों में रहना अधिक पसन्द करता है। बन्दरों में यह आदत देखी गयी है कि जब कभी उन्हें प्यास लगती है तो वे पानी में मुँह लगा कर पीते हैं; परन्तु इस सफेद सिमांग में एक बात यह विशेष है कि वह चुल्लू से पानी पीता है। ये भी गोल बाँधकर रहते हैं, पर इनकी संख्या 6 और 20 के भीतर ही रहती है। इनकी मादा एक समय में एक ही बच्चा देती है और वह जाड़े के प्रारम्भ में होता है। ये बच्चे सात महीने तक तो अपनी माँ के संग चिपके रहकर अपना समय बिताते और पालन-पोषण पाते हैं, और इसके पीछे अपनी रक्षा स्वयं करते हैं।

गिवन की दूसरी जाति हुलक नाम से प्रसिद्ध है। ये आसाम उपत्यका, सिलहट, कछार और मणिपुर में पायी जाती है। ये प्रदेश तो इनके मुख्य निवास-स्थान हैं, पर कभी-कभी भायो और चटगाँव तक भी यह देखे गये हैं। इनका पहचान लेना बहुत ही सुगम है क्योंकि इन सबों के भौं के ऊपर एक सफेद लकीर-सी होती है और समस्त शरीर का रंग एक-सा काला होता है, केवल मादा का रंग, नर से हलका होता है। इसका स्वभाव बड़ा ही सीधा होता है और यह बहुत जल्दी हिल-मिल जाता है। मिस्टर स्टर्नडेल के पास एक हुलक गिवन था जो सदा उनके पास आकर बैठता और कभी उन्हें अपने पास से हटने न देता और सदा बड़ी सफाई से रहता। इन्होंने इसे एक दिन एक टुकड़ा कम्बल का बिछाने को दे दिया और सबेरे देखा कि उस गिवन ने लपेट कर उसका तकिया बना लिया है; उसे दूसरा टुकड़ा दिया गया और वह उसे बिछाकर सोया। यह भी हुपू-हुपू करके कई मिनट तक चिल्लाता रहता है और जब तक थक नहीं जाता चुप नहीं होता। तीसरी जाति गिवन की डंगका या डंगकापुती है। यह कोचिन चीन से स्याम तक और सूलू उपद्वीप में, जो बोर्नियो और

फिलिपाइन द्वीपों के मध्य में है, पायी जाती है। इस जाति के गिवन में एक बड़ी बात यह है जो और दूसरों में नहीं पायी जाती; अर्थात् यह उड़ती हुई चिड़िया का शिकार करता और चालीस फीट तक उछलकर जा सकता है। इसका रंग काला होता है, केवल चेहरे के बालों का रंग भूरा और उसके चारों ओर सफेदी होती है। इसकी भौंहें उभड़ी हुई, नाक चिपटी और नथुने बड़े-बड़े होते हैं।

गिवन की चौथी जाति बू-बू कहलाती है। यह जावा में पायी जाती है। इसका रंग कुछ नीलापन लिये हुए होता है; केवल सिर पर एक गहरे काले रंग का दाग होता है और चेहरे के चारों ओर कुछ सफेदी रहती है। इसके बाल लम्बे, घने और चिकने होते हैं।

इन चार प्रकार के गिवन बन्दरों के वर्णन के साथ हमारा वृत्तान्त उन जन्तुओं के विषय में समाप्त होता है जो अनेक बातों में मनुष्य के समान होते हैं। अब आगे हम लंगूरों का वर्णन प्रारम्भ करेंगे।

(1900)

———

भाग तीन

आलोचनात्मक लेख

1. बालकाण्ड का नया जन्म ।
   (एक पन्ने की अत्यन्त छोटी हस्तलिखित समीक्षा)
2. प्रसाद जी के दो नाटक
   (1) स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (हस्तलिखित समीक्षा)
   (2) चन्द्रगुप्त (प्रकाशित पाण्डुलिपि, नागरी प्रचारिणी पत्रिका)

बाबू श्यामलालकृत "बालकाण्ड का नया जन्म"

मैंने बाबू श्यामलाल के "बालकाण्ड का नया जन्म" नामक ग्रन्थ का ध्यान-पूर्वक अवलोकन किया। इसकी भूमिका बड़े महत्त्व की है। बाबू श्यामलाल की तर्क-शैली और विवेचन-पद्धति के आगे सिर झुकाना पड़ता है और जो कुछ उन्होंने लिखा है तथा जिस प्रकार रामचरितमानस के बालकाण्ड को क्षेपक रहित करके अपने संस्करण की प्रामाणिकता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है उसकी प्रशंसा किये बिना मैं नहीं रह सकता। यह सब होते हुए भी बालकाण्ड की जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ अब तक उपलब्ध हुई हैं और उनमें से एक गोस्वामी तुलसी-दास जी के जीवन-काल की लिखी हुई है तथा उनके द्वारा संशोधित बतायी जाती है, उनमें वे सब अंश वर्तमान हैं जिन्हें बाबू श्यामलाल ने क्षेपक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस अवस्था में जब तक कोई और प्राचीनतर हस्तलिखित प्रति न प्राप्त हो जाय और उसमें क्षेपक कहे गये अंश न मिलें तब तक बाबू श्यामलाल के तर्क से प्रमाणित क्षेपक अंश को गो० तुलसीदास कृत न मानना बहुत बड़े साहस का काम होगा। एक ग्रन्थ की रचना में त्रुटियाँ दिखाकर उनका पूर्वापर सामंजस्य या असामंजस्य सिद्ध करना एक बात है और उन्हें कवि कृत न मानना दूसरी बात है। अयोध्याकाण्ड की राजापुर वाली प्रति गो० तुलसीदास जी के हाथ की लिखी कही जाती है। जब बाबू श्यामलाल का "अयोध्याकाण्ड का नया जन्म" प्रकाशित होगा तब इस सम्बन्ध में कुछ अधिक कहा जा सकेगा। अभी तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यदि बाबू श्यामलाल जी तीन सौ वर्ष पहले होते और गो० तुलसीदास जी ने अपने रामचरितमानस के सम्बन्ध में उनसे "इसलाह" ली होती तो संभवतः उनकी यह कृति और ही होती।

अंत में मुझे इतना ही कहना है कि यद्यपि हम बाबू श्यामलाल की तर्क-शैली और विवेचन-पद्धति तथा उनके इस उद्योग की जी खोलकर प्रशंसा करते हैं तथापि हम अभी यह मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं कि जिन पंक्तियों को उन्होंने क्षेपक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वे वास्तव में तुलसीदास कृत नहीं हैं, उन्हें पीछे से किसी ने जोड़ दिया है।

(1931)

प्रसाद जी के दो नाटक

(1) स्कंदगुप्त विक्रमादित्य

काशी निवासी बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी के कई मौलिक नाटक प्रकाशित हो चुके हैं जिनके कारण उनकी बहुत-कुछ ख्याति हुई है। इसमें कोई सदेह नहीं है कि बाबू जयशंकर प्रसाद जी एक सिद्धहस्त नाटककार हैं। स्कंदगुप्त विक्रमादित्य उनका एक नवीन नाटक है जो अभी प्रकाशित हुआ है। इसमें गुप्तवंश के परम पराक्रमी, परम वैष्णव, परम भट्टारक महाराज स्कंदगुप्त का चरित्र अंकित किया गया है। गुप्तवंश के समय में भारतवर्ष अपनी परम उन्नत अवस्था में था। इसके अनन्तर उसका पतन आरम्भ हुआ और तब से लेकर अब तक वह फिर उन्नत न हो सका। इन्हीं महाराज स्कन्दगुप्त के चरित्र के आधार पर बाबू राखालदास वन्द्योपाध्याय जी ने 'करुणा' नाम का एक उत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यास बँगला में लिखा था। इसका हिन्दी अनुवाद काशी नागरी प्रचारिणी-सभा ने प्रकाशित किया है। इसमें संदेह नहीं कि एक उपन्यास के लिखने में लेखक को जितनी स्वतन्त्रता है उतनी नाटक लिखने वाले को प्राप्त नहीं हो सकती। फिर भी 'करुणा' के पढ़ने में जो आनन्द प्राप्त होता है और उसमें वर्णित घटनाओं का हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है वह स्कन्दगुप्त नाटक के पढ़ने पर नहीं होता। यह हो सकता है कि दृश्य काव्य होने के कारण इसका पूरा आनन्द अभिनय द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। पर यह नाटक अभिनय के योग्य भी नहीं जान पड़ता। एक तो इसके वाक्य प्रायः इतने जटिल और गंभीर, भावपूर्ण हैं कि सर्वसाधारण को उनके समझने में कठिनता होती है। दृश्य काव्य में प्रसादगुण का रहना अधिक आवश्यक है क्योंकि इसके बिना सामाजिकों को उससे आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। दूसरे, वाक्य कहीं-कहीं इतने बड़े हैं कि अभिनय करने वालों को उनके स्मरण करने तथा भली-भाँति उनको रंगमंच पर कहने में कठिनता होगी। तीसरे, वस्तु-विन्यास इतना जटिल हुआ है कि साधारण वर्ग के लोगों के लिए उनका समझना और हृदयंगम करना कठिन हो जाता है। यह नाटक पाँच अंकों में विभक्त है और ये अंक क्रमशः छोटे होते गये हैं जो सर्वथा उपयुक्त है। यह कहना कठिन है कि यह नाटक प्राचीन शैली पर लिखा गया है अथवा आधुनिक शैली पर। पहले अंक में 7, दूसरे में 7, तीसरे में 6,

चौथे में 7 और पाँचवें में 4 दृश्य हैं । दृश्यों के अन्त में कहीं पटाक्षेप है, कहीं पर परिवर्तन, कहीं यवनिका पतन और कहीं कुछ भी नहीं लिखा है । यह नहीं ज्ञात होता कि इन भिन्न-भिन्न शब्दों से लेखक का क्या अभिप्राय है । इन शब्दों को उन्होंने पर्यायवाची माना है अथवा वे भिन्न-भिन्न अर्थों के बोधक हैं । फिर दृश्यों का अनुक्रम भी अभिनय योग्य नहीं है—स्कंधावार के अनन्तर राजमन्दिर, शिप्रा-तट के अनन्तर मठ, बन्दी-गृह के अनन्तर दुर्ग और श्मशान के अनन्तर उपवन के दृश्य रखे गये हैं । रंगमंच पर इन भिन्न-भिन्न दृश्यों में से एक के अनंतर दूसरे का प्रबन्ध होना असम्भव-सा है । इन सब बातों के कहने का सारांश यही है कि यह नाटक अभिनय के योग्य नहीं हुआ है और न उस दृष्टि से लिखा गया ही जान पड़ता है । हमारी समझ में इसमें यह भारी त्रुटि है ।

हाँ, केवल पढ़ने के उद्देश्य से यह नाटक अवश्य उच्च कोटि का है । भाषा परिमार्जित, सुन्दर और भावपूर्ण है पर कहीं-कहीं उसमें शैथिल्य जान पड़ता है और कुछ स्थानों में व्याकरण सम्बन्धी प्रयोग भी चिन्त्य हैं । एक बात और है इसमें भाव ठीक उसी प्रकार व्यंजित किये गये हैं जिस प्रकार आजकल छायावादी कविता में किये जाते हैं । हम यह तो नहीं कहते कि भाव-व्यंजन की यह प्रणाली कहाँ तक मान्य होनी चाहिए, पर हमारा यह मत अवश्य है कि नाटक में इस प्रकार के भाव-प्रकाशन को स्थान नहीं मिलना चाहिए । चरित्रों का चित्रण भली-भाँति किया गया है । कथोपकथन बहुत अच्छा और भावपूर्ण कराया गया है । देश-काल के सम्बन्ध में सबसे अधिक खटकने वाली बात यह है कि एक दृश्य का अवधान मगध में किया गया तो दूसरे का अवन्ती में और तीसरे का कश्मीर में । गान्धार के रणक्षेत्र के अनंतर कुभा के रणक्षेत्र का दृश्य रखा गया है । कला की दृष्टि से यह बात कहाँ तक ठीक है इसमें हमें संदेह ही है ।

नाटककार ने मातृगुप्त को कवि कालिदास, और उज्जयिनी के विक्रमा-दित्य को मगध का स्कदगुप्त माना है । यद्यपि इन सिद्धान्तों के पक्ष में भी कुछ तथ्य हैं पर ये अभी सर्वथा मान्य नहीं हुए हैं । इस सम्बन्ध में लेखक ने परि-शिष्ट में जो विवेचन किया है वह पाण्डित्यपूर्ण है । पर फिर भी हम कह सकते हैं कि नाटक में इनको एक ही मानकर व्यर्थ की उलझन डाल दी गयी है । ऐसे विवादग्रस्त विषयों से नाटककार यदि अलग रहते तो पढ़ने वालों की झंझट बहुत कुछ कम हो जाती ।

ऊपर जो बातें लिखी गयी हैं उनसे हमारा तात्पर्य लेखक का ध्यान दृश्य-काव्य के कुछ आवश्यक अंगों पर दिलाना ही है।

प्रकाशक ने अपने निवेदन में लिखा है कि "गुप्तकाल अतीत भारत के उत्कर्ष का मध्याह्न है। उस समय आर्य-साम्राज्य मध्य एशिया से जावा-सुमात्रा तक फैला हुआ था। समस्त एशिया पर हमारी संस्कृति का झंडा फहरा रहा था। इसी गुप्तवंश का सबसे उज्ज्वल नक्षत्र था—स्कन्दगुप्त। उसके सिंहासन पर बैठने के पहले ही साम्राज्य में भीतरी षड्यंत्र उठ खड़े हुए थे। साथ ही आक्रमणकारी हूणों का आतंक देश में छा गया था और गुप्त सिंहासन डाँवाडोल हो चला था। ऐसी दुरवस्था में स्कंदगुप्त ने इस स्थिति से आर्य साम्राज्य की रक्षा की थी—पढ़कर नसों में बिजली दौड़ जाती है। अन्त में साम्राज्य का एकच्छत्र चक्रवर्तित्व मिलने पर भी उसे अपने वैमात्र एवं विरोधी भाई पुरगुप्त के लिए त्याग देना तथा स्वयं आजन्म कौमार-जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करना—ऐसे प्रसंग हैं जो उसके महाचरित पर मुग्ध ही नहीं कर देते हैं, बल्कि देर तक सहृदयों को करुणा-सागर में निमग्न कर देते हैं।" प्रकाशक के इन शब्दों से हम पूर्णतया सहमत हैं और इस विचार से हम नाटक का आदर तथा इसके लेखक की प्रशंसा करते हैं। हमारी समझ में यह नाटक कालेज क्लासों में पढ़ाने योग्य है। इसमें विवेचन और आलोचना की इतनी सामग्री है कि वह विद्यार्थियों के लिए उत्तेजक तथा तत्त्वज्ञानमूलक सिद्ध होगी।

("भारतेन्दु" दिसम्बर 1928 ई० पृ० 220-221)

प्रसाद जी के दो नाटक

(2) चन्द्रगुप्त

यह नाटक अभी थोड़े दिन हुए भारती भण्डार, रामघाट, बनारस सिटी द्वारा प्रकाशित हुआ है। यद्यपि इसके पहले बाबू जयशंकर प्रसाद जी के आधे दर्जन से ऊपर नाटक प्रकाशित हो चुके हैं, पर इसमें संदेह नहीं कि उनकी नाटकीय कृतियों में यह सर्वोत्कृष्ट हुआ है। यह नाटक 4 अंकों में समाप्त हुआ है। पहले अंक में 11 दृश्य हैं, जिसमें कथा-वस्तु के बीज का निरूपण होकर उसका क्रमशः विकास हुआ है। इस अंक का पहला दृश्य ही बड़ा प्रभविष्णु है। तक्षशिला के गुरुकुल में विद्यार्थियों की बातचीत कितनी प्रभावोत्पादक और महत्त्वपूर्ण है। कथा का मूल एक ओर तो यूनानियों के आक्रमण और गान्धार-नरेश का उत्कोच लेकर उनसे मिल जाने से आरंभ होता है। दूसरी ओर नन्द की उच्छृंखलता, विलासप्रियता तथा अन्याय का चित्र उपस्थित किया गया है जिसके गर्भ में भावी घटनाएँ छिपी पड़ी हैं। दूसरे अंक में 11 दृश्य हैं जो विस्तार में भी पहले अंक के दृश्यों के बराबर हैं। उनमें चन्द्रगुप्त के अभ्युदय का दृश्य उपस्थित किया गया है। इसी अंक में पहले-पहल चन्द्रगुप्त और कार्नीलिया के परस्पर प्रेम का आरम्भ होता है। नन्द कुल के नाश का बिन्दु क्रमशः जल में पड़े स्नेह-बिन्दु के समान फैलता जा रहा है। नन्द-कन्या कल्याणी पर्वतेश्वर से बदला चुकाने के लिए उद्यत होती है। इधर प्रासंगिक कथाओं में सिंहरण और अलका का चरित्र क्रमशः प्रस्फुटित होता है। तीसरे अंक में 9 दृश्य हैं और उनका विस्तार भी पहले दृश्यों के समान ही है। इस अंक में सिकन्दर के लौट जाने का दृश्य तथा नन्द के नाशोन्मुख होने का चित्र उपस्थित किया गया है। चाणक्य का षड्यंत्र इस अंक में पूर्णता को पहुँचता है और अन्त में वह सफल होकर चन्द्रगुप्त को मगध का राजेश्वर बनाता है। एक प्रकार से इस नाटक की कथा यहीं समाप्त हो जाती है। यदि लेखक इस अंक के साथ अपने नाटक को समाप्त कर देता तो वह रंगमंच के अधिक उपयुक्त हो जाता। चाणक्य का उद्देश्य तो नन्द-कुल का नाश, यूनानियों का भारतवर्ष से निकाला जाना और चन्द्रगुप्त का मौर्य सम्राट् बनना—ये तीनों बातें इस अंक तक पूरी हो जाती हैं। मूल उद्देश्य की सिद्धि तो इन्हीं के साथ हो जाती है, पर प्रासंगिक कथाओं का अंश अवशिष्ट रह जाता है। चौथे अंक में 16 दृश्य हैं और इनका विस्तार भी अपेक्षाकृत पूर्व के

अंकों और दृश्यों के समान ही है। इसमें कल्याणी की आत्महत्या, मालविका का बलिदान, चाणक्य का बनावटी रोष, राक्षस का कपटाचरण, सिल्यूकस का आक्रमण, उसकी पराजय और अन्त में परस्पर मित्रता की स्थापना तथा कार्नीलिया के साथ चन्द्रगुप्त का विवाह अंकित किया गया है। इस प्रकार इस नाटक में दो मुख्य घटनाओं का समावेश हो गया है—एक तो सिकन्दर का भारतवर्ष पर आक्रमण और दूसरे सिल्यूकस का आक्रमण। प्रथम घटना के आधार पर ही नाटक की कथा-वस्तु का विस्तार-जाल फैलता है और उसके अन्तर्भूत होकर नन्द का पतन तथा चन्द्रगुप्त का अभ्युदय होता है। दूसरी ऐतिहासिक घटना के समावेश से, जो चौथे अंक में होती है, वस्तु-संकलन (Unity of action) में व्याघात पहुँचता है। साथ ही काल-संकलन (Unity of time) में भी बाधा उपस्थित होती है। प्रसाद जी के अनुसार 326 ई० पू० में सिकन्दर का भारतवर्ष पर आक्रमण हुआ था। 323 ई० पूर्व में उसकी मृत्यु हुई और और 321 ई० पू० में चन्द्रगुप्त मगध के सिंहासन पर बैठा। वे पुनः लिखते हैं कि 312 ई० पू० में सिल्यूकस ने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया और 306 ई० पू० में उसने भारत पर आक्रमण किया। अतएव सिकन्दर के आक्रमण और चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण में केवल 2 वर्ष का अन्तर है, पर चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण और सिल्यूकस के आक्रमण में 15 वर्ष का अन्तर है। यद्यपि एक स्थान में लेखक ने चन्द्रगुप्त को दक्षिण-विजय में फँसाकर इस 15 वर्ष के समय को पार करना चाहा है, पर नाटक के पढ़ने तथा उसका अभिनय देखने पर यह बात खटकेगी। अस्तु, हमारी यह सम्मति है कि यदि यह नाटक तीसरे अंक पर समाप्त कर दिया जाता तो अभिनय तथा संकलन की दृष्टि से अच्छा होता। कदाचित् यहाँ पर यह भी कह देना अनुचित न होगा कि अंकों का विस्तार और दृश्यों की संख्या अभिनय के अनुकूल नहीं है। अंतिम अंक में तो दृश्यों की संख्या सबसे अधिक हो गयी है। हमारा अनुमान है कि समस्त नाटक के खेलने में कम-से-कम 7 घण्टे और पहले तीन अंकों के अभिनय में 5 घण्टे लगेंगे। ये 5 घण्टे भी अधिक ही हैं, पर 7 घण्टे तो बहुत अधिक होते हैं।

स्थान-संकलन के संबंध में यह विचारणीय है कि या तो घटनाओं का क्रम समसामयिक ढंग पर रखा जाय अथवा एक अंक में एक ही प्रदेश की घटनाओं का समावेश हो। पहले क्रम में यह लाभ है कि पाठक या दर्शक सुगमता से घटनाओं का क्रम हृदयंगम कर सकता है और साथ ही चलती बातों को मन में रखकर उन्हें समझने में समर्थ होता है। दूसरे ढंग में एक ही प्रदेश की घटनाओं

को हृदयंगम करने में सुगमता होती है, पर साथ ही दूसरे प्रदेश में होनेवाली समसामयिक घटनाओं से उनका सामंजस्य पाठक या दर्शक को अपने आप स्थापित करना पड़ता है। इन्हीं दोनों प्रकारों से स्थान-संकलन की समीक्षा की जा सकती है। हम नहीं कह सकते कि प्रसाद जी ने कहाँ तक इस विषय को ध्यान में रखकर इस नाटक की रचना की है। अस्तु, साधारणतः हमें यह स्वीकार करने में कुछ भी संकोच नहीं होता कि इस नाटक में सजीवता और कर्मयता भरी हुई है। यही इसकी विशेषता है और इसी में नाटकीय कथा-वस्तु की सार्थकता है।

जब हम पात्रों के सम्बन्ध में विचार करते हैं तब हमें लेखक के कौशल पर मुग्ध होना पड़ता है। चाणक्य का चरित्र-चित्रण तो बड़ा ही सुन्दर, पर साथ ही बड़ा भयानक, किया गया है। हमारी आँखों के सामने एक ऐसे व्यक्ति का चित्र उपस्थित हो जाता है जो नाटा और श्यामवर्ण है, जिसकी आँखें चढ़ी हुई हैं, बाल बिखरे हुए हैं और जिसके चेहरे पर कूट-नीति तथा दृढ़ता की रेखा स्पष्ट देख पड़ती है। ऐसे ब्राह्मण का अपने निर्धारित पथ पर दृढ़ रहकर सफलता प्राप्त करना कोई बड़ी बात नहीं जान पड़ती। उसकी इस प्रकृति का विकास विशेष रूप से नहीं किया गया पर जो-जो खण्ड-चित्र इधर-उधर बिखरे पड़े हैं उनसे यही धारणा होती है। मधुरता उसमें है, किन्तु अपनी कर्तव्य-परायणता के कारण उसे वह पद-दलित किये रहता है। जिस निर्भयता और हृदयशून्यता से वह मालविका को अपनी बलि देकर चन्द्रगुप्त की रक्षा करने पर उद्यत करता है, कल्याणी के आत्मघात पर जो चन्द्रगुप्त से यह कह बैठता है "आज तुम निष्कंटक हुए" और जो अपनी स्नेहमयी वृत्तियों को कुचलकर सुवासिनी को राक्षस से परिणीत होने के लिए बाध्य करता है, वह मनुष्य है या क्रूर विधाता — इसके निर्णय में रुक जाना पड़ता है। पर "मुद्राराक्षस" के चाणक्य से "चन्द्रगुप्त" के चाणक्य में बड़ा अन्तर है। मुद्राराक्षस में तो मानो वह प्रत्येक घटना का सूत्र अपने हाथ में पकड़े बैठा जान पड़ता है और जिस घटना के जिस प्रकार घटित होने की वह इच्छा करता है, वह उसी प्रकार होकर रहती है, जो कुछ अस्वाभाविक-सा है। "चन्द्रगुप्त" का चाणक्य दूरदर्शी, विवेकशील और अपनी मन्त्रणा को अपने ही मन में छिपा रखनेवाला एक अलौकिक पुरुष है, जिसमें भारतवर्ष के प्राचीन ऋषियों की महत्ता, गरिमा और पारदर्शिता स्पष्ट देख पड़ती है। चन्द्रगुप्त का चित्र भी चाणक्य के अनुकूल है। जैसा गुरु वैसा चेला। राम ने दोनों की जोड़ी अच्छी मिला दी। पर चन्द्रगुप्त स्थान-स्थान पर अपनी कोमल

वृत्तियों का परिचय देता है और कहीं-कहीं तो वह मनुष्योचित कमजोरी भी दिखा देता है। सिकन्दर और राक्षस का चरित्र इतना उज्ज्वल नहीं अंकित किया गया है। लेखक को कदाचित् यही अभिप्रेत था।

हमारी समझ में नहीं आता कि "चन्द्रगुप्त" में प्रसाद जी स्त्रियों के प्रति कुछ निष्ठुर-से क्यों हो गये हैं। उनके स्त्री-पात्रों में स्त्रियोचित कोमलता कम देख पड़ती है। अलका के प्रति तो वे कुछ दयावान् हैं, पर सुवासिनी, मालविका और सबसे बढ़कर कल्याणी के प्रति उनका व्यवहार कुछ-कुछ "हृदयहीनता" की कोटि में गिने जाने के योग्य हो जाता है। कार्नीलिया में तो हम कोई विशेषता नहीं देखते। वह चन्द्रगुप्त से प्रेम अवश्य करती है, पर बड़ी ही संयत है और अपनी वृत्तियों को अपने वश में रखे हुए है। बेचारी कल्याणी के प्रति तो प्रसाद जी बड़े कठोर हो गये हैं। पहले पर्वतेश्वर से उसका परिणय कराना चाहते हैं, पर उसके अस्वीकार करने पर उस रमणी-रत्न की प्रखर क्षत्रिय-वृत्ति फूट पड़ती है। वह इस अपमान का बदला लेने पर उद्यत हो जाती है और अपने उद्देश्य में सफल होती है। वह चतुर्थ अंक के पहले दृश्य में, जिसमें आगे चलकर वह आत्मघात कर बैठती है, कहती है—"मेरे जीवन के दो स्वप्न थे—दुर्दिन के बाद आकाश के नक्षत्र-विलास-सी चन्द्रगुप्त की छवि और पर्वतेश्वर से शोध। दूसरा स्वप्न तो उसका पूरा हो गया, पर पहले स्वप्न में पिता के घात ने बाधा उपस्थित कर दी।" इसी दृश्य में वह आगे चलकर कहती है—"मौर्य ! कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को—वह था चन्द्रगुप्त।·········परन्तु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए, इसलिए उस प्रणय को, उस प्रेम-पीड़ा को, मैं पैरों से कुचलकर—दबाकर—खड़ी रही। अब मेरे लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा।" इसके पहले वह पिता के अत्याचारों और अन्यायों की कथा अपने कानों से सुनती और सब-कुछ देखती है पर अन्त में पितृ-प्रेम के आगे अपने को बलिदान कर देती है। क्या उसको जीवित रखने और चन्द्रगुप्त के प्रणय-पाश में बाँधने में प्रसाद जी के "प्रासाद" में कोई कुत्सितता आ जाती ? जो कुछ हो, वह हमारी सहानुभूति की पूरी-पूरी अधिकारिणी होती है और इसी में प्रसाद जी के चरित्र-चित्रण की सफलता है। एक बात और हम देखते हैं कि प्रसाद जी ने अपने दूसरे नाटकों में परस्पर-विरोधी वृत्तियोंवाले स्त्री-पात्रों को रंगमंच पर उपस्थित किया है। अजातशत्रु में वासवी और छलना हैं, स्कन्दगुप्त में देवसेना और विजया हैं। इसी प्रकार जनमेजय में भी है। पर चन्द्रगुप्त नाटक में स्त्री-पात्रों द्वारा अन्तर्वृत्तियों का द्वंद्व क्यों नहीं

दिखाया गया है ? उसमें अलका, सुवासिनी, मालविका, कल्याणी, कार्नीलिया सब उच्च भावनाओं से प्रेरित हैं; किसी में नीचता नहीं, नीच वृत्तियों की बास तक नहीं। क्या प्रसाद जी के ध्येय में, आदर्श में, कुछ परिवर्तन हो गया है अथवा मानव-जीवन का काला चित्र उपस्थित करते-करते उनका जी ऊब गया है और वे अब चित्र का दूसरा पहलू भी देखने लगे हैं। कालानुक्रम की ओर ध्यान देने से पहला स्थान जनमेजय के यज्ञ का, तब अजातशत्रु, उसके अनन्तर चन्द्रगुप्त, तब स्कन्दगुप्त का और अन्त में राजश्री का है। चन्द्रगुप्त को छोड़कर और सब में वृत्तियों का अन्तर्द्वन्द्व वर्तमान है, केवल मौर्य-काल में ही उसका अभाव क्यों ? हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि प्रसाद जी ने पहले चाणक्य का चित्र अपने हृत्पटल पर भली-भाँति अंकित कर लिया और तब शेष पात्रों को उसी साँचे में ढालकर अपने चित्र-पट को पूरा किया। इसलिए इन पात्रों में भावों का द्वन्द्व विशेष रूप में नहीं देख पड़ता, जो प्रसाद जी के दूसरे नाटकों की विशेषता है। हाँ, पात्रों के सम्बन्ध में हम इतना और कहना चाहते हैं कि इनकी संख्या बहुत अधिक है, जो नाटक के अभिनय में बाधक हो सकती है।

प्रसाद जी के इस नाटक की भाषा पुष्ट है, पर उसमें प्रवाह का अभाव है। उनकी शैली स्वाभाविक संघटन से शून्य है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो किसी बगीचे के वृक्षों को काट-छाँटकर अपना मनोनीत रूप दे दिया गया हो, उनके अंगों का स्वाभाविक विकास नहीं होने पाया। क्या हम पूछ सकते हैं कि प्रसाद जी किस आधार पर "प्रत्येक" शब्द के अनन्तर संज्ञा-वाचक शब्दों के बहुवचन रूप का प्रयोग करते हैं ? हम यह जानते हैं कि हिन्दी के एकाध लेखक भी, जो भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रदर्शन सुगमता से कर सकने में अपने को धन्य मानते हैं, इसी प्रकार का प्रयोग करने और उसे शुद्ध मानने में हठ करते हैं। प्रसाद जी को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

इस नाटक में जो गान स्थान-स्थान पर दिये गये हैं वे रहस्यमय होने पर भी मनोहर हैं। पर उनको पूरी तरह समझना सबका काम नहीं है। साधारण पाठकों को तो उनके प्रति अरुचि हो जाती है। अभिनय की सफलता में ये गान अवश्य बाधक होंगे। हम यहाँ एक उदाहरण दे देना चाहते हैं। स्कन्दगुप्त के पहले अंक में एक गान है—"संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना।" इत्यादि। यह कविता, वास्तविक कविता है। इसके भाव बड़े ही मनोहर हैं और इसमें कवि-कल्पना ने बड़ा ही सुखद रूप धारण किया है।

यह सब होते हुए भी उसका अर्थ समझना और समझाना सबका काम नहीं है। इसी पद्य का अर्थ एक विद्यार्थी ने एक लब्ध-प्रतिष्ठ कवि-पुंगव से पूछा था। उन्होंने जो कहा हमें शूल की तरह गड़ा। उनके विचार में इसपद्य में कोई विशेषता नहीं है। यह सर्वथा निन्द्य और अर्थहीन है। जब कवि-पुंगवों का यह हाल है तब दूसरों की बात ही क्या ? जिस प्रकार स्वर-लिपि देकर इन पद्यों का गाना प्रसाद जी ने सुगम कर दिया है उसी प्रकार नाटकों में आयी हुई अपनी कविता का सरल अर्थ देकर क्या वे विद्यार्थियों की सहायता नहीं कर सकते और कवि-पुंगवों को माथा खुजलाने के कष्ट से नहीं बचा सकते ? उन्हें इस ओर ध्यान देना चाहिए।

चन्द्रगुप्त नाटक का प्रधान रस वीर है, बीच-बीच में करुणा और शृंगार की तरंगों ने उस मुख्य प्रवाह में किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित न कर उसे आस्वादन के सर्वथा उपयुक्त बना दिया है।

प्रसाद जी के सब नाटकों में भारत के मुखोज्ज्वलकारी दृश्य उपस्थित किये गये हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में भी यही बात है, और विशेष रूप से सब बातों पर ध्यान देते हुए उनका यह नाटक बड़ी उच्च श्रेणी का हुआ है, अतः हम प्रसाद जी की इस कृति पर उन्हें साधुवाद और बधाई देते हैं। अपनी कृतियों द्वारा वे हिन्दी साहित्य की मण्डली में एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हो गये हैं।

भाग चार

विवरणात्मक लेख

1. पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में अदालती अक्षर और प्राइमरी शिक्षा (हस्तलिखित पाण्डुलिपि, नागरी प्रचारिणी पत्रिका—भाग-2)
2. फतेहपुर सीकरी, (हस्तलिखित, 1902 अप्रैल में सरस्वती में प्रकाशित)
3. यूनिवर्सिटी कमीशन (हस्तलिखित, सरस्वती, 1902 अप्रैल में प्रकाशित)
4. दिल्ली दरबार (हस्तलिखित, 1903 में सरस्वती में प्रकाशित)
5. रामावत सम्प्रदाय (हस्तलिखित, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग–4))

———

पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में अदालती अक्षर और प्राइमरी शिक्षा[1]

जिस समय मुसलमान भारतवर्ष में आये उस समय हिन्दुस्तान की देश-भाषा हिन्दी और लिपि नागरी या उसके रूपान्तर थे और उसी के द्वारा सब काम चलता था। मुसलमानी राज्य के प्रारम्भ से लेकर अकबर के राज्य के मध्य तक माल विभाग में हिन्दी का और दिवानी और फौजदारी कचहरियों में फारसी भाषा का प्रचार था यद्यपि यहाँ के रहने वाले फारसी को नहीं जानते थे। ब्रिटिश राज्य के यहाँ स्थापित होने पर कुछ काल तक इसी भाषा में काम चला पर थोड़े दिन उपरान्त यह सोचा गया कि समस्त अदालतों और सरकारी दफ्तरों में अंग्रेजी भाषा का प्रचार किया जाय परन्तु यह प्रस्ताव ब्रिटिश राज्य के नायकों को रोचक न हुआ और कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने अपने 29 सितम्बर, 1830 ई० के आज्ञापत्र में यह स्पष्ट कह दिया कि "यहाँ के वासियों को जज की भाषा सीखने के बदले जज को भारतवासियों की भाषा सीखना बहुत सुगम होगा, अतएव हम लोगों की सम्मति है कि न्यायालयों की समस्त कार्रवाई उस स्थान की भाषा में हो।"

इस आज्ञा का पालन 1837 ई० के पूर्व न हुआ। इस बीच में इस विषय पर बड़ा विवाद चला। कुछ लोगों की यह सम्मति थी कि अंग्रेजी का ही प्रचार हो, दूसरे यह चाहते थे कि फारसी के स्थान में यहीं की देश भाषा का प्रचार हो परन्तु अक्षर रोमन हों। गवर्नमेण्ट को इन दोनों में से कोई भी सम्मति पसन्द न आयी।[1] गवर्नमेण्ट ने यह सोचकर कि विदेशी भाषा और लिपि के प्रचार से अदालतों का काम ठीक-ठीक और उत्तम रीति से न चल सकेगा और लोगों को न्याय प्राप्त करने में कठिनाई होगी कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स की सम्मति के अनुसार यह निश्चय किया कि न्याय और माल सम्बन्धी समस्त काम फारसी के बदले यहाँ की देश भाषा में हुआ करे और अंग्रेजी का प्रचार केवल ऐसी चिट्ठी-पत्री में सरकारी अफसर किया करें जिससे सर्व-साधारण से कोई सम्बन्ध न हो। इस आशय का आज्ञापत्र ता० 30 मई, सन् 1837 को 'सदर बोर्ड आफ रेवेन्यू'

1. अंग्रेजी वाले "Court character and Primary Education in the N. W. Provinces of Oudh." शीर्षक लेख का सारांश।

के नाम लिखा था उसमें इस आज्ञा को और भी स्पष्ट कर दिया। उसमें लिखा था कि "श्रीमान इस बात को स्पष्ट रूप से समझाना चाहते हैं कि उनकी सम्मति में केवल यूरोपीय अफसरों के आपस के पत्र-व्यवहार को छोड़कर (जो अंग्रेजी में हुआ करे) प्रत्येक विभाग में सरकारी काम देश भाषा में हो।" इस आज्ञा के विपक्ष में जो कानून था उसे रद्द करने के लिए एक बिल श्रीमान वाइसराय की व्यवस्थापक सभा में उपस्थित किया गया जिससे फारसी के स्थान पर देश भाषा के प्रचार की आज्ञा स्थिर हुई। इस एक्ट के अनुसार बंगाल में बंगाली और उड़ीसा में उड़िया भाषा का प्रचार हुआ। हिन्दुस्तान (जिसके अन्तर्गत बिहार, पश्चिमोत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश का कुछ भाग है) की भाषा हिन्दी थी जो नागरी लिपि या उसके अन्य रूप में लिखी जाती है। परन्तु इस भाषा के बदले इन प्रान्तों की कचहरियों में उर्दू भाषा का प्रचार हुआ। इसका कारण यह हुआ कि कुछ यूरोपीय लेखकों ने इस उर्दू भाषा को 'हिन्दुस्तानी' नाम दिया जिससे यह समझा गया कि जैसे बंगाल की भाषा बंगाली और गुजरात की गुजराती है, वैसे ही हिन्दुस्तान की भाषा भी हिन्दुस्तानी है। इस भूल से उर्दू का हिन्दुस्तान की कचहरियों में प्रचार हुआ। इस भूल का संशोधन सन् 1881 ई० मे बिहार में हुआ जब से वहाँ नागरी या कैथी अक्षरों का प्रचार है। उसी वर्ष मध्यप्रदेश में भी यह भूल सुधारी गयी और वहाँ हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों का प्रचार हुआ। पश्चिमोत्तर प्रदेश में अभी इसका सुधारना बाकी है और बहुत-से कारण ऐसे हैं जिससे अब उसमें विलम्ब करना आवश्यक नहीं जान पड़ता।

यह कहा जा चुका है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा हिन्दी थी और अब भी है और यह नागरी लिपि में लिखी जाती है। पश्चिमोत्तर प्रदेश की गवर्नमेण्ट के सेक्रेटरी ने ता० 17 अगस्त, सन् 1844 ई० के पत्र नं० 750 में आगरा कालेज के प्रिंसिपल को लिखा है कि यहाँ की "हिन्दी देश-भाषा है।" पश्चिमोत्तर प्रदेश के स्कूलों के डाइरेक्टर जनरल निज 1844-45 की रिपोर्ट में लिखते हैं कि "हिन्दी सबसे अधिक प्रचलित भाषा है।" बोर्ड आफ रेवेन्यू ने भी सन् 1857 ई० के आज्ञा-पत्र नं० 8 में इसी कथन का समर्थन किया है। बोर्ड इस अवसर पर कमिश्नर और कलेक्टरों को उस आज्ञा (नं० 4011 ता० 30 सितम्बर, 1854) का ध्यान दिलाती है जिसके अनुसार पटवारियों के कागज उस भाषा और उन अक्षरों में लिखे जाने चाहिए जिनको सर्वसाधारण काश्तकार और जमींदार भली-भाँति जानते हों। वह भाषा साधारणतः हिन्दी और लिपि

नागरी होगी। शिक्षा विभाग की सन् 1873-74 की रिपोर्ट पर गवर्नमेण्ट ने आज्ञा देते समय लिखा है कि "हिन्दी, इस अर्थ में कि बहुत लोग उससे भली-भाँति परिचित हैं, मातृ-भाषा कही जा सकती है।" शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर ने भी सन् 1877-78 की रिपोर्ट में लिखा है कि "हिन्दी ही इस प्रदेश की देश भाषा है।"

सन् 1848 ई० में एक महाशय कलकत्ता रिव्यू में लिखते हैं कि "हिन्दी के प्रचार की ठीक-ठीक सीमा बताना कुछ सुगम कार्य नहीं है। स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि इसका प्रचार बिहार, अवध, राजपूताना और उन सब स्थानों में है जो पश्चिमोत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर के अधीन हैं। यात्री कहते हैं कि हिन्दी की सहायता से वे समस्त भारतवर्ष में घूम सकते हैं। शिक्षित मुसलमान उर्दू बोलते हैं परन्तु साधारण काश्तकार वा अन्य मुसलमान अधिकतर हिन्दुओं की तरह बोलते हैं।"

प्रसिद्ध डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल (1864) में "हिन्दवी भाषा की उत्पत्ति और उर्दू बोली से उसका सम्बन्ध" शीर्षक लेख में लिखते हैं कि "भारतवर्ष की देश भाषाओं में हिन्दी सबसे प्रधान है। बिहार से सुलेमान पहाड़ तक और विन्ध्या से तराई तक यह सभ्य हिन्दू जाति की मातृ-भाषा है। गोरखा जाति ने इसका कमाऊँ और नेपाल में भी प्रचार कर दिया है और यह पेशावर के कोहिस्तान से आसाम और कश्मीर से कुमारी अन्तरीप तक के सब स्थानों में भली-भाँति समझी जा सकती है।"

मिस्टर बीम्स ने भी इसी मत का समर्थन किया है तथा रेवरेण्ड केलाग लिखते है कि "पचीस करोड़ भारतवासियों में एक चौथाई वा 6 या 7 करोड़ मनुष्यों की हिन्दी मातृ-भाषा है।········ 2,48,000 वर्ग मील में जन-साधारण की भाषा हिन्दी ही है।" मिस्टर पिनकाट लिखते हैं कि "उत्तर भारतवर्ष की भाषा सदा से हिन्दी थी और अब भी है। इसी भाषा के अधिक प्रचार के कारण लोग यह समझते हैं कि साधारण हिन्दुस्तानी भारतवर्ष की मातृ-भाषा है।"

इस विषय पर अब अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है उससे यह स्पष्ट है कि उस समय जब गवर्नमेण्ट ने फारसी के बदले देश-भाषा के प्रचार की आज्ञा दी हिन्दी पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा थी, और अब तक वही है। हिन्दी की उस बोली में जिसमें फारसी के शब्दों की अधिकता रहती है और जिसे उर्दू कहते हैं तथा जिसका प्रचार उन शिक्षित मुसलमानों और अमलों में अधिक है जिनका कचहरियों से विशेष सम्बन्ध है उसमें

फारसी, अरबी और तुर्की शब्दों की अधिकता के कारण तथा उसके फारसी लिपि में लिखे जाने के कारण इन प्रान्तों के वासी अब तक उसे नहीं समझ सकते। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पश्चिमोत्तर प्रदेश की सदर दिवानी अदालत ने यह समझकर कि उर्दू यहाँ की देश-भाषा है, फारसी के स्थान पर उसके प्रचार की आज्ञा दी। इस उर्दू भाषा को 'हिन्दुस्तानी' यह नाम दिया गया और यह स्पष्ट रूप से कह दिया गया था कि कचहरियों की कार्रवाई और वकीलों की बहस साधारण और सरल उर्दू में (वा हिन्दी में जहाँ इसका प्रचार हो) लिखी जाय। यह भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसका प्रयोग एक कुलीन भारतवासी जो फारसी नाममात्र को भी न जानता हो अपनी साधारण बातचीत में करता हो। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जिस समय वह आज्ञा दी गयी थी उस समय सदर दिवानी अदालत की यही इच्छा थी कि कचहरियों की कार्रवाई ऐसी भाषा में लिखी जाय जिसे सर्वसाधारण सुगमता से समझ सके। हिन्दी के विषय में जो आज्ञा दी गयी उस ओर कुछ भी ध्यान न दिया गया। बहुत दिनों फारसी-पूरित उर्दू लिखते चले आने से अमलों को जन-साधारण की भाषा को उन्हीं के लिपि में लिखने से घृणा हुई और इसी से इस प्रान्त की कचहरियों में उर्दू भाषा और फारसी अक्षरों का प्रचार हुआ।

इस आज्ञा का फल अत्यन्त ही असन्तोषदायक हुआ क्योंकि इसके एक ही वर्ष उपरान्त बोर्ड आफ रेवेन्यू को पुनः आज्ञा-पत्र निकालना पड़ा और उसमें पुनः इस बात पर जोर दिया गया कि फारसी-पूरित उर्दू न लिखी जाय वरञ्च ऐसी "भाषा लिखी जाय जैसी कि एक कुलीन हिन्दुस्तानी फारसी से पूर्णतया वञ्चित रहने पर भी बोलता हो" परन्तु इस 28 अगस्त, सन् 1840 ई० की आज्ञा का भी कोई परिणाभ न हुआ। इसके पन्द्रह वर्ष उपरान्त गवर्नमेण्ट ने देखा कि दिवानी फौजदारी और कलेक्टरी (माल) कचहरियों की कार्यवाही अभी तक एक कठिन और विदेशी भाषा में लिखी जाती है जिसका भेद फारसी से बहुत थोड़ा है अतएव सदर दिवानी अदालत और बोर्ड आफ रेवेन्यू की सम्मति लेने के उपरान्त गवर्नमेण्ट ने यह पुनः आवश्यक समझा कि कचहरी के अफसरों को इस बात की फिर से ताकीद की जाय कि सरकारी कागज ऐसी भाषा में लिखे जायँ कि जिन्हें सर्व-साधारण भली-भाँति समझ सकें। इस सिद्धान्त के अनुसार ता० 9 मई, सन्-1854 ई० को एक आज्ञापत्र इसी आशय का निकाला गया। परन्तु इसका कुछ भी प्रभाव न हुआ। गवर्नमेण्ट को पुनः सन् 1876 ई० में एक-एक आज्ञा-पत्र सब जिलों के हाकिमों के नाम निकालना पड़ा और भाषा पर और भी स्पष्ट रूप

से जोर दिया गया, पर इसका भी परिणाम कुछ न हुआ। आज इस आज्ञा को निकालते 22 वर्ष हो चुके और अभी तक कचहरियों की भाषा की वही अवस्था है जो 60 वर्ष पहले थी, जबकि पहले-पहल गवर्नमेण्ट ने सन् 1873 ई० में ऐसी साधारण और सरल भाषा के प्रचार की इच्छा प्रकट की थी जिसे सर्व-साधारण सुगमतापूर्वक समझ सके। केवल गवर्नमेण्ट ही यह नहीं चाहती थी और फारसी-मिश्रित उर्दू के दोषों को समझ कर उसका विरोध करती थी, परन्तु बड़े-बड़े भाषा-तत्त्व वेत्ताओं ने भी गवर्नमेण्ट की उस शुभ इच्छा का समर्थन किया है। डॉ० फ्लायन ने अपनी डिक्शनरी में अरबी और फारसी शब्दों के सामने साधारण शब्दों को रखकर इस बात को पूर्णतया सिद्ध कर दिया है कि कचहरी के कागजों में अरबी और फारसी-मिश्रित उर्दू लिखने का कोई सन्तोषजनक कारण नहीं है।

मिस्टर ग्राउस इसी विषय पर लिखते हैं कि "आजकल की कचहरी-बोली बड़ी कष्टदायक है क्योंकि एक तो यह विदेशी है और दूसरे इसे भारतवासियों का अधिकांश नहीं जानता। ऐसे शिक्षित हिन्दुओं का मिलना कोई असाधारण बात नहीं है जो स्वतः इस बात को स्वीकार करेंगे कि कचहरी के मुन्शियों की बोली को वे अच्छी तरह बिल्कुल नहीं समझ सकते और उसे लिखने में तो वे निपट असमर्थ हैं। इसका बड़ा भारी प्रमाण तो यह है कि कानूनों और आज्ञाओं के सरकारी भाषानुवाद को कोई भी भली-भाँति नहीं समझ सकता जब तक एक व्यक्ति अंग्रेजी से मिलाकर उन्हें न समझा दे।"

मिस्टर फ्रेडरिक पिनकाट अफसरों की हिन्दुस्तानी भाषा के विषय में लिखते हैं कि "भारतवासियों को जिनकी यह मातृभाषा मानी जाती है अंग्रेजी की तरह इसे स्कूलों में सीखना पड़ता है और भारतवर्ष में यह विचित्र दृश्य देख पड़ता है कि राजा और प्रजा दोनों अपने कार्यों का निर्वाह ऐसी भाषा द्वारा करते हैं जो दोनों में से एक की भी मातृभाषा नहीं है। उस अवस्था से जो आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं उनके कारण दूर करने के लिए कुछ भारतवासी सब कार्यों का अंग्रेजी भाषा में होना आवश्यक मानते हैं। इस भाषा के होने से राज्य कर्मचारियों को सुगमता होगी और एतद्देशीय लोगों को हिन्दुस्तानी से कुछ ही कठिन भाषा सीखनी पड़ेगी"। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्यों साठ वर्ष तक इस बात का उद्योग करने पर कि कचहरियो में सरल भाषा का प्रचार हो गवर्नमेण्ट कृतकार्य न हुई ? क्यों बार-बार आज्ञाओं के देने पर भी अभी तक कचहरियों के कागज ऐसी भाषा में लिखे जाते हैं कि जिसमें बिना किसी आवश्यकता के फारसी और अरबी के शब्द भरे रहते हैं ? इसका कारण यही है कि अदालतों का काम फारसी

अक्षरों में होता है। गवर्नमेण्ट की इच्छा तब तक कदापि पूर्ण न हो सकेगी जब तक फारसी अक्षरों का अदालतों में प्रचार रहेगा। आज इनके स्थान पर नागरी अक्षरों का प्रचार कीजिए और देखिये कि साथ-ही-साथ सरल और सुगम हिन्दुस्तानी का प्रचार होता है या नहीं? पायनियर अपने 10 जनवरी, सन् 1876 ई० के पत्र में लिखता है कि "फारसी लिपि और शब्दों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इस विषय (भाषा) का सुधार तब तक पूर्णतया हो ही नहीं सकता जब तक गवाही हिन्दी (नागरी) अक्षरों में न लिखी जायगी।" मिस्टर फ्रेडरिक पिनकाट ने इसी मत का पोषण किया है तथा इसी आशय का निवेदन-पत्र विलियम म्योर को सन् 1873 ई० में दिया गया था।

गत 60 वर्ष में गवर्नमेण्ट ने भाषा सम्बन्धी जो आज्ञाएँ निकाली हैं उन्हें पढ़कर और जहाँ तक उनका आज तक अनुकरण हुआ है, उस पर विचार कर यही सिद्धान्त निकलता है कि जब तक कचहरियों में भाषा की कार्यवाही फारसी अक्षरों में लिखी जायगी तब तक सम्भव नहीं है कि हिन्दुस्तानी भाषा में से अरबी और फारसी के शब्द छाँट दिये जायँ और ऐसी सरल भाषा का प्रचार हो जैसी होने के लिए गवर्नमेण्ट गत 60 वर्षों में बार-बार अपनी इच्छा प्रकट करती आयी है।

यह माना जा सकता है कि जैसी आज्ञाएँ गवर्नमेण्ट ने आज तक निकाली हैं उनसे कड़ी आज्ञा को निकाल कर कचहरियों की भाषा सरल हो सकती है पर उसकी इच्छा का निर्वाह पूर्ण रीति से तब तक नहीं हो सकता है और न उसका होना ही सम्भव है जब तक हिन्दुस्तानी भाषा हिन्दुस्तानी (नागरी) अक्षरों में न लिखी जायगी। कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स ने यह आज्ञा दी थी कि न्यायालयों की समस्त कार्यवाही उस स्थान की देश-भाषा में हो और जब श्रीमान् गवर्नर जनरल ने यह कहा था कि माल और न्याय सम्बन्धी सब कार्यवाही उसी भाषा में हो जिसे सर्वसाधारण समझ सके तथा जब उन्होंने फारसी के स्थान पर देश भाषा के प्रचार की आज्ञा दी थी तब उनका यही आशय था कि देशी-भाषा का प्रचार देशी-अक्षरों में और न कि विदेशी-अक्षरों में। जब कभी हम किसी भाषा के विषय में कुछ कहते हैं तब उन अक्षरों का आशय जिनमें वह भाषा साधारणतः लिखी जाती है, हमारे कथन के अन्तर्गत माना जाता है। गवर्नमेण्ट ने जब देश-भाषा के प्रचार की आज्ञा दी थी तो उस आज्ञा का स्पष्ट उद्देश्य यही था कि कचहरियों की कार्यवाही ऐसी भाषा और ऐसे अक्षरों में हो कि जिसे सर्वसाधारण भली-भाँति से समझ और पढ़ सकें और यह उद्देश्य तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक देश भाषा का प्रचार विदेशी अक्षरों में रहेगा।

आरम्भ में यह लिखा जा चुका है कि सन् 1830 और 1837 के बीच में इस बात पर विवाद चला था कि फारसी के स्थान पर किस भाषा का प्रचार हो। उस समय कुछ लोगों की यह सम्मति थी कि देश-भाषा का प्रचार हो परन्तु रोमन अक्षरों में। पर गवर्नमेण्ट ने इस सम्मति को स्वीकार नहीं किया। इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि गवर्नमेण्ट की यही इच्छा थी कि देश भाषा का प्रचार देशी-अक्षरों में ही हो। पुनः सन् 1893 ई० में यह रोमन का झगड़ा उठा था और उस समय श्रीमान् लेफ्टिनेन्ट गवर्नर ने इस पर विचार करने के लिए एक छोटी-सी कमेटी बना दी थी पर उस कमेटी की सम्मति, जो रोमन के क्रमशः प्रचार के पक्ष में थी, गवर्नमेण्ट को स्वीकृत न हुई और श्रीमान् सर एण्टोनी पाट्रिक म्याकड्योनेल ने यह सोचकर कि रोमन के प्रचार होने से सरकारी अफसरों को देश-भाषा सीखने की बाध्यता कम हो जायगी जो किसी प्रकार से वांछनीय नहीं है, उस प्रस्ताव को अस्वीकृत किया। भारतवासियों को निज-भाषा को विदेशी अक्षरों में लिखने को कहना उतना ही समीचीन जान पड़ता है जितना कि अँग्रेजों से निज भाषा को नागरी अक्षरों में लिखना-कहना होगा। एक शताब्दी तक उद्योग करने पर भी रोमन को सफलता प्राप्त न हुई और यह आशा कदापि नहीं की जा सकती कि प्राइमरी शिक्षा की उन्नति के साथ-साथ कभी वह भी अवसर आवेगा जब रोमन का किसी प्रान्त में प्रचार हो।

पर यह समझ में नहीं आता कि जब गवर्नमेण्ट ने रोमन अक्षरों को अस्वीकार किया तो वह अब तक क्यों फारसी अक्षरों को यथास्थित छोड़े हुई है। जो दोष रोमन अक्षरों पर लगाये जाते हैं वही दोष फारसी अक्षरों पर भी लगाये जा सकते हैं।

इस बात के कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि ये अक्षर विदेशी हैं और यद्यपि मुसलमानी राज्य के प्रारम्भ से इनका प्रचार अदालतों में है, पर अब तक शिक्षित मुसलमानों और हिन्दुओं को छोड़कर जिन्हें अपनी जीविका के लिए उन्हें सीखना पड़ता है और कोई भी इन्हें नहीं सीखता। जन-साधारण तो इन्हें नाम मात्र को भी नहीं जानते। वे अपना सब काम नागरी, कैथी या महाजनी अक्षरों की सहायता से चलाते हैं। फारसी अक्षरों के प्रचार से यही फल उत्पन्न होता है कि वे लोग जिनका सर्वस्व अदालतों की कार्यवाहियों पर निर्भर रहता है उनका एक अक्षर भी नहीं जान सकते, जब तक वे अत्यन्त कष्ट उठाकर और बहुत कुछ व्यय करके उन्हें किसी मुहर्रिर या मुख्तार से न पढ़ावें। दर्खास्तें और

अर्जी दावे आदि सब फारसी अक्षरों में लिखे जाते हैं परन्तु वे लोग जो उन पर हस्ताक्षर करते हैं तथा जिनकी ओर से अर्जियाँ कचहरी में दी जाती हैं उनका एक अक्षर भी नहीं समझ सकते। गाँव के लोगों को इससे बहुधा अकथनीय कष्ट उठाना पड़ता है। गवर्नमेण्ट की सदा यह इच्छा रहती है कि प्रजा के लिए सुखकर नियम बनाये जायँ और वैसे ही प्रबन्ध हों तथा इसी इच्छानुसार उसके सब कार्य होते हैं परन्तु यह समझ में नहीं आता कि ऐसी न्यायपरायण गवर्नमेण्ट कथित बातों को जानकर भी प्रजा के कष्ट को क्यों नहीं दूर करती? नागरी अक्षरों के प्रचार से सब कष्ट दूर हो जायेंगे। इस बात को गवर्नमेण्ट स्वीकार भी करती है—क्योंकि अवध में बेदखली आदि की नोटिसें हिन्दी और उर्दू दोनों में निकलती हैं। बोर्ड ऑफ रेवेन्यू ने भी गत वर्ष यह आज्ञा दे दी है कि समन आदि हिन्दी और उर्दू दोनों में लिखे जाया करें। बस इन कागजों को छोड़कर पश्चिमोत्तर प्रदेश में (गढ़वाल और कमाऊँ जिले के व्यतिरिक्त) कहीं भी हिन्दी का प्रचार नहीं है।

फारसी अक्षरों के विषय में केवल यही नहीं कहा जा सकता कि वे विदेशी हैं तथा भारतवासी उन्हें नहीं जानते, वरञ्च ये अक्षर नितान्त अपूर्ण और अत्यन्त भ्रामक हैं। साधारणतः जिस प्रकार से ये अक्षर लिखे जाते हैं और विशेषकर अदालतों में जिस प्रकार की लिखावट होती है उससे बड़ा अनिष्ट होता है। इन अक्षरों में बड़ा भारी दोष यह है कि एक बेर जो लिखा गया उसका ठीक वैसा ही पढ़ा जाना कठिन वरञ्च समय-समय पर तो असम्भव हो जाता है। इन कारणों से अदालतों में इनका प्रचार सर्वथा असमीचीन है। शिकस्तः फारसी से जो अनिष्ट होता है वह छिपा नहीं है। अनेक बेर उस पर लिखा-पढ़ी हो चुकी है। प्रोफेसर मोनियर विलियम्स ने 30 दिसम्बर, सन् 1858 ई० के टाइम्स नाम के पत्र में फारसी अक्षरों के दोष पूर्णरूप से दिखाये हैं। उनका कथन है कि "इन अक्षरों को सुगमता से पढ़ने के लिए वर्षों का अभ्यास आवश्यक है।" वे कहते हैं कि इन अक्षरों में चार 'ज' होते हैं तथा प्रत्येक अक्षर के उसके प्रारम्भिक, मध्यस्थ, अन्तिम या भिन्न होने के कारण चार भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। अन्त में प्रोफेसर साहब कहते हैं कि "चाहे ये अक्षर देखने में कितने ही सुन्दर क्यों न हों पर न कभी पढ़े जाने योग्य हैं, न छपने योग्य हैं और पूरब में विद्या और सभ्यता की उन्नति में सहायक होने के तो सर्वथा अयोग्य हैं।"

डॉक्टर राजेन्द्र लाल, प्रोफेसर डासन और मिस्टर ब्लाकमान तथा राजा शिवप्रसाद आदि बड़े-बड़े विद्वानों ने दृढ़तापूर्वक प्रोफेसर मोनियर विलियम्स के मत का समर्थन किया है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र लिखते हैं कि "फारसी अक्षर

और विशेषकर शिकस्तः जिसमें अदालतों का काम चलता है मुख्तारों, वकीलों और धूर्तों के लिए आय का एक अच्छा मार्ग है। एक ही चिह्न ऐसा बनाओ और यह मान लो कि वह किसी गाँव का नाम है। यदि हम पहले अक्षर को 'बे' माने तो उसका उच्चारण 11 प्रकार से हो सकता है । जैसे—बबर, बपर, बतर, बटर, बसर, बनर, बहर, बयर, बेर, बैर, बीर, फिर यदि हम पहले अक्षर को 'पे' 'मीन' 'ते' 'टे' 'नून' हे का 'ये' मानें तो उस शब्द का उच्चारण 77 प्रकार से हो सकता है । यदि हम कथित शब्दों में से प्रथम आठ शब्दों के स्वर बदल दें तो 60 शब्द और बन जायेंगे जैसे-बुनर, बिनर, हुनर, सियर, आदि । फिर यदि हम अन्तिम अक्षर को 'ज़े' या 'रे' माने तो 304 शब्द बन जाते हैं और यदि हम यह जान लें कि अन्तिम अक्षर 'दाल' है तो 152 शब्द और बन जाते हैं। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि एक शब्द जो तीन अक्षरों का है और जिसके अन्तिम अक्षर के तीन ही भिन्न रूप हो सकते हैं 606 प्रकार से पढ़ा जा सकता है। यदि हम उसी शब्द के अन्तिम अक्षर को 'बे' में बदल दें तो हम एक हजार और नये शब्द बना सकेंगे।" बलिहारी है ऐसे अक्षरों की ! पायनियर पत्र का इस विषय में यह मत है कि आवश्यक कागजात लिखने के लिए तो इनसे बुरे अक्षरों की मन में कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

इस बात के कहने की अब कोई आवश्यकता बाकी नहीं रह गयी कि इन अक्षरों में अदल-बदल होना कोई कठिन कार्य नहीं है क्योंकि एक बिन्दु के देने ही से कुछ-का-कुछ हो जाता है । रहा उन अक्षरों का पढ़ना—कलेक्टर, जज और वकीलों को तो छोड़ दीजिए—बिचारे मुहर्रिर जिन्हें रात-दिन अदालती कागजों के पढ़ने के व्यतिरिक्त और कुछ काम ही नहीं रहता वे भी पहरों एक-एक शब्द पर रुक जाते हैं और उन्हें हल नहीं कर सकते । हिन्दुओं की तो कुछ बात ही नहीं है। वे मुसलमान जो बी० ए० तक अरबी-फारसी पढ़ते हैं, वकालत की परीक्षा में साधारण अदालती लिखावट नहीं पढ़ सकते । अभी थोड़े दिन हुए कि इलाहाबाद हाईकोर्ट में एक बड़ा भारी मुकदमा पेश हुआ था । उसमें एक मनुष्य का नाम ऐसा लिखा था जो झगुरीराय तथा चखुरीराय दोनों तरह से पढ़ा जा सकता था । बहुत दिनों की छान-बीन पर भी यह मुकदमा तय न हुआ और अन्त में प्रिवी काउन्सिल तक गया । वहाँ यह निर्णय हुआ कि झगुरीराय तथा चखुरीराय एक ही मनुष्य का नाम था।[1] नरही तालुका के 29 मुकदमे जिनका फैसला दो वर्ष हुए गाजीपुर के साहब जज ने किया था हाईकोर्ट में पेश हैं । इन मुकदमों का फैसला नामों के

1. See Indian Law Reports 13 A 11. p. 5-7

ठीक-ठीक पढ़े जाने पर निर्भर है। एक मुकदमे में एक नाम कागजों पर कई जगह लिखा मिला जो कहीं सहज कूँवर कहीं सजन कुँवर और कहीं बातकुँवर पढ़ा गया। दूसरे मुकदमे में उदित नारायण का नाम उदय नारायण और बैजनाथ का नाम जयनाथ पढ़ा गया। पुनः हरदयालराय के मुकदमे में भी यही गड़बड़ हुई। पूर्ण आनन्द तो इन मुकदमों का उस समय आवेगा जब इनकी पेशी हाईकोर्ट में प्रारम्भ होगी। ये दो-तीन दृष्टान्त साधारण रीति के यहाँ दिये गये हैं—न जाने कितने मुकदमे ऐसे प्रति-दिन हुआ करते हैं। यह कहना तो कदाचित् ठीक हो कि अदालत जो इन नामों को पढ़ती है वही ठीक है पर यदि यह मान भी लिया जाय तो यह समझ में नहीं आता कि मुद्दई, मुद्दाले, जज आदि सब एक अक्षरों के लिए ही क्यों इतना कष्ट उठावें ? इससे तो वृथा अदालत के समय का तथा गरीब प्रजा के धन का नाश होता है।

यदि नागरी अक्षरों में भी उतनी ही त्रुटि होती जितनी कि फारसी में है तो भी उनका (नागरी अक्षरों) प्रचार होना आवश्यक था क्योंकि उन अक्षरों से प्रजा भली-भाँति विज्ञ है। मिस्टर बड़न के कथनानुसार तो नागरी अक्षरों का कोई कितना ही बड़ा विरोधी और घोर शत्रु क्यों न हो वह यह नहीं कह सकता कि इनमें किसी प्रकार की त्रुटि है। इन अक्षरों की मनोहरता, सुन्दरता, स्पष्टता, पूर्णता और शुद्धता की विद्वानों ने प्रशंसा की है। वरञ्च उसी के आश्रय से रोमन में अन्य भाषाओं के शब्दों के लिखने के लिए नियम और चिह्न बनाये गये हैं। प्रोफेसर मोनियर विलियम्स कहते हैं कि "स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि इन (देवनागरी) अक्षरों से बढ़कर पूर्ण और उत्तम अक्षर दूसरे नहीं हैं"। प्रोफेसर साहब ने तो इनको दैवनिर्मित तक कह दिया है।

रोमन के पक्षपातियों के ध्यान में अक्षर इतने सर्वाङ्गपूर्ण हैं कि उनसे प्रति-दिन का कार्य नहीं चल सकता। उसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष के कई स्थानों में बहुत काल से नागरी अक्षरों का प्रचार है और आज तक वहाँ कार्य करने में किसी प्रकार की कठिनता न हुई। पुनः यह कहा जा सकता है कि नागरी अक्षरों में रोमन के Z और F और अरबी-फारसी के ف ق غ और ز अक्षरों के लिए कोई चिह्न नहीं है। इसके उत्तर में रेवरेण्ड वेट्स कहते हैं कि नागरी अक्षरों के नीचे एक बिन्दु के देने से अरबी और फारसी के प्रत्येक अक्षरों का उच्चारण ठीक-ठीक हो सकता है और उन्हें कोई पुरुष जिसने केवल साधारण शिक्षा पायी है सुगमता से समझ सकता है। सर आईजेक पिटम्यान ने कहा है कि "संसार में सर्वांगपूर्ण यदि कोई अक्षर है तो वह हिन्दी है।" बम्बई सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस सर अर्सकिन पेरी ने Notes to Oriental Cases की भूमिका में लिखा

है कि "एक लिखित लिपि की सर्वाङ्गपूर्णता यही जान पड़ती है कि प्रत्येक शब्द का उच्चारण उसके देखने से ही ज्ञात हो जाय और यह गुण देवनागरी अक्षरों में जिनमें संस्कृत लिखी जाती है दूसरे भारतवर्षीय अक्षरों की अपेक्षा अधिक पाया जाता है।"

इस गुण से लाभ यह है कि हिन्दू बालकों ने जहाँ अक्षर पहिचान लिये कि वे सुगमता से और बिना रुकावट के पढ़ने लग जाते हैं, वह भारतवर्ष में केवल तीन-मास में आ जाती है। पायनियर पत्र में भी 10 जुलाई, सन् 1873 ई० के पत्र में लिखा है कि "नागरी अक्षर धीरे में लिखे जाते हैं परन्तु जब एक बेर लिख गये तो छपे हुए के समान हो जाते हैं, यहाँ तक कि उनमें लिखे हुए पद को एक ऐसा पुरुष जिसे उसके अर्थ की आभा मात्र भी नहीं ज्ञात है उन्हें शुद्धतापूर्वक पढ़ लेगा।"

इस बात के विचार करने में अत्यन्त दुःख होता है कि ऐसी उदार गवर्नमेण्ट ने जो नाना प्रकार के प्रजा के सुख बढ़ाने की चेष्टा करती है और इस बात की चिन्ता रखती है कि वे लोग सुगमता से कचहरियों की कार्रवाईयों को समझ सकें, उसने नागरी ऐसे उत्तम और पूर्ण अक्षरों का जिनका हजारों वर्ष से यहाँ प्रचार है, निरादर करके यहाँ की कचहरियों में बहु-दोषपूर्ण तथा अत्यन्त भ्रामक फारसी अक्षरों का प्रचार कर रखा है। इस बात के यहाँ ध्यान कर लेने की आवश्यकता है कि बारह सौ वर्ष तक फारसी अक्षरों के सम्मान और नागरी अक्षरों के तिरस्कार होने पर भी यहाँ की प्रजा का अविकल प्रेम नागरी अक्षरों पर से जरा-सा भी नहीं घटा है वरञ्च आज तक उसी में अथवा महाजनी कैथी आदि उसके अन्य रूपों में सर्वसाधारण का सब काम चलता है। पुनः यह कहा जा चुका है बोर्ड आफ रेवेन्यू ने अपने 8 मई, सन् 1857 के आज्ञापत्र में यह लिखा था कि यहाँ की साधारण प्रजा, काश्तकार और जमींदारों में नागरी अक्षरों का ही प्रचार है और इसी बात पर यह आज्ञा दी थी कि पटवारियों के कागजात उन्हीं अक्षरों में लिखे जायें। उस कथन के साथ-ही-साथ एक बात का यहाँ और कह देना आवश्यक है कि मिस्टर टाम्सन के समय में इन प्रान्तों में प्राइमरी शिक्षा का प्रादुर्भाव हुआ और उसी समय कुछ स्कूली पुस्तकें हिन्दी और उर्दू में छापी गयीं। सन् 1850-51 में 14, 331 पुस्तकें बिकीं जिनमें से 9087 हिन्दी की, 1307 उर्दू की और 937 उर्दू-हिन्दी की थीं। शिक्षा विभाग की सन् 1863-64 की रिपोर्ट के 61 पृष्ठ में लिखा है कि इस वर्ष में 305748 पुस्तकें छपीं और खरीदी गयीं। इनमें से 50260 उर्दू की, 209980 (जिनमें 2000 नक्शे

थे) हिन्दी की, 10000 फारसी की और 19808 अंग्रेजी की थीं तथा 9000 हिन्दी-उर्दू के नक्शे थे। इसी प्रकार से North-India Bible and Tract Society की रिपोर्ट में हिन्दी ग्रन्थों की अधिकता प्रति वर्ष देख पड़ती है। मिस्टर ग्राउस ने एजूकेशन कमीशन को सन् 1882 ई० में लिखा था कि "बुलन्द शहर ऐसे मुसलमानी जिलों में जहाँ से कि मैं लिख रहा हूँ म्युनिसिपल कमेटियो के आधे से अधिक सभासद इस देश के अक्षरों (नागरी) को ही पढ़ सकते हैं। तहसीली कमेटियों में तो इनकी संख्या इससे भी अधिक होगी।" सन् 1891 की मनुष्य-गणना लिखने पर जितने लोग नियुक्त किये गये थे उनमें से 80118 ने हिन्दी में, 40197 ने कैथी में (जो हिन्दी का एक रूपान्तर है) लिखा अर्थात् सब मिलाकर 120315 लोगों ने हिन्दी में और 54244 ने फारसी में लिखा। जिस समय गाँवों में स्कूल खोले गये उस समय हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या, उर्दू पढ़ने वालों से छह गुनी थी और अब पचास वर्ष तक उर्दू का आदर और हिन्दी की निरादर रहने पर भी 31 मार्च, सन् 1896 को 105446 बालक हिन्दी और 52669 बालक उर्दू पढ़ते थे।

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक प्रकार से हतोत्साह होने पर भी इन प्रान्तों में हिन्दी अक्षर फारसी अक्षरों से कहीं अधिक प्रयोजनीय हैं। फारसी अक्षरों का जो कुछ प्रचार है वह केवल इसी बात पर निर्भर है कि अदालतों का काम उन्हीं अक्षरों द्वारा होता है। आज यदि नागरी अक्षरों का प्रचार फारसी अक्षरों के स्थान पर हो जाय तो कलही फारसी या उर्दू पढ़ने वालों की संख्या घट जायगी। 31 मार्च, सन् 1896 ई० को वर्नाक्यूलर प्राइमरी स्कूलों में 1,35,497 हिन्दू और 21,510 मुसलमान बालक शिक्षा पाते थे। उनमें से 52,669 उर्दू पढ़ते थे। अब यदि यह मान लिया जाय कि प्रत्येक मुसलमान उर्दू पढ़ता है (यद्यपि वास्तव में यह बात नहीं है) तो 31,000 हिन्दू बालकों को बाल्यावस्था से ही उर्दू सीखना पड़ता है जिसके सीखने में हिन्दी के बदले अधिक समय लगता और विशेष कठिनता होती है। इस प्रकार से उर्दू सीखने का मुख्य कारण यही है कि जीविका-निर्वाह के लिए वह अत्यन्त आवश्यक है। यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दी अदालतों में नागरी अक्षरों का प्रचार हो जाय तो केवल हिन्दू ही नहीं वरंच मुसलमान भी उर्दू सीखना छोड़कर गुण-आगरी नागरी के सीखने में अपना समय और द्रव्य लगावेंगे। अतएव जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है उससे अब यह स्पष्ट है कि न्याय, योग्यता और आवश्यकता पर ध्यान देकर अब नागरी अक्षरों के प्रचार की आज्ञा देने में कोई बाधा न होनी चाहिए। कुछ

लोगों का यह कहना है कि नागरी अक्षरों में उतनी शीघ्रता से काम नहीं हो सकता जितना कि फारसी में हो सकता है। प्रथम इस बात में सन्देह है कि वास्तव में इन प्रान्तों की कचहरियों और दफ्तरों में मुहर्रिर लोग उससे अधिक शीघ्रता से काम कर सकते हैं जितनी शीघ्रता से कमाऊँ, बिहार, मध्य प्रदेश आदि स्थानों में हिन्दी में होता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि फारसी में अधिक शीघ्रता से काम चलता है तो भी यह बात ऐसी नहीं है जिससे नागरी के गुणों तथा स्वत्वों में किसी प्रकार की न्यूनता होती हो। शिकस्त लिखने में यदि अदालत का कुछ थोड़ा-सा समय बच जाता है। तो इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि उन्हीं कागजों के पढ़ने में कितने समय का नाश होता है और अन्त में नामों आदि के विषय में जो सन्देह बाकी रह जाता है। सर्व-साधारण का समय बहुमूल्य है और उसका व्यर्थ नाश होना कदापि उचित नहीं है। सर्व-साधारण के समय से केवल क्लार्कों का तथा उन अफसरों का समय जो साक्षी आदि लिखते हैं नहीं समझना चाहिए वरंच नकल करने वालों, अनुवाद करने वालों और उन अदालतों का समय भी जिन्हें कागजों को अन्त में पढ़ना या पढ़ाना पड़ता है उसी में गिनना चाहिए। इसके व्यतिरिक्त न्याय पर और प्रजा के सुभीते पर ध्यान रखना उचित है। कागजों और पत्रों के शुद्ध और स्पष्ट लिखे जाने के गुण टाइप राइटरों के अधिक प्रचार से इतने स्पष्ट हो रहे हैं कि अब इस बात के कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि नागरी अक्षरों का प्रचार केवल इसी कारण से न होना अनुचित है कि ये शिकस्तः के बराब्रर शीघ्र नहीं लिखे जा सकते। रीवा, बिहार, मध्य प्रदेश और कमाऊँ आदि स्थानों में नागरी अक्षरों के प्रचार से यह बात अब स्वतः सिद्ध हो गयी है कि ये उतनी शीघ्रता और सुगमता से लिखे जा सकते हैं जितनी की अदालतों में आवश्यकता है। यदि फारसी अक्षर नागरी से अधिक शीघ्रता से लिखे जा सकते हैं तो वे गुजराती, बंगाली, मराठी और कैथी आदि से भी जो नागरी के रूपान्तर हैं शीघ्र लिखे जा सकते हैं परन्तु गवर्नमेण्ट ने प्रजा के सुभीते और न्याय पर ध्यान देकर इन्हीं अक्षरों का प्रचार कर रखा है। इसलिए यह आवश्यक है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध की कचहरियों और दफ्तरों में फारसी के स्थान पर नागरी अक्षरों का प्रचार किया जाय।

और भी कई कारण ऐसे हैं जिनसे इस देशवासियों की भाषा और उनके अक्षरों को दफ्तरों और कचहरियों में उनके योग्य स्थान मिलना चाहिए। इनमें से मुख्य कारण प्राइमरी (प्रारम्भिक) शिक्षा और उसके साथ प्रजा की उन्नति है।

सन् 1854 के शिक्षा विषयक आज्ञा-पत्र में जिस पर भारतवर्ष में शिक्षा का प्रचार निर्भर है कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने लिखा था कि "कई आवश्यक विषयों में से शिक्षा के विषय पर हम लोगों को सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए। हम लोगों का यह सबसे मुख्य कर्तव्य है कि जहाँ तक हम लोगों से बन पड़े भारतवासियों को वह भौतिक और नीतियुत् नेमतें दें जो विद्या के प्रचार से उत्पन्न होती हैं और जिन्हें भारतवर्ष ईश्वर की दया से इंगलैण्ड के साथ निज सम्बन्ध के कारण प्राप्त करे।" इसके उपरान्त यह दिखला कर कि गवर्नमेण्ट ने क्या किया है और क्या वह कर सकती है कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने लिखा है कि "हम लोगों का ध्यान अब एक-दूसरे विचार की ओर होना आवश्यक है, जिस पर, हमें स्वीकार करना पड़ेगा, कि आज तक कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया अर्थात् वह कौन-सी रीति है जिससे हम लोग भारतवर्ष की प्रजामात्र को जो स्वतः किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकती ऐसी आवश्यक और अमली शिक्षा दे सकें जो सब वर्ग की प्रजा के उपयुक्त हो। हम लोगों की यह इच्छा है कि गवर्नमेण्ट का उद्योग विशेष कर भविष्यत् में इस उद्देश्य की सफलता के लिए प्रेरित हो और हम लोग इसके लिए विशेष धन व्यय की आज्ञा देने को उद्यत हैं।"

इसके 28 वर्ष उपरान्त भारत गवर्नमेण्ट ने 'एजूकेशन कमीशन' नियम करते समय लिखा था कि "श्रीमान् गवर्नर जनरल की इच्छा है कि कमीशन को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि गवर्नमेण्ट प्राइमरी शिक्षा के विषय को कितना अधिक आवश्यक समझती है।............अतएव कमीशन की जाँच का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि भारतवर्ष भर में प्राइमरी शिक्षा की क्या अवस्था है और उसकी उन्नति तथा उसके प्रचार के लिए क्या-क्या उद्योग करने चाहिए।" जाँच और विचार करने पर एजूकेशन कमीशन ने एकमत होकर यह सम्मति दी कि गवर्नमेण्ट को प्राइमरी शिक्षा ही पर मुख्य ध्यान देना चाहिए और उसके लिए वह सब धन व्यय होना उचित है जो शिक्षा के लिए "लोकल फण्ड" से अलग कर दिया गया है तथा प्रान्तिक आय से भी इसके लिए अधिक धन लेना चाहिए। यह सम्मति गवर्नर जनरल और सेक्रेटरी आफ स्टेट दोनों को स्वीकृत हुई और तब से प्रतिवर्ष श्रीमान् वाइसराय प्राइमरी शिक्षा की उन्नति पर आनन्द प्रकट करके यह आशा प्रकट करते हैं कि प्रान्तिक गवर्नमेण्टों का उद्योग इस ओर प्रति दिन बढ़ता जाय। श्रीमान् सर एण्टोनी म्याकडोनेल ने भी प्राइमरी शिक्षा पर पूरा-पूरा जोर दिया है तथा वह इसकी उन्नति को अपने शासन-काल का मुख्य कर्तव्य मानते हैं। अतएव अब प्राइमरी शिक्षा की आवश्यकता

और उस सम्बन्ध में गवर्नमेण्ट की इच्छा के विषय में कोई सन्देह बाकी नहीं रह गया और न इसी बात में कोई सन्देह है कि इस शिक्षा का प्रचार सफलतापूर्वक देश-भाषा के द्वारा हो सकता है। मिस्टर फ्रेडरिक जान शोर ने लिखा है कि "भारतवासियों में से अधिकांश लोगों को उनकी देश-भाषा द्वारा शिक्षित बनाना चाहिए तथा इसी के द्वारा वे शिक्षित बनाये जा सकते हैं।" विद्वान् मेकाले ने भी यही बात कही है "जब उद्देश्य केवल प्राइमरी शिक्षा हो तो उसे देशवासियों की ही भाषा द्वारा सिखाना सबसे सुगम है।" कोर्ट आफ डाईरेक्टर्स ने सन् 1854 के आज्ञा-पत्र में लिखा है कि "न हम लोगों का यह उद्देश्य है और न इच्छा ही है कि देश-भाषा के स्थान पर अंग्रेजी पढ़ायी जाय। हम लोगों ने सदा उन भाषाओं के प्रचार की आवश्यकता पर उचित ध्यान दिया है जिन्हें देशवासियों का समूह जानता हो। इन भाषाओं को और न कि अंग्रेजी को हम लोगों ने कचहरियों में तथा सरकारी अफसरों और प्रजा के परस्पर व्यवहारों में फारसी के स्थान पर प्रचलित किया है। यह अनिवार्य है कि शिक्षा-प्रणाली में इन देश-भाषाओं की शिक्षा पर दृढ़ता से ध्यान दिया जाय और इन्हीं के द्वारा उन उन्नत यूरोपीय विद्याओं का भारतवासियों में प्रचार होना चाहिए जिनकी आवश्यकता हो और जिन्हें वे विदेशी भाषा की कठिनाइयों के या निज अवस्था के कारण न सीख सकते हों। शिक्षा देने में अंग्रेजी उन्हीं स्थानों में पढ़ायी जानी चाहिए जहाँ उसकी चाह हो परन्तु अंग्रेजी के साथ-साथ उस जिले की देश-भाषा के तथा अन्य साधारण बातों के जिनकी शिक्षा उसमें हो सकती हो, सिखाने पर ध्यान रहे। उन लोगों में जिन्होंने अंग्रेजी द्वारा विद्या अध्ययन करने की योग्यता प्राप्त कर ली है, उसी द्वारा शिक्षा दी जाय पर उन लोगों की शिक्षा देश-भाषा ही द्वारा हो जो अंग्रेजी न जानते हों।" इस मत का अनुमोदन सेक्रेटरी आफ स्टेट ने सन् 1859 में किया तथा एजूकेशन कमीशन ने जाँच और विचार के उपरान्त यह निश्चय किया कि "प्राइमरी शिक्षा वह है जो देश-भाषा द्वारा जनसाधारण को ऐसे विषयों में दी जाय जो उनके लिए उपयोगी हो और जो यूनिवर्सिटी शिक्षा के आरम्भिक रूप न समझे जाते हों।" इस परिभाषा को गवर्नमेण्ट ने स्वीकार किया और तभी से इसे निश्चित समझना चाहिए। तो अब प्रत्येक प्राइमरी शिक्षा सम्बन्धी प्रबन्ध में इस बात का विचार आवश्यक हुआ कि यहाँ के लोगों की देश-भाषा कौन-सी है जिसके द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए। इस लेख के प्रारम्भ में यह बात सिद्ध हो चुकी है कि इस प्रान्त की भाषा हिन्दी है। उर्दू में फारसी और अरबी शब्दों की अधिकता तथा उसके विदेशी अक्षरों में लिखे जाने के कारण शिक्षित मुसलमानों

और अमलों को छोड़कर जन-साधारण में वह कहीं प्रचलित न हुई। इसी कारण से इसके द्वारा प्राइमरी शिक्षा का प्रचार यथेच्छ नहीं हो सकता। पश्चिमोत्तर प्रदेश की गवर्नमेण्ट ने इस बात को प्रारम्भ में समझकर यह आज्ञा दी थी कि स्कूलों में हिन्दी पढ़ायी जाय परन्तु जब उर्दू का प्रचार अदालतों में किया गया तो यह आवश्यक हुआ कि उसके अध्ययन में लोग उत्साहित किये जायँ। इसी उद्देश्य से गवर्नमेण्ट ने सन् 1844 ई० में इस प्रचार पर जोर दिया कि उर्दू के पढ़ने वाले उत्साहित किये जायँ। परन्तु किसी प्रकार के उत्साह की आवश्यकता न थी। अदालतों में उर्दू का प्रचार ही उसकी उन्नति का प्रधान कारण हुआ। इससे हिन्दी को जिसके द्वारा ही केवल प्राइमरी शिक्षा उत्तम रीति से दी जा सकती है अधिक हानि पहुँची। उर्दू पढ़ने वालों को सरकारी नौकरी की आशा थी पर बिचारे हिन्दी पढ़ने वालों को कोई आशा न थी। जिन्हें सरकारी नौकरी की इच्छा थी या जो वकालत किया चाहते थे उन्होंने उर्दू पढ़ना प्रारम्भ किया परन्तु जिन्हें न किसी बात की आवश्यकता थी और न जो सरकारी नौकरी के लिए ही लालायित थे उन्होंने एक कठिन विदेशी भाषा के सीखने में कोई लाभ न समझा और न यही चाहा कि निज मातृ-भाषा हिन्दी के सीखने के लिए वे स्कूलों के नियमों से बद्ध हों क्योंकि इस पर उर्दू पढ़ने वाले निरादर की दृष्टि से देखने लगे और फिर इस पढ़ने में किसी प्रकार का उत्साह तो कहीं से मिलता ही न था बस हिन्दी की उन्नति तथा उसके प्रचार का अन्त तो अधिकांश लोगों में हो गया। जिन्हें किसी प्रकार से नागरी जानना आवश्यक हुआ उन्होंने उसे घर पर या पाठशाला में पढ़ लिया। इसलिए जनसाधारण में हिन्दी के विशेष प्रचार का कोई प्रयोजनीय कारण न रहा। इस प्रकार से जहाँ किसी काल में अत्यन्त पंडित और सभ्य आर्य लोग बसते थे आज उसी पश्चिमोत्तर प्रदेश को सब प्रान्तों से मूर्ख और असभ्य बनने का दिन प्राप्त हुआ।

सन् 1843 ई० में इस प्रान्त के शिक्षा विभाग का प्रबन्ध भारत गवर्नमेण्ट ने प्रान्तिक गवर्नमेण्ट के हवाले किया। उस समय यहाँ के लेफ्टनेण्ट गवर्नर मिस्टर टाम्सन थे। उन्होंने देश-भाषा में प्राइमरी शिक्षा का देना निश्चय किया और उसी उद्देश्य से प्रत्येक तहसील में एक-एक वर्नाक्यूलर स्कूल खोले गये। इसके थोड़े ही काल उपरान्त हलका-बन्दी स्कूल खले। निदान गवर्नमेण्ट के उत्साह, उत्तेजना और सहायता से देशी स्कूलों की संख्या बढ़ी और जमींदारों ने अपनी आय पर एक रुपया सैकड़ा शिक्षा के लिए देना स्वीकार किया। इस प्रबन्ध से प्राइमरी शिक्षा के उन्नति की पूर्ण आशा और सम्भावना हुई तथा कोर्ट आफ

डाइरेक्टर्स ने अपने 1854 ई० के आज्ञा-पत्र में मिस्टर टाम्सन के प्रबन्ध की बड़ी प्रशंसा की और अन्य प्रान्तिक गवर्नमेण्टों को उसके अनुकरण की सम्मति दी तथा उसके अनुसार आवश्यक परिवर्तन सहित सब प्रान्तों में प्रबन्ध हुआ। पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़कर अन्य प्रान्तों में इस प्राइमरी शिक्षा के प्रबन्ध की पूर्ण सफलता हुई परन्तु जहाँ से इसका जन्म हुआ वहाँ की दशा अत्यन्त शोचनीय देख पड़ी। इसका करण यही है कि अन्य प्रान्तों में वहीं की भाषा में शिक्षा का प्रचार हुआ परन्तु यहाँ की कचहरियों में मातृ-भाषा हिन्दी के बदले उर्दू का प्रचार किया गया जो प्राइमरी शिक्षा की उन्नति का मुख्य अवरोधक हुआ।

सन् 1862 ई० में एक महाशय ने कलकत्ता रिव्यू में एक लेख "उड़ीसा में देश-भाषा की शिक्षा" पर लिखा था। उसके अनुसार सन् 1853 ई० में पश्चिमोत्तर प्रदेश के उन आठ जिलों में जहाँ प्राइमरी शिक्षा के प्रचार का पूर्ण उद्योग किया गया था और जहाँ 42,72,000 मनुष्य बसते थे केवल 3469 स्कूल और 33884 विद्यार्थी थे तथा सन् 1854 ई० में उड़ीसा के कटक, पुरी और वालासोर जिलों में जहाँ के (पुरुष) वासियों की संख्या 10,00,000 के निकट होगी 3085 स्कूल और 27,000 विद्यार्थी थे। पश्चिमोत्तर प्रदेश में यह फल राजा और प्रजा दोनों के और उड़ीसा में केवल प्रजा के ही उत्साह और उद्योग से प्राप्त हुआ। इसका कारण यह है कि उड़ीसा की कचहरियों में तद्देश निवासियों की मातृ-भाषा उड़िया का प्रचार है परन्तु पश्चिमोत्तर प्रदेश में एक विदेशी भाषा और विदेशी अक्षरों से ही सब सरकारी काम लिया जाता है। इसी कारण उड़ीसा में विद्याध्ययन की अधिकता और यहाँ उसी बात का अभाव हुआ। कचहरियों में उर्दू का प्रचार होने पर भी 30 सितम्बर, सन् 1854 के आज्ञापत्र में बोर्ड आफ रेवेन्यू ने यह आदेश किया कि पटवारियों के कागजात हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों में लिखे जायँ। इस पर लोगों को यह आशा हुई कि अब गवर्नमेण्ट हिन्दी के स्वत्वों पर विचार कर उसका कचहरियों में प्रचार करेगी, इसलिए हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या उर्दू पढ़ने वालों से छह गुनी हो गयी परन्तु यह अवस्था बहुत थोड़े काल तक रही। जब लोगों ने यह देखा कि कचहरियों की भाषा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और न होने की आशा है तथा उर्दू जानने वालों की पूछ है और वे उच्च पद प्राप्त कर अपनी प्रत्येक प्रकार से उन्नति कर रहे हैं और हिन्दी जानने वालों की कहीं कोई सुध भी नहीं लेता तो उन्हें हार कर निज मातृ-भाषा पर से प्रेम तोड़ना और उर्दू भाषा के अध्ययन की ओर दत्तचित्त होना पड़ा। पर इस भाषा की कठिनता ने उनको कृत-कार्य न होने

दिया और अन्त में केवल वे ही लोग शिक्षाकांक्षी रह गये जिन्हें सरकारी नौकरी के व्यतिरिक्त और कोई उपाय जीविका-निर्वाह का न था। इस प्रकार से गवर्नमेण्ट का जन-साधारण में विद्या फैलाने का उद्योग निष्फल हुआ। इस कथन की पुष्टि निम्नलिखित टेबुल से होती है :—

हल्कावंदी स्कूलों में हिन्दी और उर्दू पढ़ने वालों की संख्या

वर्ष	(पश्चिमोत्तर प्रदेश कमाऊँ और गढ़वाल को छोड़कर)		कमाऊँ और गढ़वाल
	उर्दू वा फारसी	हिन्दी	हिन्दी
1860—61	11490	69134	....
1861—62	17431	72648	......
1862—63	20073	73726	1187
1863—64	20180	73625	1567
1864—65	21618	60673	2127
1865—66	21982	76516	1363
1866—67	24058	80961	1412
1867—68	25657	76300	1502
1868—69	32377	79023	1336
1869—70	32445	74372	2055
1870—71	34621	77778	3173
1871—72	48665	88179	4145
1872—73	43629	76476	5198
1873—74	48229	85820	6708

ये सब संख्याएँ शिक्षा विभाग की रिपोर्ट से ली गयी हैं। इसके पीछे की रिपोर्टों में हिन्दी और उर्दू पढ़ने वालों की संख्या अलग-अलग नहीं दी गयी है परन्तु यह लगाया गया है कि 31 मार्च सन् 1866 ई० को 50316 बालक उर्दू और 100404 हिन्दी पढ़ते थे। अब इन संख्याओं से यह सिद्ध होता है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश में (गढ़वाल और कमाऊँ को छोड़कर) जहाँ कचहरियों में उर्दू भाषा का प्रचार है सन् 1862-1863 में उर्दू और हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या 93799 थी और बारह वर्ष उपरान्त सन् 1873-74 में यह संख्या केवल 134049 हो गयी अर्थात् दूनी से कुछ कम। गढ़वाल और कमायूँ स्थानों में जहाँ की कचहरियों में हिन्दी भाषा का प्रचार है सन् 1862-63 में पढ़ने वालों की संख्या 1187 थी और बारह वर्ष उपरान्त 6708 अर्थात् छह गुनी हो गयी। तो इससे अब यह स्पष्ट हुआ कि बारह वर्ष में हिन्दी भाषा और नागरी

अक्षरों के कारण पढ़ने वाले छहगुने अधिक हो गये। इस बात का अनुभव सबसे प्रथम राजा शिवप्रसाद को हुआ था और उन्होंने उर्दू के प्रचार पर निज Memorandum on Court Character शीर्षक लेख में दुःख प्रगट किया है। राजा शिवप्रसाद ने प्राइमरी शिक्षा के प्रचार न होने का कारण कचहरियों में फारसी अक्षरों का प्रचार बताया तथा इस आपत्ति के दूर करने के लिए नागरी अक्षरों के प्रचार करने की सम्मति दी पर किसी ने उस पर ध्यान न दिया। इसके कुछ काल उपरान्त सर विलियम म्योर को एक मेमोरियल दिया गया जिसमें कचहरियों और दफ्तरों में नागरी अक्षरों के प्रचार के लिए प्रार्थना की गयी थी। इस मेमोरियल में भी दिखाया गया था कि बिना नागरी अक्षरों के प्रचार के इस देश में विद्या फैल नहीं सकती। सन् 1874 के जनवरी मास में गवर्नमेण्ट ने यह उत्तर दिया कि समयानुसार गवर्नमेण्ट उस पर भली-भाँति से विचार करेगी। सन् 1873-74 की रिपोर्ट में शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर ने भी हिन्दी के प्रचार पर जोर दिया। उनकी यह सम्मत्ति थी कि उर्दू उन्हीं जगहों में पढ़ाई जाय जहाँ उसकी आवश्यकता या चाह हो और सर्वसाधारण की शिक्षा हिन्दी भाषा ही द्वारा होनी चाहिए। सर्वसाधारण की प्रार्थना और शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर की सम्मति पर कोई ध्यान न दिया गया और गवर्नमेण्ट ने स्पष्ट रूप से यह कह दिया कि हिन्दी का प्रचार कचहरियों में नहीं किया जा सकता और न उनके पढ़ने वालों को उत्साहित करने की आवश्यकता है क्योंकि हिन्दी जानने वालों की संख्या उर्दू जानने वालों से कहीं अधिक है। गवर्नमेण्ट ने केवल यही नहीं कहा पर दो वर्ष उपरान्त सन् 1877 में यह आज्ञा दे दी कि कोई मनुष्य जिसने उर्दू या फारसी में एंग्लो वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा न पास की हो किसी दफ्तर में दस रुपये या उससे ऊपर की नौकरी न पावे चाहे उस दफ्तर में केवल अंग्रेजी की ही आवश्यकता क्यों न हो। इस प्रकार से हार कर लोगों को हिन्दी छोड़ उर्दू पढ़ना पड़ा। इस आज्ञा का प्रचार सन् 1896 तक रहा जब सर एण्टोनी म्याकडोनेल ने इसे रद्द कर दिया, पर 20 वर्ष तक सन् 1877 की आज्ञा के प्रचार से जो हानि विद्या के प्रचार तथा हिन्दी की उन्नति को हुई है, उस घटी का पूरा होना तब तक असंभव है जब तक इसका उचित उपाय न किया जाय। ऊपर यह बात दिखायी जा चुकी है कि प्रजा के मन में यह बात किस प्रकार से क्रमशः जमने लगी कि हिन्दी के पढ़ने से कोई लाभ नहीं है वरञ्च जीविका-निर्वाह का भी ठिकाना नहीं हो सकता पर उर्दू के पढ़ने में लाभ है तथा यह भी दिखाया गया है कि उसी सिद्धान्त के अनुसार हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या घटने लगी। सन् 1877 की आज्ञा से यह

बात और भी बढ़ी। सन् 1873-74 की वर्नाक्यूरल मिडिल परीक्षा के लिए 434 बालकों ने उर्दू और 1315 ने हिन्दी पढ़ी अर्थात् हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या तिगुनी थी और सन् 1895-96 में 2814 बालकों ने उर्दू में और 785 बालकों ने हिन्दी में परीक्षा दी अर्थात् उर्दू पढ़ने वालों की संख्या चौगुनी हो गयी।

जब हम परीक्षा के परिणाम पर ध्यान देते हैं तो यह देख पड़ता है कि हिन्दी में पास करने वालों की संख्या उर्दू वालों से अधिक होती है। यहाँ पर इस कथन की पुष्टि के लिए गत पाँच वर्ष की अवस्था नीचे दिखाते हैं।

बर्ष	उर्दू			हिन्दी		
	परीक्षा दी	पास हुए	प्रति सै०	परीक्षा दी	पास हुए	प्रति सै०
1891—92	2727	1121	41	628	351	56
1892—93	2689	1254	47	724	426	59
1893—94	2967	1428	48	792	406	51
1894—95	2931	1205	41	814	386	47
1895—96	2814	1247	44	785	474	60

वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा में व्याकरण और साहित्य को छोड़कर हिन्दी और उर्दू के सब ग्रन्थ एक ही से हैं। अतएव जब हिन्दी पढ़ने वाले अधिक पास होते हैं तो उससे यह सिद्ध होता है कि उस भाषा में वे विद्या सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं। इन बातों के रहने पर गवर्नमेण्ट का ध्यान हिन्दी की ओर क्यों नहीं होता इसका कुछ कारण समझ में नहीं आता।

उर्दू के आदर और हिन्दी के निरादर से केवल यही परिणाम नहीं हुआ कि हिन्दी पढ़ने वालों को हठात् उर्दू पढ़ायी जाय और इसमें उद्योग व्यर्थ नष्ट किया जाय परन्तु इससे बड़ी भारी हानि यह हुई है कि पढ़ने वालों की संख्या घट गयी। अन्य-अन्य प्रांतों में जहाँ वहीं की देश-भाषा का कचहरियों में प्रचार है, पढ़ने वालों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती चली जाती है। सबसे पहले प्राइमरी शिक्षा का प्रचार बम्बई और पश्चिमोत्तर प्रदेश में हुआ। बम्बई की जनसंख्या पश्चिमोत्तर प्रदेश से आधी है पर वहाँ सन् 1870-71 में 159628 बालक प्राइमरी स्कूलों में पढ़ते थे और यहाँ 153252 बालक अर्थात् बम्बई से छह हजार कम। इसके पहले और किसी प्रान्त में प्राइमरी शिक्षा के लिए नियमित रूप से कोई उद्योग नहीं हुआ था। इसी कारण से यहाँ इतनी सफलता देख पड़ती थी

पर जब सन् 1870-71 के उपरान्त और-और प्रान्तों में भी प्राइमरी शिक्षा प्रारम्भ हुई तो यह देखा गया कि पश्चिमोत्तर प्रदेश प्राइमरी शिक्षा में सबसे पीछे हो गया है। गवर्नमेण्ट की ओर से किसी प्रकार ढिलाई नहीं हुई वरञ्च और बढ़कर प्राइमरी शिक्षा के लिए उद्योग किया गया। इसका फल यह हुआ कि सन् 1871 से 1882 तक विद्यार्थियों की संख्या 153252 से 204512 हो गयी। इसी ग्यारह वर्ष के अन्तर में और प्रान्तों में बालकों की संख्या कितनी बढ़ी यह नीचे दिखाया जाता है।

नाम प्रान्त	1870—71	1881—82
मद्रास (जनसंख्या 35630440)	68237	340278
बंबई (जनसंख्या— 26966242)	159628	310771
बंगाल (जनसंख्या— 71346987)[1]	68543	880937

एजूकेशन कमीशन के अनुसार मनुष्यों की बस्ती के हिसाब से प्रति सैं० 2 6 बालक बम्बई के, 2·5 बंगाल के, 2·2 मद्रास के और 8·9 प्रति सैकड़ा पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध के प्राइमरी स्कूलों में शिक्षा पाते हैं। यह अवस्था हमारे प्रांत की सन् 1881 में थी। सन् 1895-96 में बालकों की संख्या मद्रास में 510063, बम्बई में 500122 और बंगाल में 1206619 हो गयी परन्तु अभागे पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध में घटकर 155552 हो गयी अर्थात् 48960 बालक कम हो गये। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि बम्बई, बंगाल और मद्रास में प्राइमरी शिक्षा को संतोषदायक उन्नति हुई है। इन तीनों प्रान्तों की कचहरियों में वहीं की देशभाषाओं का प्रचार है। पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में प्राइमरी की उन्नति क्या पूरी अवनति हुई है और इन स्थान की कचहरियों में देशभाषा और देशी अक्षरों के स्थान पर एक विदेशी भाषा और विदेशी अक्षरों का प्रचार है।

अब जरा बिहार और मध्यप्रदेश पर ध्यान दीजिये। जब सन् 1839 ई० में गवर्नमेण्ट ने यह आज्ञा दी कि फारसी के स्थान पर देश-भाषा का प्रचार कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में हो तो यह समझकर कि उर्दू इस प्रान्त की

1. पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध की जनसंख्या 46905085 है।

भाषा है वह प्रचलित की गयी। परन्तु वास्तव में यहाँ की भाषा हिन्दी थी और अब भी है जो नागरी या कैथी अक्षरों में लिखी जाती है। जब बंगाल के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर जार्ज केम्बल हुए तो उन्होंने अपने शासन-काल का मुख्य कर्तव्य जनसाधारण में विद्या फैलाना माना और उसी उद्देश्य से सन् 1872 ई० में चार लाख रुपये का व्यय स्वीकार किया। पर उनको यह सूझ पड़ा कि जब तक इस देश की भाषा और लिपि का प्रचार कचहरियों और दफ्तरों मे न होगा तब तक विद्या का यथेष्ठ फैलना सम्भव नहीं है अतएव उन्होंने आज्ञा दी कि केवल अर्जियों को छोड़कर जो हिन्दी और उर्दू दोनों में देने वाले की इच्छानुसार हो सकती हैं और सब समन नोटिस आदि हिन्दी में लिखे जायँ परन्तु अमलों की दया से कई वर्ष तक इस आज्ञा का पालन न हुआ। अन्त में सर ऐशली ईडन के समय में इस बात पर गवर्नमेण्ट का ध्यान पुनः दिलाया गया और पहली जनवरी, सन् 1881 ई० से पटना और भागलपुर कमिश्नरी में केवल हिन्दी का ही प्रचार है। इस न्यायशील और आवश्यक सुधार का फल अत्यन्त संतोषजनक हुआ है क्योंकि 31 मार्च सन् 1872 ई० में बिहार के प्राइमरी स्कूलों में केवल 33430 बालक थे और सन् 1895-96 के अन्त में 260471 अर्थात् अठगुने हो गये।

मध्यप्रदेश के उन स्थानों में जहाँ हिन्दी बोली जाती है सन् 1872 ई० तक फारसी का प्रचार था। सन् 1872 ई० में इण्डिया गवर्नमेण्ट ने यह आज्ञा दी कि नागरी अक्षरों का प्रचार हो परन्तु अमलों की अपार दया से सन् 1881 तक इस आज्ञा का प्रत्यक्ष फल न देख पड़ा। इस वर्ष में जुडिशल कमिश्नर ने चीफ कमिश्नर के आदेशानुसार यह आज्ञा दी कि अर्जी-दावे हिन्दी में लिये जाया करें, तथा डिग्री हुक्म फैसले आदि हिन्दी में निकलें और कोई मनुष्य जो हिन्दी शीघ्रता और शुद्धता से पढ़-लिख न सकता हो नौकर न रखा जाये। इस आज्ञा का पालन अब पूर्ण रूप से हो रहा है और शिक्षा पर इस परिवर्तन का प्रभाव बहुत अच्छा पड़ा है, अर्थात् सन् 1881 ई० में प्राइमरी स्कूलों में 74529 विद्यार्थी थे और 1895-96 में 1094805 अर्थात् 43000 अधिक हो गये। पर पंजाब में जहाँ मध्यप्रदेश से जनसंख्या दूनी है और जहाँ विश्वविद्यालय और आर्य समाज प्राइमरी शिक्षा के लिए पूर्ण उद्योग कर रहे हैं गत 15 वर्ष में केवल 16000 विद्यार्थी बढ़े और पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में 49000 घट गये। इसका कारण क्या हो सकता है—केवल यही है कि उन दोनों प्रान्तों की कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में देश-भाषा के और देशी अक्षरों के बदले फारसी अक्षरों और उर्दू भाषा का प्रचार है।

और जगहों को जाने दीजिये आप इसी प्रान्त के अन्तर्गत कमाऊँ कमिश्नरी पर ध्यान दीजिये। इस प्रान्त में प्राइमरी शिक्षा की अवनति का कारण लोग यह बतलाते हैं कि किसान लोगों की रुचि इस ओर नाममात्र का भी नहीं है। ठीक है—पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध की सब कमिश्नरियों में कमाऊँ से बढ़कर किसानों की और बस्ती नहीं है अर्थात् 83·7 प्रति सैकड़ा किसान हैं तथा कमाऊँ से बढ़कर गरीब कमिश्नरी भी दूसरी नहीं है, अतएव यहाँ जितनी कठिनता शिक्षा देने में हो सकती है और किसी स्थान में वह कदापि संभव नहीं है, परन्तु प्राइमरी शिक्षा में जितनी सफलता गवर्नमेण्ट को यहाँ प्राप्त हुई है वैसी और कहीं नहीं देखी जाती। यह ऊपर दिखाया जा चुका है कि सन् 1830 और 1874 के बीच में जब कि पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध भर मे बालकों की संख्या दूनी भी न हो सकी थी यहाँ (कमाऊँ में) छहगुनी हो गयी और अब तक यही अवस्था है। इसका कारण केवल कचहरियों में नागरी अक्षरों का प्रचार है। आश्चर्य इस बात पर आता है कि एक ही प्रकार की शिक्षा पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध भर में दी जाती है, पर जितनी सफलता कमाऊँ और गढ़वाल में दिखायी देती है उतनी और स्थानों में क्यों नहीं देख पड़ती !

जब एजूकेशन कमीशन नियत की गयी तो अलमोड़ा के मिस्टर बडन ने एक लेख कमीशन के विचारार्थ छपवाया था। इस लेख में उन्होंने यह दिखाया कि हिन्दी और न कि उर्दू उत्तर भारतवर्ष के हिन्दुओं की मातृभाषा है और सबसे उत्तम रीति उनको समझाने तथा उनके हृदय पर प्रभाव जमाने की इसी के द्वारा है। उनका कहना है कि तब तक सफलतापूर्वक विद्या का प्रचार न हो सकता है और न उससे कुछ लाभ निकल सकता है जब तक यहाँ भी देश-भाषा का पूर्ण रूप से आदर न होगा और उससे बिना किसी प्रतिबन्ध के कार्य न लिया जायगा क्योंकि यह बात सिद्ध है कि विद्या का वास्तविक और उत्तम प्रचार केवल पढ़ने वालों की मातृभाषा द्वारा ही होता है। अतएव इस बात को स्वीकार करके उसके अनुकूल कार्य करने में विलम्ब करना न्याय से दूर भागना, विद्या के प्रचार को रोकना और भारतवासियों की उन्नति में बाधा डालना है।

राजा शिवप्रसाद ने भी इसी आशय की साक्षी एजुकेशन कमीशन में दी थी तथा हिन्दी के प्रचार पर जोर दिया था। और भी अनेक महाशयों ने हिन्दी के पक्ष में कहा, डेपुटेशन भेजे गये। इलाहाबाद के मेयोहाल में कमीशन को अड्रेस दिये गये थे। 19 अगस्त 1882 के पायनियर के अनुसार कमीशन के सभापति ने उसके सभासदों से कुछ-कुछ कहने को कहा। इस पर आनरेबुल

मिस्टर सैयद महमूद ने हिन्दी और उर्दू के विवादित विषय पर एक वक्तृता दी जिसमें उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि प्रजा वर्ग का अधिकांश हिन्दी के पूर्ण प्रचार के पक्ष में जान पड़ता है। यह विवाद हिन्दी और उर्दू भाषाओं का नहीं है वरञ्च नागरी या देवनागरी और फारसी अक्षरों का है। इसके उपरान्त उन साक्षियों और मेमोरियलों के सम्बन्ध में कहा जो कमीशन में इस विषय पर दिये गये थे और अन्त में यह कहा कि यदि कमीशन पश्चिमोत्तर प्रदेश के स्कूलों में हिन्दी के अधिक प्रचार की सम्मति देगा तो मैं उसका समर्थन करूँगा। इसके उपरांत सभापति महाशय ने कहा कि हम लोग आपके निवेदनों पर पूर्ण विचार करके तब कुछ सम्मति देंगे।

ऊपर यह कहा गया है कि कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध के प्राइमरी स्कूलों में पढ़ने वालों की संख्या 8·9 प्रति सैकड़ा है। कमीशन ने इस सिद्धान्त को स्थिर करते समय जो-जो कारण प्राइमरी शिक्षा के प्रचार न होने के बताये जाते हैं उन पर पूरी तरह से विचार किया। वे कारण ये हैं—(१) किसानों की दरिद्रता। (२) हल्काबन्दी स्कूलों का तहसीली-स्कूलों की नकल करना। (३) देशी स्कूलों पर असावधानी और (४) हिन्दी के स्थान पर उर्दू का प्रचार। कमीशन ने इन कारणों पर इस प्रकार से विचार किया। (१) यह ठीक और संतोषदायक कारण नहीं है क्योंकि बम्बई में किसान फीस देकर पढ़ते हैं और पश्चिमोत्तर प्रदेश में बिना फीस के शिक्षा दी जाती है। (२) यह भी उन्हें उचित न जान पड़ा। (३) इस पर कमीशन ने पूर्ण रूप से विचार किया। कमीशन की रिपोर्ट में लिखा है कि "ऐसा जान पड़ता है कि उस नीति के प्रतिकूल कार्य हुआ जिसका प्रादुर्भाव मिस्टर टाम्सन ने कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की सहानुभूति के साथ किया था। कई देशी स्कूल गवर्नमेण्ट के प्रबन्ध के अन्तर्गत नहीं किये गये और गत वर्षों में न शिक्षा-विभाग से उन्हें कुछ सहायता दी गयी और न वे उत्साहित किये गये। तो भी उन लोगों का अधिकांश जो निज बालकों की शिक्षा के लिए द्रव्य व्यय कर सकते हैं तथा जिन्हें ऐसा करने का अवकाश भी है अब तक देशी स्कूलों (पाठशाला–मक्तब आदि) के पक्ष में हैं और उन लोगों में जो शिक्षा-विभाग के नियमानुसार पढ़ाना चाहते हैं और जो अपने बालकों को निज कार्य से पढ़ने के लिए अवकाश दे सकते हैं, पढ़ने वालों की संख्या हद तक पहुँच गयी है। बम्बई प्रान्त में डिपार्टमेण्टल स्कूलों की आवश्यकता उनमें बालकों की वृद्धि से सिद्ध है परन्तु पश्चिमोत्तर प्रदेश के हल्का-बन्दी स्कूलों में ऐसी उन्नति नहीं देख पड़ती।···यहाँ इतना कह देना बहुत है कि

हम लोगों की सम्मति में सन् 1871 से 1882 के बीच में प्राइमरी शिक्षा की उतनी ही उन्नति पश्चिमोत्तर प्रदेश में होती जितनी भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों में हुई है यदि यहाँ भी देशी स्कूलों की उन्नति पर ध्यान दिया जाता।" परन्तु प्रजा के ध्यान न देने से मिस्टर टाम्सन की नीति का अनुकरण न किया गया। कमिश्नर लोग निज रिपोर्ट के 19 पृ० में लिखते हैं कि "सन् 1950 में जो नियम स्थिर किये गये थे उन्हीं के अनुकूल चार-पाँच वर्ष तक कार्य हुआ। यह सम्भव है कि देशी स्कूलों में उपयुक्त सहायता नहीं दी गयी परन्तु इन स्कूलों की उन्नति पर ध्यान देकर प्रान्तिक गवर्नमेण्ट ने यह स्थिर किया कि वह अत्यन्त असन्तोषदायक है और इसी से शिक्षा का ऐसा प्रबन्ध किया गया कि जिसका पूरा-पूरा अधिकार गवर्नमेण्ट के हाथ में हो। इस प्रकार से जमींदारों की सहायता और सरकारी अफसरों के प्रबन्ध से मक्तबों और पाठशालाओं के स्थान पर विलेज स्कूलों का प्रचार हुआ और अन्त में केवल इन्हीं द्वारा प्राइमरी शिक्षा की उन्नति पर गवर्नमेण्ट ने ध्यान दिया।" इसके व्यतिरिक्त और दूसरी कोई उत्तम रीति शिक्षा की हो ही नहीं सकती थी। देशी स्कूलों की उन्नति और वृद्धि तभी तक सम्भव है जब तक देशी भाषा और लिपि की चाह हो। उन प्रान्तों में जहाँ देश-भाषा का कचहरियों और दफ्तरों में प्रचार है इन स्कूलों की श्रद्धा हुई है और इन्हीं के द्वारा करोड़ों बालक शिक्षा पाते हैं। केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध और पंजाब इन्हीं दो प्रान्तों में देशी स्कूलों द्वारा शिक्षा फैलाने में सफलता नहीं प्राप्त हुई है और ये ही वे प्रान्त हैं जहाँ देशवासियों की भाषा और लिपि का अनादर कर उर्दू भाषा और फारसी अक्षरों का कचहरियों और दफ्तरों में प्रचार है। देशी स्कूलों को उत्साहपूर्वक बढ़ाने की सम्मति तो निस्सन्देह उत्तम थी परन्तु जो अभी कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि देशी स्कूलों की उन्नति सन् 1871 से 1882 के बीच में जो नहीं हुई उसका कारण यह नहीं है कि मिस्टर टाम्सन की नीति के प्रतिकूल कार्य हुआ और उसका त्याग किया गया वरंच जिस कारण से उस नीति के अनुसार कार्य करने में सफलता प्राप्त करनी ही असम्भव थी वह उर्दू का आदर और देश-भाषा हिन्दी का तिरस्कार था।

तो अब यह स्पष्ट है कि साधारण प्रजा में विद्या का प्रचार हिन्दी के कचहरियों में प्रचलित होने के साथ-ही-साथ होगा। अतएव यह आशा की गयी थी कि एजूकेशन कमीशन जिसका मुख्य उद्देश्य प्राइमरी शिक्षा की अवस्था जानना और उसके उन्नति के उपाय बताना था, यह सम्मति देगी कि कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में उर्दू के स्थान पर हिन्दी का प्रचार किया जाय पर

दुर्भाग्यवश उन्होंने कुछ भी इस विषय पर न लिखा। पंजाब में प्राइमरी शिक्षा पर विचार करके वे लिखते हैं कि "उर्दू अभी तक सरकारी कचहरियों का भाषा है और जब तक यह रहेगी प्राइमरी स्कूलों में उसकी वृद्धि अवश्य होगी। बहुत-से लोग ऐसे हैं जो उर्दू के बदले हिन्दी का प्रचार होना चाहेंगे परन्तु इस बात के स्थिर करने में उसका उतना ही सम्बन्ध राज्य प्रबन्ध से है जितना शिक्षा विषय से। अतएव यह एक ऐसी बात है जिस पर कमीशन अपनी सम्मति नहीं दे सकती।" कमीशन ने यह सम्मति दी कि म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्कूलों में किस भाषा में शिक्षा देनी चाहिए, यह उस स्कूल की प्रबन्धकारिणी कमेटी बोर्ड की सम्मति के अनुसार निश्चय किया करे। गत पंद्रह वर्षों के तजर्बे से यह सिद्ध हो गया कि यह सम्मति निरर्थक है और फिर इस तजर्बे के होने तथा और प्रान्तों में प्राइमरी शिक्षा के इतिहास पर ध्यान देने से इस आशा की कोई जगह बाकी नहीं रह जाती कि कोई स्कूल कमेटी तब तक विद्या के प्रचार में कृतकार्य हो सकती है जब तक कि देशवासियों की भाषा से कोई लाभ न हो सके अर्थात् जब तक उसके पढ़ने वाले उसकी सहायता से अपनी जीविका-उपार्जन न कर सकें और यह तब तक नहीं हो सकता जब तक हिन्दी का सरकारी दफ्तरों और कचहरियों में प्रचार न हो। इस सिद्धान्त में किसी प्रकार की विचित्रता नहीं है, केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश में ही नहीं वरंच और-और देशों में लोगों ने तब तक निज भाषा के अध्ययन में उत्साह नहीं दिखाया है जब तक कचहरियों की भाषा विदेशी रही। इंगलैण्ड के इतिहास से इस कथन की पुष्टि होती है। नारमन लोगों के विजय से लेकर सन् 1362 ई० तक फरासीसी भाषा में कचहरियों का काम चलता था अतएव लोग केवल उसी भाषा के सीखने की रुचि रखते थे। अँग्रेजी भाषा की ओर कोई ध्यान नहीं देता था। यह अवस्था सन् 1362 तक रही। इस वर्ष मे अँग्रेजी का प्रचार किया गया। तब से जो उन्नति उस भाषा की हुई है उसे सब लोग जानते हैं, उसके यहाँ लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। यद्यपि उर्दू और हिन्दी में उतना भेद नहीं है जितना अंग्रेजी और फरासीसी में है पर तो भी इतना भेद अवश्य है जिससे इंगलैण्ड के इतिहास पर ध्यान देकर हम शिक्षा ले सकते हैं, अतएव जब तक उर्दू, फारसी और अरबी के शब्दों से पूरित रहकर तथा फारसी अक्षरों में लिखी जाकर, कचहरियों में उस निष्कंटक राज्य पद पर रहेगी जो वास्तव में हिन्दी को ब्रिटिश राज्य की नीति के अनुकूल दिया जाना चाहिए, क्योंकि इसी नीति के अनुसार न्याय पर ध्यान देकर पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़कर सब प्रान्तों में गवर्नमेण्ट ने देश-भाषा का प्रचार

किया है, तब तक हिन्दी की विशेष उन्नति प्रजा मात्र में न हो सकेगी और न विद्या और सभ्यता का प्रचार ही किसी प्रकार से सम्भव है।

गत 25 वर्षों में इन प्रान्तों में जो विद्या की उन्नति हुई है उस पर यदि ध्यान देते हैं तो दुःख के व्यतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता। पर हाँ रेवरेण्ड बडन और राजा शिवप्रसाद के सम्मति की गम्भीरता जिसके विषय में ऊपर लिखा जा चुका है, स्पष्ट दीख पड़ती है। सन् 1870-71 के अन्त में प्राइमरी स्कूलों में बालक और बालिकाओं की संख्या 153252 थी और सन् 1895-96 के अन्त में 163915 अर्थात् 25 वर्ष के बीच में, केवल 10 हजार विद्यार्थियों की संख्या अधिक हुई। पर जब हम इस पर ध्यान देते हैं कि इसी अवसर में जनसंख्या पचास लाख बढ़ गयी तो विद्यार्थियों की संख्या 10 हजार नाममात्र की रह जाती है। अस्तु, अब यह भी जान लेना उचित है कि किन लोगों ने शिक्षा से लाभ उठाया है। इस विषय पर मिस्टर ग्राउस का कथन है कि आजकल स्कूलों में वे ही लोग पढ़ते हैं जिन्हें सरकारी नौकरी करने की इच्छा रहती है क्योंकि विलेज स्कूल यदि आज बन्द कर दिये जायँ तो ये लोग अपना काम किसी-न-किसी रीति से चला लेंगे। पश्चिमोत्तर प्रदेश में स्कूल जाने योग्य बालकों में से पढ़ने वालों की औसत संख्या और प्रान्तों से कम है परन्तु अंग्रेजी पढ़ने वालों की संख्या अधिक है। इसका कारण यही है कि आजकल नौकरी के लिए लोग विद्याध्ययन करते हैं और सरकारी नौकरी में बिना अंग्रेजी के काम नहीं चल सकता। इसलिए स्कूलों से आजकल उन्हीं लोगों को लाभ पहुँचता है जिनका सरकारी नौकरी से कोई सम्बन्ध है या जो सम्बन्ध किया चाहते हैं। पर शिक्षा विभाग का यही एक उद्देश्य नहीं है। इसका उद्देश्य सब लोगों की शिक्षा के लिए होना चाहिए और उसको ऐसी रीति निकालनी चाहिए जिससे निज उद्देश्य में सफलता प्राप्त हो सके।

और प्रान्तों की अपेक्षा यहाँ शिक्षा में कितना कम व्यय होता है इसको इस स्थान पर दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस बात की पूर्ण आशा है कि सर एण्टोनी म्याकडोनेल के समय में इस अभाव की अच्छी तरह से पूर्ति हो जायगी। यह बात सब लोगों पर भली-भाँति से विदित है कि गवर्नमेण्ट की यह बड़ी भारी इच्छा है कि प्राइमरी शिक्षा का अधिक प्रचार हो और उसके साथ-ही-साथ व्यय भी अधिक न बढ़े। इसकी पुष्टि के लिए गवर्नमेण्ट की उस आज्ञा को देखिए जो शिक्षा विभाग की सन् 1894-95 की रिपोर्ट पर दी गयी है। गवर्नमेण्ट की इच्छा पूर्ण होने का एक ही मार्ग है

वह यह कि प्रजा मात्र को शिक्षा प्राप्त करने में उत्साह हो। जब तक यह न होगा कितना ही द्रव्य क्यों न व्यय किया जाय, प्राइमरी शिक्षा की वृद्धि होनी असंभव है। इस असाध्य कार्य को साध्य बनाने का उपाय देशी भाषा और लिपि का सत्कार करने के व्यतिरिक्त दूसरा नहीं है। प्रतिवर्ष इस बात का रोना सुनने में आता है कि अन्य प्रान्तों की अपेक्षा पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में प्रति बालक पर औसत व्यय अधिक पड़ता है। इसके प्रमाण में और प्रान्तों की अवस्था को देख लेना आवश्यक है। सन् 1895-96 में मद्रास प्रान्त में 435611 बालक एडेड तथा अन-एडेड स्कूलों में और 562000 सरकारी स्कूलों में पढ़ते थे तथा उसी वर्ष बंगाल में 134062 बालक एडेड तथा अन-एडेड स्कूलों में और 1415 सरकारी स्कूलों में थे। परन्तु पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में 153800 बालक सरकारी स्कूलों में और केवल 10175 एडेड तथा अन-एडेड स्कूलों में पढ़ते थे। यह हाल केवल प्राइमरी स्कूलों का है। जो अवस्था बालकों की है वही अवस्था खर्च की भी है। बंगाल में 1895-96 में प्राइमरी शिक्षा के लिए गवर्नमेण्ट ने 859842 रु० और प्रजा ने 2385701 रु० व्यय किया अर्थात् प्रजा का व्यय गवर्नमेण्ट से तिगुना हुआ परन्तु इस प्रान्त में गवर्नमेण्ट ने 586918 रु० और प्रजा ने केवल 146194 रु० शिक्षा के लिए दिया अर्थात् गवर्नमेण्ट का व्यय प्रजा से छह गुना अधिक हुआ। अस्तु, तो अब यह स्पष्ट है कि इस पश्चिमोत्तर प्रदेश की इस अधो अवस्था का कारण यही है कि शिक्षा फैलाने में प्रजा की ओर से उद्योग नहीं होता और न वह गवर्नमेण्ट की सहायता ही इस कार्य में करती है। यही मत एजूकेशन कमीशन ने दिया था और यह ठीक भी है। राजा और प्रजा जब दोनों मिल कर विद्या फैलाने का उद्योग करेंगे तो अवश्य यथेच्छ परिणाम प्राप्त होगा, पर बात यह है कि प्रजा का उत्साह उस भाषा और उन अक्षरों के लिए क्यों होने लगा जिसके कारण उन्हें असंख्य कष्ट उठाने पड़ते हैं? यदि उनकी भाषा और लिपि के सिखाने का उद्योग होता तो उन्हें भी सहायता देने में उत्साह होता। इसलिए जब तक गवर्नमेण्ट देश-भाषा और देशी अक्षरों को यथोचित आदर न देगी तब तक और प्रान्तों की अपेक्षा यहाँ उसे अधिक व्यय करना पड़ेगा और फिर भी यहाँ के रहने वालों में पूर्ण रीति से विद्या न फैलेगी।

अब इस विषय पर और कुछ कहने की आवश्यकता बाकी नहीं रह गयी है। जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि नागरी के प्रचार के साथ-ही-साथ पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध की प्रजा में प्राइमरी शिक्षा का यथेच्छ प्रचार होगा।

प्रजा से यहाँ अर्थ हिन्दू और मुसलमान दोनों का है और इस अर्थ की पुष्टि में ये प्रमाण दिये जाते हैं। इस लेख के प्रारम्भ में यह दिखाया जा चुका है कि यहाँ की देश-भाषा हिन्दी है और उस विषय पर पुनः कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। सन् 1891 की मनुष्य गणना के अनुसार 4,69, 05,085 लोग इस प्रान्त में बसते हैं। इनमें से 4,03,80,168 अर्थात् 81·1 प्रति सैकड़ा हिन्दू और 63,46, 651 अर्थात् 13.5 प्रति सैकड़ा मुसलमान हैं। मनुष्य गणना की रिपोर्ट से यह भी प्रकट होता है कि प्रति 4 मुसलमानों में से 3 गाँवों और एक शहर में रहते हैं। इस बात को सब लोग स्वीकार करेंगे कि गाँवों के मुसलमानों की भी वही भाषा है जो हिन्दुओं की अर्थात् हिन्दी। सन् 1881 और 1891 की मनुष्य गणना के समय गणना करने वालों को कहा गया था कि वे साधारण बोली के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' नाम लिखें तथा मिस्टर बेली ने अपनी सन् 1891 की रिपोर्ट में लिखा है कि "हिन्दुस्तानी शब्द के अन्तर्गत शहरों की उर्दू और गाँवों की हिन्दी है।" इस नियम के अनुसार 4,69,05,085 लोगों में से 4,58,82,262 हिन्दुस्तानी बोलते हैं। मिस्टर वेन्स ने अपनी रिपोर्ट में इस 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग करना अस्वीकार किया और पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा को 'हिन्दी' नाम दिया। सन् 1871 ई० में 4,32,20,705 मनुष्य यहाँ बसते थे जिनमें से 4,21,93,004 हिन्दी बोलते थे। इस वर्ष की रिपोर्ट में लिखा है कि "शहरवालों में और उच्च श्रेणी के लोगों में उर्दू बोली जाती है परन्तु वह सर्वसाधारण की बोली नहीं है।" शहरों में और उच्च श्रेणी के लोगों में भी उर्दू तभी तक बोली जाती है जब तक बोलने वाला किसी फारसीदां के साथ रहता है। घरेलू भाषा सब की हिन्दी ही है। मिस्टर लुई शिक्षा विभाग की सन् 1894–95 की रिपोर्ट में लिखते हैं कि "नित्य प्रति के व्यवहार में एक ही भाषा बोली जाती है और वह केवल हिन्दी है।" यदि यह भाषा निज देशी अक्षरों में लिखी जाती तो हम लोगों को उर्दू और हिन्दी में भेद न देख पड़ता। तब एक ही भाषा रही होती और इसमें केवल ऐसे विदेशी शब्दों का प्रयोग होता जो उसमें अच्छी तरह से मिल गये होते परन्तु फारसी अक्षरों के प्रचार से यह बात न होने पायी और साधारण भाषा में अरबी और फारसी के कठिन-कठिन शब्द मिल गये जिससे सर्व-साधारण के लिए उसका समझना कठिन हो गया। अस्तु, भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में मुसलमानों में विद्या की कैसी उन्नति हुई है यह नीचे दिखाया जाता है—

नाम प्रान्त	सन् 1891 की मनुष्य गणना के अनुसार मुसलमानों की बस्ती	स्कूलजानेयोग्य मुसलमानों की संख्या	प्राइमरी स्कूलों में मुसलमानों की संख्या	मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या
मद्रास	2250386	337557	63773	96088
मध्यप्रदेश	308479	46421	8006	10590
बम्बई	4390995	658649	106329	141237
बङ्गाल	23437591	3515638	370007	494294
पंजाब	11634192	1745128	52602	129942
पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध	6346651	951997	22603	69447

मद्रास, बङ्गाल, बम्बई और मध्यप्रदेश में मुसलमान उस प्रान्त की भाषा और अक्षरों को साधारणतः सीखते हैं। इसीलिए उनमें विद्या की इतनी उन्नति है परन्तु पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में उर्दू भाषा का प्रचार है और यही कारण है कि इन प्रान्तों में मुसलमानों में विद्या का इतना कम प्रचार है। ऊपर जो दिखाया गया है उससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि फारसी अक्षरों के दूर करने के उपाय केवल नागरी अक्षरों का प्रचार करना है। सन् 1890 में 2,04,987 मुसलमान ऐसे थे जो पढ़-लिख सकते थे। यदि खोज की जाय तो यह प्रकट होगा कि इनमें से बहुत-से नागरी अक्षर पढ़ सकते हैं क्योंकि मुसलमान पटवारी और दूकानदार इन्हीं अक्षरों में अपना हिसाब रखते हैं। पुनः मिस्टर नेसफील्ड ने एजूकेशन कमीशन के सम्मुख कहा था कि "अवध में कैथी स्कूलों में पढ़ने वालों का तीसरा हिस्सा मुसलमान है।" अतएव अब यह सिद्ध हो गया और इसमें किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि नागरी अक्षरों के प्रचार से मुसलमानों को किसी प्रकार की हानि न होगी वरञ्च पूर्ण लाभ होगा।

कचहरियों और दफ्तरों में नागरी अक्षर के प्रचार से बहुत लाभ होंगे अर्थात् लोगों को न्याय प्राप्त करने में सुगमता होगी, वे स्वयं नोटिस, सम्मन आदि पढ़ और समझ सकेंगे, यूरोपीय अफसरों को एक ही भाषा और एक ही अक्षर सीखने पड़ेंगे और सबसे बढ़कर लाभ यह होगा कि विद्या का अधिक प्रचार होगा और लोग उन्नति कर सकेंगे। आजकल यूरोपीय अफसरों को उस प्रान्त की देश-भाषा सीखनी पड़ती है जहाँ वे रहना चाहते हैं और प्रारम्भ से उनको फौजदारी के मुकदमे दिये जाते हैं, इससे वे उस भाषा को जो वे प्रति दिन कचहरी में सुनते हैं, काल पाकर समझने लग जाते हैं, पर शिकस्तः के भय से वे कचहरी के कागजों

को नहीं पढ़ते, इसलिए दर्खास्तों आदि को समझने के लिए उन्हें अमलों की सहायता लेनी पड़ती है। पुनः साधारण बोलचाल की भाषा वे नहीं जानते क्योंकि कचहरी में जिस भाषा को वे सुनते हैं उसमें फारसी और अरबी के शब्द भरे रहते हैं। इससे जो हानि होती है वह स्पष्ट है उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। नागरी अक्षरों के प्रचार से यह आपत्ति दूर हो जायगी, यूरोपीय अफसर भाषा और अक्षरों को सुगमता से पढ़ सकेंगे और इससे राज्य प्रवन्ध में किसी प्रकार की त्रुटि न रह जायगी और प्रजा को सुख प्राप्त होगा।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे यह स्पष्ट है कि न्याय और शिक्षा के हित के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध की अदालतों और सरकारी दफ्तरों में फारसी के स्थान पर नागरी अक्षरों का प्रचार किया जाय। इसके करने में किसी को कष्ट न होगा क्योंकि इस प्रान्त में प्रत्येक असिस्टेण्ट मजिस्ट्रेट और कलेक्टर, असिस्टेण्ट कमिश्नर, डिप्टी कलेक्टर, इरीगेशन और फारेस्ट आफिसर और तहसीलदार तथा अवध में प्रत्येक मुंसिफ को नागरी अक्षरों में लिखी हुई हिन्दी में परीक्षा देनी पड़ती है। इसलिए इन लोगों को इस परिवर्तन से कोई कष्ट न होगा। हाँ, अमला लोगों को अवश्य नागरी सीखनी पड़ेगी। यदि यह मान भी लिया जाय कि जितने सरकारी नौकर हैं सबको नागरी अक्षर सीखने पड़ेंगे तो भी यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसके लिए न्याय का पथ छोड़ा जाय, विद्या का प्रचार रोका जाय और एक अत्यन्त आवश्यक सुधार के करने में विलम्ब किया जाय। सर अर्सकिन पेरी के अनुसार तो बालक तीन मास में नागरी अक्षरों का पढ़ना सीख सकते हैं। पढ़े-लिखे लोगों को यदि वे केवल एक घण्टा उसके लिए प्रति-दिन लगावें तो इससे भी कम समय में उनको पढ़ना आ जायगा। यहाँ पर यह स्पष्ट करके कहा जाता है कि भाषा के परिवर्तन के लिए प्रार्थना नहीं की जाती क्योंकि इस विषय में जो गवर्नमेण्ट की आज्ञाएँ हैं उन्हीं के अनुकूल कार्य होने से सब अर्थ-सिद्धि हो जायगी। केवल आवश्यक यह है कि अदालतों की कार्रवाई नागरी अक्षरों में लिखी जाय। भाषा हिन्दुस्तान की 'हिन्दुतानी' जो प्रति-दिन की बोलचाल की भाषा से मिलती हो अर्थात् जिसमें न फारसी, अरबी के कठिन शब्द हों और न हिन्दी-संस्कृत के। केवल ऐसे ही शब्दों का प्रयोग हो जो अत्यन्त सरल और सब लोगों की समझ में आते हों। नागरी अक्षरों के प्रचार से ऐसी भाषा का स्वतः व्यवहार होने लगेगा, इसके लिए उद्योग करने की जरा-सी भी आवश्यकता न पड़ेगी।

शान्ति और सुख का फैलना तथा पाप और अपराध का रोकना और

घटाना गवर्नमेण्ट का बड़ा भारी उद्देश्य है और इस बात को सब स्वीकार करते हैं कि विद्या के प्रचार के साथ पाप और अपराध की कमी होती है। यह प्रान्त शिक्षा सम्बन्ध में सबसे पीछे है और अपराधों की गिनती में सबसे आगे। इस बात को स्वयं सर एण्टोनी म्याकडोनेल साहब ने शिक्षा विभाग की सन् 1894-95 की रिपोर्ट में स्वीकार किया है। उस कथन की पुष्टि में किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इतिहास से इसके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि प्राइमरी शिक्षा का प्रचार हो कि जिससे न केवल पाप और अपराधों की कमी होगी पर लोगों में बुद्धि और सभ्यता बढ़ेगी। बार-बार यहाँ के लोगों को अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं जिससे यह आवश्यक जान पड़ता है कि वे अपनी अवस्था को सुधारें तथा अपनी रहन-सहन में आवश्यक परिवर्तन कर अपने को समय के उस प्रवाह के साथ लिये जायँ जो किसी के रोके रुक नहीं सकता और जिसका साथ एक बेर छुट जाने से फिर घटी को पूरा करना असम्भव हो जाता है। परन्तु इसके लिए उस बुद्धि की आवश्यकता है जो बिना विद्या के नहीं प्राप्त हो सकती जिसके अभाव के कारण राजा और प्रजा दोनों असह्य दुःख सहते हैं। इसलिए पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध की प्रजा में शिक्षा का फैलना इस समय सबसे आवश्यक कार्य है और गुरुतर प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है कि इस कार्य में सफलता तभी प्राप्त होगी जब कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में नागरी अक्षर जारी किये जायेंगे। अतएव अब इस शुभ कार्य में जरा-सा भी विलम्ब न होना चाहिए और न अमलों या लोगों के विरोध पर कुछ ध्यान ही देना उचित है। यह दृढ़ आशा है कि वह बुद्धिमान और दूरदर्शी शासक जिसके बल प्रताप से लाखों जीवों ने इस घोर अकाल-रूपी काल में रक्षा पायी है अब नागरी अक्षरों को जारी करके इन लोगों की भविष्यत् उन्नति और वृद्धि की बीज बोवेगा और विद्या के सुखकर प्रवाह के अवरोध को निज क्षमता से दूर करेगा जिससे इस दीन देश के वासी सदा सर्वदा के लिए ब्रिटिश राज्य के ऋणी रहकर उसका यश गावें और अपने को धन्य मनावें।

(1898)

फतेहपुर सीकरी

भारतवर्ष के और विशेषकर उसके मुसलमानी राजत्व काल के इतिहास में दिल्ली के बादशाह अकबर का नाम इस समय संसार में प्रसिद्ध है और अब तक मुसलमान बादशाहों में अत्यन्त बुद्धिमान, नीति कुशल, दूरदर्शी, योग्य और न्याय-प्रिय माना जाता है। वास्तव में बाल्यावस्था ही में बिना किसी प्रकार की शिक्षा अथवा किसी भाँति का अनुभव प्राप्त किये इतने भारी राज्य का स्वामी हो बैठना और परस्पर में विरोध-वैमनस्य फैलाने वाले राज्यों को जीत-कर अपने अधीन कर उनसे एक साम्राज्य स्थापित करना और उसके लिए ऐसी नीति का अवलम्बन करना कि जिससे वह राज्य युग-युगान्तर के लिए बना रहे, एक अलौकिक बुद्धि का ही काम था। हिन्दुओं को उच्च पद देकर और उन्हें सम्मानित करके अपनी ओर मिला लेना और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध हिन्दू राज्यों से विवाह सम्बन्ध जोड़कर अपना पैर दृढ़ता से जमाना और साथ ही अपने धर्म में क्रमशः परिवर्तन कर उसे हिन्दुओं के अनुकूल इस ढंग का बना लेना कि जिसमें कट्टर मुसलमानों को छोड़कर कोई भी विरोध न कर सके, अकबर की ही भाग्य पट्टलिका में लिखा था। सच तो यों है कि यदि अकबर की कुटिल नीति उसके पीछे भी चली जाती और औरङ्गजेब अपने कट्टरपन से उसमें उलट-पलट न कर देता, तो आज दिन भारत में मुगलों का ही राज्य दिखायी देता, हिन्दू राज्य कहीं कदाचित् नाममात्र को ही रह गये होते। परन्तु ईश्वर की बलवती इच्छा के आगे जोर किसका है। सभी हाथ मल के रह जाते हैं और होता वही है जो उसने सोच रखा है। जो कुछ हो, अकबर की प्रशंसा फिर भी संसार में उसकी बुद्धिमानी और नीति-कुशलता के लिए सदा होती रहेगी और औरङ्गजेब सदा इसलिए निन्दित बना रहेगा कि अकबर की उस नीति को उलट कर उसने भारत-वर्ष से मुसलमानी राज्य की नींव स्वयं अपने हाथ से उखाड़ डाली।

आज हमारा विषय अकबर का जीवन चरित्र लिखने का नहीं है। उसके राज्य की मुख्य-मुख्य घटनाएँ सब इतिहास प्रिय लोगों पर पूर्णतया प्रकट हैं। आज हम उसकी एक राजधानी के विषय में कुछ लिखा चाहते हैं। अकबर ने पहले तो अपनी राजधानी दिल्ली में और फिर आगरे में बनायी। संसार में चाहे कोई कितना बड़ा प्रतापी, बलवान और धनवान क्यों न हो उसे सदा कोई-न-कोई

इच्छा बनी रहती है। अकबर को सब कुछ रहते हुए भी सन्तान के न होने, अथवा यों कहिए कि दीवरे होकर जीवित न रहने से बड़ी मानसिक व्यथा थी। आगरे से दक्षिण-पश्चिम कोई 22 मील की दूरी पर एक छोटे-से गाँव में एक प्रसिद्ध फकीर शेख सलीम चिश्ती रहते थे। इन तक अकबर की व्यथा पहुँची और उन्होंने, ऐसा कहा जाता है कि यह आशीर्वाद दिया था कि जा तुझे एक पुत्र होगा सन् 1569 में। जब अकबर रणथम्भौर का किला जीतकर लौटा तो वह चिश्ती महाशय की मज़ारत को कई बार गया और वहाँ दस-दस बीस-बीस दिन तक रहा। इस बार-बार आने का परिणाम यह हुआ कि उसने अपने रहने के लिये एक स्थान बनवाया। शेख साहब ने एक मसजिद और मज़ार बनवानी आरम्भ की। देखा-देखी अकबर के मन्त्रियों और दरबारियों ने भी अपने रहने के लिये स्थान बनवाया। सन् 1572 में जब अकबर गुजरात जीतकर लौटा तो उसने इस स्थान का नाम फतहपुर रखा। पहले जो गाँव वहाँ था उसका नाम सीकरी था। इसलिए इतिहास में यह स्थान फतेहपुर सीकरी के नाम से प्रसिद्ध है। इसी वर्ष में अकबर की रानी जोधाबाई को फतहपुर में एक लड़का उत्पन्न हुआ जिसका नाम शेख साहब के उपलक्ष्य में सलीम रखा गया। आगे चलकर यही सलीम जहाँगीर नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस अवसर पर अकबर ने यहाँ पर अनेक और राजप्रासाद बनवाये और चारों ओर एक पक्की पत्थर की दीवार बनवा दी। तब से वह यहाँ विशेषकर रहने लगा। परन्तु काल बड़ा बली है। सदा किसी को एक ही अवस्था में नहीं रहने देता। अपने चञ्चल और क्रूर हाथों से हमेशा कुछ-न-कुछ उलट-फेर करता ही रहता है। जहाँ एक समय बड़े राजप्रासाद खड़े थे वहाँ अब खण्डहर देखने में आते हैं। इसी फतहपुर सीकरी को देखकर पूर्वकाल की राजश्री का अनुमान हम कर सकते हैं। कुछ दिनों तक फतहपुर की अवस्था बड़ी मन्द थी। परन्तु अब लार्ड कर्जन महोदय की कृपा से मरम्मत हो रही है। आशा है कि बचे-बचाये स्थान आगे के लिए सुरक्षित हो जायँ। हम अपने पाठकों से अनुरोध करते हैं कि जब कभी उन्हें आगरे जाने का अवसर प्राप्त हो तो वे अवश्य कष्ट उठाकर फतहपुर देखने जायँ। हमें विश्वास है कि वे उस स्थान को देखकर, वहाँ तक जाने में जो कष्ट उन्हें हुआ होगा, उसे भूल जायँगे। आज हम अपने पाठकों के कौतूहल वर्द्धनार्थ इस स्थान के मुख्य-मुख्य राजप्रासादों और स्थानों का चित्र देकर संक्षेपतः कुछ वर्णन भी करेंगे। जिसमें हम आशा करते हैं कि उनकी इन स्थानों के स्वयं देखने की इच्छा उत्पन्न हो और वे अपनी इच्छा को पूर्ण कर अपने नेत्रों को सफल करें।

हम मुख्य-मुख्य प्रासादों का वर्णन करने के पहले इस नगर का साधारणतः वर्णन करेंगे। इस नगर की परिधि सात मील के लगभग है और जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं यह आगरे से 24 मील की दूरी पर है। परन्तु आगरे से फतहपुर तक अच्छी पक्की सड़क बनी हुई है जिसके दोनों ओर सुन्दर-सुन्दर वृक्षों की पंक्तियाँ अपनी शीतल छाया से पथिकों के श्रम को दूर करती हैं। यह नगर सन् 1569 और 1601 के बीच बना है। इसके तीन ओर ऊँची पक्की दीवाल है जिनमें स्थान-स्थान पर 6 या 7 बड़े-बड़े फाटक हैं। चौथी ओर एक भारी झील से रक्षित है। इस नगर के देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि यह नगर अकबर की मृत्यु के बाद छोड़ दिया गया और फिर इसमें न कोई रहने लगा। यदि शेख सलीम चिश्ती की मजार और जामे मसजिद वहाँ न होती तो आज दिन लोग इस नगर को भूल ही जाते और जितने राजमहल वहाँ इस समय वर्तमान हैं सब खण्डहर-ही-खण्डहर देख पड़ते। परन्तु ईश्वर की कृपा से बहुत-से प्रासाद वहाँ ज्यों-के-त्यों वर्तमान हैं और इधर भारत गवर्नमेण्ट ने लाखों रुपये खर्च कर उनका जीर्णोद्धार कराया है जिससे उनकी अवस्था बहुत अच्छी हो गयी है। यहाँ जितने भवन इस समय वर्तमान हैं सब प्रायः लाल पत्थर के बने हैं जो निकट की पहाड़ी खोदकर लाये गये थे। अकबर की बनवायी हुई इमारतों में प्रायः यह देखने में आता है कि उसने लाल पत्थर से बहुत काम लिया है। संगमरमर तो नाम मात्र को है।

आगरे से जो सड़क फतहपुर की चली आयी है उस पर से नगर के अन्दर जाने से दो सड़कें मिलती हैं। इनमें एक तो नगर के दक्षिण-पश्चिम को चली गयी है और दूसरी शाही महलों की ओर आती है। इन सड़कों के दोनो ओर पहले दूकानें और छोटे-छोटे मकान थे और एक प्रकार का छोटा-सा बाजार बसा हुआ था। इस सड़क पर पहला देखने योग्य जो स्थान मिलता है वह दीवान आम है उसके पूर्व ओर एक बड़ा भारी चौक है जो लगभग 318 फीट लम्बा और 181 फीट चौड़ा है और पश्चिम की ओर एक खुला मैदान है जिसमें पहले एक सुन्दर वाटिका लगी थी। इस ओर से महलों और दूसरे राज-भवनों में जाने का मार्ग है।

पूरब वाले चौक के चारों ओर दालान बनी हुई है जिसके आगे छज्जे निकले हैं। दीवान आम के नाम से प्रसिद्ध जो स्थान है वह 30 फीट लम्बा और 21 फीट चौड़ा है। उसके चारों ओर 10 फीट लम्बा एक बरामदा चला गया है। पूर्व वाले बरामदे के तीन भाग कर दिये गये हैं और बीच में लाल पत्थर

की सुन्दर जाली बनी है। इन्हीं दो जालियों के बीच में न्यायाधीश बादशाह के बैठने का स्थान था। दीवान आम से सटे हुए और बड़े दालान हैं जिनमें लाखों मनुष्य बैठ सकते हैं। अब इन दालानों की अवस्था बुरी हो रही है। दीवान आम की बनावट में किसी प्रकार की विशेषता नहीं है। दिल्ली और आगरे के किलों में जैसे दीवान आम हैं, वैसी ही बनावट इसकी भी है।

दीवान आम के पूर्व वाले चौक में से होकर फिर उस सड़क पर चले जाने से जिस पर से होकर आये थे एक और चौक मिलेगा। यह दीवान आम के ठीक दक्षिण ओर है और यहाँ पर सड़क गोल होकर गयी है। यह दूसरा चौक 326 फीट लम्बा और 210 फीट चौड़ा है। इसके दक्षिण ओर अकबर का दफ्तर-खाना था, उत्तर ओर उसके रहने के स्थान थे। राज-काज के कार्यों में यह अत्यन्त आवश्यक है कि दफ्तर कार्यकर्त्ता के निकट ही हो। यह दफ्तरखाना 44 फीट लम्बा और 28 फीट चौड़ा है और उसके चारों ओर 18 फीट चौड़ा एक बरामदा चला गया है। इस कोठरी के पूर्व और पश्चिम ओर एक-एक और उत्तर ओर तीन द्वार हैं तथा दक्षिण ओर तीन खिड़कियाँ हैं। बीच वाली खिड़की में से एक छाया हुआ छज्जा निकला है जिसमें बैठकर देखने से किञ्चित् पहाड़ी देश की शोभा विचित्र देख पड़ती है। इस दफ्तरखाने के दक्षिण-पूर्व के कोने में एक घुमौवा सीढ़ी है जिस पर होकर छत पर जाने का मार्ग है। पाठकों से हमारा अनुरोध है कि जब कभी उन्हें यहाँ जाने का अवसर प्राप्त हो तो वे इस स्थान की छत पर चढ़कर समस्त नगर की शोभा देखें। इस भवन की बनावट यद्यपि साधारण है पर पत्थर का काम अच्छा किया गया है। एक समय वह था कि यहाँ पर न जाने कैसे-कैसे बहुमूल्य कागज रखे रहते होंगे और एक समय यह है कि अब यहाँ नित्य प्रति झाड़ भी नहीं लगता।

हम कह चुके हैं कि दफ्तरखाने के उत्तर ओर अकबर के रहने के स्थान थे जिन्हें अब तक लोग महल खास कहते हैं। कुछ लोगों का यह अनुमान है कि अकबर ने पहले-पहल इन्हीं स्थानों को बनवाया था। जो हो, दफ्तरखाने के ठीक सामने तो अकबर का ख्वाबगाह है। यह एक छोटी-सी कोठरी है जो 14 फीट लम्बी और उतनी ही चौड़ी है। इस कोठरी से जोधाबाई, सुलतान बेगम, मरीयम आदि के प्रासादों और महलों को जाने के लिए दालानें बनी थीं। परन्तु अब अनेक स्थानों से वे टूट गयी हैं। ख्वाबगाह की कोठरी इसमें संदेह नहीं कि फतहपुर के सब स्थानों में उत्तम थी। इसकी बनावट और चित्रकारी अब तक मन को मोह लेती है। इस कोठरी के ठीक पीछे एक और कोठरी है जिसमें ऐसा कहा जाता

है कि एक साधु जिसे अकबर बहुत मानता था रहता था। परन्तु इसकी बनावट साधारण है। ख्वाबगाह वाली कोठरी किसी समय चित्रकारी से खूब भरी थी। पर अब भी जो कुछ बाकी बच रहा है उसे देखकर यह अनुमान किया जाता है कि यहाँ कैसी कुछ कारीगरी दिखायी गयी थी। इसमें स्थान-स्थान पर सुन्दर सुनहले अक्षरों में फारसी की शेरें लिखी हुई थीं जिनमें से अब केवल ये पढ़ी गयी हैं :—

फर्शे ऐवाने तोरा आइनः साजद रुज्वां।
ख़ाके दर्गाहे तोरा सुर्मः कुनद हूरुल ऐन॥

किसरे शाहस्तः वहर बाव व अज़ खुल्दवरीं।
सखुने नेस्तदरीं वाव कि खुलदेस्त वरीं॥

गुरफ ए-शाह नशीनो खुशो मतबूओ बुलन्द।
कर्दः दर कितए ऊ जिन्नते आला तरमीन॥

चू मलिके हरकि कुनद सिजद ए-खाके दरे तौ।
शवद अज़ ख़ासियते खाके दरत जुहर जवीं॥

कोठरी चारों ओर ध्यानपूर्वक देखने से ऐसा जान पड़ता है कि उसमें आठ बड़े-बड़े चित्र चित्रित थे। इनमें से अब कोई भी पूरा नहीं है, कई तो पूर्ण नष्ट हो गये हैं परन्तु जो वर्तमान हैं उनके देखने से ऐसा जान पड़ता है कि ये हिन्दुओं के देवी-देवताओं तथा अन्य-अन्य दृश्यों के चित्र थे। एक स्थान पर बुद्ध देव की मूर्ति है, दूसरे स्थान पर नावें बनी हुई हैं। कहीं हरिणों का शिकार हो रहा है और कहीं कुछ लोग खड़े हैं। इतिहास में यह बात प्रसिद्ध है कि अकबर के पास चित्रों का अच्छा संग्रह था। इससे सम्भव है कि उन्हीं चित्रों में कुछ चित्रों की नकल बनवायी गयी हो। जो कुछ हो, परन्तु इस कोठरी को सुन्दर और मनोहर बनाने में ऐसा जान पड़ता है कि कोई बात उठा नहीं रखी गयी थी।

ख्वाबगाह के ठीक सामने एक पक्का तालाब है जो 295 वर्ग फीट की लम्बाई और चौड़ाई में है। इसमें चारों ओर पक्की सीढ़ियाँ लगी हुई हैं और बीच में एक ऊँचा चबूतरा है जिस पर जाने के लिए तालाब के चार किनारों से सुन्दर पत्थर के खम्भों पर एक पुल है। इसकी चौड़ाई 20 इञ्च है। इस तालाब में पानी नहरों से, जो खजाने से लगी हुई थी आता था और तालाब को सदा सुथरा रखने के लिए उत्तर की ओर एक छेद बना हुआ है जिससे पानी निकाल दिया जाता था।

इस तालाब के उत्तर-पूर्व कोने की ओर सुलताना बेगम के रहने का स्थान था और उसके साथ ही सटा हुआ एक बगीचा था जिसका पहले हम वर्णन कर चुके हैं और जो दीवान आम के पश्चिम पड़ता है। तालाब के उत्तर-पश्चिम कोने की ओर लड़कियों के पढ़ने का स्कूल है। इन दोनों के बीच में तथा और तालाब के ठीक उत्तर एक दालान चली गयी है जिससे दोनों में जाने का मार्ग है।

सुलताना बेगम का महल यद्यपि बहुत छोटा है अर्थात् भीतर की कोठरी केवल 13 फीट लम्बी और लगभग उतनी ही चौड़ी है परन्तु बनावट उसकी ऐसी सुन्दर और मनोहर है कि मिस्टर फर्गुसन के विचार में इससे और बीरबल के भवन से बढ़ कर सुन्दर और मनोहर काम की और कोई दूसरी इमारत अकबर की बनवायी हुई नहीं है। इससे अच्छे सुन्दर बेल-बूटों का काम ध्यान में कदाचित् ही आ सकता है। इस पर विशेषता यह है कि इतना अधिक भी काम नहीं बनाया गया है जिससे भद्दा हो जाय। खम्भों और छतों पर अत्यन्त सुन्दर बेल-बूटे बने हुए हैं। कहीं बगीचा लगा हुआ है, कहीं झरने बह रहे हैं और पशु-पक्षी जल बिहार कर रहे हैं और कहीं घनघोर जंगल का चित्र खींचा हुआ है। कई एक विचारशील महाशयों का कहना है कि यह घर मानो रत्नों की डिबिया है। वास्तव में यह ध्यानपूर्वक देखने योग्य है।

इससे ठीक सामने लड़कियों के पढ़ने के लिए एक स्कूल बना था जिसमें दो कमरे हैं। उसमें शाहजादियाँ और उमरावों की लड़कियाँ पढ़ना-लिखना सीखती थीं।

इस स्थान के ठीक पश्चिम में एक स्थान बना हुआ है जो 'पञ्च महल' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके पाँच खन हैं और सब एक दूसरे के सहारे खम्भों पर खड़े हैं। पहले खन में 84, दूसरे में 58, तीसरे में 20, चौथे में 12; पाँचवें में केवल 4 खम्भे हैं। इसकी ऊँचाई लगभग 60 फीट है क्योंकि ऊपर जाकर गुम्बज बना दिया गया है। यह पञ्च महल किस अभिप्राय से बनाया गया था कुछ समझ में नहीं आता। सम्भव है कि अकबर गर्मी के दिनों में स्नेही मंत्रियों के साथ बैठता हो। परन्तु इसमें आने के लिए एक द्वार महलों से बना हुआ है। इससे ऐसा सम्भव जान पड़ता है कि इस पर अकबर की बेगमें बैठती हों। जो कुछ है स्थान सुन्दर और सुहावना है और इसके धुर ऊपर चढ़ने से चारों ओर की छटा अच्छी दिखायी देती है।

इस स्थान के पूर्व बड़ा सा चौक है जिसमें पचीसी खेलने के लिए पत्थर की चौपड़ बनी हुई है। ऐसा कहा जाता है कि मोहरों के स्थान पर यहाँ लौडियाँ भिन्न-भिन्न रंग के कपड़ों से सज-धज कर बैठायी जाती थीं। अकबर स्त्री-प्रिय और विषयी था यह बात तो यहाँ से पूर्णतया प्रकट है। जिस किसी ने उसके नौरोज़ या खुशरोज़ के बाज़ार का हाल पढ़ा होगा, वह इस बात को भली-भाँति समझ जायगा।

कर्नल डाट अपने इतिहास में लिखते हैं कि वर्ष में एक दिन बादशाही महलों में बाज़ार लगता था जिसमें विक्रेता अमीर उमरा और सरदारों तथा दरबारियों की महिलाएँ और कन्याएँ रहती थीं और क्रेता अकबर की बेगमें। अकबर भी भेष बदल कर इस क्रय-विक्रय को देखने आता था। परन्तु वास्तव में वह राजपूत स्त्रियों के सतीत्व धर्म को क्रय करने के लिए बेष बदलता था। वह उन महिलाओं में से एक को पसन्द करता और उसे महल तक ले जाने का भार कुटनियों पर छोड़ आप चल देता था। जिसमें इस भेद को कोई जानने न पावे। वह मर्दों का भी एक बाज़ार करता था जिसमें आप खुला-खुली चीजें खरीदने जाता था। अकबर को इस कुत्सित नीच कर्म का फल बीकानेर के राजकुमार पृथ्वीराज की सती साध्वी पत्नी ने चखाया था। एक वर्ष यह स्त्री रत्न भी इस दुष्ट के जाल में फँस गयी और जब उसने देखा कि मुझे धोखा दिया गया है तो वह कटार निकाल कर अकबर के समाने खड़ी हो गयी और बोली "रे नीच नराधम ! आज तुझे समाप्त कर तेरे कुत्सित नीच कर्म को सदा के लिए रसातल में पहुँचाऊँगी।" अकबर भयभीत हो उसके पैरों पर गिर पड़ा और क्षमा माँग कर उसने प्रतिज्ञा की कि इस दिन से अब मैं इस कर्म को छोड़ दूंगा। हमारे पाठकों को विदित होगा कि ये ही पृथ्वीराज, जिनकी धर्मपत्नी ने अपने ऐसे साहस और सतीत्व धर्म का परिचय दिया, प्रताप सिंह के पूर्ण सहायक थे। इन्हीं की कविता-शक्ति ने अन्त तक प्रताप को निज प्रण पर दृढ़ रखा। अब तक आगरे के किले में वह स्थान दिखाया जाता है जहाँ बाज़ार लगता था। जिस दिन हमें इसे देख कर संतप्त होना पड़ा था उसी दिन कुछ अँग्रेज उस चौक में टेनिस खेल रहे थे। अकबर का अनन्य भक्त अबुलफजल लिखता है कि बादशाह उन बाजारों में इसलिए जाता था कि जिसमें देश की अवस्था का पता लग जाय। हाँ, अकबर ! जब तक तेरे चिह्न इस भारतवर्ष में वर्तमान रहेंगे, तेरी उज्ज्वल कीर्ति के सामने वह बड़ी भारी कालिमा सदा देख पड़ती रहेगी।

इस पचीसी चौक से ठीक उत्तर दीवान खास और आँख मिचौली खेलने

का स्थान बना हुआ है। दीवान खास की बनावट विचित्र है। बाहर से देखने में यह भवन दो खन का जान पड़ता है। परन्तु पहले खन के ठीक बीच में एक खम्भा खड़ा है, जिस पर से चार धरने चार ओर चली गयी हैं और बीच में एक स्थान बैठने का बना हुआ है। दीवान खास की बनावट में विशेषता यह है कि भीतर बैठा हुआ बाहर का सब हाल जान सकता है और बाहर कोई नहीं जान सकता कि भीतर क्या हो रहा है। ऊपर के खन में चारों ओर चार दालाने हैं। जिनमें ऐसा कहा जाता है कि अकबर के मन्त्री लोग बैठ कर काम-काज करते थे और अकबर बीच में बैठा हुआ उनकी बातें सुन कर अपनी सम्मति देता था।

इतिहास में यह बात प्रसिद्ध है कि अकबर ने सन् 1575 ई० में एक इबादतखाना बनवाया था जिसमें भिन्न-भिन्न धर्म के लोग इकट्ठे होते और आपस में वाद-विवाद करते थे तथा अकबर उन सब बातों को सुनता था। ऐसा कहा जाता है कि इस घर में चार दालानें थीं जिनमें धार्मिक लोग तथा अकबर के आमात्य लोग बैठते थे और बीच में अकबर के बैठने का स्थान बना था। यहाँ अकबर प्रति शुक्रवार को आता था। यहीं पर अबुलफजल, फैजी और बीरबल से अकबर की घनिष्ठ मित्रता हुई थी। सब धर्मों की बात सुनते-सुनते अकबर का विश्वास अपने धर्म से उसके कट्टरपन के कारण हटने लगा और उसके मित्रों ने भी उसको निज धर्म की पोल पूरी-पूरी खोल दी। यह बात यहाँ तक बढ़ी कि अबुलफजल और फैजी की सहायता से वह अपने को पृथ्वी पर ईश्वर का दूत मानने और सूर्य की पूजा करने लगा। अकबर का विश्वास था कि जिस बात को मन सत्य न माने उसे कभी हठ से नहीं मानना चाहिए। सती-प्रथा बन्द करने में वह इसी कारण से दत्तचित्त हुआ। हिन्दुओं की ओर वह अधिक झुकता था और इसका कारण केवल अपनी कुटिल नीति का पोषण करना था। अकबर के दरबार में नरहरि नामक एक कवि था। जब गो-हत्या बहुत बढ़ गयी तो उसने एक दिन बहुत-सी गौओं को इकट्ठा कर सब के गले में एक पटरी लटका दी और उस पर यह छप्पय लिख दिया—

अरिहुं दन्त तृण दर्वाहि ताहि नहिं मारि सकत कोई।
हम सन्तति तृण चरहिं उच्चरहिं दीन होई।
अमृत पय नित स्रवहिं वच्छ महि थम्भन जावहिं।
हिन्दुहिं मधुर न देहिं कटुक तुरकहिं न पियावहिं।

कह नरहरि सुनु साह वर विनवत गउ जोरे करन।
केहि अपराध मोहि मारयतु मुयउ, चाम सेवत चरन।

अकबर जब उधर से चला तो उसने अधिक गौओं को खड़ा देखकर उसका कारण पूछा। नरहरि ने कहा ये कुछ प्रार्थना करने आयी हैं। इस पर उसने उस करुणामय प्रार्थना को सुनकर, ऐसा कहा जाता है कि अपने राज्य से गो-वध उठा दिया था जिससे हिन्दू उसके चिर कृतज्ञ हो उसकी बड़ाई करने लगे।

अस्तु, इस इबादतखाने के प्रभाव से न जाने क्या-क्या हो जाता और सारा हिन्दू भारतवर्ष मुसलमान बन जाता। परन्तु जगत्कर्त्ता को यह स्वीकार न था। कुछ लोगों का अनुमान है कि दीवान खास ही इबादतखाना है। परन्तु महलों के बीच में होने के कारण यह सम्भव नहीं जान पड़ता।

मिस्टर स्मिथ अनुमान करते है कि यह पहले दीवान आम के सामने वाले चौक में बना था। जो कुछ हो, परन्तु अभी तक कोई ऐसा स्थान नहीं मिला जिसे हम इबादतखाना कह सकें।

(1901)

यूनिवर्सिटी कमीशन[1]

शिक्षक विश्वविद्यालय

विश्वविद्यालय के मुख्य उद्देश्य (1) विद्या की उन्नति करना और (2) उसका प्रचार करना है। इन दोनों उद्देश्यों को पूरा करने के लिए विश्वविद्यालय को शिक्षक और परीक्षक दोनों ही होना चाहिए। जो विद्यार्थी भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों की परीक्षा देना चाहते हैं उन्हें किसी संयुक्त विद्यालय में पढ़ना पड़ता है। अतएव भारतवर्ष के विश्वविद्यालय एक प्रकार से शिक्षक भी हैं। जब लन्दन का विश्वविद्यालय केवल परीक्षा ही लेता था तब वहाँ यह बात नहीं थी। अतएव आजकल भारतवर्षीय विश्वविद्यालयों में और लन्दन और आक्सफोर्ड के विश्वविद्यालयों में मुख्य भेद यही है कि यहाँ विद्यालय देश भर में सर्वत्र बने हुए हैं परन्तु वहाँ उनके केन्द्र केवल मुख्य-मुख्य नगरों में ही हैं। परन्तु भारतवर्षीय विश्वविद्यालयों को इस प्रकार के शिक्षक विश्वविद्यालय बनाने में अनेक अनिवार्य कठिनाइयाँ हैं। ऐसा करने के केवल दो ही उपाय हैं—या तो प्रत्येक कालेज विश्वविद्यालय बना दिया जाय और उनके सिनेट, सिण्डिकेट तथा फेलो लोग जुदे-जुदे हों अथवा भारतवर्ष में आजकल जितने कालेज हैं, वे सब उठा कर, उनके केन्द्र केवल विश्वविद्यालयों में ही स्थापित कर दिये जायँ। इन दोनों में से कोई भी बात नहीं सम्भव देख पड़ती, क्योंकि शिक्षक विश्वविद्यालय का यह अर्थ है कि वह विद्यालय शिक्षक, परीक्षक और पदवीदाता भी हो तथा वहीं विद्यार्थियों के रहने का भी नियम हो। जैसा कि यहाँ के मेडिकल कालेज और इंजीनियरिंग कालेज में है।

परन्तु इन सब कठिनाइयों के रहते भी कोई विश्वविद्यालय शिक्षक कहलाने योग्य नहीं है जब तक कि पूर्णतया उनमें ये सब बातें न हों। अतएव हम लोगों की सम्मति है कि विश्वविद्यालय बी० ए० तक केवल परीक्षक ही रहें। उसकी शिक्षा इन परीक्षाओं के पीछे अर्थात् एम० ए०, डी० एस० सी०, डी०

---

1. बाबू गोविन्ददास ने जो गवाही दी थी और जिसका उल्लेख इस मास की विविध वार्त्ता में है उसी का अनुवाद।

लिटरेचर और एल-एल० डी० से आरम्भ हो। बी० ए० होने के पीछे की शिक्षा के लिए स्वीकृत प्रोफेसरों का नियत करना उचित होगा।

ग्रेजुएट विद्यार्थियों के लिए विश्वविद्यालयों को विज्ञान और साहित्य की पढ़ाई के लिए कुछ छात्रवृत्ति (स्कालरशिप) भी नियत करना चाहिए जैसा कि बंगाल गवर्नमेण्ट कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिए करती है। इन वृत्ति पाने वालों के लिए यह भी आवश्यक करना चाहिए कि वे कलकत्ता की भाँति देश-भाषाओं में वैज्ञानिक तथा साहित्य के विषयों पर सब लोगों के समझने योग्य व्याख्यान उसी रीति पर दें, जैसा कि इंग्लैण्ड के विश्वविद्यालय के एक्स्टेनशन सिस्टम में किया जाता है।

इसके अतिरिक्त सभा की यह अनुमति है कि प्रत्येक साल यूरोप से अच्छे-अच्छे विद्वान् 6 महीने के लिए, लगभग 1000 पाउण्ड देकर विश्वविद्यालय के केन्द्रों में ग्रेजुएट विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए बुलाये जायँ। भारतवर्ष प्रोफेसर रेमजे तथा लार्ड केलविन जैसे विद्वानों के यहाँ कुछ वर्ष तक ठहरने के लिए उचित पुरस्कार नहीं दे सकता परन्तु इतना देना कोई कठिन बात न होगी कि जिससे ये यहाँ कुछ महीनों के लिए आ सकें। प्रत्येक विश्वविद्यालय एक-एक प्रोफेसर बुलावे और ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि प्रत्येक प्रोफेसर एक-एक महीने प्रत्येक विश्वविद्यालय के केन्द्रों में व्याख्यान दे। ऐसा प्रबन्ध करना कदाचित् कठिन न होगा और यह आशा की जाती है कि इससे विद्यार्थियों के विचार उच्च होंगे तथा शिक्षक वर्गों की भी योग्यता बढ़ेगी। इसके अतिरिक्त यदि इन श्रेणी के विद्यार्थियों के लिए कोई यूरोपीय भाषा के, यथा फ्रेञ्च या जर्मन पढ़ाने का नियम कर दिया जाय तो उतम होगा। क्योंकि ऐसे विषयों के कई एक मुख्य ग्रन्थ इन भाषाओं में हैं।

विश्वविद्यालय में रहने के लाभों को प्राप्त करने के लिए वे सब विद्यार्थी जिनके कालेज के नगर में सम्बन्धी माता-पिता न हों उन कालेज की धर्मशाला में रहने के लिए विवश किये जायँ जिसमें कि वे पढ़ते हों।

डिग्री परीक्षा के सम्बन्ध में हम लोगों का सविनय निवेदन है कि इन परीक्षाओं को और भी कठिन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे जीवन के सब आवश्यक कार्यों के लिए यथेष्ट कठिन और उच्च हैं। साधारण सरकारी आफिसों के लिए सरकार को विशेष विद्वानों की आवश्यकता नहीं है। परीक्षा ऐसी होनी चाहिए कि अधिकांश विद्यार्थियों के लिए सहज हो और उन्हें परीक्षा देने तथा

उत्तीर्ण होने में सुगमता हो। जिन लोगों को किसी विषय अथवा विषयों में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए समय, द्रव्य और मन है, उनके लिए उच्चतम परीक्षाएँ यथा डी० एस सी०, डी० लिटरेचर आदि होनी चाहिए। परन्तु ऐसे लोग स्वभावत: थोड़े निकलेंगे। बंगाल में इस अभाव को प्रेमचन्द रायचन्द की स्कालरशिप कुछ अंश में दूर करती है, अतएव सभा की प्रार्थना है कि जिन यूनिवर्सिटियों में ये उच्चतम परीक्षाएँ न होती हों उनमें ये परीक्षाएँ तथा उनकी पढ़ाई जारी की जाय।

साधारण एफ० ए० और बी० ए० की परीक्षाओं के लिए यह बात आवश्यक न की जाय कि जो इन परीक्षाओं को देना चाहें उन्हें किसी संयुक्त कालेज में पढ़ कर अपनी उपस्थिति का प्रमाण-पत्र प्राप्त करना बाध्य हो। परन्तु इस सम्बन्ध में मद्रास यूनिवर्सिटी का नियम (सन् 1901-2 का कैलेण्डर भाग 1 पृष्ठ 48 और 54) ग्रहण किया जा सकता है।

मद्रास यूनिवर्सिटी के हर एक विद्यार्थियों को परीक्षा के लिए तीन विषय लेने पड़ते हैं और साथ ही इसके वह किसी एक वर्ष में अपनी रुचि के अनुसार किसी एक विषय में, या दो विषयों में, अथवा तीनों विषयों में परीक्षा दे सकता है, यदि वह इन विषयों में से किसी में उत्तीर्ण हो जाय, तो आगामी वर्षों में उस विषय में फिर परीक्षा न देनी पड़ती।

इसके अतिरिक्त परीक्षा की फीस भी प्रत्येक विषय की अलग-अलग लगती है यथा अंग्रेजी की 12), दूसरी भाषा की 6), विज्ञान की 18) आदि। ये बड़े अच्छे नियम हैं और इनका प्रचार सब यूनिवर्सिटियों में होने के लिए सभा विशेष जोर देती है। ऐसा होने से विद्यार्थियों को पूर्णरूप से अपनी परीक्षा के सब विषयों को अध्ययन करने का अवसर मिलेगा और उपाधि-प्राप्त लोग आजकल की अपेक्षा अधिक योग्य होंगे। इस नियम के अवलम्बन करने से उपाधि-प्राप्त लोग आजकल की अपेक्षा किसी प्रकार न्यून न होंगे। क्योंकि भिन्न-भिन्न विषयों के लिए जो अधिक समय दिया जाता है, इससे यदि कोई दोष भी होगा तो वह भी दूर हो जायगा। शिक्षा द्रव्य सम्बन्धी सार को छोड़ कर, शिक्षा के हेतु, अर्थात् ज्ञानोद्दीप्ति के हेतु दी जानी चाहिए और उसकी उन्नति किसी अवस्था में नहीं रोकी जानी चाहिए। अतएव बी० ए० की परीक्षा आजकल से अधिक कठिन न की जानी चाहिए और उसकी परीक्षा देने वाले विद्यार्थियों के लिए हर एक प्रकार की सुगमता होनी चाहिए।

कानून

जब कि साहित्य और विज्ञान की परीक्षाओं के लिए केन्द्र बनाने का कोई यत्न नहीं किया जाता, तो केवल कानून के लिए केन्द्रस्थ कालेज का होना उचित नहीं जान पड़ता। प्रथम श्रेणी के कालेज, यदि वे कानून की पढ़ाई के लिए उपयुक्त प्रबन्ध कर सकें तो उन्हें बी० एल० या एल-एल० बी० उपाधि के लिए सहायक बना लेना चाहिए। जैसा कि आजकल कलकत्ता यूनिवर्सिटी में किया जाता है।

हम लोगों की दूसरी प्रार्थना यह है कि जो लोग वकालत कर रहे हों, तथा सब प्रकार से योग्य हों, उनके लिए उपस्थिति के प्रमाण-पत्र की आवश्यकता न होनी चाहिए। क्योंकि वे लोग उससे कहीं बढ़ कर शिक्षा पाते हैं जो कि किसी कालेज में मिल सकती है।

इसके अतिरिक्त हम लोग चाहते हैं कि कानून की उच्चतम पढ़ाई को उचित उत्साह दिया जाय। एल-एल० बी० लोगों की अपेक्षा एल-एल० डी० लोगों को कचहरियों में वकालत करने में तथा उच्चतम दीवानी विभाग की नौकरियों के पाने में कुछ अधिक अधिकार दिया जाय। जो लोग किसी यूनिवर्सिटी की एल-एल० डी० परीक्षा में उत्तीर्ण हों वे भिन्न-भिन्न प्रान्तों के न्यायालयों में वकालत करने पावें और यही अधिकार एल-एल० बी० लोगों के लिए दिया जाय यदि वे प्रान्तिक कानून की परीक्षा में, जो कि प्रत्येक प्रान्त में इसी हेतु हुआ करे, उत्तीर्ण हों। यह बात इलाहाबाद के हाईकोर्ट के वकीलों और एल-एल० बी० लोगों के लिए, जो कि अवध में वकालत करना चाहते हैं होती है। उन लोगों के लिए यह आवश्यक किया जाय कि वे हिन्दू अथवा मुसलमानी कानून को मूल संस्कृत या अरबी के ग्रन्थों से पढ़ें। न्यायालयों के सम्मुख हिन्दू या मुसलमानी कानून के पेचीले मुकदमे बहुधा उपस्थित होते हैं। अतएव एल-एल० डी० विद्यार्थियों के लिए इन कानूनों का मूल ग्रन्थों से पढ़ना कुछ अनुचित नहीं है।

इञ्जीनियरिङ्ग

ऐसे कालेजों में यथा रुड़की कालेज में भरती करने और स्कालरशिप तथा नौकरियाँ देने में प्रान्त और जाति का विचार करना अन्याय है। ऐसी बाधाएँ डालने से इन कालेजों के लाभ को बड़ी हानि पहुँचती है। ये यूनिवर्सिटी के अधीन होने चाहिए और इनमें भरती होने के नियम ऐसे हों जो सब के लिए हों। हम लोगों को इसका कोई कारण नहीं दिखायी देता कि इन

कालेजों में भरती होने वालों के लिए जाति-पाँति और धर्म की बाधा क्यों डाली जाती है। रुड़की इञ्जीनियरिंग कालेज इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में सम्मिलित किया गया है, और इस यूनिवर्सिटी में एक फेकल्टी आफ इञ्जीनियरिंग भी है; परन्तु हम लोगों की समझ में नहीं आता कि इस सम्मिलित करने तथा फेकल्टी बनाने से क्या तात्पर्य है जब कि यूनिवर्सिटी न तो परीक्षा के विषय नियत करती है, न परीक्षा ही लेती है और न उपाधि ही देती है।

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी कैलेण्डर में रुड़की इञ्जीनियरिंग कालेज की स्थिति विचित्र जान पड़ती है। यह कालेज स्वयं ही एक जुदी यूनिवर्सिटी है और फिर भी इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में सम्मिलित है। यद्यपि इस यूनिवर्सिटी को उस कालेज सम्बन्धी किसी विषय में अधिकार नहीं है। हम लोग इस बात पर विशेष जोर देंगे कि रुड़की कालेज की परीक्षा साहित्य और विज्ञान की परीक्षाओं की नाईं सीधे यूनिवर्सिटी द्वारा हो, जैसा कि मद्रास, बम्बई और कलकत्ते की यूनिवर्सिटियों में होता है, अर्थात् ये यूनिवर्सिटियाँ पाठ्य पुस्तकें नियत करती हैं और उपाधि भी देती हैं। आजकल भिन्न-भिन्न यूनिवर्सिटियाँ इञ्जीनियरिंग के लिए जो उपाधि देती हैं वे भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा न होना चाहिए। यथा बम्बई यूनिवर्सिटी की एल० सी० ई० और एम० सी० ई०, पञ्जाब की सी० ई० (प्रथम परीक्षा), मद्रास की बी० ई० और कलकत्ते की बी० ई० और एम० ई० की उपाधि दी जायँ। इसके अतिरिक्त हम लोगों की अनुमति है शिक्षक लोगों को रायल इञ्जीनियरों में से नियुक्त करने की प्रथा उठा दी जाय और वे लोग भिन्न-भिन्न विषयों के निपुण लोगों में से चुने जाया करें।

डाक्टरी

वैद्यक की परीक्षाओं के सम्बन्ध में हम लोग यह अनुमति देंगे कि संयुक्त प्रदेश में भी कई अन्य यूनिवर्सिटियों की नाईं प्रान्तिक यूनिवर्सिटी के अधीन एक मेडिकल कालेज स्थापित किया जाय जो कि एम० बी० और एम० डी० की उपाधि दे। यह बात आगरा मेडिकल स्कूल को बढ़ा देने और उसे प्रान्तिक यूनिवर्सिटी में सम्मिलित कर लेने से सहज ही में हो सकती है। मेडिकल कालेजों के शिक्षकगण भी बहुधा इण्डियन मेडिकल सर्विस में नियुक्त किये जाते हैं। अतः इञ्जीनियरिंग की नाईं इसमें भी शिक्षक लोगों का चुनाव एक विशेष श्रेणी के लोगों में से नहीं होना चाहिए। यह रीति उस अवस्था में बहुत ही हानिकारक होती है जब कि प्रोफेसर लोग एक विषय को पढ़ाते-पढ़ाते दूसरे विषय को पढ़ाने लगते

हैं। अथवा इन्हें प्रोफेसरी छोड़कर भिन्न-भिन्न नगरों में डाक्टरी का सरकारी काम करना पड़ता है।

सब मेडिकल कालेजों में आयुर्वेदी और यूनानी रीतियों के पढ़ाये जाने के लिए एक जुदा विभाग होना चाहिए। क्योंकि ये इस देश की विद्याएँ होने के कारण सर्वसाधारण के स्वभाव तथा चित्त के अनुकूल हैं और अशिक्षित लोग अंग्रेजी दवाइयों की अपेक्षा इसका अधिक प्रयोग करते हैं। इन रीतियों के प्रचलित करने और वैज्ञानिक अध्ययन से बहुत लाभ होगा। और बहुत-से हिन्दू लोग उन टुटपुंजियों के हाथ से बचेंगे जो कि समाज के लिए एक भय और आपदा के कारण है और जिनकी संख्या दुर्भाग्यवश बढ़ रही है। हम लोगों की अनुमति है कि इनकी पढ़ाई देश-भाषाओं में हो और इनमें अनाटमी, सर्जरी आदि विषय भी पढ़ाये जायँ। ऐसा करने से आयुर्वेदी और यूनानी विद्यार्थी लोग योग्य वैद्य और हकीम हो जायेंगे और इस प्रकार से एक बड़ा अभाव दूर हो जायगा जिसके कारण हिन्दुस्तानी लोग बहुत हानि उठा रहे हैं। इसके अतिरिक्त हम लोगों की यह भी अनुमति है कि यूनिवर्सिटी इस विभाग के विद्यार्थियों की एक जुदी ही रीति से परीक्षा लेकर उपाधि दे।

कृषि

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश होने के कारण, इस विभाग में रीत्यानुसार तथा वैज्ञानिक शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है और बिना इस विषय के सम्मिलित किये, जैसा कि बम्बई यूनिवर्सिटी में होता है, कोई युनिवर्सिटी शिक्षा पूरी नहीं कही जा सकती। इसका बीज कानपुर एग्रिकलचरल स्कूल में है। वह सहज ही में कालेज बनाया जाकर यूनिवर्सिटी में मिलाया जा सकता है जैसा कि ऊपर मेडिकल और इञ्जीनिरिङ्ग कालेजों के सम्बन्ध में प्रस्ताव किया जा चुका है।

शिक्षकगण

विश्वविद्यालय में शिक्षा-प्रणाली में भी परीक्षाएँ ली जानी चाहिए। इलाहाबाद में एक ट्रेनिङ्ग कालेज है जो शिक्षक, परीक्षक तथा उपाधिदाता तीनों ही है और शिक्षा विभाग के अधीन भी है। हम लोग चाहते हैं कि उसकी परीक्षाएँ भी विश्वविद्यालय द्वारा ही हों जैसा कि मद्रास में होता है और जैसा कलकत्ते में होने का प्रस्ताव किया गया है।

यूनिवर्सिटियों की अधिकार-सीमा

हम लोगों को विश्वविद्यालयों के अधिकार को सीमाबद्ध करने की कोई

आवश्यकता नहीं जान पड़ती, क्योंकि पहले तो किसी-किसी प्रान्त में विश्व-विद्यालय ही नहीं हैं और दूसरे भिन्न-भिन्न विद्यालयों की पुस्तकें तथा उनके उपा-धियों के द्रव्य सम्बन्धी निरूपण भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु यदि ये समान भी कर दिये जायँ, और ऐसा अनेक कारणों से होना आवश्यक है, तो भी यह बात उचित है कि भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों को किसी विशेष विषय की पढ़ाई में अधिक अनुराग दिखलाना चाहिये। जैसा कि आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज कालेज के विश्व-विद्यालयों में है। इन अवस्थाओं में प्रत्येक कालेज को अधिकार देना चाहिये कि वे जिस किसी एक या एक से अधिक विश्वविद्यालयों में सम्मिलित होना चाहें उनमें हों, यदि उनके सम्मिलित करने के नियमों का पूरा-पूरा पालन कर सकें।

सेनेट

यह बात सत्य है कि किसी-किसी विश्वविद्यालय में सेनेट बहुत ही बड़ी हो गयी है। परन्तु इलाहाबाद की सेनेट संख्या जैसी कि होनी चाहिए वैसी ही है। इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं है कि कुछ फेलो के पद केवल प्रशंसोक्ति की भाँति दिये गये हैं। प्रायः सभी विश्वविद्यालयों की सेनेट ने फेलो चुनने में गवर्नमेण्ट की अपेक्षा अधिक विवेक दिखाया है। गवर्नमेण्ट के कुछ नियुक्त लोग तो केवल मूर्ति मात्र हैं, जो कि अंग्रेजी का एक शब्द भी नहीं जानते और शिक्षा सम्बन्धी बातों में कुछ भी ज्ञान न रखते हैं। ऐसा नियोजन बन्द कर देना चाहिए।

हम लोगों की अनुमति है कि भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों के फेलो लोगों की संख्या 125 और 150 के भीतर होना चाहिए।

फेलो लोगों की योग्यता के सम्बन्ध में हम लोग यह अनुमति देंगे कि जो लोग शिक्षा-सम्बन्धी, विद्या-विषयक और अन्वेषण के कार्य में लगे हैं और जो शिक्षा-सम्बन्धी बातों में उत्साह और अनुराग रखते हैं वे सब फेलो के पद के लिए ग्रहणीय हों। यदि कोई फेलो निरन्तर 4 अधिवेशनों में अथवा दो वर्ष तक उपस्थित न हो तो उसका पद खाली समझा जाय, परन्तु वे लोग जो भारत-वर्ष से सदैव के लिए या दो वर्ष से अधिक के लिए चले जायँ, वे भारतवर्ष से प्रस्थान करने की तिथि से फेलो में न समझे जायँ। फेलो के पद की अवधि के सम्बन्ध में हम लोग यह कहेंगे कि न तो बहुत ही अल्प समय और न स्थायी नियोजन ही विश्वविद्यालय के लिए हितकारी होगा। पहली बात से उन लोगों को घड़ी-घड़ी चुनने का व्यर्थ कष्ट उठाना पड़ेगा। उन लोगों को पूर्णतया अपना

कर्त्तव्य जानने का भी समय नहीं मिलेगा और दूसरी बात से यह होगा कि वृद्ध और क्षीण शक्ति के लोग मेम्बर रहेंगे और नवीन उमङ्ग के मनुष्य वञ्चित रखे जायेंगे ।

सभा की अनुमति में इसके लिए 10 वर्ष ठीक और उचित समय होगा । इससे अवश्य ही वे लोग पुन. चुने जाने से नहीं रोके जाते जो पद जिस वर्ग में खाली हो वह पद इसी पद से पूर्ण किया जाय, अर्थात् गवर्नमेण्ट से, सेनेट सेवा ग्रेजुएटों से जैसी समय-समय पर आवश्यकता हो ।

हम लोगों की अनुमति है कि फेलो के पद इस प्रकार विभाजित किये जायँ—चान्सलर, शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर, स्कूलों के इन्स्पेक्टर और सब प्रथम और द्वितीय श्रेणी के कालेजों के प्रिंसिपल लोग फेलो हों । बाकी के फेलो के पद गवर्नमेण्ट, सेनेट, और पाँच वर्ष पूर्व हुए ग्रेजुएटों में बराबर-बराबर बाँट दिये जायँ । परन्तु वे ग्रेजुएट जिन्होंने उच्चतम उपाधि यथा एम० ए०, डी० लिट्०, डी० एस-सी० आदि प्राप्त की हो, उन्हें चुने जाने या सम्मति देने का अधिकार प्राप्त करने के लिए 5 वर्ष तक ठहरने की आवश्यकता न रखी जाय ।

सिण्डिकेट

सिण्डिकेट के सम्बन्ध में हम लोग उसके कानून से नियमित किये जाने में कोई दोष नहीं देखते । परन्तु सेनेट को उस पर सदैव पूर्ण अधिकार होना चाहिए और उसके नियमादि सेनेट ही द्वारा बनाये जायँ ।

मद्रास विश्वविद्यालय की सिण्डिकेट, जिसमें केवल 9 सभ्य हैं, बहुत ही छोटी है । परन्तु इलाहाबाद की सिण्डिकेट, जिसमें 19 सभ्य हैं लगभग ठीक है ।

हम लोगों की अनुमति है कि पंजाब की नाईं उसमें 21 सभ्य होने चाहिए । यदि केवल साधारण नित्य-कर्म सब कमेटियों के अधीन कर दिया जाय तो इससे कार्य में सुगमता हो जायगी ।

चुनाव इस प्रकार से हो—

वाइस चान्सलर
शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर
कालेज के 5 प्रिन्सिपल

फेकेल्टी	आफ	आर्टस के	4	प्रतिनिधि
,,	,,	साइन्स	3	,,
,,	,,	ला	3	,,
,,	,,	मेडिसिन	2	,,
,,	,,	इञ्जीनियरिङ्ग	2	,,

सिण्डिकेट का जो मेम्बर निरन्तर तीन अधिवेशनों में उपस्थित न हो, वह उस पद से च्युत कर दिया जाय और उसके स्थान पर दूसरा चुना जाय। सिण्डिकेट के मेम्बरों का चुनाव कलकत्ता और मद्रास की नाईं किसी एक ही नगर में सीमाबद्ध न किया जाय और ये लोग दो वर्षों के लिए चुने जायँ। आजकल इसकी रीति के विषय में बड़ा भेद है।

जो गवर्नमेण्ट के कालेज नहीं हैं वे सिण्डिकेट में उचित रीति से नहीं रखे जाते। परन्तु जिस रीति का हम लोग प्रस्ताव करते हैं उससे यह दोष जाता रहेगा।

फेकल्टी

हम लोगों की अनुमति में प्रत्येक फेलो को एक-न-एक फेकल्टी में होना चाहिए। यदि कोई फेलो इस योग्य न हो कि फेकल्टी में रखा जाय तो वह फेलो चुने जाने योग्य नहीं है। भिन्न-भिन्न फेकल्टी और बोर्ड आफ स्टडीज के चुने हुए शिक्षकों और ग्रेजुएटों की पाठ्य पुस्तकों के चुनने में सम्मति लेने में कोई हानि नहीं है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि फेकल्टीज फेलो लोगों को चुने। गवर्नमेण्ट, सेनेट और ग्रेजुएटों को योग्य प्रार्थियों में से चुनाव करना चाहिए। फैकल्टीज को यदि साल में दो बार नहीं तो एक बार अवश्य मिलना चाहिए।

ग्रेजुएट

ग्रेजुएटों द्वारा फेलो लोगों के चुने जाने के लिए और ऊपर लिखे अनुसार फेकल्टीज के उनसे अनुमति लेने के लिए ग्रेजुएटों की एक सभा बनायी जाय जैसा कि मद्रास में सन् 1883 में डॉक्टर विलसन ने प्रस्ताव किया था। ऐसी सभा स्थापित करने के लिए मद्रास विश्वविद्यालयों की सेनेट ने एक बिल बनाया था। इससे ग्रेजुएटों का सम्बन्ध विश्वविद्यालय की चर्या पूरी करने के पीछे भी उनसे रहेगा और इस प्रकार से उनका विद्या-विषयक तथा शिक्षा-सम्बन्धी जीवन उत्तेजित होता रहेगा।

हम लोगों की यह दृढ़ अनुमति है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय को अपने ग्रेजुएटों की नाम-धाम-सूचक पुस्तक अवश्य रखनी चाहिए।

हम लोग यह भी अनुमति देंगे कि विश्वविद्यालय का कैलेण्डर मद्रास की नाईं इस भाँति भागों में विभाजित किया जाय—

(1) प्रथम भाग में कानून, नियम, उपनियम स्कालरशिप और सम्मिलित कालेज आदि की नामावली हो।

(2) दूसरे भाग में परीक्षा के प्रश्न हों।

(3) तीसरे भाग में उत्तीर्ण विद्यार्थियों के और उन ग्रेजुएटों की नामावली हो जिनको विश्वविद्यालय-सम्बन्धी बातों में सम्मति देने का अधिकार हो।

इसके अतिरिक्त कैलेण्डर में विषयों, फेलो ग्रेजुएटों तथा पारितोषिक पाने वाले आदि लोगों की सूची और सेनेट तथा सिण्डिकेट के अधिवेशन की तिथि भी होनी चाहिए।

विश्वविद्यालयों को यह अधिकार रहे कि वे सम्मिलित कालेजों के अध्यापकों की प्रार्थना पर केवल उन्हें वे ही उपाधियाँ दें जिन्हें उन्होंने अन्यत्र भी पाया हो।

विश्वविद्यालय के विद्यार्थी

उत्तीर्ण होने वालों की संख्या कम होने का कारण परीक्षा की निर्धारित कठिनता का प्रत्येक वर्ष में बदलना ही है और न कि बिना सोचे-समझे सब विद्यार्थियों को परीक्षा देने की आज्ञा देना है। हम लोगों का विश्वास है कि इसमें हस्तक्षेप करने से हानि होगी। हम लोग नहीं सोच सकते कि विश्वविद्यालय विद्यार्थियों के सदाचार और स्वास्थ्य-रक्षा की ओर कैसे ध्यान रख सकता है। यह बात पूर्णतया कालेजों के प्रधान के हाथों में छोड़ देनी चाहिए, विशेषकर जब कि हम लोगों के प्रस्ताव किये हुए अनुसार उनमें से सब लोग फेलो होंगे और अधिकांश सिण्डिकेट के मेम्बर होंगे।

आजकल सभाओं और साधारणों के विद्या-विषयक कार्यों की ओर उचित ध्यान नहीं दिया जाता जिससे भिन्न-भिन्न समाज एक-दूसरे से अधिक संस्पर्श में रहें और इस प्रकार एक यथार्थ विश्वविद्यालय से जीवन की प्रवृद्धि करें। यह उत्तम होगा कि शिक्षा के भिन्न-भिन्न केन्द्रों में व्यायाम के, विद्या विषयक और वैज्ञानिक समाज स्थापित किये जायें जिसमें कि प्रोफेसर तथा

विद्यार्थी लोग सोत्साह अनुराग ले सकें। यदि ऐसे समाज भिन्न-भिन्न कालेजों की अधीनता में स्थापित किये जायँ तो इससे शिक्षक तथा विद्यार्थियों का परस्पर अधिक संसर्ग हो जायगा और विद्यार्थियों में विद्याध्ययन करने और अपने जीवन को देश हितकर कार्यों में लगाने में विशेष उत्साह होगा।

हम लोग एण्ट्रेन्स परीक्षा के लिए उम्र की सीमा बाँधने के निस्संदेह विरुद्ध हैं। उचित दिनों तक परीक्षा करके देखने के पीछे यह रीति शिक्षा के हित के लिए हानिकारक पायी गयी थी और कलकत्ता विश्वविद्यालय से तथा लन्दन विश्वविद्यालय से भी, जहाँ की देखा-देखी यह प्रचलित की गयी थी, इसे उठा दिया है। अतएव हम लोगों को इसके फिर से प्रचलित करने का कोई कारण समझ में नहीं आता। हम लोग यहाँ पर यह भी अनुमति देंगे कि स्कूल-फाइनल परीक्षा को किसी प्रकार से उन विद्यार्थियों का बाधक नहीं होना चाहिए जो कि अपना अध्ययन आप कालेजों के वर्गों में भी किया चाहते हैं। इससे बहुत-से लड़के इस परीक्षा में नहीं सम्मिलित होते। स्कूल-फाइनल परीक्षा एण्ट्रेन्स परीक्षा से कठिन है। अतएव उचित है कि जो लोग इस परीक्षा में उत्तीर्ण हों, उन्हें सब अधिकार प्राप्त रहें जो कि एण्ट्रेन्स में उत्तीर्ण हुए विद्यार्थियों को होते हैं।

विश्वविद्यालय की शिक्षा

हम लोग कह चुके हैं कि बी० ए०, बी० एस-सी०, बी० लिट्० और एल-एल० बी० परीक्षाओं के विश्वविद्यालय शिक्षक का कार्य न करें। यह काम इन परीक्षाओं के पीछे अर्थात् एम० ए०, डी० एस-सी०, डी० लिट्० आदि में प्रारम्भ हो।

यह कहा जाता है कि बहुतेरे लड़के जब कालेज की पढ़ाई प्रारम्भ करते हैं तो उन्हें अंग्रेजी का उचित ज्ञान नहीं होता। यह बात सत्य है और इसका कारण (1) स्कूल वर्गों की पाठ्य पुस्तकों का बिना उचित प्रकार से चुना जाना, (2) परीक्षाओं की बुरी रीति जिसका उद्देश्य केवल यही जान पड़ता है कि विद्यार्थियों से व्याकरण के गूढ़ विषयों का लुप्तप्राय कथाओं का हवाला पूछा जाय और यह न जानना कि उन्होंने कितनी अंग्रेजी सीखी है और (3) इन सब पढ़ाई पर यह तब तक नहीं सुधर सकती जब तक अध्यापकों को अच्छे वेतन न दिये जायँगे और उनके भविष्य का उचित प्रबन्ध किया जायगा। इसका दूसरा कारण यह भी है कि अध्यापकों को बहुत ही अधिक लड़के पढ़ाने पड़ते हैं। किसी भाषा का अध्यापक स्कूल के नीचे वर्गों में एक घण्टे में 15 या 20 लड़कों से

अधिक नहीं पढ़ा सकता । अध्यापक को अपना कार्य भली-भाँति करने के लिए अच्छी विद्या तथा पढ़ाने के उपयुक्त ढंग ही की आवश्यकता नहीं है, वरन् उसे अपने कार्य में अधिक अनुराग भी होना चाहिए। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापकों के वेतन की अभिवृद्धि की जाय और उनके लिए उचित पेन्शन का भी प्रबन्ध किया जाय ।

स्कूल की पाठ्य पुस्तकों का चुनना पूर्णतया प्रान्तिक टेक्स्ट बुक कमेटी के अधीन है और इसमें शिक्षित सर्व-साधारण की कोई सम्मति नहीं सुनी जाती । स्कूल वर्गों की पाठ्य पुस्तकों का चुना जाना बड़ी गुरुता का कार्य है, क्योंकि यह उत्तम शिक्षा का आधार है और हम लोगों की सम्मति में जितना ध्यान इस ओर दिया जाना चाहिए उसका विश्वविद्यालयों में शोचनीय अभाव है। यह कार्य पूर्णतया प्रान्तिक कमेटी ही के हाथ में न छोड़ दिया जाना चाहिए, क्योंकि उसमें चुनाव अब तक संतोषदायक नहीं हुए हैं। यह बात पूर्णतया टेक्स्ट बुक कमेटी के अधीन नहीं कर देनी चाहिए क्योंकि उन लोगों द्वारा पाठ्य पुस्तकों का चुनाव हम लोगों को ठीक नहीं जान पड़ता । इस कार्य की गुरुता और इसके सम्पादन करने की कठिनाई इसी से स्पष्ट है कि पाठ्य पुस्तकों का विश्वविद्यालय द्वारा भी चुनाव बहुधा वैसा नहीं होता जैसा कि होना चाहिए ।

ग्रीक और लैटिन भाषाओं की पढ़ाई के सम्बन्ध में हम लोगों की यह अनुमति है कि भारतवर्षीय विश्वविद्यालयों के अध्ययन-क्रम में इन भाषाओं के सम्मिलित करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

(1) हम लोगों की यह दृढ़ अनुमति है कि बोलचाल की अंग्रेजी का अच्छा और शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिए यूरोप की दो भाषाओं का केवल नाम मात्र ज्ञान करना केवल समय व्यर्थ करना है । इसके लिए विक्टोरिया के समय के ग्रन्थकारों को पढ़ना ही वास्तव में उपयोगी होगा ।

(2) जर्मनी तथा अन्य यूरोप के देशों में प्राचीन भाषाओं के अध्ययन की प्रथा उठी जाती है और आधुनिक विद्वान् लोग बिना इसके सीखे ही संतोषदायक कार्य कर रहे हैं ।

परन्तु पूरब की प्राचीन भाषाएँ विश्वविद्यालय के अध्ययन क्रम में स्थान पाने योग्य हैं । संस्कृत की पढ़ाई निन्दनीय और दोषयुक्त होती है । उसमें नवसिखुओं के लिए अच्छी पुस्तकें नहीं हैं । इसके अतिरिक्त हम लोगों की अनुमति

है कि संस्कृत भाषा देवनागरी अक्षरों में लिखी जानी चाहिए और कलकत्ता विश्वविद्यालय की नाईं इसमें कोई प्रान्तिक हेर-फेर न होने देना चाहिए।

संस्कृत की पढ़ाई के सम्बन्ध में हम लोग संस्कृत कालेजों में इस भाषा के पढ़ाये जाने की रीति पर बिना शोक-प्रकाश किये हुए नहीं रह सकते। विद्यार्थी के वर्णमाला सीखते ही, बिना उसके मातृभाषा का कुछ भी ज्ञान हुए, पढ़ाई का विभाग प्रारम्भ हो जाता है। रटन्त विद्या को अत्यन्त ही उत्साह दिया जाता है। व्याकरण तथा न्याय के सूत्र पर सूत्र बिना यथार्थ तात्पर्य समझे ही रटाये जाते हैं, विद्यार्थियों को जो कुछ आता है उसके समझने योग्य वर्णन करने की शक्ति उनमें तनिक भी नहीं होती। इस शिक्षा का आवश्यक फल यह होता है कि उन विद्यार्थियों की जो प्रति वर्ष उत्तीर्ण होते हैं और जो एक या दो विषयों में विशेष विद्वान् कहलाते हैं, संस्कृत का वाक्य शुद्धतापूर्वक लिखने की योग्यता नहीं होती और न उनको हिन्दी ही का कुछ बोध होता है। यह अवस्था शोचनीय है। हम लोग यह सम्मति देंगे कि ये संस्कृत के कालेज विश्वविद्यालय के अधीन किये जायँ और शिक्षा का विभाग केवल तभी होने दिया जाय जब कि विद्यार्थी लोगों को केवल हिन्दी का नहीं. वरन् संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान हो जाय।

विश्वविद्यालय भारतवर्षीय देश-भाषाओं की पढ़ाई पर कुछ भी ध्यान नहीं देते और ऐसे कोई भी बी० ए० नहीं मिलेंगे जो किसी वैज्ञानिक या न्याय के विषय पर अपना विचार ठीक-ठीक लालित्य और सुन्दरता के साथ प्रकट कर सकें। इस बुराई को दूर करने के लिए हम लोग यह प्रस्ताव करते हैं कि इण्टरमीडिएट की परीक्षा में अंग्रेजी के चार पर्चे (1) पद्य (2) गद्य (3) देश-भाषा से अंग्रेजी में अनुवाद और (4) देश-भाषा में लेख इस परीक्षा के लिए देश-भाषा की कोई पाठ्य पुस्तक नियत करने की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार से बी० ए० की परीक्षा में भी अंग्रेजी के 4 पर्चे होने चाहिए— (1) पद्य, (2) गद्य, (3) अंग्रेजी में लेख और (4) देश-भाषा में लेख अथवा उनके इतिहास के किसी अंश का अध्ययन।

स्कूल के वर्गों में देश-भाषाओं की पाठ्य पुस्तकें नियत की जानी चाहिए न कि चुने जाने चाहिए। क्योंकि इन वर्गों के विद्यार्थियों को इस भाषा में पूरी-पूरी योग्यता प्राप्त करने की आवश्यकता है।

इस सम्बन्ध में हम लोग यह सम्मति देंगे कि प्रत्येक विश्वविद्यालय को उन देश-भाषाओं को स्वीकार करना चाहिए जिनमें छपे हुए ग्रन्थ हैं, इलाहाबाद का विश्वविद्यालय इस बात में बहुत ही पीछे है।

गणित विषय में, हम लोगों को प्रति वर्ष उसके कठिन किये जाने की, और जो लोग साहित्य लेते हैं उनके लिए भी आवश्यक किये जाने की कोई आवश्यकता नहीं देख पड़ती, क्योंकि अधिकांश विद्यार्थियों को वाइनोमिएल थिओरम, संवगमान, अनुवृत और ज्या का ज्ञान उनके जीवन में किसी कार्य का नहीं होता। यह विद्यार्थियों की धारणा पर एक व्यर्थ का बोझ है और इससे कोई व्यावहारिक लाभ नहीं होता। अतएव हम लोगों की प्रार्थना है कि यह एफ० ए० के लिए रुच्यधीन विषय है। इसके स्थान पर इकोनॉमिक्स, लॉजिक और इथिक्स का, जो कि मनुष्यों को उनके जीवन के युद्ध के लिए तैयार करते हैं, पढ़ाना अधिक लाभदायक होगा।

धर्म-शिक्षा

आजकल जैसी अवस्था है उसमें हम लोग धर्म-शिक्षा का देना सम्भव नहीं देखते। इसमें बहुत ही अधिक कठिनाइयाँ पड़ेंगी और इसका कोई अच्छा फल नहीं निकलेगा। धर्म-शिक्षा केवल भिन्न-भिन्न समाजों के हाथ में छोड़ दी जाय. गवर्नमेण्ट को इस विषय में हस्तक्षेप न करने में सावधान होना चाहिए।

परीक्षा

भारतवर्ष की शिक्षा की प्रथा में सबसे बड़ी बुराई यह है कि उसमें परीक्षाएँ बहुत ही अधिक होती हैं। सब डिपार्टमेण्टल परीक्षाओं को उठा कर उनके स्थान पर केवल स्कूल की परीक्षाएँ कर दी जायँ तो बहुत अच्छा हो। इससे अवश्य ही हेड मास्टरों के ऊपर अधिक भार हो जायगा और जिसका होना उचित है। हम लोगों की सम्मति है कि एण्ट्रेन्स और बी० ए० की परीक्षाओं के बीच एक से अधिक परीक्षा न हो। बम्बई विश्वविद्यालय में इनके बीच में दो परीक्षाएँ होती हैं। अतएव इनमें एक परीक्षा लाभ के साथ उठा दी जा सकती है। ऐसा करने से वह विश्वविद्यालय भी अन्य विश्वविद्यालयों के बराबर हो जायगा। इसी प्रकार की भिन्नता कानून की परीक्षाओं में भी है। किसी विश्वविद्यालय में एल-एल० बी० की परीक्षा प्रथम है। किसी में एल-एल० बी० के उपरान्त भी अधिक पढ़ाई है और किसी में अन्तिम परीक्षा एल०-एल० बी० ही की है। यह सब भेद उड़ाकर इसके स्थान पर केवल दो परीक्षाएँ की जा सकती हैं अर्थात् एल-एल० बी० और एल-एल० डी०।

सारांश यह कि हम लोग भारतवर्ष भर के विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं में समानता के होने और एक ही परीक्षाओं के लिए एक पदवियों के दिये जाने का पक्ष समर्थन करते हैं।

परीक्षकगण

विश्वविद्यालय प्रान्त भर में उच्चतम शिक्षा सम्बन्धी समाज है। अतएव उसके कार्य सन्देह से बाहर होने चाहिए। परीक्षकों के नाम न प्रकाशित होने के सम्बन्ध में हम लोग यह दृढ़ अनुमति देंगे कि उनके नाम प्रकाशित करने की प्राचीन रीति फिर से प्रचलित की जाय। उनके नाम अप्रकाशित करने से कोई लाभ नहीं होता और इसके अतिरिक्त वे वास्तव में कभी गोप्य नहीं रहते, वरन् बहुधा विद्यार्थियों को विदित हो जाते हैं।

दूसरी बात यह है कि संयुक्त प्रदेश में कुछ विषयों का तो मानो कई विशेष प्रोफेसरों को अधिकार हो गया है। उदाहरणस्वरूप हम लोग अंग्रेजी के अनुवाद (देश-भाषा से अंग्रेजी में) के परचे का उल्लेख करेंगे और मजा यह है कि भाषा के वाक्य, जो अनुवाद के लिए दिये जाते हैं, वे सदैव व्याकरण तथा मुहावरे में अशुद्ध और भद्दे होते हैं। हम लोगों को इसका कोई कारण नहीं देख पड़ता कि केवल वे ही लोग परीक्षक होने के योग्य समझे जायँ जिनकी मातृ-भाषा देश-भाषा नहीं है। हम लोगों की सम्मति में जितनी देश-भाषाएँ हैं उतने ही भिन्न-भिन्न पुरुष प्रश्न चुनने के लिए नियत किये जायँ। यह बात केवल अनुवाद ही के नहीं, वरन् बहुत-से दूसरे विषयों में भी है। हम लोग कमीशन को शिक्षा विभाग से दस वर्षों में मिडिल की परीक्षा के परीक्षकों के नाम तथा उनकी आधुनिक स्थिति के पूछने की प्रार्थना करते हैं। इसकी जाँच करने से यह बात प्रकट होगी कि बहुत-सी अवस्थाओं में बहुत सामान्य योग्यता के पुरुष परीक्षक नियत किये गये हैं। इससे कमीशन यह भली-भाँति जान सकेगा कि शिक्षा विभाग में कैसा प्रबन्ध किया जाता है। हम लोगों की सम्मति है कि परीक्षकगण अधिकता से दूसरे प्रान्तों से लिये जायँ जिसमें ये सब दोष तथा बहुत-सी ईर्ष्या-द्वेष दूर हो जायँ।

हम लोगों की भी यह सम्मति है कि कालेज या स्कूल के प्रधान (मुखिया) की प्रार्थना पर उत्तरों की कापियाँ फिर से देखी जाया करें। इसके लिए कुछ फीस नियत कर दी जाय।

विद्यार्थियों के, और विशेषत: अनुत्तीर्ण विद्यार्थियों के अंक सदैव उनके कालेज या स्कूल के मुखिया के पास भेजे जायँ, जिसमें अध्यापक लोग अपने-अपने विद्यार्थियों के दोष जान सकें तथा उन्हें दूर करने का यत्न करें।

डिग्री की परीक्षाओं के लिए केवल एक ही केन्द्र होना चाहिए। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में हम लोग चाहते हैं कि डिग्री की परीक्षाओं के लिए इलाहाबाद, लखनऊ और आगरा केन्द्र स्थापित किये जायँ। दूसरे विश्वविद्यालयों में भी इसी प्रकार किया जाय।

हम लोग यह भी सम्मति देंगे कि सब विषयों में कुछ वैकल्पिक प्रश्न भी रहने चाहिए कि जिससे कि विद्यार्थियों की योग्यता का पूरा परिचय मिल सके। इससे रटन्त बहुत रुक जायगी। दूसरे भिन्न-भिन्न परीक्षाओं के भ्रम को रोकने के लिए प्रश्न के परचे पर प्रत्येक प्रश्न के सामने उसके अंक के भी छपने की पुरानी रीति प्रचलित की जाय।

परीक्षकों के नियत किये जाने के विषय में हम लोगों की सम्मति है कि यह कार्य बोर्ड आफ स्टडीज द्वारा कराया जाय और कालेजों के प्रिन्सिपलों से यह प्रार्थना की जाय कि वे परीक्षक नियत करने योग्य अध्यापकों और प्रोफेसरों के नाम लिखें। परीक्षक होना केवल एक या दो कालेजों का एकाधिकार न बनाया जाय। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में रजिस्ट्रार एक तिथि नियत करता है जिसके भीतर उसके पास परीक्षक होने के आवेदन-पत्र पहुँच जाने चाहिए। परन्तु यह तिथि कभी कैलेण्डर में नहीं छापी जाती और इसका आवश्यक फल यह होता है कि बहुत-से आवेदन-पत्र इस तिथि के उपरान्त पहुँचते हैं। इसका संशोधन तुरन्त होना चाहिए।

यहाँ पर हम लोग यह भी प्रार्थना करेंगे कि परीक्षाओं की तिथियों पर विद्यार्थियों के हित में फिर से पूर्णतया विचार किया जाय। भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालय बहुत दिनों से इन तिथियों की परीक्षा कर रहे हैं। अतएव अब यह समय आ गया है कि उन्हें इस विषय में एक संतोषदायक विचार सदैव के लिए स्थिर कर लेना चाहिए। जाड़े के छह महीनों को परीक्षा लेकर या छुट्टी देकर न बिताना चाहिए।

रजिस्ट्रार और उसका दफ्तर

हम लोगों की सम्मति में, प्रत्येक विश्वविद्यालय में ऐसा रजिस्ट्रार होना चाहिए, जो अपना पूरा समय उसी कार्य में व्यतीत करे, जिसमें वह अपने आफिस का कार्य शीघ्र तथा भली भाँति सम्पन्न कर सके। रजिस्ट्रार का वेतन बहुत ही अधिक है। रजिस्ट्रार के पद के लिए, जिसका अधिक काम क्लार्क का है किसी यूरोपीय ग्रेजुएट की आवश्यकता नहीं है। बहुतेरे ऐसे हिन्दुस्तानी लोग सुगमता से

मिल सकते हैं जो कि इस पद के लिए पूर्णतया योग्य हों। हम लोग समझते हैं कि इसके लिए 300 रुपया से 400रु० तक का वेतन बहुत है। हम लोगों की सम्मति में कुछ विश्वविद्यालयों ने रजिस्ट्रार नियुक्त करने में सदैव बुद्धिमानी नहीं की है। यहाँ पर यह बात कहनी छूट जाती है कि रजिस्ट्रार के कार्य सम्पादन करने के लिए फुर्तीले मनुष्य की आवश्यकता है और इस पद पर ऐसे लोगों का नियत किया जाना ठीक नहीं है जो अपना पूर्ण काल सरकारी नौकरी में व्यतीत कर चुके हों। 55 वर्ष की अवस्था में पेन्शन लेने का नियम लाभ के साथ प्रचलित कर दिया जा सकता है।

सम्मिलित कालेज

सब सरकारी तथा सम्मिलित कालेजों के अध्यापन पर केवल प्रिन्सिपल ही नहीं वरन् शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर तथा उच्च वेतन के इन्सपेक्टर लोग भी ध्यान रखते हैं। इसके अतिरिक्त ऊपर किये गये प्रस्ताव के अनुसार ये सब फेलो होंगे और इनमें बहुत-से सिण्डिकेट के मेम्बर भी होंगे। अतएव विश्व-विद्यालय को अध्ययन तथा शिक्षा पर अमोघ अधिकार हो जायगा और साधारण परीक्षाओं के परिणामों से शिक्षा की यथार्थ और पूर्ण उपयोगिता भी प्रकट हो जायगी। हम लोगों की सम्मति में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कालेजों के सम्मिलित करने के सम्बन्ध के नियम निष्प्रयोजन ही विशेष कठोर हैं। अतएव यह अत्यन्त वाञ्छनीय है कि ये नियम कुछ बदल दिये जायँ।

इन्सपेक्टर

यद्यपि इस प्रश्न को कमीशन ने नहीं उठाया है, परन्तु हम लोग इस पर अपनी सम्मति देना आवश्यक समझते हैं, क्योंकि हम लोगों का विचार है कि इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध कालेज ही की शिक्षा से नहीं वरन् स्कूल की भी शिक्षा से है।

किसी प्रोफेसर को कदापि इन्सपेक्टर नियत नहीं करना चाहिये क्योंकि (1) वह किसी एक विषय का विशेष विद्वान् होता है और न कि अनेक विषयों का जानने वाला। (2) उसको कार्य निर्वाहकता का कोई अनुभव नहीं होता (3) उसको भाषा का ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। यह आशा रखना कि किसी विषय का विशेष विद्वान् अपना समय किसी भारतवर्षीय भाषा के अल्प ज्ञान करने में व्यतीत करेगा, उचित नहीं है। परन्तु हेडमास्टर में ये सब गुण पाये जायेंगे। (1) भिन्न-भिन्न विषयों के बीसों अध्यापकों के कार्य की प्रतिदिन

देख-भाल करने से वह अवश्य प्रज्ञ हो जाता है, (2) उसे कार्यवाहकता का बहुत अनुभव रहता है, (3) उसे देश भाषा का ज्ञान किसी प्रोफेसर की अपेक्षा अवश्य अधिक होता है ।

फीस

हम लोग कमीशन से सविनय प्रार्थना करते हैं कि वह भिन्न-भिन्न गवर्नमेण्टों से फीस अधिक करने की आज्ञा पर फिर से विचार करवाये । हिन्दुस्तानी सर्व-साधारण के हित में यह बात हानिकारक है । दुर्भाग्यवश भारतवर्ष में बहुत-से ऐसे दरिद्र लोग हैं जिन्हें उच्च शिक्षा पाने की अभिलाषा तथा योग्यता भी है । परन्तु वे अपने यत्नों में उस ऊँची फीस से रोके जाते हैं जिसे कि वे नहीं दे सकते । हिन्दुओं तथा मुसलमानों के राज्य से सदैव केवल धर्मार्थ शिक्षा ही देने की नहीं, वरन् धर्मार्थ भोजन तथा स्थान देने की भी प्रथा थी । अतएव विद्यार्थियों को अपने अध्ययन के लिए द्रव्य देने का यह विचार इस देश की प्राचीन चाल के पूर्णतया विरुद्ध है । इससे यह जान पड़ेगा कि सस्ती शिक्षा न देने के विरुद्ध जो चिल्लाहट मच रही है वह स्वार्थी लोगों का काम है । उन कालेजों के विषय में जहाँ अब भी फीस नहीं ली जाती या केवल नाममात्र की ली जाती है, यह विचार करना भूल है । विद्यार्थियों को शिक्षा के लिए कुछ नहीं देना पड़ता, अतएव वहाँ की शिक्षा सस्ती है । क्या वस्तुओं का अर्द्ध मूल्य सदैव उसके यथार्थ मूल्य के बराबर ही होती है ? जब गवर्नमेण्ट फीस थोड़ी लेती थी, उस समय क्या शिक्षा किसी प्रकार से सस्ती थी ? ये ही प्रोफेसर लोग इसी वेतन पर उस समय भी इतना ही और ऐसी ही भलीभाँति पढ़ाते थे जब कि विद्यार्थियों को कम देना पड़ता था । यह नहीं कहा जा सकता कि जो शिक्षा अब दी जाती है वह फीस बढ़ जाने के कारण अधिक उत्तम हो गई । हाँ ! इसने बुद्धि और विद्योत्साह के आगे धन का अधिक मान किया है । यह दुःख की बात है कि ऐसे विचार प्रच-लित किये जायँ । यह स्पष्ट है कि यह शिक्षा, उन मित्रों तथा सहानुभूति रखने वालों के लिए जो कि अपने चन्दों से ऐसी शालाओं को चलाते हैं, तथा उन अध्यापकों के लिए, जो अपनी इच्छा से काम करके केवल अपने जीवन-निर्वाह के योग्य वेतन लेते हैं, सस्ती नहीं है ।

सभा इस बात पर जोर देकर प्रार्थना करती है कि विद्यालयों की प्रबन्ध-कारिणी सभाओं को उनके प्रबन्ध में स्वतन्त्रता दी जाय, विशेषतः उन विद्यालयों में जो गवर्नमेण्ट से कोई सहायता नहीं पाते । ऐसी सभाएँ परीक्षाओं, अध्ययन-

क्रम तथा पाठ्य पुस्तकें आदि चुनने में सरकारी नियमों से कुछ भी बाध्य न रखी जायँ। इससे कुछ उद्योगी शिक्षोन्नति करने वालों को अपने विचारों को कार्य में लाने का और उसकी उपयोगिता अथवा अनुपयुक्तता का निर्णय करने का अवसर मिलेगा। अन्त में सभा गवर्नमेण्ट से यह प्रार्थना करती है कि वह हिन्दुस्तानियों के अपने देश के युवकों के शिक्षा देने के बढ़ते हुए उत्साह को ऐसे दारुण और कठोर-कठोर प्रतिबन्ध प्रचलित करके नहीं रोकेगी? जिसमें इस बड़े देश की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं पर विचार नही किया गया। भारतवर्ष की प्राचीन रीति धन और विद्या को संयुक्त नहीं करते वरन् असम्बद्ध करते हैं। भारत में विद्वान् लोग प्राय: दरिद्र होते आये हैं। जो लड़के बहुत अधिक सम्भव है कि विद्या के दृढ़ वर्द्धक, राजभक्त, शान्त प्रजा या गवर्नमेण्ट के उपयुक्त नौकर हों वे प्राय: ऐसे प्राचीन परन्तु दरिद्र वंश से उत्पन्न होंगे जिसमें उच्च ज्ञान परम्परागत जान पड़ता है, परन्तु दरिद्रता उसका साधारण लक्षण है। ये वंश यूरोपीय शिक्षा से दिन-दिन अधिक वञ्चित रखे जाते हैं।

अतएव सभा की यह प्रार्थना है कि यद्यपि गवर्नमेण्ट सब कालेजों के शिक्षक वर्गों की योग्यता पर जोर दे, परन्तु वह उनके कालेजों को जो गवर्नमेण्ट से सहायता नहीं लेते, अपने कार्य के प्रबन्ध में सहायता दे और कम फीस के अभाव को दानी लोगों की उदारता से पूरा करने दे। सभा का विश्वास है कि बड़े नियमों से शिक्षा में हानि पहुँचेगी। अतएव वह प्रर्थना करती है कि गवर्नमेण्ट समस्त शिक्षा तथा विद्या सम्बन्धी उद्योगों पर कृपा-दृष्टि बनाये रहे और न कि उनका विरोध करे। इससे भारतवासी उस नीति के लिए कृतज्ञ होकर, जो उनकी आवश्यकताओं और प्राचीन प्रथाओं को मान कर करने में उद्यत करे, उस साम्राज्य में और भी घनिष्ठता से मिल जायँगे जिसके अन्तर्गत शक्तिमान ईश्वर ने उन्हें कर दिया है।

(1902)

———

दिल्ली-दरबार

परिवर्तनशील जगत् में सदा परिवर्तन होता रहता है। कभी कोई बात स्थिर नहीं रहती। स्वयं मनुष्य ही, जो ईश्वर की सृष्टि का गौरव और उसकी अद्भुत शक्ति का आदर्श है, सदा बना नहीं रह सकता तो और बातों का क्या कहना है, जो विशेषकर उसी के आश्रित हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार आज इस बात को लगभग पाँच-छह हजार वर्ष हुए होंगे जब महाराज युधिष्ठिर ने जंगलों को साफ करके एक नगर बसाया और यज्ञ किया। यज्ञ क्या किया वैर का बीज बोया। दुर्योधन अपने भाई का विभव देख कर बहुत जला और इस बात का उद्योग करने लगा कि कैसे पाण्डवों का नाश हो। बेईमान मामा की बेईमानी से उसने जुए में युधिष्ठिर से सब कुछ छीन लिया और अन्त में भाइयों सहित उन्हें वनवास दिया। कृष्ण भगवान् ने लाख-लाख उद्योग किया कि आपस का वैर-भाव घर ही में निपट जाय, पर यह कब संभव था कि एक ही देश में दो बराबर के राजा राज्य करते। एक म्यान में कभी दो तलवारें रही ही नहीं हैं। अन्त में महाभारत का घोर युद्ध ठना। अनेक वंश, राज्य और कुल नष्ट हो गये और लाखों क्या करोड़ों जीवों के प्राण आहुति दिये गये, तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, अभिमन्यु-से लाखों वीर इस युद्ध के पीछे भारतभूमि को वीरों से एक प्रकार शून्य कर गये। अस्तु, किसी तरह महाराज युधिष्ठिर को निष्कण्टक राज्य मिला और उन्होंने अपना प्रताप दिखाने के लिए अश्वमेध यज्ञ किया। ये सब घटनाएँ जिस मैदान में हुई थीं, उसी के एक टुकड़े पर इस दिल्ली-दरबार की रचना हुई है।

महाभारत के 4000 वर्ष पीछे इस भूमि पर ज्योतिषियों की सहायता से इस बात का उद्योग किया गया कि जिसमें क्षत्रियों का राज्य अटल बना रहे। पर इसमें सफलता न हुई, लौह-खम्भ स्थिर न रह सका। इसके पीछे यहीं पृथ्वीराज का अभ्युदय, उसकी प्रताप-वृद्धि और अन्त में उसका अधोपतन हुआ और साथ ही हिन्दुओं के राज्य का भी एक प्रकार से अन्त हो गया। उसके पीछे बाबर और इब्राहीम तथा अकबर और हेमू का युद्ध होकर मुगल राज्य की यहीं जड़ जमी। फिर भारतवर्ष के दक्षिणी भाग में मरहठों के हिन्दू राज्य का अभ्युदय हुआ, पर सन् 1761 में उन्होंने भी इस भूमि पर पराजित होकर भविष्यत् में हिन्दू राज्य की आशा को जड़ मूल से नाश कर दिया। कुछ काल पीछे अंग्रेजों

का राज्य यहाँ तक फैल आया। अन्त में सन् 1857 की विद्रोहाग्नि ने कुछ दिनों के लिए तो अंग्रेजों के राज्य स्थिर रहने में भी बड़ी प्रबल आशंकाएँ उत्पन्न कर दी थीं, पर सिक्ख और गोरखे वीरों की सहायता से अंग्रेजों ने विजय पायी और विद्रोह शान्त हुआ। सन् 1877 में रसिक लार्ड लिटन ने बड़ा भारी दरबार करके महारानी विक्टोरिया को भारतवर्ष की साम्राज्ञी प्रसिद्ध किया। कुटिल काल ने महारानी को भी अपने गाल का ग्रास बनाया और गत जनवरी मास में इसी स्थान पर महाराज सप्तम एडवर्ड के राज्य तिलकोत्सव के उपलक्ष्य में बड़ा भारी दरबार किया गया। दिल्ली की भूमि विचित्र है। इसने अनेक राज्य-वंशों का नाश अपनी आँखों देखा है, करोड़ों भारतवासियों का लोहू पिया है, पर फिर भी लोग इसे मानते चले आते हैं। हमारे मित्र मिर्जापुर निवासी बाबू काशीप्रसाद ने इस भूमि के विषय में खूब लिखा है, जिसे हम भारतमित्र से अविकल उद्धृत करते हैं—

अति अभेद वनवृन्द दाहि जिन दिल्ली कीनी।
तिनहू को तू भई कलह भू विष रस भीनी ॥१॥

कटवायो शिशुपाल शीश प्रथमहिं उछाह महं।
नहि सुख भोगन दियो आपुने रचनहार कहं ॥२॥

टिकी न तोमर–कुलहिं कील माथे हू दीने।
पति छांड़त नित रही जतन लाखन हूँ कीने ॥३॥

पृथीराज सम कहा और नरपुंगव ह्वै है।
ऐसे स्वामिहु त्याग कियो कुलटे! तू, है! है!! ॥४॥

लै पति की तू देहु देहली! गई न क्यों धसि।
कियो कलंकित देश अहो तू जग जीवत बसि ॥५॥

धन्य हस्तिना धन्य पाटली धन्य उजैनी।
धनि कनोज की भूमि दुखी मम हिय सुख दैनी ॥६॥

जिनकी हड्डी भसम भई ढूँढ़न पर पावै।
अथवा ढूँढ़न-हार हारि जिय घर फिरि आवै ॥७॥

पर दिल्ली कलिराज–दूतिनी राखत ऊपर।
पति को कीरति खम्भ 'कुतुब' कहि सोउ छिन्न सिर !! ॥८।

सौर्य सींव चौहान–मन्दिर के चित्रित देवन।
नाक कान कटवाय हाय ! किय परम विकृत तन ॥९॥

तिलांजली दै आर्य कुलहि पुनि खैंचि लुटेरन।
कियो प्रेम इक असभ नीचतम क्रीतदास सन ॥१०॥

मनुज रक्त से रङ्गि सदा निज छटा संवारी।
लहि कटाक्ष तव मुग्ध भई भूपावलि सारी ॥११॥

भारत सुवन कटावन इक कर्त्तव्य तिहारौ।
द्वितिय करन सब भाँति भूरि विध्वन्स हमारौ ॥१२॥

तिमिर लिङ्ग बर्बर बाबर विक्षिप्त मुहम्मद।
निर्दय नादिर नर कुठार अवतारहु अहमद ॥१३॥

मनु संतति के सहज शत्रु क्रूरता–डरावन।
ल्यायो भारत बीच मरी दारिद फैलावन ॥१४॥

तुव करनी बल फटी लोह कीली की छाती।
श्री यमुना घिन मानि पार्श्व तें बिलगी जाती ॥१५॥

भारत के आदर्श नृपति—मुगलाधिप अकबर।
और न्यायरत ब्रिटिश—दोऊ ये नीति धुरन्धर ॥१६॥

दिखरायो नीतिज्ञपनो निज, त्यागि ठगिन को।
डारि मोहिनी सभी मुग्ध करि दासन जिनको ॥१७॥

होय बूढिहू तदपि रिझायो रसिक लिटन को।
और लुभायो आज साधु प्रभुवर कर्जन को ॥१८॥

बलिहारी शतवार तिहारी अटखेलिन पर।
लट्टू भे बहु बार क्रूर अरु धीरहु जिन पर ॥१९॥

किन्तु सुनो अब पलित भये तव केश विलासिनि।
भजौ रमा अरु राम त्यागि निज चाल नसावनि ॥२०॥

अस्तु, कई महीने पहले से इस दरबार की तैयारियाँ होने लगीं। समाचार-पत्रों में जिधर सुनिए दिल्ली-दरबार की ही ध्वनि सुनायी देती थी। कोई कहता था कि दरबार करना व्यर्थ धन नष्ट करना है, भारत कंगाल हो रहा है, अकाल-पर-अकाल पड़ रहा है, प्लेग भारत का पिण्ड नहीं छोड़ता, देशी रियासतें सजधज

में एक-दूसरे से बढ़कर रहने का प्रयत्न करने में रुपया उधार ले रही हैं। ऐसे लोग दरबार को एक तमाशा समझते हैं और कहते हैं कि दरबार का करना अंग्रेजों के लिए वैसा ही है कि जैसा नीरो राजा का रोम के भस्म होने पर सितार बजाना। दूसरी ओर से लार्ड कर्जन कहते हैं "जिनका सिकंदर को स्वप्न भी न था, जो अकबर भी न कर पाया, उसको कर दिखाने में समय पाकर एक ब्रिटिश सम्राट् ही समर्थ हुआ।" अर्थात् इस बृहत् जन-समूह को शांति और एकता प्रदान कर एक संघटित जाति बनाया, और मेरी सम्मति में यह इतिहास की एक हृदय-ग्राही घटना है और वर्तमान समय का एक आश्चर्य है। सप्तम एडवर्ड के राज्याभिषेक के साथ-साथ दिल्ली-दरबार करने से एक अभिप्राय यह भी था कि ब्रिटिश राज्य में बसने वाली समस्त जातियों के प्रतिनिधि अपने राजा की जय मनाने के हेतु एकत्रित हों। भारत के समस्त पत्रों और लीडरों की सम्मति में दरबार व्यर्थ था और सरकार और सरकार-प्रिय पत्रों की सम्मति में यह आवश्यक था परन्तु जब इस समय का इतिहास निष्पक्ष होकर कुछ समय व्यतीत होने पर लिखा जायगा तो दोनों सम्मतियों में सत्यता का अंश मिलेगा। प्रजा की दृष्टि सदैव संकीर्ण हुआ करती है, राजा राजनीति सोचा करते हैं। प्रजा को अपने पेट का ध्यान पहले होता है, राजा को अपने राज्य के गौरव का।

भारत का कोई ऐसा नगर नहीं था जहाँ से दरबार के अवसर पर लोग दिल्ली न गये हों। रेलों में इतनी भीड़ रहती थी कि लोग खड़े-खड़े सफर करते थे। कोई जाति ऐसी नहीं जो दिल्ली न आयी हो। यदि कोई पुरुष चाँदनी चौक में खड़ा होकर विचित्र-विचित्र पोशाकों का फोटो लेता तो उसे भारत भर इस प्रयोजन से भ्रमण करने की जरूरत न रहती। गाड़ियों की इतनी भरमार थी कि रास्ता चलना मुश्किल था। कहीं बिना घोड़े के और बिना पैर की सहायता से चलने वाली गाड़ियाँ, कहीं राजाओं की चौकड़ी और कहीं चाँदी, सोने, हाथी-दाँत की गाड़ियाँ थीं। प्रशसा के योग्य वे लेडियाँ थीं जो इस भीड़ में भी बाइसिकल पर सवार निकल जाती थीं। इस अवसर के लिए राजाओं ने बड़े बहुमूल्य वस्त्र बनवाये थे। बाजारों में जिन लोगों के मकान थे, उन्होंने सैकड़ों झंडियाँ, जिन पर एडवर्ड और महारानी के चित्र थे, लगा रखी थीं। सरकार की तरफ से निमंत्रित लोगों और राजों-महाराजों के लिए नगर के बाहर लगभग 15 मील के घेरे में कैम्प बने हुए थे। वाइसराय का कैम्प बहुत सुन्दर और सुसज्जित था। वहीं ड्यूक आफ कनाट ठहरे हुए थे। देशी रियासतों के कैम्प प्रांत-प्रांत के अलग-अलग थे। पंजाब कैम्प में महाराजा कश्मीर, पटियाला,

नाभा, झिन्द इत्यादि थे, जिनमें से महाराजा कश्मीर का कैम्प सर्वसाधारण के लिए खुला रहता था और जहाँ दुशाले का खेमा देखने योग्य था। महाराजा बड़ौदा का कैम्प बहुत ही सुन्दर था, जिसमें 16 बिजली के बड़े लैम्प और दो हजार छोटे लैम्प थे जिसका प्रबन्ध श्रीमान् की रियासत के एक देशी इंजीनियर ने किया था। श्रीमान् का भवन काठ का बना हुआ था जो बड़ौदा में बनाया गया था और इसके टुकड़े यहाँ लाकर जोड़ दिये गये थे। श्रीमान् के कैम्प में सोने-चाँदी की तोपें भी थीं। बरमा (ब्रह्मा) कैम्प के बाहर दो सिंहों की सुन्दर मूर्तियाँ थीं। राजपूताने के कैम्प में कोई विशेष सज-धज न थी, वरन् वहाँ जाने से तो राजपूताने की बलुई भूमि का पूरा-पूरा अनुभव हो जाता था। पानी का वह कष्ट यहाँ देखने में आता था जो राजपूताने के रहने वाले प्रायः उठाया करते हैं। वास्तव में राजपूताने का कैम्प पूरा राजपूताना बना हुआ था।

एक कैम्प दूसरे कैम्प से इतनी दूर पर था और सड़कों पर इतनी धूल होती थी कि सब कैम्पों को पूरी तरह से देखना कठिन था। लार्ड कर्जन का यह कहना कि इस दरबार में सब राजे-महराजे एक-दूसरे से मिलकर प्रेम-भाव उत्पन्न कर सकेंगे, किसी कदर निष्फल हुआ। कैम्पों के डाकखाने अलग-अलग थे जिनका एक सदर डाकखाना दरबार ही के लिए बना था जिसके ठीक सामने दरबार का तारघर था। इन दोनों में बहुत-से मुहर्रिर थे। दरबार के डाकखानों के चीफ सुपरिण्टेण्डेण्ट राय दौलतराम बहादुर सी० आई० ई० नियत किये गये थे। चिट्ठीरसे बाइसिकल पर सवार होकर चिट्ठी बाँटते थे। डाकखाने के काम का अनुमान इस हिसाब से किया जा सकता है कि 100 मुहर्रिर, 100 चिट्ठी-रसा, 30 बाइसिकल वाले डाकिए और 80 नौकरों से काम लिया गया। 70 घोड़े टाँगे के लिए थे। एक दिन में आठ बेर चिट्ठयाँ बँटती थीं। कैम्प ही में पत्र-व्यवहार डाकखाने द्वारा होता था। सबेरे की चिट्ठी का जवाब संध्या को मिल जाता था। पाँच सौ रुपये रोज के टिकट हर प्रकार के बिकते थे। सब मिलाकर पन्द्रह लाख पत्र और दस हजार पार्सल डाकखाने में आये।

दरबार का दैनिक वृत्तांत लोगों पर विदित करने के लिए एक पत्र 'दरबार बुलेटिन' के नाम से निकलता था, पर उसका प्रबन्ध संतोषजनक न था।

दरबार का एक इतिहास लिखने के लिए विलायत से विख्यात टालबाय ह्वीलर (Talboy Wheeler) के पुत्र बुलाये गये थे, जिनका इतिहास शीघ्र छपने की सूचना भी हो चुकी है।

दिल्ली में दरबार के कारण मकानों का किराया पहले बहुत बढ़ गया था। इसलिए लोगों ने नये-नये मकान बनवाये, पर अन्त में इस कारण बहुतों ने हानि उठायी। लाखों आदमियों की भीड़ दिल्ली में समा गयी, पर फिर भी अनेकों मकान खाली बन्द पड़े रह गये। जो आदमी एक बार कैम्पों की ओर विशेषकर रोहिलासराय और राजपूताने के कैम्प की ओर घूम आता था, वह धूल से पूरा-पूरा स्नान कर लेता था और एक प्रकार से उसका पहिचानना भी कठिन हो जाता था। इस आपत्ति के रहते भी कैम्पों की शोभा देखने लायक थी। ऐसा जान पड़ता था कि कपड़े के घरों का एक नया नगर बसाया गया है। सर्दी का तो कुछ पूछना ही न था। रात को कैम्पों में इतना शीत रहता था कि प्रायः पानी जम कर बर्फ हो जाता था। इस सर्दी में कई आदमी मर भी गये और कदाचित् प्रति सैकड़ा 10, 15 आदमी ऐसे रहे होंगे जिन्हें किसी-न-किसी प्रकार का कष्ट न सहना पड़ा हो। सर्दी से तो प्रायः सभी के नाक बन्द हो गये। पर इन सब बातों के रहते भी प्रबन्ध की प्रशंसा करनी पड़ती है। इसमें सन्देह नहीं है कि यदि कुछ भी ध्यान दिया जाता तो किसी को जरा भी कष्ट न होता। पुलिस पंजाब की भरी गयी थी जो इधर वालों की बात कम समझती थी। जो कुछ हो, दरबार की तैयारियाँ बड़ी धूम-धाम से की गयीं और 28 दिसम्बर तक प्रायः सब लोग दिल्ली में आ गये। 29 दिसम्बर को लाट साहब की सवारी निकली। इसकी धूम पहले से बहुत थी। लोगों को इसके देखने की बड़ी उत्कंठा थी। एक पारसी सौदागर ने चाँदनी चौक में बीच की पटरी पर बेञ्च लगा दी थीं जिस पर टिकट देकर बैठने का प्रबन्ध था। 29 दिसम्बर को प्रातः काल 6 बजे से ही लोग अपने-अपने स्थानों पर बैठने लगे थे। 9 बजे तक प्रायः सब स्थान दर्शकों से भरे हुए दिखायी देते थे। सड़कों पर चलने के लिए किसी प्रकार की रोक-टोक न थी। धीरे-धीरे फौजें आती देख पड़ने लगीं। ग्यारह बजे तक सड़क के दोनों तरफ फौजें खड़ी हो गयीं। सड़क पर चलने की मनाही हो गयी। परन्तु सिपाहियों के पीछे और पटरियों के बीच में इतनी जगह छूटी हुई थी कि लोगों को आने-जाने में सुभीता था। इस समय का दृश्य देखने ही योग्य था। जिस ओर देखो रंग-बिरंगे कपड़े पहिने स्त्री-पुरुष बैठे हुए दिखायी देते थे। भीड़ का कुछ कहना ही नहीं था। लाखों आदमी खचाखच भरे हुए थे। ठीक साढ़े ग्यारह बजे तोपों की सलामी प्रारम्भ हुई जिससे दर्शकों को यह सूचना मिली कि वाइसराय की गाड़ी स्टेशन पर पहुँच गयी है।

इन दिनों में दिल्ली स्टेशन का कायापलट हो गया था। स्टेशन का प्लेट-

फार्म बहुत बढ़ा दिया गया था। इस दिन बन्दनवारों, फूल, बेल और बूटों से स्टेशन बहुत ही सजाया गया था। जो-जो राजा-महाराजा तथा अंग्रेज लोग वाइसराय को लेने गये थे, उनको बैठने के लिए कुर्सियाँ लगी हुई थीं। राजा लोग अपने-अपने प्रांत की पगड़ी पहिने हुए थे। केवल एक नवाब साहब टोपी पहिने हुए थे। गाड़ी से उतरते ही लाट साहब सबसे मिले और बातें करने लगे। इतने में ड्यूक और डचेज कनाट की गाड़ी भी स्टेशन पर आ लगी। सभी ने उनका स्वागत किया और परस्पर स्नेह की बातें कीं। ड्यूक को अपने पुराने मित्रों से मिलकर वास्तविक आनन्द मिला। फिर सवारी की तैयारी होने लगी। जिन लोगों को सवारी में सम्मिलित होना था, वे तो ठहर गये; बाकी सब लोग अपने-अपने स्थानों पर बैठ कर सवारी देखने के लिए चल दिये। वाइसराय आदि सब लोग अपने-अपने हाथी या गाड़ियों पर बैठने लगे और ठीक बारह बजे सवारी स्टेशन से चली। सवारी इन सड़कों से होकर निकली—क्वींस रोड, लोथिअन रोड, खासरोड, जुमा मसजिद, अस्पताल, स्प्लेनेड रोड, चाँदनी चौक, फतहपुरी बाजार, अहमदबाई रोड, मोरी दरवाजे से होकर राजापुर रोड।

सबसे पहले पंजाब की पुलिस के इंसपेक्टर जनरल थे। इनके पीछे लोग इस क्रम से थे—

वाइसराय के रक्षकों के डिप्टी असिस्टेण्ट क्वार्टर मास्टर चौथे (रोयल आयरिश) ड्रेगून गार्ड्स का एक रिसाला। रोयल होर्स अर्टिलरी का तोपखाना नं० एच

चौथे ड्रेगून गार्ड्स का तीसरा रिसाला

वाइसराय के रक्षकों के आर्डरली अफसर	वाइसराय के रक्षकों के डिप्टी अस्सिटेण्ट एड्जुटेण्ट जनरल।

वाइसराय के रक्षकों के जनरल अफसर कमांडिग।

राजाज्ञा घोषक और तुरही बजाने वाले

वाइसराय के शरीर रक्षक।

इम्पीरियल केडेट सेना

(हाथी पर)

वाइसराय के दो मुसाहिब	वाइसराय के दो मुसाहिब
श्रीमान् ड्यूक आफ कनाट के कर्मचारी	श्रीमान् ड्यूक आफ कनाट के कर्मचारी
वाइसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी	भारत की गवर्नमेण्ट के विदेशी विभाग के सेक्रेटरी।
वाइसराय का मुसाहिब	वाइसराय का मिलेटरी सेक्रेटरी।

श्रीमान् वाइसराय तथा गवर्नर जनरल और लेडी कर्जन
ड्यूक और डचेज आफ कनाट ।

बाँई ओर	दाहिनी ओर
माइसूर के महाराजा	हैदराबाद के निजाम
कश्मीर के महाराजा	त्रावंकोर के महाराजा
ग्वालियर ,, ,,	जयपुर के महाराजा
इन्दौर ,, ,,	बूंदी के महाराव राजा
रीवां ,, ,,	बीकानेर के महाराजा
ओरछा ,, ,,	कोटा के महाराव
दतिया ,, ,,	करौली के महाराजा
धार ,, राजा	जेसलमेर के महारावल
देवास के (बड़े) राजा	अलवर के महाराजा
,, ,, (छोटे) ,,	टोंक के नवाब
समथर के महाराजा	सिरोही के महाराव
चरखारी के महाराजा	झालावार के राजा राणा
छतरपुर ,, ,,	कोल्हापुर के महाराजा
राजगढ़ के राजा	कच्छ के राव
नरसिंहगढ़ के राजा	खैरापुर के मीर
पटियाला के महाराजा	शेहर और मोकल्ल के सुलतान
बहावलपुर के नवाब	सिक्किम के महाराजा के पुत्र
नाभा के राजा	कूच बिहार के महाराजा
जिन्द के राजा	टिपरा के राजा
कपूरथला के राजा	रामपुर के नवाब
	बनारस के महाराजा
सिरमूर के राजा	टेहरी के राजा
मलेर कोटला के नवाब (के पुत्र)	मोर्वी के ठाकुर साहब
फरीद कोट के राजा	बासदा के राजा
मनीपुर के राजा	बरिया के राजा
लिमडी के ठाकुर साहिब	
	जंजीबार के नवाब
भोंगनई के सौब्बा	केंग टंग के सौब्बा ।

(गाड़ियों में)

ग्रेंड ड्यूक आफ हेरुसे और उनके कर्मचारीगण
(अपने रक्षक के सहित)
बम्बई के गवर्नर और उनके कर्मचारीगण
(अपने शरीर रक्षक के सहित)
मद्रास के गवर्नर और उनके कर्मचारीगण
(अपने शरीर रक्षक के सहित)
पंजाब के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर और उनके कर्मचारीगण
(अपने रक्षक के सहित)

(घोड़ों पर)

कमाण्डर इन-चीफ साहब और उनके कर्मचारीगण
उनकी रक्षा के लिए ब्रिटिश केवेलरी का एक रिसाला।

(गाड़ियों में)

बर्मा के श्रीमान् लेफ्टिनेण्ट गवर्नर साहब और उनके कर्मचारीगण।

(अपने रक्षक सहित)

आगरा और अवध के संयुक्त प्रदेश के श्रीमान् लेफ्टिनेण्ट गवर्नर और उनके कर्मचारीगण (अपने रक्षक सहित)
बंगाल के श्रीमान् लेफ्टिनेण्ट गवर्नर और उनके कर्मचारीगण
(अपने रक्षक सहित)
गवर्नर जनरल की सभा के आनरेबुल साधारण सभ्य लोग
(तीन गाड़ियों पर)

(घोड़ों पर)

बंगाल के लेफ्टिनेण्ट जनरल कमाण्डिग और उनके कर्मचारीगण

केलात के खाँ
पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश के
आनरेबुल चीफ कमिश्नर
तथा गवर्नर जनरल के एजेण्ट
पठान चीफ लोग

बलूचिस्तान में गवर्नर जनरल के आनरेबुल एजेण्ट
बलूचिस्तान के शासक लोग।

[गाड़ियों में]

आसाम के आनरेबुल चीफ कमिश्नर और उनके कर्मचारीगण ।

(अपने रक्षक सहित)

मध्यप्रदेश के आनरेबुल चीफ कमिश्नर और उनके कर्मचारीगण ।

(अपने रक्षक सहित)

ग्यारहवीं (प्रिंस आफ वेल्स ओन) बंगाल लैंसर्स ।

इस क्रम से सवारी के निकलने में एक घंटे से ऊपर लगा था । सवारी की शोभा देखने योग्य थी, विशेषकर जिस समय केडेट कोर के राजकुमार एक-सा वस्त्र पहिने एक ही रंग के घोड़ों पर चढ़े हुए देख पड़े, उस समय चियर्स की इतनी ध्वनि उठी कि कहते नहीं बन पड़ता । इन वीर युवकों की सजधज, उनके वस्त्र, उनकी चाल आदि सब बातों पर मन मोहित होता था । इन वीरों के सरदार इदर के महाराज सर प्रतापसिंह जी थे । इनकी शोभा देखने ही योग्य थी । इनका गठीला शरीर, वीरवेश और हाथ में नंगी तलवार प्राचीन समय के क्षत्रिय वीरों का स्मरण दिलाती थी । इस केडेट कोर में निम्नलिखित महाराज और राजकुमार सम्मिलित थे। महाराज जोधपुर, महाराज किशनगढ़, नवाब जरोरा, राजा रतलाम, महाराज राना धौलपुर, सरदार बसंतसिंह, कुँवर प्रतापसिंह, कुँवर जोरावरसिंह, महाराज अक्षयसिंह, ठाकुर गोपालसिंह, कुँवर अमरसिंह, कुँवर रामसिंह, कुँवर खुमानसिंह, ठाकुर देवीसिंह, राजा समुन्दरसिंह, कुँवर भरतसिंह, साहबजादा अमानतुल्ला खाँ, कुँवर रायसिंह जी, नवाब वलीदुद्दीन खाँ, खाँ मुहम्मद अकबर खाँ, आगा कासिमशाह, साहेबजादा कालेमुहम्मद खाँ । राजा की सवारी में जो सादगी निजाम हैदराबाद पर थी वह किसी पर देखने में नहीं आयी । सब आभूषणों से लदे हुए थे । वीर राजाओं का भूषण तलवार है । इन श्रृंगाररस की मूर्तियों को देखकर हमें दुःख होता था । हा ! एक समय वह था जब इनके पूर्वपुरुष बहादुरी ही अपना जीवन-प्राण और भूषण समझते थे और एक समय यह आ गया है कि गहनों से लदने और अपना श्रृंगार बनाने ही में ये लोग अपना सम्मान समझते हैं । वाइसराय साहब बराबर हँसते जाते और हाथ उठाकर लोगों का सलाम लेते जाते थे । लेडी साहिबा के चेहरे पर तो इतना आनन्द झलकता था कि वे फूले अंग न समाती थीं । साथ ही ड्यूक और डचेज भी हाथ उठा-उठा कर लोगों का सलाम लेते जाते थे । राजा लोग सब अपने-अपने हाथियों पर थे । उनमें से किसी-किसी के साथ उनके भाई अथवा सेक्रेटरी थे ।

इन महाराजों की सवारी इतनी जल्दी से निकल गयी कि उनमें से सब के दर्शन भी न हो सके। क्या ही अच्छा होता यदि सब राजे अपने-अपने सिपाही और अनुचर वर्ग के साथ रहते। हमारी समझ में इससे इस सवारी की शोभा और भी अधिक बढ़ गयी होती।

सबसे भारी त्रुटि जो हमें इस सवारी में देख पड़ी वह यह थी कि कुछ तुरही बजाने वालों को छोड़कर और कहीं बैण्ड बाजे का नाम भी न था। इस तरह सब चुपचाप चले जाते थे कि जैसे किसी बड़े सोच में पड़े हों। यदि कोई पुरुष उस दिन सड़क पर के किसी मकान के अन्दर बैठा रहता तो उसे यह भी न जान पड़ता कि कब सवारी आयी और कब निकल गयी। एक उत्सव के समारोह में यह शोक तुल्य सन्नाटा बड़ा ही खटकता था।

अस्तु, सवारी निकलकर जब मोरी दरवाजे के बाहर पहुँची तो लाट साहब का हाथी खड़ा हो गया और वहाँ वे सब राजाओं से बिदा होकर अपने भवन की ओर गाड़ी पर चढ़कर चले गये; और इस प्रकार यह प्रथम उत्सव समाप्त हुआ।

सवारी चाँदनी चौक से तो दो बजे निकल गयी, पर भीड़ सायंकाल तक बनी रही। सवारी के निकल जाने पर फिर सड़कों की खबर लेने वाला कौन था। पुलिस के सिपाहियों ने भी आराम किया और गवर्नमेण्ट के पाहुनों को अपनी-अपनी गाड़ियों के पाने में जो कष्ट उठाना पड़ा उसका कहना ही क्या है।

दूसरे दिन, अर्थात् ता० ३० दिसम्बर को प्रदर्शनी खोलने का उत्सव होने वाला था, इसलिए इधर-उधर घूमते हुए हम प्रदर्शनी भवन के निकट पहुँच गये। वहाँ सब तैयारियाँ हो चुकी थीं। केवल कुर्सियों का बिछाना बाकी रह गया था। टिकट धड़ाके से बिक रहे थे और उन राजा-महाराजों अथवा रईसों के नौकर फटफटा रहे थे जिन्हें टिकट नहीं मिले थे या मिलने की आशा न थी। दृश्य अद्भुत था। बिचारे मान-अपमान को दूर रख टिकट की लालच में दुःखी हो रहे थे। प्रदर्शनी का भवन कुदसिया बाग में कश्मीरी दरवाजे के निकट बनाया गया था। यह भवन सदा बना न रहेगा, वरन् प्रदर्शनी हो जाने पर गिरा दिया जायेगा। इसकी सजावट अच्छी थी और बाहर से देखने पर भवन सुन्दर सार्सेनिक रीति पर बना हुआ ज्ञात होता था। ता० ३० दिसम्बर को इस प्रदर्शनी को लार्ड कर्जन ने खोला। भवन के सामने एक बड़ा-सा चौतरा बना था, जिस पर राजा-महाराजा और बड़े-बड़े सरकारी अफसरों के बैठने के लिए

कुर्सियाँ रखी थीं। उनके नीचे दर्शकों तथा अन्य गवर्नमेण्ट के अतिथियों के बैठने के लिए जगह थी। ठीक साढ़े ग्यारह बजे लार्ड कर्जन अपनी श्रीमती तथा ड्यूक और डचेज कनाट के सहित प्रदर्शनी भवन में पहुँचे और निम्नलिखित लोगों ने उनका स्वागत करके उन्हें अपने-अपने स्थानों पर बैठाया—डॉक्टर वाट, कर्नल जेकोब, कर्नल वाटसन, कर्नल हैडले, मिस्टर बर्नस, मि० थर्स्टन, शिवेरियर थिलार्डी, मिस्टर मेकेंजी, मुंशी माधोलाल, भाई रामसिंह, मिस्टर अर्बुथमोट।

डॉ० वाट ने लार्ड कर्जन से प्रार्थना की कि वे प्रदर्शनी भवन को खोलें और उन्होंने खड़े होकर एक वक्तृता दी, जिसका अनुवाद यह है—

"अब मेरा आनन्दमय कार्य इस पखवारे के पहले काम को आरम्भ करने अर्थात् 'दिल्ली आर्ट एक्जीबिशन' को खोलने का है। हमारे दर्शकों में से बहुतों को कठिनता से इस बात का विश्वास होगा कि यहाँ पर जितनी चीजें देख पड़ती हैं उनमें से पेड़ों को छोड़कर और सब वस्तुएँ पिछले आठ महीनों मे तैयार हुई हैं। जब मैं गत अप्रैल मास में यहाँ स्थान चुनने के लिए आया था तो उस समय इस बड़े भवन, इन बुर्जियों और इन सब मनोहर वस्तुओं का कहीं चिह्न भी नहीं था। ये सब केवल इसी प्रदर्शनी के लिए बनायी गयी हैं, और यद्यपि मैं आशा करता हूँ कि इस प्रदर्शनी का प्रभाव इतनी जल्दी न मिट जायेगा, परन्तु मुझे खेद है कि यह सब भवन आदि बने न रहेंगे।

कदाचित जिन कारणों से यह प्रदर्शनी बनायी गयी है उनके विषय में आप लोग मुझसे कुछ सुनने की आशा रखते होंगे। जब से मैं भारतवर्ष में आया हूँ तभी से मैंने इस देश की कारीगरियों पर, जो एक समय इतनी प्रसिद्ध और सुन्दर थीं, ध्यानपूर्वक विचार किया है और मुझे इन कारीगरियों की बढ़ती हुई अवनति और पतन पर, बहुत-से अन्य लोगों की नाईं खेद हुआ है। जब यहाँ इस बड़े जमावड़े का निश्चय हो गया, जिसमें कि भारतवर्ष के हर एक प्रान्त और राज्य के लोग, सारे भारतवर्ष के राजे-महाराजे; बड़े-बड़े अफसर और रईस लोग तथा दुनिया भर के दर्शक लोग एकत्रित होंगे तो, मैंने सोचा कि अन्त में यह अवसर ऐसा हाथ आ गया जिसमें कि इन मृतप्राय कारीगरियों को पुनर्जीवित करने के लिए, संसार को यह दिखलाने के लिए कि भारतवर्ष अब तक भी क्या कर सकता है, और यदि सम्भव हो तो इस अवनति को रोकने के लिए, कुछ किया जा सकता है। अतएव मैंने डॉक्टर वाट को बुलवाया और उन्हें इस काम में अपना सहायक नियुक्त किया। वह तथा उनके सहायक मिस्टर पर्सी ब्राउन ने भारतवर्ष में सब

जगह कारीगरों की देख-भाल करते हुए, फरमाइश देते हुए, जहाँ आवश्यक हुआ वहाँ नमूने देते हुए, और जिनको रुपये की आवश्यकता थी उनको रुपये पेशगी देते हुए, हजारों मील दूर-दूर तक यात्रा की। मैंने तीन बातों पर ध्यान देने के लिए बहुत ही जोर दिया है।

पहले तो यह कि यह प्रदर्शनी केवल कला-कौशल सम्बन्धी वस्तुओं की हो, दूसरी किसी वस्तु की नहीं। हम आप लोगों को सहज मे एक अद्भुत प्रदर्शनी दिखला सकते थे, जिससे कि भारतवर्ष के शिल्प और उपज आदि प्रकट होते। परन्तु डॉक्टर वाट की एक ऐसी प्रदर्शनी कलकत्ते में है और वह बहुत उत्तम भी है। हम आप लोगों को लकड़ी. धातु, बे-बनी वस्तुएँ, चमड़े आदि की बनी हुई चीजें आप जितनी चाहते उतनी दिखला सकते थे। यह सब बहुत सन्तोषदायक होते, पर साथ ही बहुत भद्दे भी होते। परन्तु मैं यह नहीं चाहता था। मेरा मन इसे शिल्प की प्रदर्शनी करने का नहीं था। मैं इसे ऐसी वस्तुओं और केवल ऐसी ही वस्तुओं की प्रदर्शनी किया चाहता था जिनका सम्बन्ध कला-कौशल से हो।

मेरी दूसरी बात यह थी, इसमें यूरोप की या आधी यूरोप की भी कोई वस्तु न रहे। मैंने इसमें भड़कीले बैठकों के लैम्पों, रंगीन काँच के झाड़ों या विलक्षण मूर्तियों तथा इसी तरह की वस्तुओं का रखना स्वीकार नहीं किया, जिन्हें यहाँ के कुछ लोग बड़े अचम्भे की दृष्टि से देखते हैं, पर जो सारे संसार में खराब समझी जाती हैं और विशेषकर ऐसे भारतवर्ष में, जहाँ का कला-कौशल अद्भुत है, सबसे अधिक खराब समझी जानी चाहिए। मैंने कहा था कि मुझे केवल वे ही वस्तुएँ चाहिए जो कि सर्वसाधारण के विचार, रुचि और विश्वास प्रकट करती हों। यह सम्भव है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी भी चली आयी हों जो मेरे इस कथन के अनुसार नहीं हैं, क्योंकि इस देश में यूरोप की चाल-व्यवहार शीघ्रता के साथ फैल रही हैं और हिन्दुस्तानी कारीगरों को जितने चाट के बर्तन, मलाई रखने के बर्तन, रूमाल रखने के रिंग, नमक की रकाबी, सिगरेट की डिबिया आदि बनानी पड़ती है, उनकी संख्या का अन्त नहीं है। परन्तु बहुत करके मेरे इस नियम का पालन किया गया है।

अन्त में मेरा तीसरा नियम यह था कि केवल सबसे अच्छी चीज ली जायँ। मैं सस्ते सूती कपड़ों, मोमजामों, छोटे-छोटे गहनों और झूठी चीजों अथवा उन पीतल की मूर्तियों और कटोरों को रखना नहीं चाहता था जो कि बर्मिंघम में फर्माइश देने से बनवा दी जाती हैं, या कदाचित् स्वयं बर्मिंघम ही में बनती हैं। मैं हिन्दुस्तान की कारीगरी का केवल दुर्लभ, विशेष और सुन्दर वस्तुओं को ही

दिखलाया चाहता था, जैसे सोने-चाँदी के बर्तन, धातुओं पर की कारीगरी और मीनेकारी की चीजें, जवाहिरात, लकड़ी, हाथी दाँत पर की कारीगरी, उत्तमोत्तम मिट्टी के बर्तन और खपरे, पूरबी (इस देश की) चाल के गलीचे, मलमल, रेशमी कपड़े और कारचोबी के वस्त्र और भारतवर्ष के अद्वितीय कमख्वाब के वस्त्र। इन सब वस्तुओं को आप इस भवन में देखेंगे। परन्तु कृपा कर याद रखिए कि यह प्रदर्शनी है, कुछ बाजार नहीं है। यहाँ पर हम लोगों का उद्देश्य उत्तमोत्तम कारीगरी को उत्साहित करके पुनर्जीवित करने का है, कुछ कम रुपये वालों की आवश्यकताओं को दूर करने का नहीं है।

यह तो इस प्रदर्शनी का साधारण वर्णन हुआ। परन्तु हम लोगों ने इसमें और भी एक बड़ी आवश्यक बात रखी है। इस बात को जानकर कि लोगों की रुचि घटती जा रही है, और आजकल हम लोगों की बहुत-सी चीजें खराब नमूने की बन रही हैं हम लोगों ने आजकल की चीजों के साथ-ही-साथ पुराने जमाने की चीजों के नमूनों का भी संग्रह करने का उद्योग किया है। इसलिए बहुत-सी चीजें मँगनी की हैं और इनके लिए एक अलग कमरा है। इसमें आप लोग हिन्दुस्तानी कारीगरी के बहुत-से पुराने सुन्दर नमूने देखेंगे जो कि हमें भारतवर्ष के राजों-महाराजों और गुणी लोगों की उदारता से उधार मिले हैं और जिनमें से कुछ भारतवर्ष के अजायबखानों से और कुछ लन्दन के साउथ केनसिंगटन म्यूजियम के अद्वितीय संग्रहालय से आये हैं। इनमें से बहुत-सी वस्तुएँ तो स्वयं सुन्दर हैं, पर हम आशा करते हैं कि जो हिन्दुस्तानी कारीगर यहाँ हैं वे लोग तथा उनके नियुक्त करने वाले आश्रयदाता भी इन वस्तुओं को ध्यानपूर्वक केवल पुरातत्त्व अथवा कारीगरी की दृष्टि से ही नहीं देखेंगे, वरन् उनसे अपने विचारों को नया या पुनर्जीवित करने की दृष्टि से भी देखेंगे, जिससे भविष्यत् में उन्हें उनके कार्य में लाभ पहुँचे। क्योंकि इस बात को सत्य मानना चाहिए कि भारतवर्ष की कारीगरी विदेशी विचारों को उद्धृत करके कभी पुनर्जीवित नहीं हो सकती, वरन् जब होगी तब अपने ही ढंग पर चलकर होगी।

अब यह पूछा जा सकता है कि इस प्रदर्शनी का उद्देश्य क्या है और इससे मैं क्या लाभ होने की आशा रखता हूँ। इसका उत्तर मैं बहुत संक्षेप में दूँगा। यदि भारतवर्ष के शिल्प की अवनति व्यापारिक उन्नति पर, कलों का काम हाथ के काम पर और प्रयोजन तथा आवश्यकता, सुन्दरता पर आधिपत्य प्रकट करते हैं तो मुझे बहुत आशा नहीं होती। भारतवर्ष में हम उस परिवर्तन के केवल एक रूप को देखते हैं जो सारे संसार में हो रहा है, जिसने बहुत दिनों से इंगलैण्ड की हाथ की कारीगरी को नष्ट कर दिया है और जो चीन और जापान की हाथ की

कारीगरियों को भी बहुत शीघ्रता से नष्ट कर रहा है । कल का करघा, हाथ के करघे का स्थान अवश्य ले लेगा और दूकानों की अपेक्षा कलों का कारखाना अवश्य ठीक उसी प्रकार कृतकार्य होगा जिस तरह कि घोड़े-गाड़ी के स्थान पर भाफ की गाड़ी; और हाथ के पंखे की जगह बिजली का पंखा हुआ जाता है । यह सब अवश्य होगा ही, जिसका कि कोई उपाय नहीं है । और जिस समय में कि लोग सस्ती चीजें चाहते हैं पर उनके भद्दे होने पर ध्यान नहीं देते, आराम पर बहुत ज्यादा ध्यान देते हैं और सुन्दरता की ओर ज्यादा नहीं देखते, अपने यहाँ के नमूनों और पुरानी बातों को छोड़े बिना सन्तुष्ट नहीं होते और बराबर दूसरों की विदेशी बातों की खोज में रहा करते हैं, तो ऐसे समय में यह निश्चय जानना चाहिए कि बहुत-सी कारीगरियाँ अवश्य नष्ट हो जायँगी।

परन्तु एक दूसरी बात ऐसी है जो कि मुझे इससे भी अधिक भयानक जान पड़ती है । मैं कह चुका हूँ कि मैं उन लोगों में से हूँ जिनका विश्वास है कि जब तक किसी जाति का शिल्प उस जाति के विचारों को न सन्तुष्ट करे और उसकी आवश्यकताओं को न दूर करे, तब तक वह बराबर जीवित नहीं रह सकता । कोई भी शिल्प केवल संसार में भ्रमण करने वाले यात्रियों अथवा अद्‌भुत चीजों की तलाश करने वालों ही के भरोसे नहीं चला जा सकता । और यदि वह इस अवस्था को पहुँचा है तो उसे कुछ अच्छी-अच्छी चाल के नमूनों की केवल नकल मात्र ही समझना चाहिए । जब वह चाल उठ जाती है और वे नमूने जन-प्रिय नहीं रह जाते, तो उस शिल्प का भी नाश हो जाता है। इसलिए हिन्दुस्तान का शिल्प यदि उन्नति कर सकता है या पुनर्जीवित किया जा सकता है तो सिर्फ उस अवस्था में जब कि हिन्दुस्तान के राजे-महाराजे और रईस लोग तथा पढ़े-लिखे और सभ्य लोग उसे अपनायें । परन्तु जब तक ये लोग अपने घरों को ब्रुसेल्स के भड़कीले गलीचों, टोटेनहम कोर्ट रोड के असबाबों, इटली की सस्ती पच्चीकारियों, फ्रांस की तस्वीरों और आस्ट्रेलिया के झाड़-फानूसों से सजाना नहीं छोड़ेंगे, तब तक मुझे भय है कि बहुत आशा नहीं है । यह मैं निन्दा की तरह पर नहीं कहता, क्योंकि मैं समझता हूँ कि इंगलैण्ड में भी हम लोग विदेशी वस्तुओं के ऐसे ही अधीन हैं । परन्तु मैं यह तो अवश्य कहता हूँ कि यदि हिन्दुस्तान के शिल्प और कारीगरी को जीवित रखना है तो यह बात केवल विदेशी आश्रय से नहीं हो सकती । यह बात केवल तभी हो सकती है जब कि यहाँ की चीजें इस देश में बिकें और यहीं के लोगों की रुचि के अनुसार भी हों । मैं बड़ा प्रसन्न होऊँगा यदि मैं हिन्दुस्तानी राजों-महाराजों और रईसों को आजकल की रुचि में

संशोधन करके अपने ही देश की बनी हुई पुरानी चाल की परन्तु उत्तमोत्तम नमूनों और ढंग की चीजों में रुचि करते हुए देखूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कभी-न-कभी यह बात अवश्य होगी। परन्तु समय बीत जाने पर फिर क्या हाथ आवेगा।

जब कि ऐसे भय हैं तो फिर इस प्रदर्शनी का क्या उद्देश्य है और इससे मैं क्या लाभ की आशा करता हूँ? इसका उत्तर मैं एक शब्द में दे सकता हूँ। इसका उद्देश्य यह दिखलाने का है कि भारतवर्ष अब तक भी क्या सोच सकता और उत्पन्न कर सकता है। इसका उद्देश्य यह दिखलाने का है कि भारतवर्ष के कारीगरों में कारीगरी का दिमाग अभी जाता नहीं रहा है, वरन् उन्हें केवल थोड़ी उत्तेजना और उत्साह दिलाने की आवश्यकता है। इसका उद्देश्य यह दिखलाने का है कि हिन्दुस्तानी घरों की सजावट या असबाब के लिए लोगों को कलकत्ते या बम्बई की बिलायती दूकानों में दौड़ने की आवश्यकता नहीं है वरन् यहाँ के प्राय: सभी देशी राज्य या प्रान्तों में, अधिकांश नगरों में और बहुत-से गाँवों में अब तक भी वह शिल्प और वे कारीगर हैं जो कि इस देश के लोगों की सब प्रकार की रुचि को सन्तुष्ट कर सकते हैं, और इस अमूल्य बपौती को जीवित रख सकते हैं जिसे कि हम लोगों ने पुराने जमाने से पाया है। इसी उद्देश्य से डॉक्टर वाट तथा मैंने इस प्रदर्शनी के बनाने में परिश्रम किया और अब इसके खोलते समय मुझे केवल अपनी ओर से यह आशा प्रकट करनी रह गयी है कि यह प्रदर्शनी जिस लाभकारी उद्देश्य से की गयी है उसे वह कुछ-न-कुछ अंश में पूरा करेगी।"

यह वक्तृता देकर लार्ड कर्जन प्रदर्शनी भवन के अन्दर गये और साथ ही अनेक राजे-महाराजे भी गये। प्रदर्शनी भवन के चार मुख्य भाग थे, अर्थात् (1) बिक्री की चीजें, (2) मँगनी आयी हुई चीजें, (3) जवाहिरात और (4) कारीगरों की दूकानें। इन विभागों में निम्नलिखित प्रकार की वस्तुएँ सजाई हुई थी। (1) जवाहिरात, जड़ाऊ गहने, सोने-चाँदी के गहने और बर्तन तथा ताँबे-पीतल के बर्तन (2) आगरे, जयपुर, जोधपुर, भरतपुर, बीकानेर, मिर्जापुर, मैसूर, उदयपुर, अलवर आदि स्थानों की संगमरमर, संगमूसा और मामूली पत्थर की बनी हुई चीजें (3) बुलन्दशहर, रामपुर, पेशावर, मुलतान, बम्बई और वेलोर की बनी हुई मिट्टी की बहुत ही उत्तम चीजें (4) काठ की बहुत ही उत्तम-उत्तम चीजें, जिनके देखने से प्रकट होता है कि भारतवर्ष में लकड़ी का काम कितना अच्छा बनता है, (5) हाथी-दाँत, सींग, हाड़ और चमड़े की चीजें (6) जयपुर,

होशियारपुर, फीरोजपुर, मोंटगुमरी, डेराइस्माइलखाँ आदि स्थानों की बनी हुई लाह की बहुत ही अच्छी-अच्छी चीजें तथा लाह की वार्निश की चीजें (7) सादे तथा छपे हुए वस्त्र। इनमें से रेशमी वस्त्र तो अमृतसर, मुलतान, भावलपुर, बनारस; आजमगढ़, मुर्शिदाबाद, मालदह, बाँकुड़ा, औरंगाबाद, त्रिचनापली, बिलारी, मैसूर, थाना, सूरत, बड़ौदा और अहमदाबाद आदि स्थानों से बहुत उत्तम आये थे; कमख्वाब बनारस, अहमदाबाद और सूरत के आये थे; ढाका, कोटा आदि कई स्थानों की बनी हुई बहुत तरह की मलमल आयी थीं; लखनऊ, फर्रुखाबाद, फरीदपुर, बुलन्दशहर, अजमेर, कोट कोमालिया, सुल्तानपुर और लाहौर आदि से छपे हुए कपड़े और जयपुर, अजमेर तथा जोधपुर के रँगे हुए वस्त्र बहुत अच्छे आये थे। इसके अतिरिक्त साटन और मलमल पर तरह-तरह के कसीदे के काम, कई तरह की चिकन जरी, कारचोबी और लेस की चीजें भी बहुत अच्छी-अच्छी आयी थीं। कालीनें तो बहुत करके जेलखानों की बनी हुई थीं, जिनमें से सबसे अच्छी अमृतसर, आगरा, मिर्जापुर, कश्मीर, हैदराबाद और पूना की थीं। यहीं पर बड़ौदा की एक बहुमूल्य कालीन भी थी जिसमें मोती लगे हुए थे और जिसका मूल्य तीन लाख रुपया था। यहीं पर महाराजा साहब कश्मीर के भेजे हुए कई बढ़िया-बढ़िया शाल भी थे। (8) चित्रकारी का काम भी बहुत अच्छा देखने ही लायक था, जिनमें से बहुत करके लखनऊ के इण्डस्ट्रियल स्कूल तथा मदरास, बम्बई और लाहौर के आर्ट स्कूल के थे। इनके सिवाय कुछ बहुमूल्य और पुरानी पुस्तकें भी इकट्ठी की गयी थीं। इनमें महाराजा साहब अलवर की एक गुलिस्ताँ देखने ही लायक थी। इसका मूल्य 175000 रु० है। इसे चार प्रसिद्ध चित्रकारों और एक बहुत ही निपुण सुलेखक ने मिलकर बड़े परिश्रम से तैयार किया था। दूसरी देखने लायक पुस्तक दो सौ वर्ष की पुरानी कुरान की थी जिसका मूल्य 3000 रु० कहा जाता है तथा ऐसी ही दीवाने हाफिज की भी एक प्रति थी। दिल्ली के रायबहादुर पंडित जानकीनाथ ने रामायण के बहुत प्राचीन और सुन्दर, 2 चित्र भेजे थे जिनका मूल्य 5500 रु० कहा जाता है। रायबहादुर पंडित जानकीनाथ कहते हैं कि ये चित्र सोने के हरफों में लिखी हुई संस्कृत की एक रामायण में थे, जो कि जहाँगीर के समय की लिखी हुई थी, सैकड़ों वर्ष तक बादशाही कुतुबख़ाने में रही। सन् 1857 के गदर की लूट में यह एक सिपाही के हाथ लगी और उस सिपाही से रायबहादुर पण्डित जानकीनाथ ने खरीद ली। असल किताब किसी कारण से नष्ट हो गयी और ये चित्र निकाल कर रख लिये गये हैं।

संक्षेप में यह वर्णन प्रदर्शनी का हुआ। पर इसमें राजा-महाराजाओं को छोड़कर साधारण लोगों के काम की कोई चीज नहीं देख पड़ी। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रदर्शनियों से बहुत-कुछ लाभ हो सकता है। लार्ड कर्जन ने अपनी वक्तृता में यह आशा प्रकट की थी कि भारतवर्ष के नृपतिगण इस प्रदर्शनी में संग्रह की हुई चीजों को देख कर अपने-अपने राज्य में कला-कौशल की उन्नति की ओर ध्यान देंगे तो बहुत-कुछ लाभ हो सकेगा। लार्ड कर्जन को इस बात पर बड़ा दुःख था कि विलायती चीजों से रईस लोग अपने घरों को सजाते हैं। वास्तव में बात दुःख की है, पर विचार करने का स्थल है कि राजा-महाराजाओं को देशी वस्तु क्यों पसन्द आने लगी, उनको तो सभी कुछ अंग्रेजी चाहिए, यहाँ तक कि विलायती पानी तक में उन्हें अनुराग अधिक रहता है। इन राजा-महाराजाओं का रहन-सहन और पहिरावा भी अंग्रेजी ही हो रहा है। अभी थोड़े दिन हुए हमें पश्चिम जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। लौटती बेर एक स्टेशन पर हमने राजपूताने के एक बड़े महाराजा को भी उसी गाड़ी से जाते देखा जिससे हम चलने वाले थे। महाराजा साहब की पोशाक सिर से पैर तक अंग्रेजी थी, पर ईश्वर की दया से उनका रंग काला था; इससे जब पहले-पहल हमने उनको देखा तो यही भ्रम हुआ कि ये कोई किरानी होंगे जो सरकारी किसी दफ्तर में काम करते हैं। पीछे अधिक भीड़-भाड़ देखकर हमने पूछा कि यह किसी राजा की सवारी है। नाम मालूम होने पर हमें राजा के दर्शनों की उत्कंठा हुई। पर जब उनके अनुचर वर्ग में से एक ने हमें उन्हें पहचनवाया तो हम बड़े आश्चर्यचकित हुए, क्योंकि जिन्हें हम किरानी समझे हुए थे वे ही महाराजा निकल पड़े। यदि लार्ड कर्जन अब उन सब राजा-महाराजाओं से पूछें जो दिल्ली गये हुए थे, कि उन्होंने प्रदर्शनी में क्या-क्या नई चीजें देखीं और उन्होंने किस-किस की उन्नति करने का विचार किया है, तो उन्हें ज्ञात होगा कि एक-दो को छोड़कर किसी ने ध्यान-पूर्वक प्रदर्शनी की चीजों को भी न देखा होगा।

ता० 31 दिसम्बर का दिन खाली था। उस दिन कोई उत्सव न था। पहली जनवरी को दरबार की तैयारी थी। इस दिन सबेरे से ही निमन्त्रित लोग प्रायः काले-काले कपड़े पहिन दरबार भवन की ओर चले, क्योंकि हुकुम था कि ग्यारह बजे तक सब लोग अपने-अपने स्थान पर बैठ जायँ। दरबार भवन घोड़े की नाल के आकार का बना हुआ था। इसके पूर्वी और पश्चिमी ओर के अंतिम ब्लाकों में दर्शकों को स्थान मिला था और भीतर की ओर प्रत्येक प्रान्त के राजों-महाराजों, नवाबों और अंग्रेज अफसरों के लिए अलग-अलग ब्लाक थे।

वाइसराय की दाहिनी ओर ब्लाक यू (U) में हैदराबाद के निजाम, बड़ौदा के महाराजा और मैसूर के महाराजा बैठे थे।

वाइसराय की बाईं ओर ब्लाक बी (B) में महाराजा कश्मीर, किलात के ख़ान, लसबेला के जाम और राजा मनीपुर थे।

दाहिनी ओर ब्लाक वी (V) में राजपूताने के महाराजा लोग थे। पहली कुर्सी महाराणा उदयपुर की थी, परन्तु वे आ न सके, इसलिए यथाक्रम महाराजा जयपुर, महाराजा जोधपुर, महाराव राजा बूंदी, महाराजा बीकानेर, महाराव कोटा, महाराजा करौली, महाराजा किशनगढ़, महारावल जयसलमेर, महाराजा अलवर, नवाब टोंक, महाराज राना धौलपुर, महाराव सिरोही, महारावल डूंगरपुर, और राज राना झालावाड़ बैठे थे। महाराजा भरतपुर अभी बच्चे हैं, इसलिए वे अपनी माता के साथ जनाने ब्लाक में बैठे थे।

बाईं ओर ब्लाक सी (C) में मध्यभारत के नृपतिगण इस क्रम से थे—महाराज ग्वालियर, महाराज इंदौर, भूपाल की बेगम (पर्दे में), महाराजा रीवां, महाराजा उर्छा, महाराजा दतिया, राजा धार, देवास के दोनों राजा, महाराजा समथर, नवाब जावड़ा, राजा रतलाम, महाराजा चरखारी, राजा राजगढ़, राजा नरसिंह गढ़, राना बरवानी, ठाकुर साहब पिपलौधा, राजा अलीपुर।

दाहिनी ओर ब्लाक टी (T) मद्रास वालों के लिए था। इसमें महाराजा ट्रावनकोर, राजा कोचीन और राजा पदुकोटा बैठे थे।

बाईं ओर ब्लाक डी (D) में बम्बई के राजा लोग इस क्रम से थे—महाराजा कोल्हापुर, राव कच्छ, महाराजा ईदर, मीर खैरपुर, सुलतान शेर और मोकल्ला, नवाब जूनागढ़, ठाकुर साहिब भावनगर, राना पोरबन्दर, नवाब केम्बे, ठाकुर साहब मोर्वी, ठाकुर साहिब गोंडल, सुलतान लहेज, राजा बांसड़ा, राजा बरिया, ठाकुर साहब पालीटाना, ठाकुर साहब लीमड़ी, नवाब जंजीरा, अमीर दथाली, पन्त सचिव भोर, रईस मीराज।

दाहिनी ओर ब्लाक एस (S) में निम्नलिखित पंजाब के राजा बैठे थे—महाराजा पटियाला, नवाब भावलपुर, राजा झींद, राजा नाभा, राजा कपूर्थला, राजा सिरमौर (नाहन), नवाब मालेर कोटला, राजा नालागढ़, राजा क्योंथल, राजा फरीदकोट, सरदार कलसिया, नवाब लोहारू, नवाब दोजाना।

बाईं ओर ब्लाक एफ (F) में बंगाल के निम्नलिखित राजा थे—महाराजा कूच बिहार, राजा टिपरा और राजा मोरभंज।

दाहिनी ओर ब्लाक आर (R) में आगरा और अवध के संयुक्त प्रदेश के निम्नलिखित नृपतिगण थे—नवाब रामपुर, महाराजा बनारस और राजा टिहरी।

बाईं ओर ब्लाक जी (G) में ब्रह्मा के सरदार बैठे थे।

ब्लाक डब्लू (W) की दूसरी कतार में मध्यप्रान्त के राजा सोनपुर, राजा रिहराखोल, राजा रायगढ़ और राजा खैरागढ़ बैठे थे।

ब्लाक एच (H) में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के सरदार अर्थात् चित्राल के मेहतर, दीर के नवाब, नवागई के खान, हुंआ के मीर और वनगर के मीर बैठे थे।

इस प्रकार से सब मिलाकर 92 संरक्षित राज्याधीश्वर इस दरबार में उपस्थित थे। इनके सिवाय ब्रिटिश राज्य के अनेक जमींदार और अंग्रेज अफसर भी सपत्नीक इसकी शोभा बढ़ा रहे थे।

पहले दरबार का समय 12 बजे नियत किया गया था, पर उसी दिन ईद होने के कारण आधा घंटा टाल दिया गया। धन्य मुसलमानों ! अब तक तुममें यह शक्ति वर्तमान है। एका जो न करे सो थोड़ा है।

सब लोग अपने-अपने स्थानों पर नौ बजे से ही बैठने लग गये थे। ग्यारह बजे तो एक ब्लाक को छोड़कर और कोई स्थान खाली न था। इस ब्लाक में सन् 1857 के विद्रोह के विजयी सैनिकों के बैठने का स्थान था। इनमें हिन्दू अधिक थे। कोई-कोई तो ऐसा बुड्ढा हो गया था कि बिना दूसरे के सहारे के चल भी नहीं सकता था। जनाने ब्लाक के आगे चिक पड़ी हुई थी। इस नालाकार दरबार भवन के मध्यभाग में एक बुर्जी-सी बनी थी जिसमें जरी के कालीन बिछे थे और उन पर चार कुर्सियाँ सोने और चाँदी के काम की रखी थीं, जिन पर वाइसराय, उनकी अर्धाङ्गिनी, ड्यूक आफ कनाट, डचेज आफ कनाट बैठे थे। इस बुर्जी के सामने एक बड़ा-सा गोल चबूतरा था जिस पर शाही झंडा गड़ा था। इस चबूतरे के उस पार कुछ दूर पर 40 हजार फौज कतार बाँधे खड़ी थी। ठीक सवा बारह बजे ड्यूक अपनी पत्नी के सहित और साढ़े बारह बजे लार्ड कर्जन अपनी श्रीमती के साथ दरबार में पहुँचे। सभों ने उठ कर इनका स्वागत किया और जब वे बैठ गये तो सब लोग अपने-अपने स्थानों पर बैठ गये। शान्ति हो जाने पर फारेन सेक्रेटरी ने वाइसराय से दरबार खोलने की आज्ञा माँगी और हेरल्ड बुलाया गया। इस पर हेरल्ड तथा धौंसा और तुरही बजाने वालों ने द्वार

पर खड़े होकर दो बेर धौंसा और तुरही बजायी और फिर वाइसराय के सामने आकर वैसा ही किया। इसके पीछे हेरल्ड ने उच्च स्वर से घोषणा-पत्र पढ़ा जिसका आशय यह था कि "स्मरणीय पूर्व अधीश्वरी महारानी विक्टोरिया के स्वर्गवास होने पर 22 जनवरी, 1902 को परमेश्वर की कृपा से ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैण्ड के संयुक्त प्रदेश के राजा, धर्म के संरक्षक तथा भारतवर्ष के राज-राजेश्वर एडवर्ड सप्तम के नाम तथा उपाधि से हम राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। अपने शासन-काल के पहले वर्ष में अपने तारीख 26 जून और 12 दिसम्बर, 1901 के राजकीय घोषणापत्रों द्वारा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की कृपा से हमने अपनी राजकीय इच्छा प्रकट की थी कि हमारे राज्याभिषेक का उत्सव ता० 26 जून, 1902 को किया जाय परन्तु सर्वशक्तिमान् ईश्वर की महती कृपा से हम उस उत्सव को 8 अगस्त को कर सके। परन्तु हमारी यह इच्छा है कि भारतवर्ष की हमारी प्रिय प्रजा में भी हमारे राज्याभिषेक की प्रसिद्धि प्रकाश रूप से की जाय और भारतवर्ष में हमारे प्रतिनिधियों, राज्य प्रबंधकों और राजों-महाराजों तथा सरदारों को भी इस उत्सव में सम्मिलित होने का अवसर मिले। इसलिए हम इस राजकीय घोषणापत्र द्वारा सूचित करते हैं और इसके द्वारा अपने वाइसराय और भारतवर्ष के गवर्नर जनरल लार्ड कर्जन को इस सम्बन्धी कार्य का भार सौंपते हैं तथा उन्हें आज्ञा देते हैं कि वे हमारे राज्याभिषेक की प्रसिद्धि के लिए 1 जनवरी 1·03 को दिल्ली में एक दरबार करें और वहाँ यह घोषणा-पत्र सूचना के लिए पढ़ा जाय।

परमेश्वर महाराज भारतेश्वर को चिरंजीवी करें !!

इस घोषणा-पत्र के पढ़े जाने के पीछे फिर तुरही और धौंसा बजा। साथ ही बैण्ड भी बजा और श्रीमान् राजराजेश्वर के लिए 101 सलामी की तोपें छूटीं। फिर हेरल्ड और तुरही तथा धौंसा बजाने वाले द्वार पर आ खड़े हुए। जिस समय सलामी की तोपें छूटीं, उसी समय दरबार से कुछ दूर जो पलटन खड़ी थी उसने भी तीन बेर एक साथ बन्दूकों की बाढ़ चलायी। सलामी हो चुकने पर हेरल्ड के साथियों ने फिर तुरही बजायी और तब लार्ड कर्जन ने अपने स्पीच आरम्भ की जिसका अनुवाद यह है—

"आज से छह मास पूर्व लन्दन में श्रीमान् एडवर्ड सप्तम राज्यसिंहासन पर बैठे। उस अवसर पर वहाँ यहाँ के केवल थोड़े-से रईस उपस्थित हो सके थे। इसलिए राजराजेश्वर ने कृपापूर्वक आज अपनी भारतवर्ष की सब प्रजा को उसी

प्रकार से उत्सव मनाने का अवसर दिया और इसीलिए यहाँ पर तथा भारतवर्ष के अन्य-अन्य नगरों में राज्याभिषेक के उपलक्ष में देशी राजे-महाराजे और सरदार लोग, जो कि भारतवर्ष के राज्य के स्तम्भ हैं, तथा वे देशी और यूरोपियन अफसर लोग जो कि असाधारण सावधानी और भक्ति के साथ राजराजेश्वर की सेवा करते हैं, वह देशी और विलायती सेना जो कि इतनी वीरता के साथ राज-राजेश्वर की सीमा प्रांत की रक्षा करती है और उनकी लड़ाइयों में लड़ती है, और भारतवर्ष की वह राजभक्त प्रजा जो कि भिन्न-भिन्न जातियों, अवस्थाओं, विचारों और रीति-व्यवहारों के होने पर भी एक सम्राट् की भक्त बनी हुई है, वे सब लोग एकत्रित हुए हैं।

इस प्रकार से अपने राज्याभिषेक के उत्सव को भारतवर्ष में करने ही के लिए श्रीमान् राजराजेश्वर ने मुझ अपने वाइसराय को इस बड़े दरबार के करने की आज्ञा दी है। और वे इस अवसर को कितना अधिक प्रधान समझते हैं उसको प्रकट करने ही के लिए उन्होंने निज भ्राता श्रीमान् ड्यूक आफ कनाट को इस दरबार में सम्मिलित होने के लिए भेजा है।

इस बात को छब्बीस वर्ष होते हैं कि आज ही के दिन तथा इसी ऐति-हासिक और स्मरणीय नगर में इस स्थान पर महारानी विक्टोरिया की भारतवर्ष की पहली राजराजेश्वरी होने की घोषणा दी गयी थी। वह कार्य श्रीमती की प्रजा की ओर विशेष प्रीति तथा उनके भारतवर्ष के देशों का ब्रिटिश राज्य के अधीन होना दिखलाने के लिए किया गया था। आज चौथाई शताब्दी के उपरान्त यह राज्य और भी संयुक्त हो गया है। जिस राजराजेश्वर के सम्मान के लिए हम लोग यहाँ एकत्रित हुए हैं वह अपनी भारतवर्ष की प्रजा को कम प्रिय नहीं हैं, क्योंकि वे लोग उन्हें अपनी आँखों देख चुके और उनका शब्द भी सुन चुके हैं। वे एक ऐसे राज्य के उत्तराधिकारी हुए हैं जो कि सारे संसार में केवल सबसे अधिक प्रतापी ही नहीं, वरन् सबसे अधिक चिरस्थायी भी है और वह पुरुष निस्संदेह बड़े ही भ्रम में होगा जो इस बात को अस्वीकार करे कि इस राज्य की दृढ़ता का एक प्रधान कारण राजराजेश्वर के अधिकार में भारतवर्ष के राज्य का होना तथा भारतवर्ष की प्रजा की राजराजेश्वर पर अटल भक्ति का होना भी है। वह भारतवर्ष, जिसका प्राचीन इतिहास बड़े गौरव का है, बड़ा राजभक्त भी है और उसमें पश्चिम ने इस राजभक्ति का संचार नये सिरे से कर दिया है। भारतवर्ष के अधिकार पाने के अभिलाषी प्रत्येक शताब्दी में अनेक हुए हैं, परन्तु उन सभों में से भारतवर्ष ने अपना अधिकार केवल उसी को दिया है जिसने कि इसका विश्वास भी प्राप्त कर लिया है।

जैसा दृश्य हम यहाँ आज देख रहे हैं वैसा संसार में और कहीं होना संभव नहीं है। इससे मेरा तात्पर्य इस बड़े तथा अद्‌भुत समारोह से नहीं है, यद्यपि मैं विश्वास करता हूँ कि यह भी अद्वितीय है। वरन् मेरा तात्पर्य उससे है जिसका चिह्न यह समारोह है, तथा उन लोगों से है जिनका भाव यह प्रकट करता है। यहाँ पर भिन्न-भिन्न राज्य के 100 से अधिक शासक लोग, जिनकी प्रजा सब मिलाकर 6 करोड़ से अधिक है और जिनका राज्य 55 रेखांशों तक फैला हुआ है, अपने एक सम्राट् के साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिए एकत्रित हैं। जिस राज-भक्ति के साथ वे इतनी दूर से और प्रायः बहुत-सा कष्ट उठाकर भी उपस्थित हुए हैं, उनका हम बड़ा आदर करते हैं और थोड़ी ही देर में मुझे उनके ही मुखों से राजराजेश्वर को उनकी बधाई पहुँचाने की बात सुनने की प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। जो अफसर तथा सैनिक यहाँ उपस्थित हैं, वे भारतवर्ष की लगभग 2 लाख 30 हजार मनुष्यों की सेना में से चुन कर बुलाये गये हैं, जिनको कि राजराजेश्वर की सेना में होने का गौरव प्राप्त है। भारतवर्ष के सरकारी तथा बे-सरकारी लीडर (नेता) लोग जो यहाँ उपस्थित हैं, वे 2300 लाख मनुष्यों के प्रतिनिधि हैं। अतएव इस स्थान पर समस्त मनुष्य जाति के पंचमांश लोगों की आत्माएँ, अथवा यों कहिये कि अपने शासकों और प्रतिनिधियों के द्वारा वे लोग स्वयं उपस्थित हैं। इन सबके चित्त का केवल एक ही भाव है और सब एक ही राजराजेश्वर के आगे सिर झुकाते हैं। और यदि कोई यह पूछे कि इतने अधिक तथा दूर-दूर के लोग इस प्रकार से इकट्ठे होकर जो एक से हो गये हैं, इसका क्या कारण है, तो इसका उत्तर यही है कि जब सबको अपने राजराजेश्वर के न्याय और कृपा का विश्वास हो जाता है तो सबके हृदय में राजभक्ति उत्पन्न हो जाती है और यही इस समारोह का कारण है। यह केवल विचार को प्रकाशित करना ही नहीं है, वरन् बहुत-सा अनुभव करके विश्वास को प्रकट करना है। क्योंकि इन करोड़ों मनुष्यों में से अधिकांश को राजराजेश्वर के राज्य ने आक्रमणों और बलवों से मुक्त कर दिया है, बहुतों के लिए उनके अधिकार और स्वत्व दृढ़ कर दिये हैं; बहुतेरों के लिए उनके प्रतिष्ठापूर्वक कार्य करने का मार्ग खोल दिया है, सर्व-साधारण के लिए उनके दुःखों के दयापूर्वक निवारण करने का प्रवन्ध किया है और सबके साथ बराबर न्याय करने, अत्याचार से बचाने और सबको शिक्षा तथा शान्ति देने का उद्योग किया है। ऐसे एक राज्य को जीतना एक बड़ा भारी काम है। उस राज्य को न्याय और धर्म के साथ बनाये रखना इससे भी भारी काम है। और उस सारे राज्य को निपुणता और नीति से एक कर देना सबसे बढ़कर भारी काम है और सदा रहेगा।

इन्हीं विचारों और उद्देश्यों से यह राज्याभिषेक का दरबार किया गया है। अब मेरा कार्य आप लोगों के सामने उस संवाद के पढ़ने का है जिसे श्रीमान् राजराजेश्वर ने कृपा कर अपनी भारतवर्ष की प्रजा को सुनाने को मुझे आज्ञा दी है।

"मुझे उस शुभ अवसर पर अपनी भारतवर्ष की प्रजा के पास इस संवाद के भेजने में बड़ा हर्ष प्राप्त होता है, जबकि वे मेरे राज्याभिषेक का उत्सव कर रहे होंगे। लंदन में जो उत्सव हुआ था उसमें भारतवर्ष के केवल थोड़े से राजे तथा प्रतिनिधि लोग उपस्थित हो सके थे। इसलिए मैंने अपने वाइसराय तथा गवर्नर जनरल को दिल्ली में एक बृहद् दरबार करने के लिए कहा जिससे कि भारतवर्ष के सब राजों-महाराजों और रईसों आदि को तथा मेरे राज्य के अफसरों को इस शुभ उत्सव को मनाने का अवसर मिले। मैं जब सन् 1875 में भारतवर्ष में आया था तभी से इस देश और यहाँ की प्रजा पर मेरा बहुत ही अनुराग हो गया है, और यहाँ की प्रजा की मेरे वंश और राज्य पर जो सच्ची प्रीति और भक्ति है, वह भी मुझे भली-भाँति विदित है। गत कई वर्षों में मुझे उनकी प्रीति के भी कई उदाहरण मिले हैं और मेरी भारतवर्ष की सेना ने मेरे राज्य के युद्धों और विजयों में बहुत ही अधिक सहायता दी है।

मुझे दृढ़ आशा है कि मेरे प्रिय पुत्र प्रिन्स आफ वेल्स तथा प्रिंसेस आफ वेल्स भारतवर्ष को बहुत शीघ्र देखने जायँगे और ये लोग भी उसके देखने को ऐसे ही उत्सुक हैं। यदि मेरा आना संभव हो सकता तो मैं भारतवर्ष में इस शुभ अवसर पर स्वयं बड़ी प्रसन्नता के साथ उपस्थित होता। किन्तु मेरा आना नहीं हो सकता। इसलिए मैं अपने प्रिय भ्राता ड्यूक आफ कनाट को, जिनसे कि भारतवासी भली-भाँति परिचित हैं, भेजता हूँ, जिसमें मेरे राज्याभिषेक के इस उत्सव पर वे मेरे कुटुम्ब के प्रतिनिधि हों।

जब से मैं अपनी पूज्य माता, भारतवर्ष की प्रथम राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया की गद्दी पर बैठा हूँ, तभी से मेरी अभिलाषा उन्हीं दयामय और न्यायपूर्ण सिद्धांतों पर स्थिर रहने की रही है जिससे कि मेरी माता ने भारतवासियों की इतनी प्रीति और भक्ति प्राप्त की थी। मैं अपने भारतवर्ष के समस्त राजाओं और प्रजा को फिर विश्वास दिलाता हूँ कि मैं उनकी स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा, उच्च पद और स्वत्व का पूरा ध्यान रखूँगा और उनकी उन्नति और प्रसन्नता की चेष्टा करूँगा। मेरे शासन का मुख्य उद्देश्य यही रहेगा और इस शासन में मेरे भारतीय राज्य की सम्पत्ति वृद्धि और प्रजा का सुख अधिकाधिक होता रहेगा।"

भारतवर्ष के नृपतिगण तथा निवासीगण ! ये उस राजराजेश्वर के वाक्य हैं जिनके राज्याभिषेक का उत्सव मनाने के लिए हम लोग यहाँ एकत्रित हुए हैं। इनसे उनका कार्य करने वाले अफसरों को एक नया उत्साह मिलता है और सब लोगों को महत्त्व तथा शुभ चिन्तन की शिक्षा मिलती है। जो लोग मेरी तथा मेरे साथियों की नाईं राजराजेश्वर के राज्य के मुख्य प्रतिनिधि हैं, उन्हें ये वाक्य जिस रीति से राज्य का प्रबन्ध करना चाहिये उस मार्ग को दिखलाते हैं। इसके पहले कभी ऐसा समय नहीं हुआ था जब कि हम लोग राज्य के प्रबन्ध को उदारता और दया के साथ करने के लिए अधिक इच्छुक हुए हों। जिन्होंने अधिक दु:ख सहा है वे अधिक पाने के योग्य हैं और जिन्होंने अच्छी तरह से काम किया है वे भी अच्छी तरह से सम्मानित होने के योग्य हैं। भारतवर्ष के राजाओं ने इस साम्राज्य के युद्धों में हमें अपने सिपाही और अपनी तलवारों से सहायता दी है और अकाल, अनावृष्टि आदि आपदाओं में भी उन्होंने वैसी ही बहादुरी और योग्यता से कार्य किया है। जो कुछ अधिकार आज उन्हें प्राप्त है उससे अधिक उन्हें देना कठिन है और जिस रक्षा में वे आज स्थित हैं और जिसमे न्यूनाधिक होने की कोई आशंका नहीं है, उसमें अधिकता असंभव है। तो भी हमको इस प्रस्ताव के करने में आनन्द हुआ कि गवर्नमेण्ट उन सब रुपयों पर, जो देशी राज्यों को अकाल के समय में उधार दिये गये, अथवा जो गवर्नमेण्ट की जमानत पर उनको ब्याज पर भी दिये गये हैं, उनका ब्याज ३ वर्ष तक न लिया जाय और हमें विश्वास है कि जिन पर हम यह उदारता प्रकट करते हैं वे इसे स्वीकार करेंगे। उस देश में और भी श्रेणी के लोग हैं जिसकी संख्या अधिक है और जिन्हें हम उदारता प्रसन्नतापूर्वक दिखा सकते हैं। हमें विश्वास है कि थोड़े ही दिनों में हम इस बात को प्रकट कर सकेंगे कि हम उन्हें क्या सहायता दे सकते हैं। वर्ष के मध्य में किसी ऐसी बात का प्रकट करना अथवा हिसाब-किताब का अनुमान कर लेना उचित नहीं है। यदि भारतवर्ष के कोष में उस समय विशेष उन्नति देख पड़ती है जैसा कि हमारा विश्वास है, तो मुझे निश्चय है कि श्रीमान् सम्राट् के राज्यारंभ के वर्ष ऐसे ही न बीत जायेंगे। वे भारत गवर्नमेण्ट को इस बात के लिए समर्थ करेंगे कि वह भारतवासियों के साथ अपनी सहानुभूति और प्रीति ऐसे-ऐसे कार्यों से प्रकट करे जिससे उनके आर्थिक कष्ट दूर हों, क्योंकि कष्ट और आपदा के समय में उन्होंने बड़े धैर्य और राजभक्ति के साथ अपने को निबाहा है। इस बात का विचार कर विशेष संतोष होता है। अब मुझे उन दया और रियायत के कामों के उल्लेख करने की आवश्यकता

नहीं है, क्योंकि उनका वर्णन अन्यत्र है। परन्तु इस बात के प्रकट करने में मुझे आनन्द है कि अब से भारतीय सेना का जो 'इण्डियन स्टाफ कोर' नाम था, वह हटा दिया जायेगा और वह राजराजेश्वर की भारतीय सेना के नाम से कहलावेगी।

भारत के नृपतिगण और निवासियो! यदि हम थोड़ी देर के लिए भविष्यत् की ओर दृष्टि डालें तो इस देश की अच्छी उन्नति निस्संदेह देख पड़ती है। भारतवर्ष के सम्बन्ध का कोई ऐसा प्रश्न नहीं है, चाहे वह बस्ती, शिक्षा, परिश्रम अथवा भरण-पोषण से सम्बन्ध रखता हो जिसे हल करना राजनीतिज्ञों की शक्ति के बाहर हो। बहुत-से प्रश्नों का हल तो अब भी हमारी आँखों के सामने हो रहा है। यदि भारतवर्ष और ग्रेट ब्रिटेन की संयुक्त सैनिक शक्ति से सीमा पर निरन्तर शक्ति रह सके, यदि राजा-महाराजाओं और प्रजा में, अँग्रेजों और हिन्दुस्तानियों में और शासकों तथा शासित लोगों में आपस का भाव बना रहे, और यदि इन्द्रराज अपनी उदारता में कमी न करें, तो कोई चीज भी उन्नति की गति को रोक नहीं सकती। भविष्यत् में भारतवर्ष ईश्वर की कृपा से ऐसा न रहेगा जहाँ की सम्पत्ति घट रही हो, जहाँ की भविष्यत् आशा कुछ न हो और जहाँ सच्चा असंतोष फैला हो। परन्तु ऐसा होगा जहाँ उद्योग बढ़ेगा, लोगों की विद्या-बुद्धि की उन्नति होगी, जहाँ की धन-सम्पदा बढ़ेगी और जहाँ सुख और धन का अधिक विस्तार होगा। मुझे अपने देश की ईमानदारी और उसके सच्चे व्यवहार पर विश्वास है और मुझे भारतवर्ष की भी असीम योग्यता में विश्वास है। परन्तु सम्राट् को निर्विवादित प्रभुता को छोड़कर और किसी अवस्था में इस भविष्यत् पर विश्वास नहीं हो सकता और ब्रिटिश सिंहासन को छोड़ न किसी दूसरे के अधिकार में यह अवस्था बनी रह सकती है।

और अब मैं अपने कथन को समाप्त करूँगा। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इस बड़े भारी समारोह को, जिसमें उनका सम्बन्ध सम्राट् के विचारों से इतना घनिष्ठ हो गया है, भारतवासी बहुत दिनों तक स्मरण रखेंगे। मुझे विश्वास है कि इसका स्मरण उत्साह और आनन्द के साथ बना रहेगा और श्रीमान् सप्तम एडवर्ड का राज्य-काल, जिसका प्रारम्भ अत्यन्त मंगल के साथ हुआ है, भारत-वर्ष के इतिहास में और यहाँ के लोगों के हृदय पर अंकित बना रहेगा। सर्व-शक्तिमान् जगन्नियन्ता से हम लोगों की प्रार्थना है कि उसकी अनुकम्पा से इनका राज्य और शक्ति बहुत दिनों तक बनी रहे कि जिसमें प्रजा का हित दिनोंदिन बढ़ता जाय, उसके सेवकों का कार्य बुद्धिमत्ता और धर्म से हो और उसके

राज्य में शान्ति और सम्पदा सदा वर्तमान रहे। ईश्वर करें भारतवर्ष के सम्राट् बहुत दिनों तक जिएँ।"

श्रीमान् की वक्तृता हो जाने पर हेरल्ड तथा तुरही बजाने वाले फिर वाइसराय के सामने आ खड़े हुए और उन्होंने तुरही बजाई, तथा हेरल्ड ने अपनी टोपी उठाकर उच्च स्वर से तीन चियर्स राजराजेश्वर के लिए दिये। इसके साथ ही सब लोगों ने खड़े होकर चियर्स दिये। इसके पीछे बाहर खड़ी हुई 40 हजार सेना ने चियर्स दिये। फिर बैण्ड बजा और तुरही बजाने वाले तथा हेरल्ड बाहर चले गये।

अब सेक्रेटरी फिर वाइसराय के सम्मुख आये और उन्होंने श्रीमान् वाइस-राय से रईसों की भेंट कराने की आज्ञा माँगी और सब रईस क्रमानुसार श्रीमान् वाइसराय और ड्यूक आफ कनाट से हाथ मिलाने तथा अपने राजराजेश्वर को बधाई देने के लिए सम्मुख आये। इस समय वाइसराय और ड्यूक आफ कनाट अपने स्थान से एक सीढ़ी नीचे उतर कर खड़े हो गये थे और रईस लोग सीढ़ी के नीचे आ-आकर हाथ मिलाते थे। सबसे पहले निजाम हैदराबाद अपने पुत्र और वजीर के साथ आये और वाइसराय और ड्यूक आफ कनाट से हाथ मिलाने के पीछे अंग्रेजी में जो कुछ उन्होंने पढ़ा उसका सारांश यह है—

"श्रीमान्, मुझे इस शुभ और स्मरणीय उत्सव में सम्मिलित हो सकने के कारण बहुत ही प्रसन्नता प्राप्त हुई है। मुझे निश्चय है कि श्रीमान् को यह ज्ञात होगा कि मेरे खानदान के ब्रिटिश राज्य के सच्चे सहायक होने का जो सम्बन्ध चला आया है, उसे स्थिर रखना तथा दृढ़ करना ही मेरे जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य रहा है। अतएव मैं श्रीमान् से प्रार्थना करता हूँ कि आप कृपा कर श्रीमान् राजराजेश्वर को मेरी ओर से हार्दिक बधाई दीजिएगा, तथा श्रीमान् को विश्वास दिलाइएगा कि वे मुझे तथा मेरे वंश को सदैव हर प्रकार से अपना सच्चा सहायक पावेंगे।"

इसके उपरान्त महाराजा बड़ौदा बड़े शान से आये और हाथ मिलाकर चले गये। वास्तव में महाराज सियाजी राव के समान विद्वान्, योग्य और प्रतिभाशाली राजा इस समय भारतवर्ष में वर्तमान नहीं है। कांग्रेस के सम्बन्ध में जो प्रदर्शनी गत सन् 1902 में हुई थी, उसमें जो वक्तृता श्रीमान् ने दी है, वह स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। ईश्वर करें श्रीमान् बहुत दिनों तक जीवित रह कर अपनी प्रजा का उपकार करें और भारतवर्ष का सम्मान बढ़ावें। इनके पीछे

जितने महाराजा, राजा और नवाब आये, वे झुक-झुक कर सलाम करके तथा हाथ मिला-मिला कर चले गये। जिस समय भूपाल की बेगम बुर्का ओढ़े हुए आयीं तो बहुधा लोगों ने हर्षित होकर चियर्स दिये। परन्तु कुछ लोग और विशेषत: मुसलमान लोग इससे कुछ खिन्न-से हो गये। बेगम साहिबा आते ही कुछ चीज जमीन पर रखने को झुकीं, जिससे किसी-किसी ने समझा कि ये लाट साहब तथा ड्यूक आफ कनाट के पैर छूने को झुकी हैं; परन्तु वास्तव में बात यह थी कि वे नजर देने के लिए कुछ लायी थीं, जिसके ढकने को उन्होंने वहाँ रख कर खोला था। बेगम साहिबा ने प्राय: 3 मिनट कुछ आलाप किया और वे वाइसराय, ड्यूक आफ कनाट तथा लेडी कर्जन, और डचेज आफ कनाट से हाथ मिलाकर चली गयीं। जिस समय श्रीमान् महाराजा मेजर जनरल सर प्रतापसिंह वाइसराय और ड्यूक आफ कनाट के सम्मुख आये उस समय सब अंग्रेजों ने खूब चियर्स दिये। धन्य है वीरता, तेरा सब जगह आदर है! इस प्रकार जब सब लोगों से भेंट हो चुकी तो फारेन सेक्रेटरी ने दरबार बन्द होने की आज्ञा माँगी और दरबार विसर्जित हुआ, तथा वाइसराय और ड्यूक के जाते ही सब लोग अपनी-अपनी गाड़ियों की फिक्र में लगे और किसी प्रकार दिन भर के भूखे-प्यासे अपने घर लौटे।

इस दरबार के उपलक्ष में कुछ लोगों को उपाधियाँ बाँटी गयीं। जिन लोगों के पीछे यह उपाधि लगी उनमें कितने भारतवासी थे और कितने अंग्रेज, यह नीचे दी हुई संख्याओं से विदित हो जायगा।

जी० सी० एस० आई०	हिन्दुस्तानी	1	अंग्रेज	1
के० सी० एस० आई०	,,	2	,,	9
सी० एस० आई०	,,	3	,,	13
जी० सी० आई० ई०	,,	2	,,	0
के० सी० आई० ई०	,,	7	,,	8
सी० आई० ई०	,,	16	,,	14
नाइट हुड (Knighthood)	,,	1	,,	7
कैसर हिन्द (सोने का मेडल)	,,	2	,,	13
,, (चाँदी का मेडल)	,,	8	,,	11

तीसरी तारीख के रात के नौ बजे दिल्ली के किले के अन्दर दीवान खास में चैपटर का दरबार हुआ था। जितने उपाधिधारी लोग इस समय दिल्ली में वर्तमान थे, वे सब यहाँ उपस्थित थे। दीवान खास फिर से रँग कर सजाया गया

था और बिजली की रोशनी खूब की गयी थी। बीच में राज्य-सिंहासन लगाया गया था, जिस पर लार्ड कर्जन विराजमान थे और उसके नीचे दोनों ओर कुर्सियों पर अन्य लोग बैठे थे। वाइसराय के पहुँचने पर सब लोग जिन्हें पहले से उपाधियाँ मिली हुई थीं एक क्रम से पंक्ति बाँध कर बैठ गये और जिन लोगों को नयी उपाधियाँ देने का पहले से निश्चय हो चुका था, उन्हें उपाधियाँ दी गयीं और दरबार समाप्त हुआ।

चौथी जनवरी को रात के दस बजे जुमा मसजिद के आगे वाले मैदान में आतिशबाजी छूटी। इसको इंग्लैण्ड की ब्रूक कम्पनी ने बनाया था और साढ़े सत्रह हजार रुपये इसके लिए व्यय किये गये थे। भारतवर्ष में भी आतिशबाजी बनाने वाले हैं और उनकी आतिशबाजी ब्रूक कम्पनी की आतिशबाजी से किसी तरह कम नहीं होती। इस आतिशबाजी में दो बातें विशेष थीं, एक तो धुआँ बहुत ही कम होता था और दूसरे रोशनी इतनी अधिक होती थी कि दिन-सा देख पड़ने लगता था। विशेषकर जो गोले छूट कर आकाश में जाते थे और वहाँ फट कर रंग-बिरंगे सितारे हो जाते थे वे बड़े ही अद्भुत थे। आतिशबाजी में सम्राट्-सम्राज्ञी, ड्यूक कनाट, डचेज कनाट, लार्ड कर्जन, लेडी कर्जन, और लार्ड किचनर दिखलाये गये थे। इनकी आकृति बहुत स्पष्ट और ठीक बनी थी। जलप्रपात तथा फौव्वारों का दृश्य भी अद्भुत था। सब आतिशबाजी में वैज्ञानिक रीति के अनुसार कार्य किया गया था। इसी में इसकी विशेषता और उत्तमता थी।

इसके पीछे एक दिन गिर्जाघर में ईश्वर की प्रार्थना, बैण्ड का बाजा, फौजों की प्रदर्शनी, गार्डन पार्टी, नाच, पोलो खेल आदि हुए, जिनमें कोई विशेषता न थी। सबसे अद्भुत दृश्य ता० 7 जनवरी को देखने में आया, जब देशी राजाओं की सेना की प्रदर्शनी हुई। इसका बहुत अच्छा वर्णन कलकत्ते के भारतमित्र पत्र ने छापा है जिसे हम अपने पाठकों के लिए अविकल उद्धृत करते हैं।

"11 बजे ही मण्डप दर्शकों से भर गया। मण्डप के सामने अर्द्ध गोलाकार में लाल और सफेद पोशाक पहने हुए सैनिक खड़े दिखाई देते थे। साढ़े ग्यारह बजे तोप दगी। पहले ड्यूक आफ कनाट आये। पीछे लार्ड कर्जन की गाड़ी आयी। जातीय बाजा बजा। सब लोगों ने खड़े होकर बड़े लाट साहब का स्वागत किया।

अब सेना की प्रदर्शनी शुरू हुई। पहले रंगभूमि में शिवा जी के वंशधर

कोल्हापुर नरेश की सेना आयी। पहले एक हाथी आया। उसके ऊपर महाराष्ट्रों का जातीय झंडा उड़ता था। हाथी के पीछे 20 घुड़सवार और 120 पैदल थे। सेना के पीछे एक हाथी दिखायी दिया। उसकी पीठ पर सोने का छत्र था। कोल्हापुर के सैनिक लार्ड कर्जन और ड्यूक आफ कनाट को सलाम करके मण्डप के सामने से चले गये। इसके बाद कच्छ के महाराव के सैनिक आये। पहले एक हाथी आया, उसके ऊपर राजपूतों का और राजचिह्न थे। एक पताका पर सोने का बाघ और दूसरी पर सोने की मछली थी। इसके बाद 90 आदमी अंग्रेजी बाजा बजाते हुए आये। 12 ऊँट के ऊपर कुछ देशी बाजेवाले रंगभूमि में उपस्थित हुए। शहनाई की मीठी आवाज पर सब लट्टू हो गये। ऊँट के ऊपर राजपताका और राजचिह्न उड़ता था। बन्दूकें ऊँटों पर लदी थीं। ऊँट के पीछे 14 घुड़सवार शरीर-रक्षक आये, फिर सजे-सजाये 5 घोड़े लेकर पताका लिये हुए कई आदमी आये। घोड़ों की पोशाक जड़ाऊ थी, हीरे-मोती लगे थे और सोने का काम किया हुआ था। इसके बाद 20 जिरह बख्तर पहने सिपाही आये। इनके बदन सिर से पैर तक लोहे से ढँके थे। फिर युद्ध का एक रथ आया। उसमें चार बैल जुते थे। रथ के ऊपर कई सिपाही खड़े थे। उसके पीछे सैनिक आये। उनके एक हाथ में ढाल और दूसरे में तलवार थी। ये बीस-बीस हाथ ऊँचे बाँस पर पैर रख कर चलते थे। दो सेनापति सुनहली पालकी में चढ़ कर आये। वाहक रंगीन वस्त्र पहने हुए थे। साथ में मशालची भी था। इसके बाद 32 अरब देश के शरीर-रक्षक आये। इनका चेहरा भयानक था। फिर 3 सुसज्जित हाथी, 10 बाजे वाले, 10 ऊँट और 70 बन्दूकधारी सिपाही आये। 5 हाथियों के ऊपर कई पहलवान आये। फिर 45 सवार दुबले-पतले घोड़ों पर चढ़ कर आये और दर्शन देकर चले गये।

शेर और मोकल्ला एक छोटी-सी अरबी रियासत है। वहाँ के 46 अरब सिपाही लाल और पीली पोशाक पहन कर आये। फिर 39 हब्शी आये। यह बाजे वाले थे, जोर से चिल्लाते-नाचते-कूदते चले गये। 28 सिपाही बर्छा लेकर और 64 पैदल यों ही आये और लड़ाई के शेर पढ़ते चले गये। मैसूर राज्य के सवारों का एक दल नीला वस्त्र धारण किये नीली और बैगनी झंडी दिखा गया। मैसूर के बाद जूनागढ़ के नवाब के 23 अरबी तिलंगे आये।

अब बड़ौदा की सोने और चाँदी की दो तोपें आयीं। एक-एक तोप आठ-आठ मन की होगी। सोने की तोप की गाड़ी सोने के पत्तर से मढ़ी थी और

चाँदी वाली गाड़ी में कलई की हुई थी। दो बड़े-बड़े बैल गाड़ी खींचते थे। बैलों के सींग सोने से मढ़े थे, उनका शरीर सुनहले कपड़ों से ढँका था।

बम्बई प्रान्त की रियासती सेना के बाद मध्यभारत की सेना का नम्बर आया। पहले ग्वालियर की सेना आयी। आगे हाथी, घोड़ा और पालकी आयी। हाथियों के बदन रँगे हुए थे। उनके सिर में सोने की कपाली, कान में बाला और पीठ पर सुनहला कपड़ा था। फिर 48 सवार, 37 नकीब और बर्छाधारी, दो सजे-सजाये घोड़े और 14 हाथी आये। फिर इन्दौर की सेना आयी। 12 सुसज्जित घोड़े, नील वस्त्रधारी 9 सवार, अंग्रेजी बाजे वाले, 6 बड़े हाथी और सोने की पालकी सामने से चली गयीं। हाथियों ने सूँड़ उठाकर लार्ड कर्जन को सलाम किया। भूपाल की सेना के आगे-आगे ढोल और शहनाई बजती आयी। कई हाथी आये जिन पर जिरह बख्तर पहने तिलंगे सवार थे।

इसके पश्चात् रीवां राज्य की सेना आयी। इसमें 6 हाथी आये। हाथी के गले में सोने का हार, सिर में मुकुट, कान में बाला, नाड़ में चन्द्रहार था। यह सब सोने के थे। दो सोने के बाघ के ऊपर हौदा बना था। हाथी के ऊपर डंका बजता था। हाथी के ऊपर 180 सिपाही आये जो हरे रंग का अंगा और वसंती पगड़ी पहने हुए थे। पीछे अंग्रेजी बाजा बजाते हुए कई सिपाही आये और उनके पीछे 200 पैदल जवान, फिर सोना, चाँदी, हीरा, मोती जड़े आठ घोड़े आये। घोड़े के पीछे सोने की चार पालकी थीं। आसा सोटा लिये 132 आदमी पालकी के साथ थे। फिर एक रथ में दो हाथी जुते आये। रथ दो-महला था. जिसकी खिड़कियों में सोने की जाली लगी थी। रथ के पीछे चाँदी की दो गाड़ियाँ आयीं। फिर 10 हाथी और 8 घुड़सवार आये। एक छोटे-से हाथी पर एक परम सुन्दर बालक बैठा था, उसको देखकर सब लोग हर्षित हुए। रीवां के बाद ओरछा की सेना आयी। इसमें हाथी के ऊपर दो राज-कवि भी थे। हाथी के पीछे 131 सैनिक आये। यह सब घुटने तक भूरे रंग का रुई भरा अंगा पहने हुए थे। उसके बाद 10 हाथी आये। एक हाथी सामने का पैर उठाकर पिछले दो पैरों पर ही खड़ा रह गया। वह लार्ड कर्जन के सामने बहुत देर तक खड़ा रहा और सूँड़ उठाकर सलाम करता था। एक हाथी के सोने के हौदे पर सोने का एक मगर बना था। उसकी जीभ हिलती जाती थी, यही ओरछा का राज-चिह्न है। फिर सवार, मुसाहिब, घोड़े और ऊँट आये। इसी प्रकार क्रम से दतिया, धार, समथर, चरखारी, राजगढ़ और नरसिंहगढ़ की सेना तथा हाथी और ऊँटों की सवारी आकर चली गयी। दतिया का हाथी कूदता जाता था, धार का हाथी चँवर

डुलाता था, समथर का ऐरावत चाँदी का अलंकार पहने उन्मत्त हुआ जाता था। चरखारी के हाथी पर सोने की मूर्ति और सोने का वृक्ष था।

मध्य भारत के बाद राजपूताने की सेना आयी। पहले जयपुर का एक भीमदेह दन्ती राज-पताका लिये उपस्थित हुआ। उसके बाद एक अश्वारोही त्रिशूल लेकर और दूसरा डंका लेकर आया। इसके पीछे 64 बख्तर पहने अच्छे योद्धा आये। फिर 5 जेवर पहने घोड़े और 3 हाथी सामने से गुजर गये। जोधपुर की तरफ से एक दल बाजेवालों का, 12 सुसज्जित घोड़े और सवार आये। फिर बूँदी ने अपना साज-सामान दिखाया। बाजे वाले, पैदल, हयदल और गजदल आये। एक सवार गंगाजल का घड़ा लिये था। 8 सजे-सजाये घोड़े, 1 बड़ा हाथी, 25 सामन्त, 9 बर्छाधारी, 4 सरदार, 40 सवार और 3 हाथी सामने से होकर निकल गये। बूँदी के बाद बीकानेर का नम्बर था। वहाँ के भी हाथी-घोड़े, पैदल, पालकी, हयदल, गजदल और रथदल अपना-अपना चमत्कार दिखा गये। इस सेना में ऊँटों की भी सेना थी, पीछे कोटा की चतुरंगिणी सेना आयी। कोटा से 15 नागा आये थे। इनकी पटाबाजी से दर्शक प्रसन्न हुए। उनके सर्वांग में विभूति, एक हाथ में तलवार और दूसरे में लाठी थी। उनके बाद भरतपुर के हाथी, अश्वारोही और उष्ट्रारोही सेना आयी। पीछे किशनगढ़ की सेना आयी। बख्तर पहने 52 सवारों को देख-देख रंगभूमि जयध्वनि से गूँज उठी। चार सवार तलवार घुमाते जाते थे। फिर अलवर के दो हाथी पताका और राजचिह्न लिये आये। हाथी के पीछे 21 ऊँट सवार और 15 घोड़े थे। फिर एक गाड़ी आयी। उसको चार हाथी खींचते थे। गाड़ी क्या थी एक अच्छी बैठक थी। उसमें गद्दी तकिया मसहरी झाड़-फानूस हाँडी गिलास लगे हुए थे। फिर एक हाथी आया जो अमूल्य आभूषणों से भूषित था। टोंक के नवाब के 5 शहनाई और त्रिकारा वाले पहले आये, फिर 100 पैदल, 3 हाथी, 20 घुड़सवार नाचते-कूदते चले गये। धौलपुर की सेना जिरह बख्तर पहने हुए थी। उसके बाद झालावार की चतुरंगिणी सेना आयी। यों राजपूताने की सेना खतम हुई। तब ब्रह्मा देश के कुछ राजाओं की सेना आयी। उसके सिपाही बड़े गम्भीर होकर चलते थे। बीच-बीच में घंटा बजता था। सैनिकों के सिर पर बाँस की टोपी और सरदारों के सिर पर बाँस का छाता था।

फिर काशीनरेश की सेना आयी। सैनिकों की पोशाक बड़ी सुन्दर थी। सबसे पहले एक हाथी आया जिसके ऊपर शहनाई बजती थी। बजाने वाले बूढ़े थे। सुर बड़ा ही मीठा था, फिर 51 सवार, 30 बाजे वाले, 100 पैदल, 70 आसा

सोंटा वाले, 20 ढाल-तलवार लिये घुड़सवार, 9 ऊँट सवार और 15 हाथी आये। काशी के बाद टिहरी की सेना आयी। वहाँ से सिर्फ 50 पैदल सिपाही आये थे।

अब पंजाब की बारी आयी। लोहारू के नवाब के 15 सिपाही मोरछल, बन्दूक आसा सोंटा और बर्छा लिये आये। फिर 2 बैलगाड़ी और ऊँट दिखायी दिये। मलेर कोटला से एक हाथी, 8 घोड़े और 30 सिपाही आये थे। फरीद-कोट का पहले एक भेरी वाला आया और चारों ओर शोर-गुल करके चला गया। 8 सिपाही सोने की बर्छी, सोने का छाता और सोने का आसा सोंटा लिये आये। फिर एक घोड़ागाड़ी, 2 हाथी और दो ऊँट की गाड़ियाँ आकर चली गयीं। नाभा राज्य के पहले 6 ऊँट और 25 सवार आये जो शरीर-रक्षक थे। इनका वीरवेश सुन्दर था। फिर 2 पालकी; काली झण्डी लिये एक हाथी और 6 सुन्दर हौदे लिये 6 हाथी आये। फिर एक राज-शकट, 2 बाज पक्षी, 4 शिकारी कुत्ते आये। सबके पीछे 50 वर्ष का बूढ़ा एक बौना आया सो सिर्फ डेढ़ हाथ लम्बा था।

झींद की सेना भी अच्छे सामान से साथ आयी। उसके हाथियों के सब अंग गहने से लदे हुए थे; यहाँ तक कि पूँछ में भी गहना था।

पटियाला की सेना का भी ठाट अच्छा था। 2 हाथी, 5 बाजे वाले, 48 आसा सोंटा वाले, 8 मशालची, 4 डोले, 6 राज-पताकाधारी, 8 घोड़े, 2 आईना ढोने वाले, 8 सोंटा वाले सवार, 6 शहनाई वाले, 1 चाँदी की गाड़ी (उसके ऊपर सोने का हाथी था), 2 रणसिंगा वाले, 25 शरीर-रक्षक और 5 हाथी एक-एक करके आये और चले गये।

सब के अन्त में कश्मीर की सेना आयी। बौद्ध लामागण बाघ, भालू और सिंह का मुखौटा पहन कर गदा घुमाते विकट नाच करते चले गये। इसको लामा का नाच कहते हैं। बहुत रुपया खर्च करके कश्मीर नरेश ने इन लामों को लद्दाख से बुलाया है। फिर 66 बाजा वाले, 68 आसा सोंटा और बन्दूकधारी और 26 अश्वारोही आये। सवारों की छाती पर सोने का कवच था। पीछे मणि-मुक्ता से सुशोभित 8 घोड़े और हाथी आये। हाथियों को कश्मीरी शाल ओढ़ायी गयी थी।"

इस प्रकार भारतीय राजा-महाराजाओं की सेना की प्रदर्शनी दो घण्टे में समाप्त हुई।"

ता० 10 जनवरी को बड़े ठाट-बाट के साथ लार्ड कर्जन दिल्ली से रवाना हो गये। उस समय दिल्ली में जो राजे-महाराजे या अफसर वर्तमान थे, वे सब लाट साहब को पहुँचाने के लिए स्टेशन तक आये थे और सबों ने आनन्दपूर्वक लाट साहब को विदा किया। बस, इस प्रकार दिल्ली दरबार का अन्तिम दृश्य समाप्त हुआ और सब लोग अपने-अपने घरों को लौटने की तैयारी करने लगे। इधर दिल्ली की भीड़ भी छँटने लगी और जनवरी मास के अन्त तक दिल्ली की पूर्व अवस्था हो गयी।

(1903)

रामावत संप्रदाय

हिन्दी साहित्य का इतिहास तीन मुख्य कालों में विभक्त किया जा सकता है—प्रारम्भ काल, मध्यकाल और उत्तरकाल। प्रारम्भ काल का आरम्भ विक्रम सम्वत् 800 के लगभग होता है, जब इस देश पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो गये थे पर वे स्थायी रूप से यहाँ बसे नहीं थे। यह युग घोर संघर्षण और संग्राम का था और इसमें वीर गाथाओं ही की प्रधानता रही। शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के समय में मुसलमानों के पैर इस देश में जमने लगे और उनका शासन नियमित रूप से आरम्भ हो गया। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में मुसलमानी शासन ने दृढ़ता प्राप्त की। इसी के साथ हिन्दी साहित्य के इतिहास का मध्य काल आरम्भ होता है जो सं० 1400 से 1700 तक रहा। यह तीन सौ वर्षों का समय मुसलमानों के पूर्ण अभ्युदय का था। इन तीन शताब्दियों में वे अपने वैभव और शक्ति के शिखर पर चढ़ गये। परन्तु मुसलमानी राज्य की नींव धर्मान्धता पर स्थित थी। उसका मुख्य उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार और प्रसार करना था। इस कारण इस राज्य काल में अन्य धर्म वालों पर घोर अत्याचार और अन्याय होते थे। धर्मान्धता के कारण मुसलमान समझते थे कि हमारी एकता, शक्ति और सम्पत्ति का स्थायित्व हमारे धर्म पर ही निर्भर है। अतएव जितना ही हम उसका अनुकरण और प्रसारण करेंगे, उतनी ही हमारी उन्नति होगी। उनकी समझ में यह नहीं आता था कि घात से ही प्रतिघात भी होता है। छोटे-से-छोटे जीव भी दबाने से, अधिक दबाने से, सीमा से अधिक दबाने से अपनी रक्षा के लिए और अपने पीड़क पर अपना क्रोध प्रदर्शित करने तथा उन्हें दण्ड देने के लिए सिर उठाते हैं। हिन्दुओं के लिए यह समय बड़ी विपत्ति का था। वे निरालम्ब, निराधार और निराश्रय हो रहे थे; उन्हें चारों ओर निराशा और अंधकार देख पड़ता था; कहीं से भी आशा और अवलम्ब की झलक नहीं देख पड़ती थी। ऐसे समय में भक्ति मार्ग के प्रतिपादक महात्माओं ने हिन्दू भारत-वर्ष की रक्षा की, उसे सहारा दिया और उसमें आशा का संचार कर उसे बचा लिया। इनमें से कुछ महात्माओं ने हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने, उन्हें एक सूत्र में बाँधकर उनमें भ्रातृत्व स्थापित करने का उद्योग किया, पर इसमें उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हुई। विजेता होने के कारण मुसलमान अहं-

मन्यता से मदान्ध हो रहे थे। हिन्दुओं के लिए किसी ऐसे ईश्वर की आवश्यकता थी जो दुष्टों का दमन करने वाला, सुजनों की रक्षा करने वाला, लोक-मर्यादा का स्थापित करने वाला तथा मनुष्यों के लिए अनुकरणीय आदर्श चरित्रों का भाण्डार हो और जिसके चरित्र उसके गुणों के प्रत्यक्ष प्रदर्शक हों। पीछे के महात्माओं ने इस भाव की पूर्ति की और उनके धार्मिक विचारों तथा आदेशों ने हिन्दुओं के हृदयों पर स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया जो अब तक ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। अतएव मध्यकाल के हिन्दी साहित्य का इतिहास विशेषकर भक्ति मार्ग के प्रतिपादक महात्माओं की कृतियों का इतिहास है। एकेश्वरवादी, रामभक्त और कृष्णभक्त इन तीन संप्रदायों ने भारतवर्ष की रक्षा ही नहीं की वरन् उत्तर भारत के साधारण जीवन के प्रतिबिम्ब स्वरूप उसके साहित्य का अभ्युदय भी किया। इस काल में अलंकारी कवियों का भी अभ्युदय हुआ। कल्पित कथाओं से हिन्दी साहित्य-शरीर की श्रीवृद्धि तथा पुष्टि करने वाले मुसलमान कवि भी इसी समय में हुए; परन्तु यह विदेशीय पौधा भारतवर्ष की प्रतिकूल भाव-वायु में परिपोषित और पल्लवित न हो सका। यह इसी काल में लगा और इसी में मुरझा भी गया। जहाँ इस काल में मुसलमानी राज्य का अम्युदय हुआ वहीं साथ-ही-साथ उसकी जड़ में घुन भी लग गया और अन्त में उत्तरकाल मे उसका समूल नाश भी हो गया, वहाँ हिन्दी साहित्य भी उन्नति के शिखर पर पहुँचकर अलंकार के मायाजाल में ऐसा फँसा कि वह अपना सच्चा स्वरूप ही भूलकर अपनी आत्मा का तिरस्कार कर बाहरी ठाट-बाट और शारीरिक सजावट-बनावट में औरंगजेब के समय के मुसलमानी राज्य की भाँति लग गया। सच्चा कविता अपने उच्च आसन से नीचे गिर पड़ी और अन्त में उत्तरकाल में एक प्रकार से विलीन हो गयी। उत्तरकाल में ब्रिटिश शासन की जड़ जमी, मुसलमानी अत्याचारों से साँस लेने का समय मिला, पूर्व और पश्चिम का सम्मेलन हुआ, आध्यात्मिकता और भौतिकता में घोर संग्राम आरम्भ हुआ। इन सब बातों का यह परिणाम हुआ कि भाव विचारादि में परिवर्तन होने लगा। कविता युग की समाप्ति होकर गद्य का आरंभ हुआ। इस काल में साहित्य-सरिता नये वेग और नये जल से पूरित हो बहने लगी।

आज हम मध्यकाल के हिन्दी साहित्य का एक अंक उपस्थित करते हैं। इन तीन सौ वर्षों में जिस साहित्य नाटक का अभिनय हुआ है उसके और-और अंकों को भी यथासमय उपस्थित करने का विचार है।

मध्यकाल में हिन्दी साहित्य-सरिता कई धाराओं में प्रवाहित हुई। उसकी

पहली धारा रामावत संप्रदाय की चर्चा को आरम्भ करने के पहले उसकी परि-स्थिति और पूर्वपीठिका का भी कुछ परिचय दे देना आवश्यक है। यद्यपि इस संप्रदाय का वास्तविक आरम्भ कबीरदास जी से होता है, परन्तु घटना-शृंखला का सूत्रपात रामानुज जी से ही होता है। अतएव हम इस प्रकरण को उन्हीं से आरम्भ करते हैं।

(1) रामानुजाचार्य

परम्परागत कथनों के अनुसार स्वामी रामानुजाचार्य का जन्म शक संवत 936 (वि० सं० 1073) में हुआ था। इनकी पूर्वावस्था काञ्जीवरम् में बीती, जहाँ वे स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद के समर्थक यादवप्रकाश के शिष्य हुए। परन्तु उन दिनों तमिल देश में वैष्णव धर्म का बहुत प्रचार हो रहा था। इसका प्रभाव रामानुज जी पर भी पड़ा। इस कारण वे अपने गुरु यादवप्रकाश को छोड़ यामुनमुनि के अनुयायी बने। यथासमय वे इन्हीं यामुनमुनि की गद्दी के उत्तराधिकारी हुए और त्रिचनापली के पास श्रीरंगम में रहने लगे। इस समय चोलवंशीय राजाओं का प्रतापादित्य प्रखर प्रकाश से प्रकाशमान हो रहा था। इस वंश के राजा स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतमत के अनुयायी थे। इस वंश के एक प्रसिद्ध राजा अधिराजेन्द्र से, जिसकी हत्या वि० सं० 1131 में हुई थी, रामानुज जी को धार्मिक विचारों में विभेद के कारण अनबन हो गयी। इसके उत्तराधिकारी राजेन्द्र कुलोत्तुङ्ग से भी रामानुज जी की न बनी। अतएव वे वि० सं० 1153 में श्रीरंगम छोड़कर होयसलवंशीय राजाओं के राज्य (आधुनिक मैसूर) में जा बसे। इस होयसल वंश का एक प्रतापी राजा विट्टिदेव या विट्टिग देव था जो इतिहास में विष्णुवर्धन नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इसकी मृत्यु वि० सं० 1198 में हुई। इसने 30 वर्ष से अधिक राज्य किया था। यह विष्णुवर्धन पहले जैन मतावलंबी था। जब रामानुज जी इसके राज्य में रहने लगे, तब उनका प्रभाव इस पर पड़ने लगा और समय पाकर वह इनका अनुयायी हो गया। इसी समय इसने अपना नाम विट्टिगदेव से बदल कर विष्णुवर्धन रख लिया। इसके समय में अनेक अच्छे-अच्छे मंदिर बने और वैष्णव धर्म की बहुत कुछ श्रीवृद्धि हुई। इसी के राज्य में रहकर वि० सं० 1194 में 121 वर्ष की अवस्था में रामानुज जी का स्वर्गवास हुआ। प्रपन्नामृत ग्रन्थ के अनुसार रामानुज जी ने वि० सं० 1144 में यादवाचल पर नारायण की मूर्ति स्थापित की थी। इनके बनाये हुए बहुत-से ग्रन्थ बतलाये जाते हैं जिनमें मुख्य वेदांतदीप, वेदांतसार, वेदार्थ संग्रह तथा ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्य हैं। ये सब ग्रन्थ संस्कृत में हैं।

रामानुज जी के दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार उपनिषद् हैं। रामानुज जी के अनुसार अन्तर्यामी ब्रह्म समस्त सृष्टि का कर्त्ता है। वही भोक्ता, भोग्य और प्रवर्त्तक है। वह ब्रह्म सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और करुणामय है। समस्त संसार ब्रह्ममय है, उससे बाहर कुछ भी नहीं है। परन्तु इस अद्वैतवाद में, इस एकत्व में अनेकत्व की मात्रा वर्तमान है। इस संसार की जीवात्माएँ भिन्न-भिन्न श्रेणी तथा चेतन की हैं, तथा संसार में अचेतन पदार्थ भी विद्यमान हैं जिनका ब्रह्म से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा शरीर का आत्मा से है। अतएव आत्माएँ तथा समस्त भौतिक पदार्थ उसी के अन्तर्गत हैं, उससे अलग उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसीलिए न उनका आदि है और न अन्त। कल्पांत में जब प्रलय होता है, तब भौतिक पदार्थ सूक्ष्म रूप में वर्तमान रहते हैं। उस समय उनमें वे गुण नहीं रहते जिनके कारण हमें उनका अनुभव हो सकता है। उस समय आत्माएँ शरीर से भिन्न हो जाती हैं और यद्यपि उनमें ज्ञान की शक्ति अन्तर्हित रहती है, पर वे उसे प्रत्यक्ष करने में असमर्थ होती हैं। इस अवस्था से पुनः ब्रह्म की इच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, सूक्ष्म पदार्थ स्थूल रूप धारण करते हैं और आत्माएँ अपनी ज्ञानशक्ति को प्रत्यक्ष करने लगती हैं तथा अपने-अपने कर्म के अनुसार शरीर धारण करती हैं। प्रलय की अवस्था में ब्रह्म कारण अवस्था में था, अब सृष्टि के पुनः उत्पन्न होने पर वह कार्य अवस्था में हो गया।

यही रामानुज जी के मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर उन्होंने अपने वैष्णव मत का मन्दिर खड़ा किया। उनका कहना है कि ब्रह्म पाँच मुख्य रूपों में आविर्भूत होता है। पहला रूप 'पर' है जिसमें वह वैकुण्ठ में शेषनाग पर विराजता है और लक्ष्मी, भू तथा लीला से घिरा हुआ और शङ्ख चक्रादि धारण किये हुए होता है। उस समय मुक्त आत्माओं को उसके दर्शन होते हैं। उसका दूसरा रूप 'व्यूह' है जो वह सृष्टि की उत्पत्ति आदि के लिए धारण करता है। यह रूप चार प्रकार का होता है—अर्थात् ज्ञान और बल का प्रदर्शक संकर्षण रूप, ऐश्वर्य और वीर्य का प्रदर्शक प्रद्युम्न रूप, शक्ति और तेजस का प्रदर्शक अनिरुद्ध रूप और ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेजस इन छहों गुणों का प्रदर्शक वासुदेव रूप। तीसरा मुख्य रूप वह है जिसमें वह पृथ्वी पर अवतार लेता है। चौथा मुख्य रूप अन्तर्यामी का है जिसमें वह मनुष्यों के हृदयों में स्थित है, योगियों को दर्शन देता है तथा महायात्रा में आत्माओं का साथी है। पाँचवें मुख्य रूप में वह मूर्तियों और प्रतिमाओं में स्थित है। रामानुज जी के अनुसार मनुष्य की आत्माएँ ईश्वर का अंश हैं जो उसी से प्रेरित और शासित

होती हैं। आत्माएँ तीन श्रेणियों में विभक्त हैं—नित्य, मुक्त और बद्ध। बद्ध आत्माओं में से कुछ तो सांसारिक वैभव के पीछे पड़ी हैं, कुछ स्वर्गीय सुख की खोज में हैं और कुछ मुक्त होना चाहती हैं। इस अन्तिम श्रेणी की आत्माओं के लिए अपना मनोरथ सिद्ध करने के दो उपाय हैं—एक तो कर्मयोग और तदनन्तर ज्ञानयोग द्वारा भक्ति की प्राप्ति; और दूसरा प्रपत्ति मार्ग। कर्मयोग में बिना किसी प्रकार की कामना अर्थात् बिना फल प्राप्ति की इच्छा किये अपने-अपने धर्म या कर्त्तव्य का पालन करना आवश्यक है। इसके मुख्य कार्य देवपूजा, तपश्चर्या, यज्ञ, दान और तीर्थयात्रा कहे गये हैं। इस प्रकार कार्य करने से मनुष्य ज्ञानयोग का अधिकारी हो जाता है जिससे उसे अपने आपका ज्ञान हो जाता है और तब वह भक्ति प्राप्त कर सकता है। रामानुज जी के अनुसार भक्ति परमानन्ददायिनी अनुरक्ति नहीं है, वरन् उसका तात्पर्य ब्रह्म का निरन्तर ध्यान करना है। इसकी प्राप्ति में पवित्र भोजन, जितेन्द्रियता, पूजन, भजन, दान, दया, अहिंसा, सत्य आदि सहायक होते हैं। इसके अन्त में परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान और उसकी प्राप्ति हो जाती है। प्रपत्ति मार्ग के मुख्य अंग शरणागत होने का भाव अविरोध, त्राण में विश्वास, ब्रह्म की दया पर भरोसा आदि हैं। भक्ति मार्ग अथवा प्रपत्ति मार्ग से ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। जब एक मार्ग से यह न हो सके, तब दूसरे मार्ग का अवलंबन करना चाहिये।

इन दो सिद्धान्तों के कारण रामानुज जी के अनुयायियों में बड़ा मतभेद हुआ। कुछ लोगों का कहना था कि प्रपत्ति मार्ग से ईश्वर की प्राप्ति अवश्य हो सकती है, पर इसका अवलंबन तभी करना चाहिये जब जीव भक्ति मार्ग का आश्रय लेने में असमर्थ हो। दूसरा दल कहता था कि ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र उपाय प्रपत्ति मार्ग है। भक्ति मार्ग में भक्त के कार्यशील होने की आवश्यकता मानी गयी है और प्रपत्ति मार्ग में वह ईश्वर के शरणागत होकर अपने को उसकी इच्छा और दया पर छोड़ देता है। उदाहरण के लिए यह बताया गया है कि बन्दर का बच्चा अपनी माता के शरीर से चिपटा रहता है और वह जहाँ चाहती है, उसे ले जाती है तथा उसकी रक्षा करती है। परन्तु फिर भी बच्चे को अपनी माँ से चिपटा रहना पड़ता है। यही अवस्था भक्ति मार्ग के अनुयायियों की है। वे ईश्वर के शरणागत रहते हैं, परन्तु स्वयं उनको भी मर्कटवत् उद्योगशील रहना पड़ता है। प्रपत्ति मार्ग के अनुयायी बिल्ली के बच्चे की भाँति होते हैं। उनकी माँ उन्हें मुँह में दबा कर जहाँ चाहती है, ले जाती है। इस पथ के पथिकों की अवस्था मार्जारवत् होती है। वे अपने को ईश्वर की अनुकम्पा पर छोड़ देते हैं

और उसी पर अवलंबित रहते हैं। अतएव यह सिद्धान्त निकला कि भक्ति मार्ग जटिल और प्रपत्ति मार्ग सरल है।

इस विभेद के कारण इस सम्प्रदाय के लोगों में और भी अनेक भेद उत्पन्न हो गये। भक्ति-मार्ग के अनुयायियों का आग्रह था कि परम मंत्र के अधिकारी केवल ब्राह्मण हैं, दूसरे वर्ण वालों को 'ॐ' रहित मंत्र का ही उपदेश दिया जा सकता है। प्रपत्ति मार्ग के अनुयायी इस सिद्धान्त के विरुद्ध थे। वे सबसे सम-व्यवहार करना चाहते थे। ऐसा जान पड़ता है कि स्वयं रामानुज जी भक्ति-मार्ग के अनुयायियों के पक्ष में थे। इसीलिए ब्राह्मणेतर वर्ण वालों के लिए उन्हें एक तीसरे मार्ग का आश्रय लेना पड़ा था। इसका नाम उन्होंने 'आचार्यभिमान योग' रखा था। इसका अनुयायी अपने आचार्य पर मुक्ति के लिए निर्भर रहता था और आचार्य इसके लिए सब कृत्यों का प्रतिपालन स्वयं करता था। इससे स्पष्ट है कि रामानुज जी के समय में ही इस संप्रदाय में जाति-पाँति के बन्धन लगने लग गये थे और धर्म का प्रचार संस्कृत द्वारा हो अथवा देश-भाषाओं द्वारा, इस सम्बन्ध में भी मतभेद हो चला था। इससे एक बात और प्रकट होती है। वह यह कि दक्षिण भारत में ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर जातियों का झगड़ा कई शताब्दी पुराना है। रामानुज जी इन झगड़ों को शान्त कर हिन्दुओं को भक्ति के सूत्र में बाँध कर एकता स्थापित करने में समर्थ नहीं हुए थे, वरन् उनके कारण विभेद की मात्रा अधिक हो गयी थी। यह उनके अनुयायियों के भाग्य में था कि वे इन बन्धनों से उत्तरी भारतवर्ष के हिन्दुओं को मुक्त कर उन्हें एकता के सूत्र में बाँध सके थे। कदाचित् वे घटनाएँ, विशेषतः राजनैतिक घटनाएँ, उनके अनु-यायियों के समय में हुई थीं। उस समय वे उनका अनुमान करने में भी असमर्थ थे, अथवा उत्तर भारत की अवस्था तथा मुसलमानों के बढ़ते हुए अत्याचारों से भी परिचित न थे।

भक्तों के लिए रामानुज जी ने ये नियम बनाये थे कि वे शरीर पर शंख-चक्र की छाप तथा मस्तक पर तिलक धारण करें, महामंत्र का जप करें, भक्तों की सेवा करें, एकादशी का व्रत रखें, चरणामृत ग्रहण करें, देवमूर्ति पर तुलसी चढ़ावें और केवल भोग लगाकर ही भोजन ग्रहण करें। कुछ लोगों का कहना है कि इन बातों को इन लोगों ने क्रिस्तानों से सीखा था। परन्तु इसका कोई स्पष्ट और दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता कि ये बातें यहाँ पहले से वर्तमान न थीं और दक्षिण भारत में प्रचलित क्रिस्तान धर्म के संसर्ग से ही वैष्णव धर्म में उनका आयोजन हुआ था। केवल समानता ही इस बात का एकमात्र प्रमाण नहीं हो सकता कि

एक मत में अनेक बातों का प्रचार दूसरे मत के आधार पर ही हुआ है । जो कुछ हो, इस विवाद में कुछ विशेष महत्त्व नहीं है । यहाँ अब केवल इतना जान लेना आवश्यक है कि रामानुज जी ने अपने संप्रदाय में न कृष्ण पूजा और न राम पूजा का कोई आयोजन आरम्भ किया था । उनके आराध्यदेव केवल नारायण थे । राम पूजा का आरम्भ आगे चलकर उनकी शिष्य परम्परा ने आरम्भ किया था ।

रामानुज जी के शिष्य देवाचार्य, उनके हरिआनन्द, उनके राघवानन्द और राघवानन्द के रामानन्द हुए । इस शिष्य-परम्परा में रामानन्द ही परम प्रसिद्ध हुए । राघवानन्द जी रामानुज जी के मत के पूर्ण रूप से प्रतिपादक थे । समस्त भारतवर्ष की यात्रा करके वे काशी में आ बसे थे और यहीं उन्होंने रामानन्द को अपना शिष्य बनाया था ।

(2) रामानन्द जी

रामानुज के स्वर्गवासी होने के 162 वर्ष पीछे वि० सं० 1356 में रामानन्द जी का जन्म प्रयाग में हुआ था । इनके पिता पुण्य सदन (या भूरि कर्मा या देवल) कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इनकी माता का नाम सुशीला था । रामानन्द जी का पहला नाम रामदत्त था । कहते हैं कि इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी और बारह वर्ष की अवस्था में ही ये सब शास्त्रों को पढ़कर पूर्ण पंडित हो गये थे । प्रयाग में अपनी शिक्षा समाप्त कर दर्शन शास्त्र का विशेष अध्ययन करने के लिए वे काशी चले आये थे । यहाँ वे एक स्मार्त अध्यापक से, जो स्वामी शंकराचार्य जी के अद्वैत मत का अनुयायी था, पढ़ने लगे । एक दिन अकस्मात् इनकी राघवानन्द जी से भेंट हो गयी । राघवानन्द ने इन्हें देखते ही इस बात पर दुःख प्रकट किया कि रामानन्द को अब इस पृथ्वी पर थोड़े ही दिन और रहना है और वह अभी तक हरि की शरण में नहीं आया है । रामानन्द ने जाकर अपने गुरु से यह बात कही । गुरु ने कहा कि यह भविष्यवाणी सच्ची है और मैं कोई ऐसा उपाय नहीं बता सकता जिससे तुम्हारी अल्पायु दूर हो और यह भावी संकट टल जाय । तुम राघवानन्द की ही शरण में जाओ, कदाचित् वे तुम्हारी रक्षा कर सकें । रामानन्द ने इस उपदेश के अनुसार राघवानन्द से मंत्र ग्रहण किया । उसी समय इनका नाम रामदत्त से बदलकर रामानन्द रखा गया । राघवानन्द ने इन्हें योगाभ्यास करना और समाधिस्थ होना सिखाया । जब मृत्यु का समय आया तब रामानन्द समाधिस्थ हो गये । उस घड़ी के टल जाने पर वे उठ बैठे । अब से उनकी श्रद्धा राघवानन्द पर बहुत बढ़ गयी और वे उनकी सेवा शुश्रूषा करने तथा

उनसे उपदेश ग्रहण करने में दत्तचित्त हुए। गुरु ने भी प्रसन्न होकर उन्हें दीर्घ-जीवी होने का आशीर्वाद दिया। बहुत दिनों तक गुरु की सेवा कर रामानन्द यात्रा करने के निमित्त बाहर निकले। इसके अनन्तर ये पुनः काशी लौट आये और पंचगंगा घाट पर रहने लगे जहाँ उनकी पादुका अब दिखायी जाती है।

श्री वैष्णव संप्रदाय में ब्राह्मण ही आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं और खान-पान के सम्बन्ध में बड़े कड़े नियमों का पालन कराया जाता है। जब रामानन्द यात्रा से लौटे, तब वे पुनः अपने गुरु के स्थान में पूर्ववत् रहने लगे। परन्तु राघवानन्द के अन्य शिष्यों और अनुयायियों ने कहा कि यात्रा में बहुत काल तक रहने के कारण रामानन्द ने खान-पान के नियमों का पूर्णतया पालन नहीं किया होगा, अतएव जब तक वे प्रायश्चित्त न कर लें तब तक सम्प्रदाय में सम्मिलित न हों। रामानन्द ने इसे स्वीकार नहीं किया। अन्त में इनके गुरु राघवानन्द को यह व्यवस्था देनी पड़ी कि रामानन्द अलग रहें और यदि चाहें तो अपना संप्रदाय अलग स्थापित करें। रामानन्द ने अपने गुरु के वचनों का अक्षरशः पालन किया। वे अपने अनुयायियों को लेकर अलग हो गये और रामावत सम्प्रदाय के संस्थापन में दत्तचित्त हुए। इस साधारण घटना का रामानन्द पर तो प्रभाव पड़ा ही, परन्तु इसने उत्तर भारत के धार्मिक विचारों में भी विशेष परिवर्तन किया। रामानुज नारायण के उपासक थे और उनकी धर्म-व्यवस्था में वर्ण धर्म का स्थान पूर्ववत् ही था। रामानन्द के दार्शनिक विचार तो रामानुज के अनुसार ही थे, पर आचार-विचार की व्यवस्था में कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया था। यह नहीं कहा जा सकता कि रामानन्द ने वर्णाश्रम के बन्धनों को बिलकुल तोड़ दिया था, क्योंकि इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि शिष्य बनाने में उन्होंने जाति-पाँति का कोई विचार नहीं किया था। इस सम्बन्ध में उनका यही सिद्धांत जान पड़ता है कि—"जाति-पाँति पूछै नहिं कोई। हरि का भजै सो हरि का होई।" चाहे रामानन्द ने स्वयं जाति-पाँति के बन्धनों को तोड़ा हो या न तोड़ा हो, पर इसमें संदेह नहीं है कि उन्होंने रामानुज के श्री वैष्णव सम्प्रदाय से खान-पान और जाति-पाँति के बन्धनों को बिल्कुल तोड़ डाला था। इन बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि रामानन्द इन बन्धनों के सम्बन्ध में कम-से-कम दृढ़ नहीं थे। इनके रामावत सम्प्रदाय में मनुष्य सांसारिक संकटों तथा आवागमन के कष्टों से ईश्वर की भक्ति करके बच सकता है। यह भक्ति राम की उपासना से प्राप्त हो सकती है और इस उपासना के अधिकारी मनुष्य मात्र हैं। जाति-पाँति का भेद उसमें किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित नहीं कर

सकता। सारांश यह है कि रामानुज का सम्प्रदाय बहुत संकुचित था; रामानन्द ने उसकी सीमा बढ़ाकर उसे अधिक उदार बनाया; और उनके शिष्यों ने तो उसे पूर्णतया उदार कर दिया।

कहते हैं कि रामानन्द ने 111 वर्ष की आयु भोगी। इनका गोलोकवास वि० सं० 1467 में हुआ। हमें कई कारणों से इस संवत् की सत्यता में संदेह होता है। यदि यह घटना 10-15 वर्ष पहले हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

रामानन्द के जीवन-काल के 100 वर्षों में भारतवर्ष का राजनैतिक आकाश-मण्डल भयानक तथा प्रलयकारी मेघों से घिरा रहा। प्रायः वज्रपात होता था और हिन्दू प्रजा को असीम कष्ट भोगना पड़ता था। इसमें संदेह नहीं कि बीच-बीच में थोड़ी देर के लिए सूर्य देव के सुखद दर्शन हो जाते थे, पर यह अवस्था क्षण-स्थायी ही होती थी, आकाश प्रायः मेघाच्छन्न ही रहता था। रामानन्द के जन्मकाल में अलाउद्दीन खिलजी (वि० सं० 1353-1373) दिल्ली के राज्यसिंहासन पर विराजता था। इस अत्याचारी, अन्यायी, स्वार्थी, इंद्रिय-लोलुप और धर्मान्ध हिन्दू-विद्वेषी बादशाह के समय में रणथंभौर के किले पर (वि० सं० 1357) आक्रमण किया गया था। इस युद्ध में शरणागत धर्म के पालन में वीर शिरोमणि हम्मीरदेव अपना राजपाट नष्ट कर स्वर्ग को सिधारे थे और उनका सारा रनिवास अग्निदेव की शरण में जाकर अपनी मान-मर्यादा की रक्षा कर सका था। अभी रामानन्द चार ही वर्ष के थे, जब चित्तौड़ की पद्मावती रानी के रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर इस दुराग्रही बादशाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया था। सती साध्वी, पतिपरायणा क्षत्राणी रानी ने अपनी जान पर खेल कर अपने पति को कारागार से मुक्त किया था, पर अंत में पति के युद्ध में मारे जाने पर रानी ने जौहर करके अपने सतीत्व की रक्षा की थी। सारे रनिवास के साथ अपने को अग्निदेव को सौंप रानी पद्मावती भारतीय देवियों की कुल-कीर्ति को चिरस्थायिनी कर गयी। छह सौ वर्ष के अनंतर इन घटनाओं का वर्णन पढ़कर अब भी भारतीय हृदय विह्वल हो उठता है और शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। क्या बालक रामानन्द ने कुछ बड़े होने पर इन घटनाओं का वृत्तांत न जाना होगा और उनके कोमल दयार्द्र हृदय पर इनका चिरस्थायी प्रभाव न पड़ा होगा? पर यहीं इन रोमांचकारी हृदय विदारक घटनाओं का अन्त नहीं होता। सं० 1367 में रामेश्वर में पहले-पहल मस्जिद बनवायी गयी। इतिहास लेखकों का कथन है कि अलाउद्दीन के समय में कोई सरदार बादशाह से बिना पूछे अपने बेटे या बेटी का विवाह नहीं कर सकता था। लोगों की जागीरें छीन ली गयी थीं। भूमि-कर

बढ़कर उपज के आधे तक पहुँच गया था। प्रजा यहाँ तक दीन हो गयी थी कि उसे पेट भर अन्न मिलना कठिन हो गया था। हिन्दू इतने धनहीन हो गये थे कि चढ़ने को घोड़ा और पहनने को अच्छा कपड़ा तक किसी के पास नहीं रह गया था। हीरे-मोती और सोने-चाँदी की कौन कहे, साधारण धातु के पात्र तक उनके घर में नहीं रहने पाते थे। कुतुबुद्दीन (वि० सं० 1373-1378) के समय में देवगिरि का राजा हरपालदेव पकड़ कर दिल्ली लाया गया था और उसकी खाल खिचवाकर उसमें भूसा भरा गया था। खुसरो ने जो वास्तव में हिन्दू था, अपने स्वामी को मार कर और राजसिंहासन पर बैठकर इन अत्याचारों का बदला लेना चाहा, पर साधारण प्रजा और उच्चवंशीय लोग मृतप्राय हो रहे थे। उनका साहस, उनका धैर्य, उनकी आशा सब नष्ट हो चुकी थी। किसी ने खुसरो का साथ न दिया। मुहम्मद तुगलक (वि० सं० 1382-1408) के समय में मुसलमानी राजधानी दिल्ली से उठाकर दौलताबाद में स्थापित की गयी। प्रजा पर घोर अत्याचार और अन्याय किये गये। एक बार दिल्ली से सारी प्रजा दौलताबाद भेजी गयी; पर उसके न बसने पर सबको लौटना पड़ा तथा और-और प्रांतों से प्रजा को लाकर पुनः दिल्ली बसाने का उद्योग किया गया। ये सब भयानक और रोमांचकारी घटनाएँ रामानन्द के बालकाल और युवावस्था की थीं। वृद्धावस्था में तैमूर का आक्रमण हुआ, दिल्ली जलाई गयी, कत्ले आम हुआ, खूब लूट पाट मची, स्त्रियाँ, बच्चे और कारीगर पकड़-पकड़कर समरकंद भेजे गये। लौटते समय मेरठ, हरद्वार आदि स्थानों को नष्ट करता हुआ और प्रजा की हत्या करता हुआ तैमूर भारतवर्ष से चला गया। ये सब घटनाएँ किसका हृदय दुखित नहीं कर सकतीं? तिस पर एक दयामय परोपकारी महात्मा पर इनका कितना प्रभाव पड़ा होगा, यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है। इन कष्टों का निवारण कैसे हो सकता था, इन आपदाओं से रक्षा कैसे हो सकती थी। प्रजा में उत्साह, शक्ति, सामर्थ्य, धन, सबका ह्रास हो गया था। उनका कोई सहायक नहीं देख पड़ता था, कोई उनको धैर्य दिलाने वाला तक न था। ऐसे समय में रामानन्द जी ने अपने इष्टदेव राम का आश्रय लिया और भारतवासियों को उस भक्तभयहारी, दुर्जन संहारी, सुजन प्रतिपालक की शरण जाने का उपदेश दिया। यह समय जाति-पाँति पूछने का नहीं था, यह तो 'हरि को भजै सो हरि का होई' का समय था। रामानन्द जी ने जाति-पाँति के बन्धन ढीले कर दिये और राम नाम के महामंत्र का उपदेश देकर लोगों को ढाढ़स बंधाया। पर समय अनुकूल नहीं था। अतएव उस समय उनके उपदेश का कुछ विशेष प्रभाव न पड़ा। अभी हिन्दुओं को और

कष्ट सहना था, अभी उनके पूर्व संचित कर्मों का प्रायश्चित्त पूर्णतया नहीं हो पाया था। पर बीज बो दिया गया। उनके वृक्ष की शाखाएँ काट कर रामानन्द जी के शिष्यों ने नये वृक्षों में पैबन्द लगाने का उद्योग किया। कुछ काल तक ये नये वृक्ष हरे-भरे रहे, पर लोगों ने इनका आश्रय न लिया। रामानन्द जी की मृत्यु के कोई 150 वर्ष पीछे उनके शिष्य सम्प्रदाय में से गो० तुलसीदास ने इस वृक्ष को अपनी सुधामयी वाणी से पुनः पल्लवित, पुष्पित और फलान्वित किया।

रामानन्द जी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने जो कुछ लिखा, संस्कृत ही में लिखा। यही कारण है कि उनको पूरी-पूरी सफलता न प्राप्त हो सकी। हिन्दी में उनके लिखे दो पद मिलते हैं—एक तो सिक्ख गुरुओं के ग्रन्थ साहब में दिया है और दूसरा हमें डॉ० ग्रियर्सन साहब की कृपा से प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ साहब में जो पद दिया है, वह यह है—

कत जाइये रे घर लागो रंग। मेरा चित न चलै मन भयो पंग ॥
एक दिवस मन भई उमंग। घसि चन्दन चोआ बहु सुगंध ॥
पूजन चाली ब्रह्म ठायँ। सो ब्रह्म बतायो गुरु मंत्रहि (मनहि) माँहि ॥

जहँ जाइये तहँ जल परवान। तूँ पूर रह्यो है सब समान ॥
वेद पुरान सब देखे जोय। उहाँ तो जाइये जो इहाँ न होय ॥
सतगुर मै बलिहारी तोर। जिन सकल बिकल भ्रम काटे मोर ॥
रामानन्द स्वामी रमत ब्रह्म। गुरु का सबद काटै कोटि करम ॥

इस पद में ईश्वर की व्यापकता का उल्लेख है। दूसरा पद जो डॉ० ग्रियर्सन साहब से मुझे मिला है, हनुमान जी की आरती का है। वह इस प्रकार है—

आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्ट दलन रघुनाथ कला की ॥
जाके बल गरने महि काँपे। रोग सोग जाके सिमाँ न चाँपे ॥
अंजनी सुत महा बल दायक। साधु सन्त पर सदा सहायक ॥
बाँएँ भुजा सब असुर सँघारी। दहिन भुजा सब सन्त उबारी ॥
लछिमन धरनि में मूर्छि पर्‌यो। पैठि पताल जमकातर तोर्‌यो ॥
आनि सजीवन प्रान उबार्‌यो। मही सबन कै भुजा उपार्‌यो ॥
गाढ़ परे कपि सुमिरौं तोहीं। होहु दयाल देहु जस मोहीं ॥
लंका कोट समुन्दर खाई। जात पवनसुत बार न लाई ॥
लंक प्रजारि असुर सब मार्‌यो। राजा रामजि के काज सँवार्‌यो ॥

घंटा ताल झालरी बाजै । जगमग जोति अवधपुर छाजै ।।
जो हनुमानजि की आरती गावै । बसि बैकुंठ परम पद पावै ।।
लंक विधंस कियो रघुराई । रामानन्द (स्वामी) आरती गाई ।।
सुर-नर मुनि सब करही आरती । जै जै जै हनुमान लला की ।।

इन दो पदों से दो भिन्न-भिन्न प्रकारों का निष्कर्ष निकाला जा सकता है। पहले पद से यह अनुमान किया जा सकता है कि रामानन्द जी मूर्तिपूजा के विरोधी थे; परन्तु दूसरे पद में हनुमान की वन्दना करके उन्होंने इस भाव को निर्मूल कर दिया है। इन दो पदो से रामानन्द के सिद्धान्तों को खोज निकालना उपयुक्त न होगा। इनका महत्त्व इतना ही है कि ये पद हिन्दी में हैं और जहाँ तक मैं जानता हूँ, पहले-पहल प्रकाशित हो रहे हैं। कविता की दृष्टि से भी इन पर विचार करना व्यर्थ है। रामानन्द जी कवि नहीं थे। वे रामोपासक भक्त थे।

रामानन्द जी के मुख्य बारह शिष्य हुए—अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरसरानन्द, नरहरियानन्द, पीपा, कबीर, भावानन्द, सेना, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी। इनमें से अन्तिम दो तो स्त्रियाँ थीं और शेष दस पुरुष थे। पद्मावती के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। सुरसरी सुरसरानन्द की धर्मपत्नी थी। शेष दस में से कबीरदास सबसे प्रसिद्ध हुए।

(1924)

भाग पाँच

जीवनी

1. शाक्यवंशीय गौतमबुद्ध (प्रकाशित पाण्डुलिपि, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग 3)
2. शमशुल उल्मा मौलवी सैयद विलग्रामी (हस्तलिखित, 1900, जून, सरस्वती में प्रकाशित)
3. पण्डितवर, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर (हस्तलिखित, 1900, सितम्बर सरस्वती में प्रकाशित)
4. दानी जमसेटजी नौसेरवाँजी टाटा (हस्तलिखित, 1900, नवम्बर, सरस्वती में प्रकाशित)
5. मुद्राराक्षस (हस्तलिखित, भाषा सार संग्रह, भाग 2 में प्रकाशित)
6. स्वर्गवासी वृजमोहन लाल (हस्तलिखित)

शाक्यवंशीय गौतमबुद्ध

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास या इस पुण्यभूमि के किसी व्यक्ति-विशेष का जीवन-चरित्र जानने के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम तो यहाँ प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों का पूर्ण अभाव देख पड़ता है जिससे यह अनुमान होता है कि यहाँ वालों में इस प्रकार के ग्रन्थों के लिखने की प्रथा ही नहीं थी अथवा ग्रन्थ लिखे गये हों परन्तु क्रूर काल के प्रभाव से जो आपत्तियाँ और भयानक तथा सर्वनाशक आक्रमण इस मन्दभाग्य देश को सहन करने पड़े उनमें इनका नाश हो गया हो किन्तु रामायण, महाभारत, राजतरङ्गिणी आदि इतिहास रूपी जो ग्रन्थ अब तक विद्यमान हैं उनके देखने से यह निश्चय करके कहा जा सकता है कि भारतवासियों ने गुणग्राहकता की ओर अधिक ध्यान देकर 'इतिहास' का आदर-सत्कार ही नहीं किया। पुन: प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों को केवल कविता में लिखकर कवि ने निज कवित्व शक्ति के प्रभाव से पाठकों में विचित्र रसों का सञ्चार कर एक कृत्रिम मानसिक अवस्था का उत्पन्न करना अपना मुख्य उद्देश्य माना अतएव ऐसे ग्रन्थों से वास्तविक अवस्था का पूर्णतया ज्ञान होना सर्वथा असम्भव-सा जान पड़ता है। इस प्रकार से प्राचीन इतिहास या व्यक्ति-विशेष के विषय में कुछ जानने का यह पहला मार्ग सर्वथा विश्वासदायक नहीं है। दूसरा मार्ग प्राचीन समय के इतिहास जानने का दन्तकथाए हैं, परन्तु इस पर भी पूरा-पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता क्योंकि समय के अनन्तर और क्रमानुसार असंख्य व्यक्तियों द्वारा सुने जाने के कारण न जाने उनकी सत्यता में कहाँ तक सत्य का अंश बाकी रह गया हो। तीसरा उपाय प्राचीन समय के दानपत्र, ताम्रपत्र तथा शिला-लेखादि हैं। प्राचीन इतिहास का अधिकांश सच्चा पता इन लेखों से चल सकता है। इससे आशा है कि यदि तीनों उपाय का आश्रय लिया जाय तो उन्नीसवीं शताब्दी के उज्ज्वल बुद्धि की प्रखरतम किरणें वृथा और अप्रामाणिक वृत्तान्त के तिमिर को नाश कर एक सच्चा इतिहास बना लें।

भारतवर्ष को यदि हम इस जगत् का मुकुट कहें तो स्यात् अत्युक्ति न होगी क्योंकि इस देश को वीर, विद्वान्, भाग्यशाली, समरविजयी, धार्मिक, उदार और सत्यप्रिय पुरुषों और वीरा, पण्डिता, सती, साध्वी रमणियों को निज अंक में पालने और आधुनिक संसार को सभ्य और शिक्षित बनाने का गौरव प्राप्त है।

इसी रत्नगर्भा वसुन्धरा के अगणित रत्नों में से अलौकिक महानुभाव बुद्धदेव का नाम शिक्षित और धार्मिक समाज में प्रसिद्ध है।

ईस्वी से 600 वर्ष पहले भारतवर्ष में कई प्रसिद्ध वंशों का राज्य था। गङ्गा के दक्षिण भाग में और सोन नदी के दोनों ओर मगध वंश का उन्नतिशील आदित्य निज देदीप्यमान किरणों से प्रज्ज्वलित हो रहा था। गङ्गा के उत्तर ओर लिक्षभ वंश का राज्य फैला हुआ था। राजगृह मगधवंशजों की और वैशाली लिक्षभ वंशजों की राजधानी थी। गङ्गा के पूर्व ओर अङ्ग वंश का राज्य था जिसकी राजधानी चम्पा नगरी थी। उत्तर-पश्चिम की ओर कोशल राज्य और उससे आगे श्रावस्ती राज्य था। कोशल राज्य से कुछ पूर्व[1] बानगङ्गा नदी के एक ओर शाक्यवंश और दूसरी ओर कोलीवंश के राजाओं का अधिकार था। शाक्यवंश के राजाओं की राजधानी कपिलवस्तु थी जहाँ शाक्यवंश दिवाकर गौतमबुद्ध का जन्म हुआ था।

यह कपिलवस्तु नगर किस स्थान पर है इसका बहुत दिनों तक पता नहीं लगा था, केवल अनुमान से ही काम चलता था। मार्च सन् 1895 ई० में बाबू जसकरनसिंह से खबर पाकर डॉक्टर ए० फुहरर एक स्तूप को जो निगाली सागर के तट पर मिला, देखने गये। निगाली सागर निगलिवा ग्राम तोहलिवा तहसील जिला बतौल में स्थित है। तोहलिवा तहसील "बङ्गाल और नार्थवेस्टर्न रेलवे" के उस्काबाजार स्टेशन से 30 मील उत्तर-पूर्व की ओर है। इस निगाली सागर के तट पर जो स्तूप मिला वह बुद्ध[2] कोनाकमन (कनक मुनि) का निर्वाण स्तूप था और उस पर अशोक का खुदवाया हुआ एक शिलालेख भी था। इस स्तूप के मिलने पर और[3] हुवेन्थशांग के[4] सियाकू ग्रन्थ के देखने से डॉक्टर फुहरर ने

1. इसका प्राचीन नाम "रोहिणी" लोग बताते हैं। आधुनिक ग्रन्थकारों ने इसे "कोहाना" कहा है परन्तु उस स्थान पर अब तक इसे लोग "बानगङ्गा" कहते हैं।
2. बौद्धधर्म की कथाओं के अनुसार शाक्यमुनि गौतमबुद्ध के पहले 34 बुद्ध और हो चुके हैं जिनमें से 23 वें ये कनकमुनि हुए। बौद्धधर्मावलम्बियों का यह विश्वास है कि नियत समय के अनन्तर बुद्धदेव जन्म लेकर निज शिक्षा से जगत् का उद्धार करते हैं।
3. चीनी यात्री हुवेन्थशाङ्ग 600 ई० में भारतवर्ष में आया था। इसने 'सियाकू' नाम की निज यात्रा लिखी है जिससे भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास और विशेषकर बौद्धधर्म के इतिहास का पता चलता है।
4. Beal's Edition Vol. 11 p. 19.

यह अनुमान किया कि कपिलवस्तु स्यात् निगलिवा से 5, 6 मील उत्तर-पश्चिम की ओर होगी। जब ये कोनाकमन स्तूप की खोज कर रहे थे उस समय इन्होने यह सुना कि इस स्थान से कुछ दूर एक और स्तूप है, परन्तु उन दिनों नेपाल की तराई में काल पड़ने के कारण डॉक्टर महाशय विशेष उद्योग न कर सके पर तो भी बिना किसी सहायता के जहाँ तक बन पड़ा इधर-उधर घूमे और अन्त में पदरिया ग्राम में जो भगवानपुर तहसील से 2 मील उत्तर और निगलिवा ग्राम से 15 मील उत्तर-पूर्व की ओर है, उस स्तूप को पाया। इस मुख्य स्तूप के निकट अन्य चार स्तूपों का खँडहर भी इन्हें मिला। मुख्य स्तूप 10 फीट पृथ्वी के ऊपर था। कूड़ा-करकट हटवाने पर यह 22 फीट 4 इञ्च ऊँचा निकला और इस पर यात्रियों के[1] लेख मिले जिनमें से एक का समय 700 ई० था। इस स्तूप पर 9 फीट 8 इञ्च की ऊँचाई पर मागधी भाषा में एक लेख खुदा हुआ था। यह स्तम्भ छिन्नशिखासूचीवत् है और धरातल में इसकी परिधि 8 फीट 3 इञ्च, लेख के निकट 7 फीट 5 इञ्च और शिखा पर 6 फीट 6 इञ्च है। इस पर लेख यह है—

1. देवन-पियेन पियदसिन लाजिन वीसतिवसाभिसितेन
2. अतन-आगाछ महीयिते हिद-बुधे जाते साक्यमुनीति
3. सिला विगधवी छा कालापित सिलाथ भेच्छ उसपापिते
4. हिद-भगवान-जातेति लुमिनेगामे उबलिसकेकते
5. आठभागियेछ

अनुवाद

देवप्रिय राजा प्रियदर्शी (अशोक) अभिषिक्त होने के 30 वर्ष पीछे यहाँ आया (और यह) कहकर पूजा की कि "यहाँ बुद्ध शाक्यमुनि जन्मे थे" (और) अश्व मूर्तिमय[2] शिला स्तम्भ स्थापित किया (क्योंकि) यहीं भगवान् जन्मे थे (और) लुम्बिनी ग्राम से राज्यकर उठाकर (उसे) धन प्रदान किया।

अतएव इस शिलालेख से यह स्पष्ट है कि यह वही लुम्मिनी या लुम्बिनी नाम की राजवाटिका है जहाँ मायादेवी निज पिता के घर जाते समय ठहरी थी

1. बौद्धधर्म के यात्रियों का यह एक नियम है कि जिस स्थान के दर्शन को वे जाते हैं वहाँ निज आगमन का समय किसी प्रकार से लिख आते हैं।
2. डॉक्टर फुहरर के मतानुसार "अश्वमूर्ति" और डॉक्टर बुहलर के मतानुसार "सूर्यमूर्ति" यह अनुवाद है।

और जहाँ बुद्धदेव का जन्म हुआ था। दिव्यावधान में ऐसी कथा है कि "एक समय दिवप्रिय राजा अशोक ने थेरा-उपगुप्त से उन सब स्थानों के देखने, पूजने और भविष्यत् के लिए चिह्नित करने की इच्छा प्रकट की जहाँ-जहाँ भगवान बुद्ध-देव रहे हों।" उपगुप्त ने राजा से कहा "अस्तु प्रतापी राजन् आपका विचार शुभ है। मैं आज आपके साथ उन सब स्थानों को बताने चलूँगा जहाँ-जहाँ बुद्धदेव ने वास किया था।" इस पर राजा चतुरङ्गिणी सेना के साथ गन्ध-पुष्पादि सामग्री ले थेरा-उपगुप्त का अनुगामी हुआ। उपगुप्त पहले राजा को लुम्बिनी वाटिका में ले गया और निज दाहिने हाथ से बताकर कहा "प्रतापी राजन् यहीं बुद्धदेव का जन्म हुआ था अतएव इसी दर्शनीय स्थान पर भगवान् बुद्ध के स्मरणार्थ आपका प्रथम रूप स्थापित होना चाहिए। राजा अशोक ने उस ग्राम के वासियों में एक लक्ष स्वर्ण-मुद्रा बाँटी और वहाँ एक स्तूप स्थापित किया।"[1] इस कथा से यह जान पड़ता है कि अशोक ने वही शब्द शिला पर खुदवाये जो उपगुप्त ने उससे कहे थे। यदि यह कहा जाय कि यह स्तूप पहले किसी दूसरे स्थान पर रहा हो और वहाँ से उखाड़ कर यहाँ खड़ा किया गया हो तो क्या आश्चर्य है परन्तु यह बात सिद्ध नहीं होगी क्योंकि स्तूप के देखने से यह नहीं ज्ञात होता कि यह अपने स्थान से कभी हटा हो। दूसरे चीनी यात्री[2] ने निज यात्रा में इस स्तूप का वर्णन किया है। यह स्तूप चार और स्तूपों के निकट है और पहले इस पर एक अश्व की मूर्ति थी परन्तु बिजली के गिरने से अब वह स्तूप के अंश सहित वर्तमान नहीं है। यही अवस्था अब भी उस स्तूप की है। उसके ऊपर का कुछ अंश वर्तमान नहीं है और उसके निकट चार अन्य स्तूपों का खँडहर भी देख पड़ता है। हाँ, यदि हुवेन्थशांग शिलालेख का कुछ वर्णन नहीं करता है तो इससे यह सम्भव जान पड़ता है कि स्तूप का वह अंश उस समय मिट्टी के नीचे दबा पड़ा हो। तीसरे इस स्थान को अब तक वहाँ के रहने वाले रुम्मिनीदेई कहते हैं जो लुम्मिनी का अपभ्रंश समझ पड़ता है। इस स्थान पर अब एक रूपादेवी का मन्दिर है जिसमें मयादेवी की एक मूर्ति दाहिनी ओर बुद्ध को लिये हुए है। यह मूर्ति उसी खँडहर में से उठाकर स्थापित कर दी गयी है। अब इसमें किसी तरह का सन्देह बाकी नहीं रह गया कि जहाँ यह पदरिया स्तूप वर्तमान है वहीं लुम्मिनी ग्राम है और वहीं गौतमबुद्ध का जन्म हुआ था। चीनी यात्री फाह्यान का जो 400 ई० में भारतवर्ष में आया था यह कथन है कि कपिलवस्तु लुम्मिनी वाटिका से 50ली[3]

1. Burnout's Introduction on Indian Buddhism pp. 340—342.
2. वह 636 ई० में इस स्थान पर पहुँचा था।
3. 6 ली का एक मील होता है।

($8\frac{1}{3}$ मील) पश्चिम की ओर स्थित है। हुवेन्थशांग वरगदकुंज से (जो कपिलवस्तु से 4 ली दक्षिण है) 30 ली चलकर 'शरकूप स्तूप' के निकट और वहाँ से पुनः 80 या 90 ली चलकर कपिलवस्तु पहुँचा। अतएव इन यात्रियों के कथनानुसार अनुसन्धान करने पर लुम्मिनी स्तूप से 12 मील उत्तर-पश्चिम और निगलिवा ग्राम से 5 मील पश्चिम शाल वन में डॉक्टर फुहरर को एक खँडहर मिला जो 7 मील तक लम्बाई में और 3 मील तक चौड़ाई में फैला हुआ था। वहीं प्राचीन काल में कपिलवस्तु का नगर बसा हुआ था। हुवेन्थशांग जब इस नगर में पहुँचा तो उसने इसे उजड़ा हुआ और खँडहर अवस्था में पाया। उसका कथन है कि "इस प्रान्त का घेरा लगभग 4000 ली ($666\frac{2}{3}$ मील) है। इसमें दस उजड़े हुए नगर हैं जिनमें अब कोई नहीं रहता और जो खँडहर-से हो रहे हैं। राजधानी पूर्णतया नष्ट हो गयी है। इसका घेरा ठीक-ठीक नापा नहीं जा सकता। नगर के अन्दर राज्यभवन 14 या 15 ली के घेरे में है। ये सब ईंटों के बने हुए हैं। नींव की दीवालें अब तक ऊँची और पुष्ट हैं।" फाह्यान का कथन है कि "उसमें (कपिलवस्तु में) न अब राजा है और न प्रजा। सब उजाड़ और खँडहर पड़ा हुआ है।" अतएव यह स्पष्ट है कि कपिलवस्तु का नाश 400 ई० से पहले ही हुआ था। इस नगर के नाश होने के विषय में हुवेन्थशांग का वर्णन है कि जब प्रसेनजीत कोशल देश का राजा हुआ तो उसने शाक्यवंश की राजपुत्री से विवाह करना चाहा परन्तु उन लोगों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार न कर और धोखा देकर एक दासी पुत्री से प्रसेनजीत का विवाह कर दिया। प्रसेनजीत ने इस दासी पुत्री को अपनी प्रधान राजमहिषी बनाया। इससे विरुद्धक नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने कपिलवस्तु में रहकर शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। जब शाक्यों ने यह सुना तो उसे निज राज्य से निकाल दिया और उसे कुवाक्य कहे। इस पर विरुद्धक बहुत व्यथित हुआ और निज अपमान का बदला लेने की इच्छा से निज पिता को गद्दी से उतार आप राजा बन बैठा और सेनापति दीर्घाचार्य की सहायता से कपिलवस्तु पर आक्रमण करने का प्रबन्ध किया। इस समय तक बुद्ध जीवित थे। इसीलिए उन्होंने इस कार्य को न होने दिया। परन्तु बुद्धदेव के निर्वाण प्राप्त करने पर विरुद्धक ने पुनः कपिलवस्तु पर आक्रमण किया और जो युद्ध उस समय शाक्य और कोलीवंशजों के बीच में हुआ उसमें कपिलवस्तु का नाश हुआ। इसी समय से यह प्रसिद्ध स्थान उजाड़ होने लगा और आज काल-क्रम से जङ्गल के नीचे दबा हुआ है। अब यह स्थान खोदा जा रहा है। जिन-जिन बातों का यहाँ से पता चलेगा वे सब समयानुसार हिन्दी पठित समाज के सामने उपस्थित की जायँगी

परन्तु उन सब को समझने और उनकी गुरुता का अनुभव करने के लिए यह आवश्यक है कि बुद्धदेव और उनके धर्म का वर्णन संक्षेपतः कर दिया जाय। इससे आशा है कि भविष्यत् में सहायता मिले।

बौद्ध धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है कि इस जगत् में आदि पुरुष राजा महासम्मत हुआ जिससे 284028 पीढ़ी पीछे राजा अम्ब राज्यसिंहासन पर विराजा। इस राजा के चार पुत्र और पाँच कन्याएँ थीं। जब राजा अम्ब की एक पटरानी का स्वर्गवास हो गया तो उसने एक दासी पुत्री को निज प्रासाद में रख लिया जिससे "जन्त" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। मोहवश राजा अम्ब ने उस दासी पुत्री से यह प्रतिज्ञा कर दी थी कि तेरे ही पुत्र को मैं अपना उत्तराधिकारी बनाऊँगा अतएव जब जन्त बड़ा हुआ तो उसकी माता ने राजा को निज प्रतिज्ञा स्मरण करायी जिसे सुन उसे बड़ा दुःख हुआ परन्तु निज प्रतिज्ञा भङ्ग करना उस समय की अनुकरणशील नीति से वर्जित था। अतएव राजा अम्ब ने हार कर जन्त को गद्दी दी परन्तु ऐसा करने से पहले उसने अपने चार पुत्रों को सब व्यवस्था कह सुनायी और अन्त में यह आज्ञा दी कि तुम लोग जितना धन चाहो ले लो और किसी दूसरे स्थान में जाकर बसो। निदान इन चार भाइयों ने यथेच्छ धन और दास-दासियों को लेकर दक्षिण की ओर यात्रा की। इनकी बहिनों ने यह समझ कर कि हमारे पिता के पीछे फिर कोई हमारी रक्षा न करेगा अपने भाइयों का साथ दिया। ये सब लोग चलते-चलते एक वन में पहुँचे जहाँ कपिल मुनि तपस्या कर रहे थे। मुनि ने निज योगबल से इनकी अवस्था पूर्णतया जान ली और उनसे उसी वन में एक नगर बसाने को कहा। राजा अम्ब के चारों पुत्र कपिलवस्ती या कपिलवस्तु नाम का नगर बसा वहाँ राज्य करने लगे। कुछ दिन राज्य करने के पीछे इन्हें अपने और अपनी बहिनों के विवाह की इच्छा हुई परन्तु यह सोचकर कि दूसरे कुल की कन्याओं के लेने या दूसरे कुल में निज बहिनों के देने में हमारा अपमान होगा, चारों भाइयों ने निज बहिनों से विवाह कर लिया। जब राजा अम्ब ने यह वृत्तान्त सुना तो वे बोल उठे "सक्कावत भो राजकुमारा परम सक्कावत भो राजकुमारा" अर्थात् राजपुत्रों तुम लोगों ने निज कुल की पवित्रता रक्षित रखने के लिए बहुत अच्छा उपाय किया। उसी समय से इस कुल का नाम शक या शाक्य हुआ। कपिलवस्तु के प्रथम राजा उलकामुख की ज्येष्ठ भगिनी और राजमहिषी का नाम प्रिया था। विवाह होने के कुछ काल उपरान्त प्रिया को श्वेत कुष्ठ हो गया और राजा ने बहुत-कुछ सामग्री के साथ उसे वन में भेजवा दिया जहाँ एक स्थान बनाकर वह

रहने लगी। उसी समय काशी के राजा राम को भी श्वेत कुष्ठ हुआ और वे निज पुत्र को राज्य दे उसी वन में जाकर रहने लगे जहाँ प्रिया ने निज निवास स्थान स्थिर किया था। भाग्यवश राम का रोग एक वृक्ष-विशेष की पत्तियों के लगाने से दूर हो गया परन्तु उसने पुनः काशी जाने की इच्छा नहीं की वरञ्च उसी वन के एक कोल वृक्ष में वासस्थान बना वह रहने लगा। इस प्रकार से जब कुछ दिन बीत गये तो राजा राम ने एक दिन रात के समय एक स्त्री के रुदन का शब्द सुना। सबेरा होने पर उसने खोज की और एक गढ़े में पड़े हुए प्रिया को पाया और बाहर निकाल उसका आश्वासन किया तथा औषधि से उसका कुष्ठ रोग दूर किया। अन्त में इन दोनों का विवाह हो गया और इनसे जिस वंश की उत्पत्ति हुई वह कोली वंश कहलाने लगी क्योंकि काशीराज राम ने कोल वृक्ष में निज वासस्थान स्थिर किया था। इस समय से कोली वंश का राज्य प्रारम्भ हुआ। इनकी राजधानी देवदाह नगरी थी। काल पाकर इनमें और शाक्यवंशजों में परस्पर विवाह की प्रथा चल पड़ी। यह कथा शक और कोली वंश के उत्पत्ति की बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में दी है पर इतिहास इनके विषय में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहता। कुछ इतिहासकारों का यह मत है कि शाक्य शब्द से शक या सीदियन लोगों का अर्थ है जो राज्य पाने के कारण क्षत्रियों में गिने गये।

शाक्य लोगों के विषय में डॉक्टर फुहरर का कथन है कि "यद्यपि ये लोग अपने को आर्य कुल के राजा इक्ष्वाकु के वंश में बतलाते हैं परन्तु यह असम्भव नहीं है कि प्रारम्भ में ये लोग उत्तर भारतवर्ष की अनार्या आदिम और जाति-भेद-शून्य एक जाति में से रहे हों! बुद्ध का नाम शाक्यमुनि और शाक्यसिंह होने से उस महानुभाव के कुछ पीछे यह सम्भव है कि शाक्य लोगों का बहुत कुछ प्रभाव शक या सीदियन लोगों पर उन्हें बौद्ध धर्मावलम्बी बनाने में पड़ा हो। इन शाक्यों के वंश में से अब स्यात् मारू लोग हैं जो नेपाल की तराई में रहते और अपने को "वनराज" कहते हैं। मारू लोग अपने को सूर्य वंशी मानते और कहते हैं कि हम लोग पहले राजपूत थे परन्तु महाभारत के पीछे यहाँ भाग आये और मद्यपान करने के कारण जाति खो बैठे।"

अस्तु बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार शाक्यवंश की 2 22769वीं पीढ़ी पीछे ज्ञानसेन कपिलवस्तु का राजा हुआ। इसके सिंहहनु नाम का एक पुत्र और यशोधरा नाम की एक कन्या थी। ज्ञानसेन के समय में कोलीवंश का राजा देवदाह था जिसके अनुशाक्य नामक पुत्र का विवाह यशोधरा से हुआ। राजा

अनुशाक्य के सुप्रबुद्ध और दण्डपाणि दो पुत्र और मायादेवी और गौतमी दो कन्याएँ हुईं। शाक्य वंश के राजा सिंहहनु के चार पुत्र और दो कन्याएँ थीं जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र शुदोधन का विवाह मायादेवी और गौतमी से और कन्या अम्रिता का विवाह सुप्रबुद्ध से हुआ। अतएव ईस्वी से 600 वर्ष पहले शाक्यवंश का राजा शुदोधन और कोली वंश का राजा सुप्रबुद्ध था।

ईस्वी से 557 वर्ष पहले राजा शुदोधन की पटरानी मायादेवी गर्भवती हुई और उस समय की प्रथानुसार वह अपने पिता के घर चली परन्तु लुम्मिनी बाटिका पहुँचते ही मायादेवी को प्रसव पीड़ा प्रारम्भ हुई और वहीं उसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसके सात दिन पीछे माया मर गयी और उस नवजात शिशु का पालन-पोषण उसकी विमाता गौतमी ने किया। इस लड़के का नाम सिद्धार्थ रखा गया, गौतम उसका गोत्र है। कुछ लोग इसका नाम शाक्यसिंह भी बताते हैं। गौतम की बाल्यावस्था के विषय में बहुत थोड़ा वृत्तान्त प्रसिद्ध है। प्रारम्भ में उसने सब प्रकार की विद्या अध्ययन किया और 19 वर्ष की अवस्था में उसका विवाह कोलीवंश के राजा सुप्रबुद्ध की कन्या यशोधरा से हुआ। सिद्धार्थ का जन्म होते ही ज्योतिषियों ने यह भविष्यवाणी की थी कि यह बालक या तो चक्रवर्ती राजा होगा अथवा राज्य छोड़ वैराग्य लेगा परन्तु उसमें भी प्रसिद्ध होगा। इसलिए शुदोधन नित्यप्रति ऐसा प्रबन्ध करता जिससे सिद्धार्थ का ध्यान संसार की माया में फँसे और वह दुःख का स्वप्न भी न देखने पावे परन्तु सिद्धार्थ सब बातों में संसार की नश्वरता पाता और जीवधारियों के उन दुःखों से भी दुखित होता जिन्हें अन्य लोग सुख मानते। उसका मन प्रति दिन संसार छोड़ने और लोगों को दुःख से मुक्त करने का उपाय जानने के लिए व्याकुल रहता। एक दिन वह निज वाटिका में बैठा हुआ था जब एक पक्षी उसके सम्मुख गिरा जिस पर उसके भाई देवदत्त ने तीर चलाया था। सिद्धार्थ ने उसे उठा लिया और उसके शरीर में से तीर निकाल कर उसका पर ठीक करने लगा। अब तक सिद्धार्थ को यह नहीं ज्ञात था कि तीर-वेध से कैसा कष्ट होता है अतएव उसने उस तीर को लेकर निज जंघे में चुभा लिया और उससे उस दीन पक्षी के दुःख का अनुभव कर करुणा से रोने लगा। इस प्रकार से करुणा का अंकुर उसके हृदय में जमकर एक बृहद् वृक्ष हो गया। निदान विवाह काल से दस वर्ष तक संसार की माया में फँसकर उसने जीवधारियों के पापों और कष्टों को देखा जिससे उनके दूर करने की उत्कट कामना उसके हृदय में उत्पन्न हुई। कहते हैं कि घर छोड़ने के पहले गौतम ने एक दिन एक वृद्ध पुरुष को, दूसरे दिन एक रोगी को, तीसरे दिन एक शव

को और चौथे दिन एक योगी को देखा जिससे उसने घर छोड़ जङ्गल में रहना उचित समझा। इस कथा में चाहे जहाँ तक सत्यता हो पर यह सम्भव जान पड़ता है कि घर छोड़ने के पहले गौतम के हृदय में संसार से विरक्त करनेवाले विचार उठते थे। निदान इस भाँति से अनेक प्रकार के सोच-विचार करते-करते एक दिन सिद्धार्थ गौतम ने संसार-रूपा सागर की दुःखमय तरङ्गों से निवृत्ति पाने के उपाय की खोज में घर और अपनी स्त्री को छोड़ना निश्चय किया। इसी दिन यशोधरा को एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम राहुल रखा गया। उसी दिन रात के समय वह अपनी पत्नी के निकट गया और उसे नवजात राहुल को अपने साथ लगाये और उसके सिर पर एक हाथ रखकर सोते पाया। इस समय माया ने पुनः अपना प्रताप दिखाया। संसार छोड़ने के पहले एक बेर उस राहुल को निज अङ्क में ले हृदय से लगाने की उत्कट वाञ्छा उसके मन में हुई। परन्तु ऐसा करने से स्यात् उसकी माँ जग उठे और वह तब अपने महत् कार्यसम्पादन में दृढ़ न रह सके। निज मन को सम्हाल और अपने विचारों तथा सिद्धान्तों पर ध्यान दे दुःख और बेमन से सिद्धार्थ गौतम उस स्नेह और आनन्दमय दृश्य से चुपचाप हट आया। जीव-मात्र के हित के लिए धन, सम्पदा, मान, मर्यादा, राज्य, कीर्ति और सबसे बढ़कर निज आनन्दमय गृह, प्रेमरूपा पत्नी और मनोहर निर्दोष बालक को छोड़ वन-वन टक्कर मारना सिद्धार्थ गौतम ऐसे ही अलौकिक महानुभावों का कार्य था। इस प्रकार से 29 वर्ष की अवस्था में उसी रात अपना घर छोड़ उसने राजगृह का मार्ग लिया जहाँ उस समय प्रसिद्ध विद्वान् वास करते थे। यहाँ इसने छह शास्त्र पढ़े परन्तु इनसे उसका मन सन्तुष्ट न हुआ। गौतम ने उर्बला वन में जो आधुनिक बुद्धगया के निकट है तपस्या करनी आरम्भ की और 6 वर्ष तक वही करता रहा पर इससे भी उसकी मनोवाञ्छा पूरी न हुई। उसने तपस्या यहाँ तक की कि एक दिन वह भूख और प्यास से बेसुध हो पृथ्वीतल पर गिर पड़ा। सुध आने पर उसे यह निश्चय हुआ कि तपस्या करने से कोई लाभ न होगा। इसलिए उसने तपस्या करनी छोड़ दी। इस पर उसके पाँच शिष्य जो उसके साथ तपस्या करते थे उसका साथ छोड़कर काशी चले गये। गौतम ने खान-पान प्रारम्भ किया और निरंजरा नदी के निकटस्थ वन में बोधि वृक्ष के नीचे बैठकर सोचने लगा। विद्याध्यन से उसे कोई लाभ नहीं हुआ, तपस्या भी वृथा ही की। उसके चेले उसे अकेला छोड़कर चले गये। क्या अब वह अपने घर निज प्रेमपूर्णा पत्नी, प्रिय पुत्र, स्नेहमय पिता आज्ञाकारिणी प्रजा से मिलने और उनके साथ रहने के लिए चला जायगा? यह सम्भव है पर सन्तोष कहाँ? मनोवाञ्छा

कैसे पूर्ण होगी ? निदान विचार-सागर की सन्देहरूपी लहरों के हिलोरे में पड़ा हुआ गौतम बहुत काल तक समाधि में बैठा रहा। अन्त में उसकी आँखों के सामने से अन्धकार दूर हुआ और उसने जीवधारियों के दुःख का कारण और उसके दूर करने का उपाय जाना। अब उसे बुद्ध की पदवी प्राप्त हुई। जहाँ से वह काशी आया और अपने पुराने पाँच शिष्यों से मिलकर उसने उन्हें निज धर्म का उपदेश किया। बुद्ध ने उनसे कहा कि जन्म, क्षय, रोग और मरण से हमको दुःख होता है। घृणित पदार्थों की उपस्थिति और वाञ्छित पदार्थों की अनुपस्थिति से भी हमको कष्ट प्राप्त होता है। अतएव हमारे सब कष्टों और दुःखों का मूल कारण तृष्णा है जो सुख, जीवन और वृद्धि चाहती है इसलिए इनके दमन या नाश से दुःख का नाश है। जिस दिन हममें कोई तृष्णा बाकी न रह जायगी उस दिन हमको कोई कष्ट भी न होगा। तृष्णा का नाश या दमन इन आठ बातों से प्राप्त हो सकता है।

(1) सद्विश्वास (2) सद्विचार (3) सद्वाक्य (4) सत्कर्म (5) सज्जीवन (6) सज्जतन (7) सच्चित्तता और (8) सद्ध्यान।

जो पुरुष इन आठ अङ्गों का अनुसरण करेगा वह सब दुःखों से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करेगा। निर्वाण केवल मृत्यु ही पर नहीं प्राप्त होता वरन् यह उस अवस्था का नाम है जो पाप और तृष्णा के न रहने पर प्राप्त होती है। यह अवस्था मनुष्य निज जीवन ही में प्राप्त कर सकता है और इसके हो जाने पर फिर जन्म-मरण का कष्ट नहीं रह जाता। निर्वाण प्राप्त होकर मरने के पीछे क्या होता है इसके विषय में बुद्ध ने कुछ नहीं कहा है। गौतम आत्मा की आस्तिकता को न मानकर भी पुनर्जन्म मानता था परन्तु यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा कोई पदार्थ नहीं है तो पुनर्जन्म किसका होता है ? इसका उत्तर बुद्ध के अनुसार यह है कि मनुष्य की मृत्यु के साथ उसके शरीर का नाश हो जाता है पर केवल उसके कर्म का नाश नहीं होता। जब एक जीवधारी मर जाता है तो एक दूसरा जीवधारी मृत जीवधारी के कर्मानुसार उत्पन्न होता है। इसलिए यदि कोई मनुष्य निज जीवन में कष्ट सहता है तो बुद्ध के अनुसार यह उसके पूर्व कर्म का फल है। परन्तु यदि आत्मा नहीं है तो उस पुरुष में जो मर गया है और उसमें जो कष्ट सहता है समानता किस प्रकार से है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि "उन मनुष्यों की समानता केवल उनमें है जो मनुष्य के मर जाने और पञ्चतत्त्व में मिल जानेपर बाकी रह जाता है—अर्थात् उनके कर्मों, विचारों और वाक्यों में है जिनका नाश नहीं होता है।" अतएव अपने पूर्वजन्म के कार्य के

कारण जो दुःख मनुष्य इस संसार में भोगता है उसके दूर करने और जगत् में निर्वाण प्राप्त करने का उपाय तृष्णा का दमन और कथित आठ अङ्गों का अनुकरण है। जो वस्तु एक के लिए सत्य और कल्याणकारी है वह अवश्य दूसरे के लिए भी होगी। इसलिए बुद्ध ने जाति-भेद को तोड़कर सब वर्णों को एक-सा उपदेश करना प्रारम्भ किया।

इस उपदेश को पहले-पहल काशी में बुद्ध के पुराने पाँच शिष्यों ने स्वीकार किया और पीछे पाँच महीने में 60 शिष्य और हो गये। इनको बुद्ध ने चारों ओर धर्मोपदेश करने के लिए भेजा। बुद्ध काशी से उर्बला और वहाँ से राजगृह गये। इन स्थानों में उन्होंने बहुत-कुछ सफलता प्राप्त की। ईस्वी से 521 वर्ष पहले बुद्ध निज पिता की इच्छानुसार पुनः कपिलवस्तु गये और वहाँ उनके पिता, पुत्र तथा अन्य लोगों ने उनका धर्म स्वीकार किया। निदान इस प्रकार से वे 20 वर्ष तक एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते और लोगों को निज धर्म का उपदेश करते रहे।

संसार की एक विचित्र गति है कि सब उत्तम कार्यों में कुछ-न-कुछ लोग बाधक हो जाते हैं और हितकारी पुरुष के शत्रु बन बैठते हैं। बुद्ध का एक सम्बन्धी देवदत्त था जो बौद्ध धर्मावलम्बी था और बहुधा राजगृह में रहा करता था। राजगृह के राजकुमार अजातशत्रु ने उसे एक गृह वास करने के हेतु दे दिया था। देवदत्त ने एक समय बुद्ध से एक नया समाज स्थापित करने और अपने को उसका प्रधान बनाने के लिए आज्ञा माँगी परन्तु बुद्ध ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस पर देवदत्त उनका शत्रु हो गया। इस घटना के कुछ काल अनन्तर अजातशत्रु ने देवदत्त की सम्मति से अपने पिता को मार डाला और उसका दोष बुद्ध पर आरोपण किया तथा देवदत्त ने तीन बेर उसके प्राण लेने का उद्योग किया परन्तु वह सफलमनोरथ न हुआ।

ऐसा कहा जाता है कि चन्दा नाम के एक सुनार के यहाँ एक बार बुद्ध अतिथि हुए और उसने उन्हें चावल और सुअर का मांस खिलाया। यद्यपि यह भोजन बुद्ध को रुचिकर न था और इसके कारण उनको शारीरिक कष्ट सहन करना पड़ा परन्तु उन्होंने उसे अस्वीकार नहीं किया। यह बात विचित्र जान पड़ती है कि उस बुद्ध ने जिसका 'अहिंसा परमो धर्मः' यह मुख्य कथन था स्वयं कैसे मांस भक्षण किया? एक समय देवदत्त ने बुद्ध से यह प्रार्थना की थी कि वे यह आज्ञा दें कि उनके मतानुयायियों में से कोई मांस भक्षण न करे। बुद्ध ने इसका उत्तर यह दिया कि "मैं ऐसे नियम बनाने के पक्ष में नहीं हो सकता। बौद्ध धर्मावलम्बी अन्धे नहीं हैं जो दूसरों के सहारे चलें या दूसरों की नकल

करें। वे लोग दोषी हैं जो प्राण लेते हैं और न कि वे जो मांस खाते हैं। मेरे अनुयायियों को यह आज्ञा है कि जहाँ जिस पदार्थ के खाने की रीति हो वहाँ वही खायें और तृष्णा को दमन करें।" बुद्ध के इस कथन से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि यद्यपि वे हिंसा के विरुद्ध थे परन्तु तृष्णा-दमन को सबसे श्रेष्ठ मानते थे।

अस्तु, सुअर का मांस और चावल खाने से बुद्ध बीमार पड़े। उन्हें ज्ञात हुआ कि अब मेरा अन्त दूर नहीं है इसलिए वे कुशीनार जो कपिलवस्तु से 80 मील पूर्व की ओर है, गये। वहाँ पर पहुँच कर जब उन्होंने अपने शिष्य आनन्द पर यह बात प्रकट की तो वह रोने लगा। इस पर बुद्ध ने उसे समझाया कि संसार में कोई वस्तु चिरस्थायी नहीं है। इसी समय सुभद्रा नाम का एक ब्राह्मण वहाँ आया और उसने बुद्ध से कुछ प्रश्न करने की इच्छा प्रकट की। आनन्द ने यह समझ कर कि उत्तर देने में बुद्ध को कष्ट होगा सुभद्रा को बिदा करना चाहा परन्तु जब बुद्ध को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने उसे बुलवाया और उसके प्रश्नो का उत्तर दिया। निदान सुभद्रा ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया और महात्मा बुद्ध-देव यह कहते हुए कि 'सज्जनो, सब पदार्थ क्षय को प्राप्त होंगे अतएव तुम निज मुक्ति का प्रबन्ध प्रेम, भक्ति और चित्त की स्थिरता से करो' पञ्चतत्त्व को प्राप्त हुए। इस परमपूजनीय महात्मा के ये अन्तिम शब्द थे। बुद्ध की अवस्था इस समय 80 वर्ष की थी इसलिए ईस्वी से 477 वर्ष पहले उनकी मृत्यु हुई। दाह-क्रिया के पीछे जो अंश अस्थि-रूप में बाकी रह गया वह आठ भागों में बाँटा गया और उसके ऊपर आठ स्थानों में बड़े-बड़े स्तूप और मठ बौद्धधर्म वालों ने बनवाये। बुद्ध के निर्वाण के ही वर्ष में एक समाज बौद्धधर्म वालों का राजगृह में एकत्रित हुआ। उसने बौद्ध धर्म के नियमों और बुद्ध के वाक्यों को निश्चय किया।

इसके 100 वर्ष पीछे अर्थात् ईस्वी से 377 वर्ष पहले वैशाली में 700 बौद्धों का दूसरा समाज एकत्रित हुआ। इस समय मगध में शिशुनाग वंश का राज्य था। शिशुनाग वंश के पीछे नन्द वंश का राज्य 50 वर्ष तक रहा और ईस्वी से 300 वर्ष पहले चन्द्रगुप्त चाणक्य की सहायता से मगध राज्य की गद्दी पर बैठा। चन्द्रगुप्त के पीछे बिन्दुसार राजा हुआ। इसके समय तक बौद्धधर्म का प्रभाव ठीक-ठीक मगध में नहीं जमा था। ईस्वी से 259 वर्ष पहले मगध का राजा प्रियदर्शी देवप्रिय राजा अशोक हुआ। यह बौद्धधर्म का कट्टर पक्षपाती था। इसका राज्य नेपाल, पेशावर, जयपुर, गुजरात और उड़ीसा तक फैला हुआ था।

इसके समय में बौद्धधर्म वालों का तीसरा समाज (ई० से 240 वर्ष पूर्व) हुआ। बस इसी समय से बौद्धधर्म का पूर्ण प्रचार समझना चाहिए।

यह गौतमबुद्ध तथा उनके धर्म का संक्षिप्त वृत्तान्त है। इस महानुभाव के विषय में कुछ सम्मति देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो ऊपर लिखा जा चुका है उससे इस अलौकिक महानुभाव के प्रशंसनीय गुणों का परिचय भली-भाँति मिल सकता है। भारत को ऐसे ही पुत्रों की आवश्यकता है और वह दिन इसके सौभाग्य का होगा जब ऐसे ही उपकारी जीव इस देश में जन्म लेकर उसके उद्धार में दत्तचित होंगे।

ऊपर लिखा जा चुका है कि कपिलवस्तु का नगर एक बृहत् शाल वन के नीचे दबा हुआ मिला है। अब जो कुछ इसके विषय में पता लगेगा वह भविष्य में लिखा जायगा। इस स्थान पर केवल इतना ही कहने की आवश्यकता है कि इस स्थान के पूर्णतया खुदने पर आशा है कि भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास का बहुत कुछ पता लगे और नेपाल दरबार इस महत् कार्य के कारण चिरकाल तक पठित समाज में स्मरणीय बना रहे।

(1899)

शमसुल्-उलमा मौलवी सैयद अली विलग्रामी

महाराज भर्तृहरि ने बहुत ही ठीक कहा है कि—

"निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥"

वास्तव में इस संसार में सत्य और न्यायसंगत बातों को निर्भीक और निःस्वार्थ चित्त से कहना ही मनुष्य का भूषण है । जिनमें यह गुण है वे ही मनुष्य कहाने योग्य हैं और जो इस परम आदरणीय पौरुष गुण से वंचित हैं वे कदापि मनुष्य कहलाने योग्य नहीं हो सकते, और जिस समाज में ऐसे पुरुष उत्पन्न होते हैं उसके नाश और तिरस्कार के वे मुख्य कारण होते हैं । आज जिन महानुभाव के विषय में हम कुछ लिखा चाहते हैं और जिनका चित्र अत्यन्त प्रकाशित है, वे प्रसिद्ध मुसलमान-कुल-भूषण होने पर भी अपनी जाति के स्वाभाविक पक्षपात गुण के समर्थक नहीं हैं, वरन् जो बात सत्य और न्यायसङ्गत है उसके स्पष्ट रूप से कहने में कदापि पीछे नहीं हटते, चाहे उनके समस्त जाति भाइयों का मत उनसे भिन्न क्यों न हो । संसार में ऐसे लोग विरले ही होते हैं, परन्तु यदि देश अथवा जाति का मुखोज्ज्वल और उसकी उन्नति किसी के द्वारा हो सकती है तो ऐसे ही महानुभावों के द्वारा ।

जब से पश्चिमोत्तर और अवध प्रान्त के न्यायालयों में नागरी अक्षरों के प्रयोग का उद्योग हो रहा है, तभी से एतद्देशीय मुसलमानों में से कुछ लोग इसके विरोधी हो बैठे हैं और विशेषकर जब से इस विषय पर गवर्नमेण्ट की आज्ञा प्रकाशित हुई, तब से तो इस विपक्षी आन्दोलन ने विश्वव्यापी रूप धारण किया है । कोई कहता है कि हिन्दी में साहित्य ही नहीं है, कोई कहता है कि इन अक्षरों से काम ही नहीं चल सकेगा । ऐसे लोगों की सम्मति का कोई आदर नहीं हो सकता, क्योंकि ये महाशय स्वार्थपूर्ण होकर बिना समझे-बूझे जो मन में आता है कह बैठते हैं । यदि इन महाशयों में से एक ने भी हिन्दी पढ़ी होती और तब इस प्रकार की सम्मति देते, तो वह मान्य और शिरोधार्य हो सकती । मौलवी सैयद अली विलग्रामी अरबी, फारसी और संस्कृत के पूर्ण पंडित हैं, तथा कई बार

कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत के परीक्षक हो चुके हैं। आप रायल एशियाटिक सोसाइटी तथा नार्थ आफ इंगलैण्ड इन्स्टीच्यूशन आफ माइनिंग इंजीनियर्स आदि प्रसिद्ध सभाओं के सभासद हैं और कलकत्ता विश्वविद्यालय के बी० ए० तथा बी० एल० हैं। आजकल आप निजाम राज्य में पब्लिक वर्क्स विभाग के मन्त्री हैं। आपकी संस्कृत में योग्यता प्रसिद्ध है। ऐसे विज्ञ महाशय यदि नागरी अक्षरों के पक्ष या विपक्ष में कुछ कहें तो निस्सन्देह उनकी सम्मति माननीय हो सकती है और उसका पूरा-पूरा प्रभाव पठित समाज पर पड़ सकता है। सन् 1898 में बिलग्रामी महाशय ने फरासीसी भाषा से एक पुस्तक का उर्दू में अनुवाद किया है। इस पुस्तक में अरब के लोगों की सभ्यता का इतिहास है। उर्दू अनुवाद में इन्होंने एक भूमिका अपनी ओर से लगायी है जिसका कुछ अंश हम पाठक महाशयों को आज सुनाना चाहते हैं। पर ऐसा करने से पहले इस बात का आप लोगों को स्मरण दिलाना चाहते हैं कि जो आवेदन पत्र इन प्रान्तों के श्रीमान् लेफ्टीनेण्ट-गर्वनर महोदय की सेवा में प्रजा की ओर से 2 मार्च, सन् 1898 को दिया गया था उसमें यह बात दिखलायी गयी थी कि नागरी अक्षरों के प्रचार से प्रारम्भिक शिक्षा को बहुत कुछ लाभ पहुँचेगा, क्योंकि लोगों को जितनी सुगमता निज मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा प्राप्त करने में होती है, वैसी विदेशी भाषाओं अथवा अक्षरों द्वारा कदापि नहीं हो सकती। इन बातों को ध्यान में रख पाठकगण बिलग्रामी महाशय के निम्नलिखित वाक्यों को ध्यान से पढ़ें—

"अब हम थोड़े में उर्दू के लिखावट के ढंग का कुछ वर्णन किया चाहते हैं। पहलवी और फारसी की नाईं उर्दू भी उन अभागी भाषाओं में से है जिनके अक्षर दूसरी जाति के बनाये गये हैं और जिन अक्षरों का भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् भाषा में जो शब्द हैं उनके लिए ठीक अक्षर नहीं हैं। कोई-कोई शब्द के लिए तो बहुत-से अक्षर हैं और किसी-किसी शब्द के लिए अक्षर हैं ही नहीं। जैसे अरबी के से ث और स्वाद ص और सीन س तीनों से उर्दू में एक ही शब्द निकलता है। इन अक्षरों का काम केवल सीन س ही से चल सकता था। निःसंदेह उन अरबी शब्दों का ध्यान करके, जो कि उर्दू में मिल गये हैं, इन अक्षरों का रहना आवश्यक है। परन्तु केवल उर्दू के शब्दों के लिए उनका रहना आवश्यक और निष्प्रयोजन है। अर्थात् यदि कोई मनुष्य उर्दू भाषा के वाक्यों को बोलता जाय और दूसरा कोई अरबी से अनभिज्ञ मनुष्य उसे लिखता जाय तो जब तक कि उस लेखक को अरबी के इमलों का ज्ञान न हो तो वह केवल सुनकर शुद्ध नहीं लिख सकता। उर्दू अक्षरों में यह एक बड़ा भारी दोष है। यही हाल जे ز,

जाल ذ, ज़्वाद ض और जो ظ का और इसी प्रकार के उर्दू के अक्षरों का भी है। प्रायः लोगों को यह ज्ञात है कि उर्दू आर्य भाषा की सन्तान है, अर्थात् वास्तव में यह "हिन्दी" अथवा 'भाषा' है जो संस्कृत से निकलती है और मुसलमानों के संसर्ग के कारण इसमें फारसी और अरबी के शब्द अधिकता से मिल गये हैं। भारतवर्ष में इस प्रकार की कई भाषाएँ हैं जो एक-दूसरे से भिन्न हैं, जैसे महाराष्ट्री, शूरसेनी, मागधी और पिशाची। इन भाषाओं को प्राकृत कहते हैं, प्राकृत का अर्थ स्वाभाविक भाषा है और संस्कृत का अर्थ संस्कारयुक्त अर्थात् सुधारी हुई। संस्कृत के नाटकों में राजा, मंत्री तथा अन्य पार्श्ववर्ती लोग संस्कृत बोलते हैं और स्त्रियाँ और भृत्य आदि प्राकृत बोलते हैं, और स्त्रियों और निम्न श्रेणी के लोगों की भाषा इन प्राकृतों में से होती है। उर्दू में जो शब्द हिन्दी के मिले हैं वे बहुत करके किसी-न-किसी प्राकृत से आये हैं और कुछ थोड़े शब्द संस्कृत से भी आये हैं। यह बात जानना कुछ कठिन है कि अमुक शब्द किस प्राकृत से उर्दू में आया है। परन्तु कोष लिखने के लिए इस कठिनाई का सामना करना अत्यावश्यक है। यही कारण है कि उर्दू का कोष लेखक जब तक कि वह संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से भली-भाँति विज्ञ न हो, तब तक कोष के एक मुख्य अङ्ग अर्थात् शब्दों की उत्पत्ति को शुद्धतापूर्वक नहीं लिख सकता।

इन आदि भाषाओं के अक्षरों में बहुत ही उपयुक्त बात यह है कि इनमें स्वर मात्रा से दिखलाये जाते हैं। परन्तु सेमेटिक भाषाओं में स्वर कुछ चिह्नों से दिखलाये जाते हैं जिनको ज़ेर, ज़बर, पेश और तनवीन इत्यादि कहते हैं। अर्थात् आर्य भाषा में तो "स्वर" शब्द का एक भाग है, परन्तु सेमेटिक भाषाओं में वह केवल एक ऐसा चिह्न है जिसका लिखना अथवा न लिखना लेखक की इच्छा पर निर्भर है और लेखक इसे प्रायः छोड़ दिया करते हैं। इससे यह बात विदित हो गयी होगी कि सेमेटिक भाषा की अपेक्षा आर्य भाषा क्यों सरल है। आर्य भाषा में एक शब्द केवल एक ही प्रकार से पढ़ा जा सकता है। यदि उस शब्द में कोई शंका उत्पन्न हो सकती है तो केवल इसी कारण कि कोई अक्षर ठीक प्रकार से नहीं लिखा गया। सेमेटिक भाषा में एक शब्द को तीन-चार से भी अधिक प्रकार से पढ़ सकते हैं। जैसे अरबी शब्द 'कतव' को तीन प्रकार से पढ़ सकते हैं —'कुतिव,' 'कुतुव,' अथवा 'कतव,' और इन तीनों में से कहाँ पर क्या पढ़ना चाहिए सो केवल वाक्य प्रबन्ध से ही ज्ञात हो सकता है। परन्तु यही शब्द यदि संस्कृत, यूनानी या रूमी अक्षरों में लिखा जाय तो शङ्का करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। इन तीनों में से जहाँ जो शब्द लिखना है वहाँ उसे स्पष्ट रीति से लिख सकेंगे और उसका

अशुद्ध अथवा दूसरे प्रकार से पढ़ा जाना असम्भव होगा। यही कारण है कि कोई मनुष्य अरबी को बिना उसके कोष और व्याकरण से विज्ञ हुए नहीं पढ़ सकता। परन्तु एक बालक भी अक्षर पहिचानने के पश्चात् ही संस्कृत, यूनानी अथवा लैटिन भाषा को बिना अर्थ समझे और बिना कठिनता के भली-भाँति पढ़ सकता है।

जब कि सेमेटिक अक्षरों की यह अवस्था उन भाषाओं के लिए है जिनके लिए कि वे बनाये गये थे और जिनके साथ उनका विशेष सम्बन्ध होना चाहिए, तो तनिक विचारने की बात है कि उर्दू और फारसी के समान आर्य भाषाओं के लिए ये अक्षर कैसे अनुपयुक्त हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध इन भाषाओं के साथ केवल असली लोगों के राजनैतिक प्रभुत्व के कारण हुआ। हम दिखला चुके हैं कि इस प्रयोग से प्रत्येक शब्द कई प्रकार से पढ़ा जा सकता है और जब तक कि वह शब्द पहले से ही न मालूम हो तब तक उसका उच्चारण कदापि नहीं किया जा सकता। अतएव यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक लिखा हुआ शब्द एक कल्पित चित्र है जिसके उच्चारण का उसकी लिखावट से कोई सम्बन्ध नहीं है और यदि है भी तो बहुत ही थोड़ा।

यह भली-भाँति समझ में आ सकता है कि इस दूसरी जाति के अक्षर ने उर्दू की पढ़ाई को कितना कठिन कर रखा है। कुछ आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारी पाठशाला के बालकों को केवल शुद्धतापूर्वक पढ़ना सीखने में दो वर्ष लग जाते हैं। इसका बहुत बड़ा प्रभाव मुसलमानों की विद्या सम्बन्धी उन्नति पर पड़ा है और पड़ रहा है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो दूसरी जाति में इतनी अविज्ञता कदापि नहीं है जितनी मुसलमानों में और पढ़े-लिखे आदमियों की अधिक संख्या उन्हीं मुसलमानों में है जिन्होंने अपने को इस दूसरी जाति के अक्षरों के बन्धन से निर्मुक्त कर लिया है, अर्थात् सिन्ध, बम्बई और बङ्गाल के मुसलमानों में, जो अपनी भाषा को, सिन्धी, गुजराती और बङ्गाली के आर्य अक्षरों में लिखते पढ़ते हैं।

सारांश यह कि जिस भाँति हमारा यह धर्म है कि हम अपनी भाषा को दूसरी भाषाओं के मेल से बचावें, उसी प्रकार हमारा यह भी धर्म है कि यदि हम इस दूसरी जाति के अक्षरों को बदल न सकें तो जहाँ तक हो सके उसकी कठिनाइयों को अवश्य कम कर दें।''

बिलग्रामी महाशय के इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि मुसलमानों में विद्या के अधिक प्रचार न होने का कारण यही है कि उनकी उर्दू भाषा, जिसकी उत्पत्ति

आर्यभाषाओं से हुई है, अनार्य अक्षरों में लिखी जाती है । यदि आज नागरी अक्षरों का, जो आर्य है, उनमें प्रचार हो जाय तो इस अभाव की पूर्णतया पूर्ति हो जाय । वास्तव में यह बात बहुत ठीक है और हमारी प्रार्थना है कि इन प्रान्तों के मुसलमानगण इस सम्मति पर ध्यान दें, व्यर्थ के विरोध से दूर हटें और दो-चार मनुष्यों के बहकाने में आकर अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी न मारें । बिलग्रामी महाशय की इस उचित सम्मति के लिए सारा देश उनका कृतज्ञ है । निस्सन्देह योग्य पुरुषों की सम्मति सर्वदा गम्भीर और पक्षपातशून्य होती है । ये महाशय अवश्य पूजने योग्य हैं । ससार में सदा ऐसे ही पुरुष पूज्य और स्मरणीय होते आये हैं और हमें आशा है कि ये महाशय अपने देश की वास्तविक सेवा सदा करते रहेंगे ।

(1900)

पण्डितवर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर

आजकल के पंडित समाज में कदाचित् कोई ऐसा पुरुष होगा जिसने बम्बई प्रान्त के डॉक्टर भाण्डारकर का नाम न सुना हो। जिन लोगों ने स्कूलों और कालेजों में संस्कृत विद्या का अध्ययन किया है, उन्हें अवश्य डॉक्टर भाण्डारकर की कोई-न-कोई पुस्तक पढ़नी पड़ी होगी। परन्तु अधिकांश लोग इन महानुभाव के चरित्र से अभिज्ञ कदाचित् न हों। हम आज उन्हीं डॉक्टर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर का चित्र और चरित्र अपने पाठकों के सन्मुख उपस्थित करके आशा करते हैं कि उसके अध्ययन और मनन से बहुत-सी शिक्षा और लाभ की बातें उन्हें प्राप्त हों।

डॉक्टर भाण्डारकर के पिता पहले मलवान में नौकर थे। वहाँ से राजपुर आये और जुलाई सन् 1847 में रत्नगिरि को भेज दिये गये। इस स्थान में आने पर वे बड़े प्रसन्न हुए क्योंकि यहाँ एक अंग्रेजी का स्कूल था, इससे वे अपने लड़कों को अंग्रेजी की शिक्षा देने में समर्थ हो सके। कुछ काल तक डॉक्टर भाण्डारकर ने यहीं शिक्षा पायी, पर बम्बई के एलफिन्सटन कालेज की बहुत-कुछ प्रशंसा सुन कर और उससे अच्छे-अच्छे विद्वानों के पढ़ निकलने से डॉक्टर भाण्डारकर को यह उत्साह हुआ कि हम भी वहीं चलकर अध्ययन करें। किन्तु रत्नगिरि से बम्बई दूर होने के कारण हिन्दू माता-पिता का कब यह साहस हो सकता था कि लड़के को अपनी आँखों से दूर करें। दूसरे आर्थिक अवस्था ने भी डॉक्टर भाण्डारकर के उत्साह की पूर्ति में बहुत-कुछ विघ्न डालना चाहा, पर जब घर के लोगों को यह ज्ञात हो गया कि डॉक्टर भाण्डारकर अपने विचार पर दृढ़ हैं, और यदि उन्हें बम्बई जाने की आज्ञा न दी जायगी तो वे बिना कहे-सुने चुपचाप चले जायँगे तो उनके पिता ने अपनी बुद्धिमानी दिखायी और सन् 1853 में डॉक्टर भाण्डारकर को बम्बई भेज दिया। यहाँ पर इन्होंने डॉक्टर दकिनेस, प्रोफेसर ओवेन, मिस्टर दादा भाई नौरोजी आदि विद्वानों से शिक्षा पायी और पढ़ने में ये ऐसे दत्त-चित्त हुए कि रात में कुर्सी से चुटिया बाँधकर जागते रहते और अपने पाठ को पूरा करते। यद्यपि अंग्रेजी साहित्य, इतिहास, गणित आदि सभी विषयों पर वे समभाव से ध्यान देते, पर गणित की ओर इनकी रुचि अधिक प्रवृत्त होती थी। यथा-समय एलफिन्सटन कालेज की सब परीक्षाओं को पास कर ये उसके फेलो नियत

हुए, पर थोड़े ही दिनों पीछे डेकन कालेज में भेज दिये गये। मिस्टर हावर्ड उस समय बम्बई शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर थे। उन्होंने डॉक्टर भाण्डारकर की अलौकिक धारणा-शक्ति और विलक्षण तीव्र-बुद्धि देखकर उन्हे संस्कृत अध्ययन करने के लिए उत्साहित किया। डॉक्टर भाण्डारकर के मन में भी यह बात ज़म गयी और वे पढ़ने से जो समय बचता, उसे इसी काम में लगाने लगे। जब बम्बई में विश्वविद्यालय स्थापित किया गया, तो मिस्टर हावर्ड ने यह नियम बनाया कि कालेज के जितने फेलो हैं और जिन्होंने पूर्व प्रचलित परीक्षाओं को पास भी कर लिया है, सबको विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित परीक्षाओं को भी पास कर लेना चाहिए, नहीं तो उनकी फेलोशिप छीन ली जायेगी। इस नियम के अनुसार डॉक्टर भाण्डारकर ने सन् 1859 में एन्ट्रेन्स, 1861 में एफ० ए० और सन् 1862 में बी०ए० परीक्षा पास कर ली। बी० ए० की परीक्षा में एक विचित्र घटना हुई। जो नम्बर इन्होंने पाये थे वे दूसरे लड़के के नाम के आगे भूल से लिख दिये गये और उसके नम्बर इनके नाम के आगे। इस हेर-फेर का परिणाम यह हुआ कि डॉक्टर भाण्डारकर परीक्षा में फेल समझे गये। परन्तु सर अलेकजैण्डर ग्राण्ट ने जो स्वयं परीक्षक थे, जब यह देखा कि इसमें भूल अवश्य हुई है, क्योंकि जो पत्र उन्होंने स्वयं देखा था, उसी में डॉक्टर भाण्डारकर के इतने नम्बर आ गये थे कि वे भली-भाँति पास हो सकें, तो इस बात की जाँच की गयी और भूल पकड़ी गयी। इस घटना के एक वर्ष पीछे अर्थात् सन् 1863 में डॉक्टर भाण्डारकर ने अंग्रेजी और संस्कृत में एम० ए० पास किया। इनकी इच्छा थी कि अब कानून पढ़ें, पर सन् 1864 में हैदराबाद (सिन्ध) के हाई स्कूल की हेडमास्टरी मिलने के कारण इन्हें कुछ काल के लिए अपना संकल्प छोड़ना पड़ा। यहाँ से 1865 में ये रत्नगिरि भेज दिये गये। दस वर्ष पूर्व यहीं डॉक्टर भाण्डारकर ने स्वयं शिक्षा पायी थी और आज यहीं के हेडमास्टर हो दूसरों को शिक्षा देने लगे। भाग्य की माया भी विचित्र ही है। इनके समय में इस स्कूल से लड़के निरन्तर उत्तीर्ण होने और संस्कृत के लिए पारितोषिक पाने लगे। सन् 1864 में जब कि ये डेकन कालेज के फेलो थे, इन्होंने अपनी संस्कृत की पहली पुस्तक छापी। रत्नगिरि में उसका दूसरा भाग छपा। ये पुस्तकें अब तक भारतवर्ष और योरोप के स्कूलों में पढ़ाई जाती हैं। सन् 1866 में ये पहले पहल संस्कृत के परीक्षक नियत हुए। सन् 1868 में कर्नल वाडिंगटन ने, जो इस समय शिक्षा-विभाग के स्थानापन्न डाइरेक्टर थे, इन्हें डॉक्टर बुःलर की सम्मति से एलफिन्सटन कालेज में संस्कृत का प्रोफेसर नियत किया। बम्बई आते ही इन्हें पुनः कानून पढ़ने की धुन समाई और ये "ला स्कूल"

में भरती भी हो गये, पर अन्य कार्यों से समय इतना कम बचने लगा कि हार कर इन्हें सदा के लिए कानून पढ़ना छोड़ना पड़ा। अब तक इनका ध्यान पुरातत्त्व की ओर कुछ भी नहीं गया था। सन् 1870 में डॉक्टर मानकजी अदरजी ने एक ताम्र-पत्र, जो उन्हें एक स्थान पर गड़ा हुआ मिला था, इन्हें पढ़ने के लिए दिया। यह प्राचीन नागा अक्षरों में खुदा हुआ था और डॉक्टर भाण्डारकर इसका एक अक्षर भी नहीं जानते थे और न इन्हें यही ज्ञात था कि इसको कहाँ से जानें। निरुपाय होकर इन्होंने प्रिंसेप आदि विद्वानों के ग्रन्थ पढ़ने आरम्भ किये और थोड़े ही काल में उसके सब तत्त्वों को समझ कर उस ताम्र-पत्र पर एक लेख रायल एशियाटिक सोसाइटी के लिए लिख डाला। पुरातत्त्व विषयक यह इनका पहला लेख था। इसके पीछे तो ये निरन्तर पुरातत्त्व विषयक लेख लिखते रहे। जब मिस्टर वर्गेस ने अंग्रेजी का प्रसिद्ध पुरातत्त्व विषयक मासिक पत्र इण्डियन एण्टीक्वेरी (Indian Antiquary) निकाला, तो डॉक्टर भाण्डारकर उसमें निरन्तर लेख लिखते रहे और उनकी प्रसिद्धि इस ओर प्रति-दिन बढ़ने लगी। सन् 1873 में ये बम्बई विश्वविद्यालय के सिंडिक नियत किये गये और बहुत वर्षों तक उसकी उन्नति में तत्पर रहे। सन् 1874 में पुरातत्त्व विशारदों की महती सभा (International congress of orientalists) लन्दन में हुई। डॉक्टर भाण्डारकर भी उसमें निमन्त्रित हुए, पर जातीय और गार्हस्थ कारणों से ये वहाँ तक न जा सके। इस सभा के लिए इन्होंने एक लेख नासिक के शिलालेखों पर लिखा। इसकी बड़ी प्रशंसा हुई। सन् 1875 में ये रायल एशियाटिक सोसाइटी के आनरेरी सदस्य चुने गये और सन् 1876 में संस्कृत का प्रसिद्ध मालती माधव नाटक इन्होंने छापा। इसी वर्ष ये भाषा तत्त्व के प्रोफेसर नियत हुए और संस्कृत, प्राकृत तथा अन्य भारतवर्षीय देश भाषाओं पर जो लेक्चर इन्होंने दिये, वे अभी-तक पढ़े और उद्धृत किये जाते हैं। सन् 1879 ई० में इन्हें संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का काम सौंपा गया और उस पर इन्होंने 5 रिपोर्ट छाप कर प्रकाशित की हैं। इनके देखने से डॉक्टर महोदय की पण्डिताई और विद्वत्ता स्पष्ट प्रकट होती है। सन् 1885 में पुरातत्त्व विशारदों की महती सभा वायना में हुई। इस बेर ये उसमें सम्मिलित हुए। सन् 1886 में गाटिंगेन की यूनिवर्सिटी ने इन्हें पी-एच० डी० की उपाधि दी और सन् 1887 में भारत-गवर्नमेण्ट ने सी० आई० ई० की पदवी से भूषित किया। जब सेवा के 55 वर्ष पूरे हो गये तो इन्होंने पेन्शन लेनी चाही, पर गवर्नमेण्ट ने एक वर्ष और कार्य करने के लिए अनुरोध किया। अन्त में सन् 1899 में इन्होंने पेन्शन ली और इस बात की आशा की कि अब सांसारिक धन्धों से दूर

रह कर सुख से समय बितावें, पर ऐसे विद्वानों की सहायता कौन छोड़ सकता है । गवर्नमेण्ट ने इन्हें अब विश्वविद्यालय का वाइसचान्सलर नियत किया है और अब ये निज देश का उपकार उसके द्वारा कर रहे हैं ।

जिन ग्रन्थों के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है, उनके व्यतिरिक्त डॉ० भाण्डारकर ने एक दक्षिण प्रान्तों का इतिहास लिखा है, जिसके समान आज तक उस प्रान्त का कोई दूसरा इतिहास नहीं लिखा गया । प्राचीन बातों की छान-बीन करके डॉक्टर महोदय ने इस ग्रन्थ में बहुत-सी अनिश्चित और पुराकाल के अन्धकार से आच्छादित बातों का निर्णय बड़ी युक्ति और बुद्धिमानी से किया है । डॉ० भाण्डारकर में एक बड़ा भारी गुण यह है कि वे सदा एक काम में इस प्रकार से नहीं लगे रहते कि जिसमें दूसरों की उन्नति में अवरोध हो । इनका उद्देश्य सदा यह रहता है कि दूसरे उस काम के लिए तैयार होते जायँ । इससे जहाँ ये यह देख लेते हैं कि दूसरे लोग किसी काम को योग्यता से करने योग्य हो गये तो चट वे उस काम से स्वयं अलग हो जाते हैं । पढ़ने-लिखने में उनकी रुचि सदा रहती है । परन्तु उपर-फट्टू पढ़ना इन्हें पसन्द नहीं है । ये जिस ग्रन्थ या जिस विषय का अध्ययन करते हैं, उसे तब तक नहीं छोड़ते जब-तक उसके तत्त्व को पूर्णतया न जान लें । इससे विद्या-विषयक विवाद में इनके सामने ठहरना कुछ अर्थ रखता है । पढ़ने-पढ़ाने में ये सदा उद्योगी रहते हैं । जिस समय ये कालेज में पढ़ाने का काम करते थे, तो इन्होंने यह नहीं समझ रखा था कि 3 अथवा 4 घण्टे पढ़ाने के व्यतिरिक्त कालेज के लड़कों से हमारा और कोई प्रयोजन हीं नहीं । वरन् इनका निवास-स्थान सदा लड़कों से भरा रहता था । इन्हें जब किसी प्रकार का कष्ट होता, वे डॉ० महोदय से सम्मति ले अपना कार्य करते । इन्हें प्रसिद्धि अथवा यश प्राप्त करने की इच्छा कभी न हुई और न कभी इन्होंने यह चाहा कि लोग इन पर कृपा कर इनको वह वस्तु दें कि जिसके उपयुक्त पात्र ये न समझे जायँ, सामाजिक सुधार में ये सदा चित्त से लगे रहे । विशेषता यह रही कि बातों ही में ये देशहित को न रख स्वयं उसे कार्य में परिणत कर दिखाया । वास्तव में देश को ऐसे ही सपूतों की आवश्यकता है कि जिसमें उसका दुःख-दारिद्र्य दूर हो ।

(1900)

दानी जमसेट जी नौसेरवाँ जी ताता

भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन काल से दान के लिए प्रसिद्ध चला आता है। इस विषय में इसकी समता कोई दूसरा देश उस समय नहीं कर सकता था। अब तक दानी महानुभावों की उपमा लोग महादानी कर्ण से देते हैं। कोई समय था कि यहाँ ऐसे लोग बसते थे कि "मंगन लहहिं न जिनके नाहीं," पर आज भाग्य के फेर से इस देशवासियों के और अलभ्य गुणों के साथ धन का भी गुण (दान) जाता रहा। दान वही जो सुपात्र को सुकार्य के लिए दिया जाय। आजकल तो इस देश की अवस्था विचित्र हो रही है, यह नहीं कि यह देश निरा-कंगाल हो गया हो। यद्यपि पूर्व की अपेक्षा इसकी सम्पत्ति में बहुत-कुछ न्यूनता आ गयी है, पर अब भी दान का बाहुल्य अधिक देखने में आता है। तीर्थ-स्थानों में क्षेत्रों के चलाने में लोग एक-दूसरे से बढ़ने की चेष्टा करते हैं। और स्थानों का छोड़ दीजिये, काशी में यह बात प्रसिद्ध है कि यदि कोई मनुष्य एक क्षेत्र में केवल एक ही दिन खाय तो वर्ष भर तक वह अपना समय भली-भाँति बिता सकता है। दानी सभी उत्तम हैं। पर हम ऐसे दान के विरोधी हैं जो लोगों को निरुद्यमी बना दे। संसार में एक पेट ही ऐसी वस्तु है कि लोग उसके लिए सब कुछ करते हैं, उसकी तृप्ति का उपाय हो गया कि फिर "दुनिया भाड़ में जाय, हमारा जीवन कट जायगा, हमें औरों के झंझटों से क्या काम है," यह लोग कहने लगते हैं। यदि कुछ काम लेकर सबको कुछ-न-कुछ भोजन दिया जाता तो लोग उद्यमी बने रहते। हा! आज सहस्रों ही मनुष्य अकाल काल-कराल के ग्रास बन रहे हैं। लाखों को पेट भर भोजन भी नहीं मिलता। हजारों मातृ-पितृ-विहीन बालक निराश्रय हो अपने फूटे भाग्यों को रो रहे हैं, पर हमें इन सब से क्या काम है। यदि ये सब बड़े-बड़े क्षेत्र चलाने वाले दानी इन विचारे दीन-हीन बालकों की सुध लेते तो आज इस देश का मस्तक अभिमान से कितना ऊँचा होता, आज सारे संसार में वाह-वाह की ध्वनि छा गयी होती, पर ईश्वर को कुछ और ही स्वीकार है, देश की इस दीन और अधःपतित अवस्था के कई कारण लोग बताते हैं। अपढ़ लोगों पर हम किसी प्रकार का दोष नहीं देना चाहते, जबकि पढ़े-लिखे लोग ही अपने कर्तव्य से पराङ्मुख हो रहे हैं। देश के व्यापार की अवस्था दीन-हीन होती जाती है। सरस्वती की आगामी संख्या में आप मिस्टर टेलरी की वक्तृता पढ़ेंगे, उससे आप लोगों को प्रकट

होगा कि इस देश की पूर्ण उन्नति निज देश के व्यापार से ही हो सकती है और ऐसे उपाय हैं कि जिनसे इसमें सफलता प्राप्त होनी बहुत ही सुगम और सम्भव है। पर पढ़े-लिखे और सामर्थ्यवान् लोगों का इस ओर ध्यान हो तब न । इस देश में आज दिन अनेक ऐसे महाशय देख पड़ते हैं कि जिनके आगे कोई सन्तति नहीं है, पर फिर भी इस भारत सन्तान को अपनी सन्तान बना उनके पालन-पोषण की ओर ध्यान देना तो दूर रहा, इन बातों का वे लोग स्वप्न भी नहीं देखते।

व्यापार से देश की उन्नति हो सकती है, इसे सब लोग मानते हैं, पर आजकल यूरोप का व्यापार सीधा-सादा नहीं है, उसमें बड़े पेंच हैं और तिस पर नित्य प्रति नये आविष्कार हो उसकी विचित्रता और गूढ़ता को बढ़ा रहे हैं। यदि यहाँ के लोगों को यह स्वीकार है कि इस देश के लोग भी व्यापार-कुशल हों, तो उन्हें पहले ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे यहाँ के लोग यदि नये आविष्कार स्वयं अभी न कर सकें तो कम-से-कम और देशों में जो आविष्कार हो रहे हैं उनसे पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त करने का तो अवसर पावें।

आज जिन महाशय के दान के विषय में हम कुछ लिखा चाहते हैं उनका ध्यान भी व्यापार के इस अभाव की ओर गया और उन्होंने उसको दूर करने की चेष्टा की है। अपने धन-सम्पत्ति से 30 लाख के मूल्य की सम्पत्ति अलग कर दी है और गवर्नमेण्ट से कहा है कि इस धन से ऐसा कालेज स्थापित किया जाय जिसमें लोग ग्रेजुएट होकर भिन्न वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा पावें। मिस्टर जमसेट जी नौसेरवाँ जी ताता बम्बई के प्रसिद्ध व्यापारी हैं। इनके कई कारखाने हैं और इन्होंने व्यापार की बहुत-कुछ उन्नति की है।

श्री वेङ्कटेश्वर समाचार इन महानुभाव के विषय में यों लिखता है—"इन दानवीर का जन्म सन् 1840 ई० में नवसारी में हुआ था। साधारण दशा-प्राप्त पिता ने अबीसीनिया के संग्राम में ठेकेदारी का काम करके बहुत सम्पत्ति लाभ-पूर्वक जब बम्बई में व्यापार प्रारम्भ किया था, तब बालक पुत्र जे० एन० ताता यहाँ के एलिफन्स्टन इन्स्टीट्यूट में शिक्षा पाते थे। शिक्षा प्राप्त करके यह नौकरी में जीवन व्यतीत करना तुच्छ जानकर पिता सदृश व्यापार के व्रती हुए। व्यापार के साथ ही-साथ आपने परोपकार में बड़ी शिक्षा ली थी और इस शिक्षा में इतने पण्डित हुए कि उनका नाम आज संसार में छा रहा है। देशोपकार की चिन्ता बालकपन से ही इनको थी। सन् 1857 में इन्होंने एक बृहत् पुस्तकालय स्थापित किया था, जो दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति करके आज बड़ी ही उत्तम दशा में विद्यमान है। मिस्टर ताता का देशोन्नति पर बहुत ध्यान है। देश की शिक्षा,

कृषि और वाणिज्य विभाग की उन्नति के लिए आप सदा सदुद्योग करते रहते हैं। कृषि विद्या के भी यह पूरे पण्डित हैं। भारत में प्रति एकड़ 30 से 100 पौण्ड तक कपास उपजता है। किन्तु ताता अपने उद्योग से प्रति एकड़ 400 पौण्ड तक उपजाते हैं। आपने-अपने जन्म-स्थान नवसारी में ऐसे बहुत-से आदर्श कृषि-क्षेत्र बनाये हैं और बड़े उत्साह से देशवासियों को शिक्षा देते हैं। ताता ने फ्रांस की भाँति यहाँ आर्टेशियन कुआँ बनाने की रीति निकाली है। उसके द्वारा पृथ्वी में जहाँ तक खोदने से पानी मिलता है उतनी दूर तक गड्ढा खोदने से पानी स्वयं फव्वारे की तरह निकलता है। आपने पारसी स्त्रियों के लिए एक सूतिकालय स्थापित किया है। उसमें जातीय अनुराग के साथ-साथ सर्वदेशीय परोपकार है। यह उनके असामान्य दान से ही समझा जा सकता है। मुक्ति सेना ने जिस समय यहाँ उद्योगशाला स्थापित की थी उसमें 10000 रु० सहायतार्थ दान किया था। इसके अतिरिक्त विद्याध्ययन के लिए विलायत जाने वालों के निमित्त पाँच लाख रुपये उन्होंने अपने कोष से दिये हैं, जिससे आज तक 15 विद्यार्थी लाभ प्राप्त कर चुके हैं।"

अभी आपने भारतवर्ष और इंग्लैण्ड में फलों का व्यापार खोला है। आपने यह प्रबन्ध किया है कि एक वर्ष में ये 15,000 मन के लगभग आम यहाँ से बाहर भेजेंगे। यदि यह व्यवसाय सफल हुआ तो इसको और भी बढ़ाने की चेष्टा की जायगी। अवस्था इनकी 60 वर्ष से ऊपर की है और परिवार भी इनका बहुत बड़ा है, पर फिर भी इन्होंने निज देश की हीन दशा देख 30 लाख रुपये की जायदाद देशवासियों के हितार्थ दे दी है। धन्य दानी ताता, धन्य वह माता कि जिसकी कोख से तुम उत्पन्न हुए! वाह! दान दो तो ऐसा दो, जिससे एक या दो का भला न हो, वरन् देश-का-देश लाभ उठाये। क्षेत्रों के चलाने, मोटे-ताजे निरुद्यमी, निरर्थक लोगों को खिलाने की अपेक्षा ऐसा दान कहीं बढ़कर है। भारतवर्ष में विद्या विषयक भी दान हुआ है, पर मिस्टर ताता इन दिनों में सबसे बढ़ कर हो गये हैं। सरस्वती की गत एक संख्या में आप लोग सरदार दयाल सिंह का वृत्तान्त पढ़ चुके हैं। आप लोगों को ज्ञात होगा कि बम्बई के मिस्टर प्रेमचन्द, रायचन्द ने दो लाख रुपया विद्या के प्रचारार्थ दिया था। आनरेबुल बाबू प्रसन्न कुमार टैगोर ने 1000 रुपये मासिक का प्रबन्ध कर दिया है, जिससे अब तक टैगोर लेक्चर्स होते हैं। आगरे में पण्डित गंगाधर शास्त्री का चलाया हुआ आगरा कालेज आज तक विद्या-दान कर रहा है। पण्डित गंगाधर जी ने ऐसा प्रबन्ध कर दिया है कि यह कालेज सदा चलाया जाय। इसकी 22,000 के लगभग वार्षिक आय है। मोहम्मद मोहसिन साहब ने इतना रुपया जमा कर दिया है कि उसकी आय

प्रतिवर्ष 51,000 रुपया होती है। बङ्गाल के स्कूलों में मुसलमान विद्यार्थियों से फीस का तीसरा अंश लिया जाता है, शेष की पूर्ति मोहसिन साहब के दान से की जाती है। कलकत्ते के प्रसिद्ध बाबू भू-देव मुकर्जी एक लाख 60 हजार रुपये कलकत्ता विश्वविद्यालय को संस्कृत की उन्नति के लिए दे गये हैं। लखनऊ के मुंशी काली प्रसाद 5 लाख की सम्पत्ति अपने कायस्थ भाइयों में विद्या के प्रचारार्थ छोड़ गये हैं, जिससे आज दिन प्रयाग में "कायस्थ पाठशाला" नाम का विद्यालय चल रहा है। ये सब दान एक दूसरे से बढ़कर अवश्य हुए हैं, पर मिस्टर ताता के महादान की समता तक कोई नहीं पहुँच सकता। एक व्यापारी का पूर्ण परिवार के रहते 30 लाख रुपया अलग रख देना बड़े ही उदार हृदय का कार्य है। भारत के धनाढ्य लोगो! मिस्टर ताता का आदर्श देखो और कुछ आप भी कर दिखाओ। देश तुम्हारा है, यहाँ तुम जन्मे और यहीं तुम मरोगे। तुम्हारे बड़े यहीं बसते चले आये हैं। यदि यहाँ के लिए तुमने कुछ न किया तो फिर जीवन का फल ही क्या हुआ? अस्तु, अब हम मिस्टर ताता के दान से किस प्रकार का कालेज बनेगा, उसमें क्या-क्या होगा, यह अपने पाठकों को सुनाते हैं।

जिस समय लार्ड कर्जन बम्बई में आकर उतरे, तो इस दान की सूचना उन्हें दी गयी और उनसे इस बात की प्रार्थना की गयी कि वे इसमें सहायता दे आवश्यक कानून आदि स्वीकार कर यह कालेज स्थापित करा देंगे। उन्होंने इसकी प्रतिज्ञा की और गत वर्ष नवम्बर मास में निम्नलिखित महाशयों को मिस्टर ताता के दान और कालेज के स्थापन सम्बन्धी सब बातों पर विचार करने के लिए शिमले में एकत्र किया—

(1) दी आनरेबुल मिस्टर टी राले—सभापति।
(2) मिस्टर जे० एन० ताता (अपने सेक्रेटरी मि० बादशाह सहित)।
(3) आनरेबुल मिस्टर जस्टिस रानाडे, सी० आई० ई०।
(4) सर्जन जनरल दाखे, सी० वी० डी० एस० ओ०।
(5) आनरेबुल मिस्टर डनकन (मद्रास)।
(6) मि० पेडलर, एफ० आर० एस० (बंगाल)।
(7) मिस्टर सादम, सी० आई० ई० (पंजाब)।
(8) प्रिंसिपल म्याक मिलन (बम्बई)।
(9) मिस्टर ए० एच० एल० फ्रेजर, सी० आई० ई०।

इस समिति की बैठक शिमले में हुई और सब लोगों ने इस बात को स्वीकार किया कि नवीन आविष्कारों के लिए इस समय जो सामग्री

भारतवर्ष में उपस्थित है उसे काम में लाना चाहिए और इसलिए अजायबघरों तथा वैज्ञानिक यंत्रागारों का होना और विद्वानों द्वारा शिक्षा दिलवाना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए उन्होंने सम्मति दी एक विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय जिसका उद्देश्य यह हो—

"यह विद्यालय बम्बई अथवा इसके निकट स्थापित हो और इसको अधिकार होगा कि जहाँ तक धन और उपयुक्त अवसर इसे मिल सके यह विज्ञान, शिल्प और साहित्य आदि विषयों के लिए स्कालरशिप और अध्यापक नियत करे, कि जिससे विद्या के सब विभागों में नवीन आविष्कारों की ओर लोगों की प्रवृत्ति हो।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निश्चय किया गया कि इस विद्यालय में शिक्षा के तीन मुख्य भाग हों, (1) वैज्ञानिक, (2) डॉक्टरी और (3) दार्शनिक तथा शिक्षा सम्बन्धी।

(1) प्रथम विभाग में निम्नलिखित विषयों की शिक्षा होगी—

(1) विज्ञान
(2) रसायन
(3) शिल्प और कला सम्बन्धी रसायन।

इस विभाग में 7 अध्यापकों की आवश्यकता होगी, जिन सबका वार्षिक वेतन 108,000 रुपये होगा और पुस्तकालय विज्ञान यंत्रालयाध्यक्ष आदि नौकरों का वेतन 39,200 रु० और फुटकर व्यय वार्षिक 4,800 रु० होगा। अतएव इस विभाग के लिए प्रति वर्ष 1,52,000 रुपये व्यय होगा और प्रारम्भ में स्थान के बनवाने और पुस्तकालय, यंत्रालय आदि के ठीक करने में दस लाख रुपये लगेगा।

(2) दूसरे विभाग में निम्नलिखित विषयों की शिक्षा दी जायगी।

(1) सूक्ष्म तन्तु विज्ञान (Bacteriology)।
(2) स्वास्थ्य शास्त्र।
(3) सामुद्रिक और रोग निदानिक रसायन।

इन विषयों की शिक्षा देने के लिए 7 अध्यापकों की आवश्यकता होगी जिनका वेतन 70,800 रु० वार्षिक होगा और 14,200 प्रतिवर्ष पुस्तकालय, यंत्रागार आदि के लिए व्यय होगा तथा प्रारम्भ में 2,10,000 रु० व्यय होगा।

(3) तीसरे विभाग में निम्नलिखित विषयों को शिक्षा होगी।

(1) अध्यापन विद्या

(2) मनोविज्ञान और कर्त्तव्य शास्त्र।

(3) भारतवर्षीय इतिहास और पुरातत्त्व।

(4) अर्थशास्त्र।

(5) शब्द शास्त्र अथवा भाषा तत्त्व।

इस विभाग के लिए 5 अध्यापक होंगे जिनका वेतन 60,000 रुपये वार्षिक होगा और 3000 रु० पुस्तकों के लिए प्रतिवर्ष व्यय किया जायगा तथा स्थान आदि के लिए 1,00,000 रु० प्रारम्भ में व्यय होगा।

इन तीनों विभागों में ऊपर दिये हुए ब्यौरे के अनुसार इस प्रकार से व्यय होगा।

प्रथम विभाग	152000	वार्षिक[1]
द्वितीय विभाग	85000	,,
तृतीय विभाग	63000	,,
	300000	

अतएव इस विद्यालय के लिए पहले तेरह लाख दस हजार रुपये की आवश्यकता होगी जिसमें सब सामग्री एकत्रित हो जाय और पुनः इसे चलाने के लिए तीन लाख रु० वार्षिक का प्रबन्ध करना होगा। समिति ने यह सम्मति दी है कि पहले वैज्ञानिक और डॉक्टरी विभाग का कार्य प्रारम्भ किया जाय और ज्यों-ज्यों आय बढ़ती जाय दार्शनिक तथा शिक्षा सम्बन्धी विभाग भी खोला जाय। इस तीन लाख रुपये के वार्षिक व्यय में पढ़ने वालों के लिए स्कालरशिप, निवास-स्थान आदि किसी बात का प्रबन्ध अन्तर्गत नहीं है।

समिति की सम्मति है कि इस विद्यालय का, जिसका नाम आविष्कार सम्बन्धी भारतीय विश्वविद्यालय होगा, प्रबन्ध एक यूनिवर्सिटी कोर्ट और एक यूनिवर्सिटी कौन्सिल के अधीन रहे। यूनिवर्सिटी कोर्ट के सभ्य चान्सलर (बम्बई के गवर्नर); वाइस चान्सलर, भारत गवर्नमेण्ट का एक प्रतिनिधि; बंगाल, मद्रास, बम्बई, पश्चिमोत्तर प्रदेश, पंजाब, वर्मा, आसाम और मध्य प्रदेश की प्रान्तिक

1. प्रथम बार

1000000
210000
100000
1310000

गवर्नमेण्टों के एक-एक प्रतिनिधि; भारतवर्ष के अन्य विश्वविद्यालयों के एक-एक प्रतिनिधि; एक-प्रतिनिधि मिस्टर जमसेट जी नौसेरवाँ जी ताता का और इनकी मृत्यु के पीछे उनके प्रबन्धकर्त्ताओं का एक प्रतिनिधि; उन लोगों के एक-एक प्रतिनिधि जो विद्यालय को धन द्वारा सहायता दें और अध्यापकों के 4 प्रतिनिधि। इस विद्यालय के सहायकों में उन्हीं लोगों की गिनती होगी जो इसे इतना धन या जायदाद देंगे जिनकी वार्षिक आय 15,000 से कम न हो। ये लोग अपने जीवन-काल-पर्यन्त यूनिवर्सिटी कोर्ट का एक सभ्य अपनी ओर से किसी को चुन सकेंगे, जो लोग 15,000 रु० अथवा उससे अधिक वार्षिक सहायता देंगे, वे जब तक सहायता देंगे एक प्रतिनिधि अपनी ओर से चुन सकेंगे। यदि प्रत्येक प्रतिनिधि का मूल्य 15,000 रुपये है तो हमको विश्वास है कि प्रान्तिक गवर्नमेण्ट और भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालय 15,000 रु० से कम इस विद्यालय की वार्षिक सहायता न करेंगे। यदि ऐसा हुआ तो इन्हीं लोगों का वार्षिक चन्दा 2,10,000 रु० हो जायगा और मिस्टर ताता के धन का वार्षिक आय एक लाख रुपये से कम न होगी, इस प्रबन्ध के हो जाने पर केवल मकानों के बनवाने और पुस्तकालय आदि के ठीक करने में तेरह लाख रुपये की आवश्यकता रह जायगी और गवर्नमेण्ट की सहायता से इसका प्रबन्ध हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। यूनिवर्सिटी कोर्ट को विद्यालय सम्बन्धी सब प्रकार के प्रबन्ध का पूर्ण अधिकार रहेगा। यूनिवर्सिटी कौन्सिल के ये सभासद होंगे—

(1) यूनिवर्सिटी के सब प्रोफेसर।

(2) यूनिवर्सिटी कोर्ट के चार प्रतिनिधि, और

(3) असिस्टेण्ट प्रोफेसरों का एक प्रतिनिधि।

इस कौन्सिल को विद्यालय के शिक्षा विषयक सब प्रकार के प्रबन्ध करने का अधिकार रहेगा।

अब इस विद्यालय के सम्बन्ध में केवल दो बातों का होना रह गया है। एक तो यह कि वह कहाँ होगा, बम्बई में या बंगलौर में। जहाँ तक देखा जाता है अधिकांश लोगों की यही सम्मति है कि वह बम्बई में स्थापित हो। दूसरी बात यह है कि मिस्टर ताता अपनी 30 लाख की जायदाद अलग करके गवर्नमेण्ट को सौंप दें। इन दोनों बातों का प्रबन्ध हो रहा है। इसके हो जाते ही गवर्नमेण्ट इसके लिए कानून बनावेगी और तब यह विद्यालय स्थापित हो देश का उपकार करेगा।

मिस्टर ताता ने यह महादान न अपनी सन्तति, न अपनी जाति और न अपने प्रदेश के लिए किया है, वरन् उनका यह दान भारत सन्तान मात्र के लिए हुआ है। इस उदारता, देश हितैषिता और परोपकारिता के लिए मिस्टर ताता की जो कुछ प्रशंसा की जाय, उनका जो कुछ आदर सत्कार किया जाय सब थोड़ा है। वास्तव में ऐसे ही सपूत पूतों से भारत माता का गौरव और ईश्वर की सृष्टि का साफल्य है।

(1900)

मुद्राराक्षस[1]

(चाणक्य)

पूर्व काल में भारतवर्ष में मगध-राज्य एक बड़ा भारी जन स्थान था। यहाँ जरासंध आदि अनेक प्रसिद्ध पुरुवंशी राजा बड़े प्रसिद्ध हुए हैं। इस देश की राजधानी पाटलिपुत्र अथवा पुष्पपुर थी। इन लोगों ने अपना प्रताप और शौर्य इतना बढ़ाया था कि आज तक इनका नाम भूमण्डल पर प्रसिद्ध है। किन्तु काल-चक्र बड़ा प्रबल है कि किसी को भी एक अवस्था में रहने नहीं देता। अन्त में नन्द वंश ने पौरवों को निकाल कर वहाँ अपनी विजय-पताका उड़ाई और सारे भारतवर्ष में अपना प्रबल प्रताप विस्तारित कर दिखाया।

इतिहास के ग्रन्थों में लिखा है कि एक सौ अड़तीस वर्ष नन्द वंश ने मगध देश का राज्य किया। उसी वंश में महानन्द का जन्म हुआ। वह बड़ा प्रसिद्ध और अत्यन्त प्रतापशाली राजा हुआ। जब जगद्विजयी सिकन्दर (अलक्षेन्द्र) ने भारत-वर्ष पर चढ़ाई की थी उस समय तीन हजार हाथी, दो हजार रथ, बीस हजार सवार और दो लाख पैदल लेकर महानन्द उससे लड़ने को गया था[2]। सिद्धान्त यह कि भारतवर्ष में उस समय महानन्द-सा प्रतापी और कोई राजा न था।

महानन्द के दो मन्त्री थे। मुख्य का नाम शकटार और दूसरे का राक्षस था। शकटार शूद्र और राक्षस ब्राह्मण था। वे दोनों अत्यन्त बुद्धिमान और महा-प्रतिभासम्पन्न थे। केवल भेद इतना था कि राक्षस धीर और गंभीर था, उसके विरुद्ध शकटार अत्यन्त उद्धत स्वभाव का था। यहाँ तक कि अपने प्राचीन-पने के अभिमान से कभी-कभी वह राजा पर भी अपना प्रभुत्व जमाना चाहता। महा-नन्द भी अत्यन्त उग्र स्वभाव, असहन-शील और क्रोधी था, जिसका परिणाम यह हुआ कि महानन्द ने अन्त में शकटार को क्रोधान्ध होकर बड़े निविड़ बन्दीखाने में कैद किया और सपरिवार उसके भोजन को केवल दो सेर सत्तू देता था।

---

1. खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर के स्वामी की आज्ञा से भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के मुद्राराक्षस नामक नाटक से उद्धृत।
2. सिकन्दर कान्यकुब्ज से आगे न बढ़ा इसलिए महानन्द से उसका मुकाबला नहीं हुआ।

कहते हैं कि एक दिन राजा महानन्द हाथ-मुँह धोकर हँसते-हँसते जनाने में आ रहे थे। विचक्षणा नाम की एक दासी, जो राजा के मुँह लगने के कारण कुछ धृष्ट हो गयी थी, राजा को हँसते देखकर हँस पड़ी। राजा उसकी ढिठाई से बहुत चिढ़े और उससे पूछा कि तू क्यों हँसी ? उसने उत्तर दिया "जिस बात पर महाराज हँसे उसी पर मैं भी हँसी।" महानन्द इस बात पर और भी चिढ़ा और बोला कि अभी बतला मैं क्यों हँसा, नहीं तो तुझको प्राणदण्ड होगा। दासी से कुछ उपाय न बन पड़ा। उसने घबड़ा कर इसके उत्तर देने को एक महीने की मुहलत चाही। राजा ने कहा आज से ठीक एक महीने के भीतर जो उत्तर न देगी तो तेरे प्राण न बचेंगे।

विचक्षणा के प्राण उस दिन तो बच गये परन्तु महीने के जितने दिन बीतते थे मारे चिन्ता के वह मरी जाती थी। कुछ सोच-विचार कर वह एक दिन कुछ खाने-पीने की सामग्री लेकर शकटार के पास गयी और रो-रो कर अपनी सब विपत्ति कहने लगी। मन्त्री ने कुछ देर तक सोचकर उस अवसर की सब घटना पूछी और हँस कर कहा "मैं जान गया राजा क्यों हँसे थे। कुल्ला करने के समय पानी के छोटे छीटों पर राजा को वट-बीज की याद आयी और यह भी ध्यान हुआ कि ऐसे बड़े वट के वृक्ष इन्हीं छोटे बीजों के अन्तर्गत हैं किन्तु भूमि पर पड़ते ही जल के छींटे नष्ट हो गये। राजा अपनी इसी भावना को याद करके हँसते थे।" विचक्षणा ने हाथ जोड़कर कहा यदि आपके अनुमान से मेरे प्राण की रक्षा होगी तो मैं जिस तरह से होगा आपको कैदखाने से छुड़ाऊँगी और जन्म भर आपकी दासी होकर रहूँगी।

राजा ने विचक्षणा से एक दिन फिर हँसने का कारण पूछा तो विचक्षणा ने शकटार से जैसा सुना था कह सुनाया। राजा ने चमत्कृत होकर पूछा, सच बता तुझसे यह भेद किसने कहा। दासी ने शकटार का सब हाल कहा और राजा को शकटार की बुद्धि की प्रशंसा करते देख अवसर पाकर उसके छूटने की भी प्रार्थना की। राजा ने शकटार को बन्दीगृह से छुड़ा कर और राक्षस के नीचे मन्त्री बना कर रखा।

शकटार यद्यपि बन्दीखाने से छूटा और छोटा मन्त्री भी हुआ किन्तु अपनी अप्रतिष्ठा और परिवार के नाश का सोच उसके चित्त में सदा पहले ही सा जागता रहा। रात-दिन वह यही सोचता कि किस उपाय से ऐसे अव्यवस्थित-चित्त उद्धत का नाश करके अपना बदला ले। एक दिन घोड़े पर वह हवा खाने जाता था। नगर के बाहर एक स्थान पर क्या देखता है कि एक काला-सा

ब्राह्मण अपनी कुटी के सामने मार्ग की कुशा उखाड़-उखाड़ कर उसकी जड़ में मट्ठा डालता जाता है । पसीने से लथपथ है परन्तु कुछ भी शरीर की ओर ध्यान नहीं देता । चारों ओर कुशा के बड़े-बड़े ढेर लगे हुए हैं । शकटार ने आश्चर्य से इस श्रम का कारण पूछा । उसने कहा "मेरा नाम विष्णुगुप्त चाणक्य है । मैं ब्रह्मचर्य में नीति, वैद्यक, ज्योतिष, रसायन आदि संसार की उपयोगी विद्या सब पढ़कर विवाह की इच्छा से नगर की ओर आता था । किन्तु कुश गड़ जाने से मेरे मनोरथ में विघ्न हुआ । इससे जब तक इन बाधक का सर्वनाश न कर लूँगा दूसरा काम न करूँगा । मट्ठा इस वास्ते इनकी जड़ में छोड़ता हूँ जिससे पृथ्वी के भीतर इनका मूल भी भस्म हो जाय ।"

शकटार के जी में यह आया कि ऐसा पक्का ब्राह्मण जो किसी प्रकार राजा से क्रुद्ध हो जाय तो उसका जड़ से नाश करके छोड़े । यह सोचकर उसने चाणक्य से कहा कि जो आप नगर में चल कर पाठशाला स्थापित करें तो मुझ पर बड़ी कृपा हो । मैं इसके बदले बेलदार लगाकर यहाँ की सब कुशाओं को खुदवा डालूँगा । चाणक्य ने मान लिया और नगर में आकर एक पाठशाला स्थापित की । बहुत-से विद्यार्थी लोग पढ़ने आने लगे और पाठशाला बड़े धूम-धाम से चल निकली ।

अब शकटार इस सोच में हुआ कि चाणक्य से राजा से किस चाल से बिगाड़ हो । एक दिन राजा के घर में श्राद्ध था, उस अवसर को शकटार अपने मनोरथ सिद्ध होने का अच्छा समय सोचकर चाणक्य को श्राद्ध का न्यौता देकर अपने साथ ले आया और श्राद्ध के आसन पर बिठला कर आप चला गया, क्योंकि वह जानता था कि चाणक्य का रंग काला, आँखें लाल और दाँत काले होने के कारण नन्द उसको आसन पर से उठा देगा जिससे चाणक्य अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसका सर्वनाश करेगा ।

और ठीक ऐसा ही हुआ । जब राक्षस के साथ नन्द श्राद्धशाला में आया और एक अनिमन्त्रित ब्राह्मण को आसन पर बैठा हुआ और श्राद्ध के अयोग्य देखा तो चिढ़कर आज्ञा दी कि इसका बाल पकड़ कर यहाँ से निकाल दो । इस अपमान से, ठोकर खाये हुए सर्प की भाँति अत्यन्त क्रुद्ध होकर और शिखा खोल कर चाणक्य ने सबके सामने प्रतिज्ञा की कि जब तक इस दुष्ट राजा का सत्यानाश न कर लूँगा तब तक शिखा न बाँधूंगा । यह प्रतिज्ञा करके वह राजभवन से चला गया ।

शकटार अवसर पाकर चाणक्य को मार्ग में से अपने घर ले आया और राजा की अनेक निन्दा करके उसका क्रोध और भी बढ़ाया और अपनी सब दुर्दशा कह कर नन्द के नाश में सहायता करने की प्रतिज्ञा की। चाणक्य ने कहा कि जब तक हम राजा के घर का भीतरी हाल न जानें, उसके नाश का कोई उपाय नहीं सोच सकते। शकटार ने इस विषय में विचक्षणा के सहायता देने का वृत्तान्त कहा और रात को एकान्त में बुलाकर चाणक्य के सामने उससे सब बात का करार ले लिया।

महानन्द के नौ पुत्र थे—आठ विवाहिता रानी से और एक चन्द्रगुप्त मुरा नाम की एक नाइन स्त्री से। उसी से चन्द्रगुप्त को मौर्य और वृषल भी कहते हैं। चन्द्रगुप्त बड़ा बुद्धिमान था इसी से और आठों भाई इससे भीतरी द्वेष रखते थे और महानन्द भी अपने औरस पुत्रों का पक्ष करके इससे कुढ़ता था। यह यद्यपि शूद्रा के गर्भ से था परन्तु ज्येष्ठ होने के कारण अपने को राज्य का भागीदार समझता था और इसी से इसका राज-परिवार से पूर्ण वैमनस्य था। चाणक्य और शकटार ने इसी से निश्चय किया कि हम लोग चन्द्रगुप्त को राज का लोभ देकर अपनी ओर मिला लें और नन्दों का नाश करके उसी को राजा बनावें।

यह सब सलाह पक्की हो जाने के पीछे चाणक्य तो अपनी पुरानी कुटी में चला गया और शकटार ने चन्द्रगुप्त और विचक्षणा को सिखा-पढ़ा कर पक्का करके अपनी ओर फोड़ लिया। चाणक्य ने कुटी में जाकर हलाहल विष मिले हुए कुछ ऐसे पकवान तैयार किये जो परीक्षा करने में न पकड़े जायँ किन्तु खाते ही प्राण नाश हो जाय। विचक्षणा ने किसी प्रकार से महानन्द को पुत्रों समेत यह पकवान खिला दिया जिससे बिचारे सब-के-सब एक साथ परम धाम को सिधारे।

चन्द्रगुप्त इस समय चाणक्य के साथ था। शकटार अपने दुःख और पापों से संतप्त होकर निविड़ वन में चला गया और अनशन करके उसने अपने प्राण त्याग किये। कोई इतिहास लेखक कहते हैं कि चाणक्य ने अपने हाथ से शस्त्र द्वारा नन्द का वध किया और फिर क्रम से उसके पुत्रों को भी मारा किन्तु इस विषय का कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है। चाहे जिस प्रकार से हो चाणक्य ने नन्दों का नाश किया किन्तु केवल पुत्र सहित राजा के मारने ही से वह चन्द्रगुप्त को राज-सिंहासन पर न बैठा सका इससे अपने अन्तरंग मित्र जीवसिद्धि को क्षपणक के वेश में राक्षस के पास छोड़कर आप राजा लोगों से सहायता लेने की इच्छा से विदेश निकला। अन्त में अफगानिस्तान या उसके उत्तर ओर के निवासी पर्वत क

नामक लोभ-परतन्त्र एक राजा से मिलकर और उसको जीतने के पीछे मगध राज्य का आधा भाग देने के नियम पर उसको पटने पर चढ़ा लाया । पर्वतक के भाई का नाम वैरोधक और पुत्र का मलयकेतु था और भी पाँच म्लेच्छ राजाओं को पर्वतक अपने सहायता के लिए लाया था ।

इधर राक्षस मंत्री राजा के मरने से दुःखी होकर उसके भाई सर्वार्थसिद्धि को सिंहासन पर बैठाकर राजकाज चलाने लगा । चाणक्य ने पर्वतक की सेना लेकर कुसुमपुर चारों ओर से घेर लिया । पन्द्रह दिन तक घोरतर युद्ध हुआ । राक्षस की सेना और नागरिक लोग लड़ते-लड़ते शिथिल हो गये । इस समय में गुप्त रीति से जीवसिद्धि के बहकाने से राजा सर्वार्थसिद्धि वैरागी होकर वन में चला गया । इस कुसमय में राजा के चले जाने से राक्षस और भी उदास हुआ । चन्दनदास नामक एक बड़े धनी जौहरी के घर में अपने कुटुम्ब को छोड़कर और शकटदास कायस्थ तथा अनेक राजनीति जानने वाले विश्वासपात्र मित्रों को और कई आवश्यक काम सौंप कर राजा सर्वार्थसिद्धि के फेर लाने को आप तपोवन की ओर गया ।

चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह सब सुनकर राक्षस के पहुँचने के पहले ही अपने मनुष्यों से राजा सर्वार्थसिद्धि को मरवा डाला । राक्षस जब तपोवन में पहुँचा और सर्वार्थसिद्धि को मरा देखा तो अत्यन्त उदास होकर वहीं रहने लगा । यद्यपि सर्वार्थसिद्धि के मार डालने से चाणक्य की नन्द-कुल के नाश की प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी थी किन्तु उसने सोचा कि जब तक राक्षस चन्द्रगुप्त का मंत्री न होगा तब तक राज्य स्थिर न होगा । वरंच बड़े नियम से तपोवन में चाणक्य ने मंत्रित्व स्वीकार करने का संदेशा भेजा परन्तु प्रभुभक्त राक्षस ने उसको स्वीकार नहीं किया ।

तपोवन में कई दिन रहकर राक्षस ने यह सोचा कि जब तक पर्वतक को हम न फोड़ेंगे काम न चलेगा । यह सोचकर वह पर्वतक के राज्य में गया और वहाँ उसके बूढ़े मन्त्री से कहा कि चाणक्य बड़ा दगाबाज है, वह आधा राज कभी न देगा । आप राजा को लिखिए वह मुझसे मिलें तो मैं सब राज्य उनको दूँ । मन्त्री ने पत्र द्वारा पर्वतक को यह सब वृत्त और राक्षस की नीति-कुशलता लिख भेजी और यह भी लिखा कि मैं अत्यन्त वृद्ध हूँ, आगे से मन्त्री का काम राक्षस को दीजिए । पाटलिपुत्र विजय होने पर भी चाणक्य आधा राज देने में विलम्ब करता है, यह देखकर सहजलोभी पर्वतक ने मन्त्री की बात मान ली और पत्र द्वारा

राक्षस को गुप्त रीति से अपना मुख्य अमात्य बनाकर इधर ऊपर के चित्त से चाणक्य से मिला रहा।

जीवसिद्धि के द्वारा चाणक्य ने राक्षस का हाल जानकर अत्यन्त सावधानीपूर्वक चलना आरम्भ किया। अनेक भाषा जानने वाले बहुत-से धूर्त पुरुषों को भेष बदल-बदल कर भेद लेने को चारों ओर नियुक्त किया। चन्द्रगुप्त को राक्षस का कोई गुप्तचर धोखे से किसी प्रकार की हानि न पहुँचावे इसका भी पक्का प्रबंध किया और दृढ़ संकल्प करके अत्यन्त गुप्त रीति से पर्वतक के विश्वासघात का बदला लेने का उपाय सोचने लगा।

राक्षस ने केवल पर्वतक की सहायता से राज्य के मिलने की आशा छोड़ कर कुलूत, मलय, कश्मीर, सिन्धु और पारस इन पाँच देशों के राजाओं से सहायता ली। जब इन पाँचों देश के राजाओं ने बड़े आदर से राक्षस को सहायता देनी स्वीकार की तो वह तपोवन के निकट फिर से लौट आया और वहाँ से चन्द्रगुप्त को मारने को एक विषकन्या भेजी और अपना विश्वासपात्र समझ कर जीवसिद्धि को उसके साथ कर दिया। चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह बात जानकर और पर्वतक की धूर्तता और विश्वासघात से क्रुद्ध कर प्रकट में इस उपहार को बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किया और लाने वालों को बहुत-सा पुरस्कार देकर विदा किया। साँझ होने के पीछे धूर्ताधिराज चाणक्य ने इस कन्या को पर्वतक के पास भेज दिया और इन्द्रियलोलुप पर्वतक उसी रात को उस कन्या के संग से मर गया। इधर चाणक्य ने यह सोचा कि मलयकेतु यहाँ रहेगा तो उसको राज्य का हिस्सा देना पड़ेगा, इससे किसी तरह उसको यहाँ से भगावें तो काम चले। इस कार्य हेतु भागुरायण नामक प्रतिष्ठित विश्वासपात्र पुरुष को मलयकेतु के पास सिखा-पढ़ाकर भेज दिया। उसने पिछली रात को मलयकेतु से जाकर उसका बड़ा हिती बनकर कहा कि आज चाणक्य ने विश्वासघात करके आपके पिता को विषकन्या के प्रयोग से मार डाला और अवसर पाकर आपको भी मार डालेगा। मलयकेतु बिचारा इस बात के सुनते ही सन्न हो गया और पिता के शयनागार में जाकर देखा तो पर्वतक को बिछौने पर मरा हुआ पाया। इस भयानक दृश्य के देखते ही मुग्ध मलयकेतु के प्राण सूख गये और भागुरायण की सलाह से वह उस रात को छिपकर वहाँ से भागकर अपने राज्य की ओर चला गया। इधर चाणक्य के सिखाये भद्रभट्ट आदि चन्द्रगुप्त के कई बड़े-बड़े अधिकारी प्रकट में राजद्रोही बनकर मलयकेतु और भागुरायण के साथ ही भाग गये।

राक्षस ने मलयकेतु से पर्वतक के मारे जाने का समाचार सुनकर अत्यन्त सोच किया और बड़े आग्रह और सावधानी से चन्द्रगुप्त और चाणक्य के अनिष्ट-साधन में प्रवृत्त हुआ।

चाणक्य ने कुसुमपुर में दूसरे दिन यह प्रसिद्ध करा दिया कि पर्वतक और चन्द्रगुप्त दोनों समान बन्धु थे, इससे राक्षस ने विषकन्या भेजकर पर्वतक को मार डाला और नगर के लोगों के चित्त पर जिनको कि वह सब गुप्त अभिसंधि नहीं मालूम थी इस बात का निश्चय भी करा दिया।[1] चाणक्य के हाथ किसी प्रकार से राक्षस की मोहर लग गई और उसने धोखा देकर राक्षस के मित्र शकटदास से एक पत्र लिखवा लिया तथा उस पर वह मोहर करके अपने गुप्तचर सिद्धार्थक को उसे दिया और राक्षस के पास उसे (निज चर को) भेज दिया। इधर शकट-दास को फाँसी की आज्ञा दिलवा दी और सिद्धार्थक की सहायता से उसे भगवा भी दिया। इस कुटिल नीति को राक्षस न समझ सका और उसने सिद्धार्थक पर पूरा विश्वास कर उसे अपने पास रख लिया और मलयकेतु के दिये हुए आभरण उसे पुरस्कार में दिये। चन्दनदास से भी चाणक्य ने कुटिल नीति का व्यवहार किया। एक दिन उसे बुलवा भेजा और राक्षस का कुटुम्ब सौंप देने को कहा। सब प्रकार से दान, दण्ड और भय दिखाया पर चन्दनदास न हिला। इसके पहले ही चन्दनदास ने अभागे राक्षस के कुटुम्ब को अपने मित्र धनसेन आदि से कहकर दूसरे स्थान में भेजवा दिया था। अन्त में जब कोई उद्योग सफल न हुआ तो चन्दनदास को सकुटुम्ब बन्दीगृह में भेजने की आज्ञा दी। इस समाचार को सुनकर राक्षस को बड़ा दुःख हुआ और वह चन्द्रगुप्त के मारने का उपाय सोचने लगा परन्तु इसमें कृतकार्य होने के लिए जितने उद्योग उसने किये वे केवल निष्फल ही नहीं हुए वरंच उसके बहुत-से लोग उन उद्योगों के करने में मारे भी गये।

मलयकेतु के भाग जाने पर धूर्तराज चाणक्य ने पर्वतक के भाई वैरोधक को चन्द्रगुप्त के साथ सिंहासन पर बैठा आधा राज बाँट दिया और उसी दिन आधी रात के समय गृह-प्रवेश का समय स्थिर किया। राक्षस के अनुचरों को गृह-प्रवेश का वृत्तान्त सब ज्ञात था, इससे उन लोगों ने ऐसा प्रबन्ध किया था कि पहले द्वार पर पहुँचते ही चन्द्रगुप्त पर द्वार गिर पड़े और वह मर जाय। चाणक्य को यह वृत्तांत मालूम था इसलिए उसने वैरोधक को पहले गृह-प्रवेश

1. यहाँ से शेष कथा की पूर्ति बाबू श्यामसुन्दर दास ने किया।

करने के लिए बड़ी धूमधाम से भेजा जिससे राक्षस के अनुचर समझे कि चन्द्रगुप्त आता है और इस धोखे में पड़ कर वैरोधक को मार डाला। इस स्थान में भी चाणक्य की कुटिल नीति सफल हुई। प्रकट में तो उसने आधा राज बाँट दिया पर मन में वह जानता था कि वैरोधक जब जीता बचेगा ही नहीं तो राज्य कौन लेगा। इस प्रकार अमात्य राक्षस का प्रत्येक उद्योग निष्फल होता गया। इसके पीछे एक दिन चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कपट क्रोध किया और उससे अपनी असंतुष्टता प्रकट की। यह समाचार सुनकर राक्षस बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने एकदम कुसुमपुर पर आक्रमण करने के लिए सेना के प्रस्थान की आज्ञा दी।

चाणक्य के वे अनुचर कि जो मित्र बनकर राक्षस को चारों ओर से घेरे हुए थे, असावधान न थे, उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। सेना प्रस्थान होने के पहले ही से मलयकेतु ने यह आज्ञा दे रखी थी कि बिना मेरी मोहर के कोई सेना शिविर से बाहर न जाने पाये। यह आज्ञा सब पर प्रकट थी पर जान-बूझ कर अनजान बन के सिद्धार्थक उन आभरणों का डिब्बा जिसे राक्षस ने उसे पुरस्कार में दिया था और चाणक्य की दी हुई चिट्ठी लेकर कुसुमपुर की ओर चला पर रास्ते ही में वह पकड़ा और मलयकेतु के सम्मुख उपस्थित किया गया। वहाँ पहुँच कर उसने कहा कि मुझे राक्षस ने यह चिट्ठी और यह डिब्बा देकर कुसुमपुर चन्द्रगुप्त के पास भेजा है और यह कहने को कहा है कि "मित्र कुलूत देश के राजा चित्रवर्मा, मलयाधिपति सिंहनाद, कश्मीरेश्वर पुष्करराज, सिन्धु महाराज सिन्धुसेन और पारसीक पालक मेघाक्ष इन पाँच राजाओं से आपसे पूर्व सन्धि हो चुकी है। इसमें पहले तीन तो मलयकेतु का राज्य चाहते हैं और बाकी दो खजाना और हाथी चाहते हैं। जिस तरह महाराज ने चाणक्य को उखाड़ कर मुझको प्रसन्न किया उसी तरह इन लोगों को भी प्रसन्न करना चाहिए।" चिट्टी के पढ़ने पर उसमें लिखा हुआ मिला कि अत्यन्त प्रामाणिक सिद्धार्थक जो कहे सो सुनना। इस घटना के पूर्व ही चाणक्य के अनुचरों ने मलयकेतु पर इस बात का पूरा-पूरा विश्वास करा दिया था कि चाणक्य ने नहीं वरंच राक्षस ने ही विषकन्या भेजकर पर्वतेश्वर को मरवा डाला है। अविश्वास तो हृदय में उत्पन्न हो ही चुका था इस चिट्ठी के मिलने से पूरा विश्वास हो गया कि राक्षस चन्द्रगुप्त से मिला हुआ है और मेरे नाश करने में उद्यत है। मलयकेतु ने बिना सोचे-समझे उन पाँचों राजाओं को मरवा डाला और राक्षस को निज राज्य से निकाल दिया। इस वृत्तांत को देख मलयकेतु की सहायता के लिए जो दूसरे राजा आये हुए थे वे भी

चले गये । ऐसा सुअवसर पा चाणक्य ने मलयकेतु की सेना पर आक्रमण किया और उसे छिन्न-भिन्न कर मलयकेतु को पकड़ लिया ।

राक्षस भी उदासीन हो कुसुमपुर निज परम-प्रीति-भाजन मित्र चन्दनदास को छुड़ाने के लिए चला आया । यहाँ आते ही चाणक्य की कुटिल नीति के प्रभाव से उसने सुना कि चन्दनदास को आज फाँसी दी जायगी । अपने मित्र का उपकार समझ कर और स्वयं अपने ही लिए उसे निज प्राण देते देखकर अमात्य राक्षस जहाँ सूली दी जाने को थी वहाँ चला गया । उसके आने का समाचार पाते ही चाणक्य और चन्द्रगुप्त वहाँ पहुँच गये और राक्षस की इच्छानुसार चन्दनदास को छोड़ दिया । निदान अनेक उपायों से समझा-बुझा कर चाणक्य ने अमात्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनने के लिए उद्यत कर उसे राज्य का अधिकार सौंपा । इस प्रकार से चाणक्य अपनी नीति-दक्षता और व्यवहार-कुशलता से सफल-मनोरथ हुआ ।

(1902)

———

स्वर्गवासी लाला ब्रजमोहन लाल

यह हम कई बार लिख चुके हैं कि भारतवर्ष बड़ा धनी देश है। प्राचीन काल में तो इसके दान का कहना ही क्या था? उन दिनों में तो यथा-आवश्यक दान दिया जाता था, परन्तु इन दिनों में इस टूटी हुई अवस्था में भी इसमें दान बहुत होता है। हाँ, यदि इस आजकल के दान में किसी प्रकार की आपत्ति देख पड़ती है तो वह केवल यही है कि आवश्यकता और उचित-अनुचित का विचार करके आजकल दान नहीं दिया जाता। जिससे लाभ की अपेक्षा प्रायः हानि हो जाती है और वह हानि भी ऐसी कि जिससे देश की उन्नति में रुकावट होती है। इस समय यदि कोई कार्य अत्यन्त आवश्यक है तो यही है कि भारत-वासियों की प्रवृत्ति दान को उचित मार्ग पर लगाने की ओर की जाय। हम लोग किसी का नाम नहीं लिया चाहते, पर हमें इस बात के कहने में कुछ भी भय और सङ्कोच नहीं है कि हमने अपनी आँखों ऐसे स्थानों पर लोगों को दान देते देखा है जहाँ का रुपया केवल दुराचार, व्यभिचार और जघन्य पापों की वृद्धि ही में व्यय किया जाता है। देखें, भारतवासियों की आँखें कब खुलती हैं कि वह अपने कठिन परिश्रम से कमाये हुए पैसे को दानस्वरूप उचित मार्ग में लगाने का उद्योग करते हैं। हमें तो विशेष दुःख इस बात पर होता है जब हम यह देखते हैं कि यदि इस बुराई के दूर करने का कोई महानुभाव उद्योग करते हैं तो देश के शत्रु धर्म की आड़ में हाहाकार मचाकर सारे उद्योगों को वृथा कर देते हैं और साथ ही भोले-भाले महाराजे भी इन घोर स्वार्थियों के जाल में फँस कर अनजाने देश का अनिष्ट कर बैठते हैं। अस्तु, ये बातें ऐसी हैं कि जिनका सुधार लोगों की आँख खुलने ही पर केवल हो सकता है और वह तब तक होना सम्भव नहीं है जब तक विद्या का पूरा-पूरा प्रचार न हो। इसलिए हम घूम-फिर कर इस बात पर जोर देते हैं।

संसार की गति सदा एक-सी नहीं रही है। कुछ-न-कुछ परिवर्तन सदा होता रहता है। यदि किसी के दिन आज अच्छे हैं तो कल उसे दुःख-सागर में गोते खाने पड़ते हैं, यदि कोई आज शोक-सागर में निमग्न है तो कल उसके भाग्य में सुख और आनन्द प्राप्त करना है, इस नियम का पालन मनुष्यों को जिस प्रकार करना पड़ता है, वैसे ही जातियों को भी करना पड़ता है। बस इसी के

अधीनस्थ होकर यदि हमारा यह देश एक समय सभ्यता, विद्या, सदाचार आदि गुणों में उच्चतम आसन पर विराजता था तो आज उसकी अधोगति है, परन्तु समय कुछ आशा दिखा रहा है, हमारे देशवासियों को विद्या-प्रचार में उत्साह होता जाता है, दान उचित मार्ग पर लग रहा है। इसी से हम आशा करते हैं कि हमारे दिन अच्छे आने वाले हैं, चिह्न शुभ हैं। यद्यपि पंजाब में यह प्रथा बहुत दिनों से चल रही थी कि शुभ उत्सवों पर देश का हित करने वाली सभा-समाजों को दान दिया जाता था। परन्तु हमें यह जानकर विशेष आनन्द होता है कि इन प्रान्तों में भी उस प्रथा का प्रारम्भ हो गया है। हमारे देश के मित्र बिगड़ें नहीं। इन प्रान्तों में इस प्रथा के चलाने वाले आर्यसमाजी नहीं हैं, वरन् सनातन धर्मावलम्बी हैं। अभी पंजाब में दो बड़े प्रशंसनीय दान हुए हैं। हिसार में एक दानी महाशय ने 13,000 रु० अनाथों की रक्षा के लिए दिया है। गोविन्दपुर में एक दूसरे दानी महोदय ने 15,000 रु० इसलिए दान किया है कि आयुर्वेदिक रीति के अनुसार औषधालय खोला जाय जिसमें लोगों को औषधि बिना मूल्य दी जाय। इन दोनों की बात सुन हम आनन्दित और साथ ही लज्जित भी हो रहे थे। आनन्दित इसलिए कि हमारे देश में ये उत्तमोत्तम कार्य हो रहे हैं और लज्जित इसलिए कि हमारे प्रान्त में कुछ नहीं होता है। परन्तु यह सम्वाद पाकर हमको विशेष सन्तोष हुआ कि प्रयाग में एक दानी महाशय ने एक पुस्तकालय के लिए 40,000 रुपये दान किये हैं। हिन्दी पढ़े-लिखे लोगों में कोई ही ऐसा होगा जो प्रयाग के भारत-भवन पुस्तकालय का वृत्तान्त न जानता हो। इसके संस्थापक बाबू ब्रजमोहन लाल जी थे। इनकी अवस्था अभी 32 वर्ष की थी। स्वयं विशेष विद्या-लाभ न करने पर भी इनकी रुचि विद्या-प्रचार और विशेषकर हिन्दी-प्रचार की ओर अधिक थी। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए आपने एक पुस्तकालय स्थापित कर रखा था, जिसमें हिन्दी और संस्कृत की प्रायः समस्त अच्छी-अच्छी पुस्तकों को संगृहीत करने का उद्योग है। इस पुस्तकालय का समस्त व्यय बाबू ब्रजमोहन लाल स्वयं देते थे। किसी से कुछ नहीं लेते थे। गत वर्ष आप बद्रीनाथ जी गये थे। वहाँ से किसी ऐसे रोग से पीड़ित हो आये कि वह दिनों-दिन बढ़ता ही गया। बहुत-कुछ उद्योग करने पर भी उसकी शान्ति नहीं हुई, निदान इस मई के मध्य में वे इस असार संसार को छोड़ परलोक सिधारे। जब उन्होंने अपना समय निकट जाना तो उन्हें अपने प्यारे पुस्तकालय की सुध आयी। हमारे पीछे भी वह सदा चला जाय, इस चिन्ता ने उन्हें विह्वल किया। निदान अपने भाइयों की सम्मति से उन्होंने इस पुस्तकालय के लिए एक भूमि जो आहियापुर में स्थित है, 10,000

रुपये पुस्तकालय के लिए एक गृह बनवाने को, 25,000 रुपये उसके खर्च को सदा चलाने के लिए और 11,319 रु० 14 आने, 9 पाई जो उनके पास पुस्तकालय के हिसाब में जमा था, दान दिया और इस सब कार्य के प्रबन्ध के लिए निम्नलिखित महाशय ट्रस्टी नियत किये गये ।

राय रामचरण दास बहादुर
लाला भवानीप्रसाद
लाला राजाराम } लाला ब्रजमोहन लाल के भाई
बाबू कालिकाप्रसाद खत्री
पण्डित मदनमोहन मालवीय
डॉक्टर जयकृष्ण व्यास
रायबहादुर लाला लालबिहारी लाल बी० ए० ।

ब्रजमोहन लाल जी की अवस्था अभी कुछ भी न थी । चरित्र और व्यवहार उनका आदर और अनुकरण करने योग्य था । आडम्बर करने अथवा लोगों से वाहवाही लेने की कभी उनके मन में कामना उत्पन्न नहीं हुई । सदा शान्तिपूर्वक चुपचाप अपना काम करना यही उनका मूलमंत्र था । ऐसे निःस्वार्थी देशहितैषी पुरुष के उठ जाने से हमारे देश ने एक अपूर्व पुरुष खोया । ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति और उनके कुटुम्बियों को इस शोक के सहन करने की शक्ति दे । बाबू ब्रजमोहन लाल जाति के खत्री थे और धर्म उनका वैष्णव था । खत्रियों में विद्या-प्रचार की ओर ध्यान ही नहीं और वैष्णवों में ऐसे दान की प्रथा नहीं है । इन दोनों के विपरीत होने पर बाबू ब्रजमोहन लाल का 40,000 रु० का दान बहुमूल्य और वे स्वयं आदर्श माने जाने चाहिए । हमारी प्रार्थना अपने देश के उन पढ़े-लिखे धनाढ्य लोगों से है कि, जो निःसन्तान हैं वे भारतवासी मात्र को अपनी सन्तान मानें और अपने धन को देश हितकर कार्यों में लगा सदा के लिए यश के भागी हों ।

(1902)